# भारतीय शासन
## और
# राजनीति के सौ वर्ष

लेखक :
सुशील चन्द्र सिंह
एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट०
रीडर राजनीति विभाग,
सागर विश्वविद्यालय, सागर।

संशोधित चतुर्थ संस्करण

पुस्तक मिलने का पता :
त्यागी प्रकाशन
३३, गांधीनगर, मेरठ।

प्रकाशक :
एस० त्यागी
सागर विश्वविद्यालय, सागर।



प्रथम संस्करण—जून १९६१
द्वितीय संस्करण—१५ अक्तूबर १९६४
तृतीय संस्करण—२६ जनवरी १९६६
चतुर्थ संस्करण—१ अप्रेल १९६७

लेखक की अन्य पुस्तकें

| | |
|---|---|
| राजनीति | मूल्य १०) |
| महत्वपूर्ण शासन प्रणालियाँ | मूल्य १०) |
| स्वतन्त्र राष्ट्रों के सम्बन्ध | मूल्य १५) |
| राजनय के सिद्धान्त | मूल्य ५) |
| राजनीति में निबन्ध | मूल्य १०) |

मुद्रक :
प्रभात प्रेस, मेरठ।

# प्रस्तावना

इस पुस्तक में भारत के पिछले सौ वर्षों के राष्ट्रीय व सवैधानिक विकास का अध्ययन किया गया है। पुस्तक में ३० अध्याय है। पहले अध्याय में पार्श्व भूमि की रूप रेखा खींची गई है। दूसरे अध्याय में १८५७ के विद्रोह, और १८५८ के अधिनियम का वर्णन किया गया है। तीसरे अध्याय में १८६१ और १८६२ के अधिनियमों के उपबन्धों की व्याख्या की गई है। भारतीय राष्ट्रीय विकास के कारण चौथे अध्याय में बताये गए हैं। अध्याय ५ में मार्ले-मिन्टो सुधारों का उल्लेख किया गया है। प्रथम महायुद्ध से पहले की राजनैतिक स्थिति अध्याय ६ में बताई गई है। मुस्लिम साम्प्रदायिकता का वर्णन सप्तम अध्याय में किया गया है। अगले दो अध्यायों में १९१९ के अधिनियम और द्वैतन्त्र की असफलताओं की विवेचना की गई है। १०वे अध्याय में १९१९ और १९३५ के बीच के राष्ट्रीय विकास पर प्रकाश डाला गया है। अगले अध्याय में १९३५ के अधिनियम का अध्ययन किया गया है। अध्याय १२ में १९३५ और १९४७ के मध्य राष्ट्रीय और सवैधानिक घटनाओं का वर्णन किया गया है। अगले ९ अध्याय देशी राज्यों, महाराज्यपाल और उसकी परिषद्, असैनिक सेवा, स्थानीय स्वशासन, वित्त आक्रमण और न्यायपालिका से सम्बन्धित है। अन्तिम ६ अध्यायों में भारत के नवीन सविधान का पूर्ण रूप से अध्ययन किया गया है। इस पुस्तक के लिखने में सरकारी लेखों, रिपोर्टों और व्याख्यानों की सहायता ली गई है। विषय से सम्बन्धित अन्य पुस्तकों का भी अध्ययन किया गया है।

भारत के राष्ट्रीय विकास का इतिहास वास्तव में स्वतन्त्रता सग्राम का इतिहास है। यह ब्रिटिश सरकार की साम्राज्यवादी नीति का नग्न रूप है। लार्ड मॉर्ले और लार्ड रिपन भारत से सहानुभूति रखते थे जबकि अधिकतर ब्रिटिश अधिकारी साम्राज्यवादी नीति के पक्ष में थे। १८५७ के विद्रोह के बाद भारतीय मुसलमानों को सन्देह की दृष्टि से देखा जाता था। ब्रिटिश सरकार की यह गलत धारणा थी कि १८५७ के विद्रोह के लिए मुख्यत. मुसलमान ही उत्तरदायी थे। प्रारम्भ में ब्रिटिश अधिकारियों ने मुस्लिम जाति को किसी प्रकार की सुविधायें देना अस्वीकार कर दिया। सर ऐलफ्रेड लायल लिखते है "हम मुसलमानों को वे अधिकार नहीं दे सकते जिनसे दूसरे भारतीय वचित रहें। सरकारी नौकरियों में हमें योग्य से योग्य व्यक्ति लेने हैं चाहे वे किसी धर्म के हों।" लार्ड कर्जन ने मुसलमानों के विषय में इस नीति को स्पष्ट करते हुए कहा था "कुछ ऐसी भी चीजें है जो मैं नहीं कर सकता। मैं आपको विशेष सुविधायें नहीं दे सकता। मैं आपको विशेष अधिकार भी नहीं दे सकता।" प्रारम्भ में तो उन्होंने मुसलमानों का दमन किया और बाद में हिन्दुओं का। उन्होंने यह पग भारत की बढ़ती हुई राष्ट्रीय जागृति को रोकने के

लिये उठाया। बाद में अंग्रेजों ने अपनी नीति में परिवर्तन कर दिया और मुसलमानों को प्रसन्न करना आवश्यक समझा। वे मुसलमानों को प्रसन्न करने लगे। १९०६ का लार्ड मिन्टो के पास भेजा गया मुस्लिम शिष्ट-मण्डल इस नीति का द्योतक है। यह घटना भारतीय इतिहास में एक नया युग प्रारम्भ करती है। लार्ड मिन्टो ने मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचन पद्धति का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया। ब्रिटिश सरकार का यह कार्य घृणास्पद है। प्रारम्भ में भारतीय नेताओं ने इसकी कटु आलोचना की, परन्तु बाद में १९१६ के लखनऊ समझौते में उन्होंने इस दूषित सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया। १९३२ का साम्प्रदायिक निर्णय भारत की राष्ट्रीय शक्ति को विभाजित करने के लिये ब्रिटिश सरकार का तीसरा महत्वपूर्ण पग था। इस समय कांग्रेस को इस निर्णय को पूर्ण रूप में अस्वीकार करना चाहिए था परन्तु कांग्रेस ने मुसलमानों को प्रसन्न करने की नीति अपनाई और साम्प्रदायिक निर्णय की आलोचना करने वाले व्यक्तियों को बुरा-भला कहा। कांग्रेस की बाद की नीति ने मुस्लिम लीग को विरोधी और राष्ट्र विरोधी नीति अपनाने के लिए बाध्य कर दिया। लार्ड लिनलिथगो और श्री एल० एस० एमरी ने सच्ची साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण किया। भारत की सवैधानिक समस्याओं को सुलझाते समय उन्होंने सदैव साम्प्रदायिक भेद-भाव पर अधिक बल दिया। वे सदैव भारत के राष्ट्रीय जीवन के महत्वपूर्ण तत्वों का ही उल्लेख करते थे और कहते थे कि एक प्रमुख जाति (मुसलमान) को सन्तुष्ट किये बिना भारतीय समस्या का समाधान नहीं हो सकता।

१९४६ की कैबिनेट मिशन योजना में भी, जिसकी मौलाना अब्दुल कलाम आजाद ने अपनी नवीन पुस्तक 'इण्डिया विन्स फ्रीडम' में बड़ी प्रशंसा की है, मुसलमानों के प्रति पक्षपात दिखाया गया था। इस योजना के निर्माणकर्ता "मुसलमानों की इस वास्तविक और तीव्र चिन्ता से प्रभावित हुए थे कि ऐसा न हो कि वे हमेशा के लिए हिन्दू बहुमत शासन के आधीन रख दिये जायें।" कैबिनेट मिशन का विचार था कि वे "मुसलमानों के वास्तविक सन्देहों कि उनकी सस्कृति, राजनैतिक और सामाजिक जीवन एकात्मक भारत के अन्तर्गत लुप्त हो जायेंगे, जहाँ पर हिन्दू अपनी अधिक जनसंख्या के कारण शासन करेंगे, की अवहेलना नहीं कर सकते।" इसी तरह के साम्राज्यवादी विचार लार्ड माउण्टबेटन ने भी ३ जून १९४७ में अपने आकाशवाणी के सन्देश में व्यक्त किये थे। उन्होंने कहा था, "कि बड़े क्षेत्रों में एक ऐसी जाति को जिसका उन क्षेत्रों में बहुमत हो उसकी इच्छा के विरुद्ध बलपूर्वक ऐसी सरकार के आधीन रखने का जिसमें दूसरी बहुमत जाति की प्रधानता हो प्रश्न ही नहीं उठता। इसका एक ही उपाय है—विभाजन।" ब्रिटिश सरकार की कपटपूर्ण नीति के कारण ही भारतीय नेताओं ने विवश होकर विभाजन को स्वीकार कर लिया। यदि भारतीय नेता सिद्धान्तों पर दृढ़ रहते तो कभी भी भारत का विभाजन नहीं होता। वे ब्रिटिश सरकार की 'विभाजन करके शासन करने की नीति' का विरोध करने में सफल न हो सके। भारत का विभाजन ब्रिटिश

सरकार की इस नीति का अन्तिम परिणाम है। यह खेदजनक है कि भारतीय नेता अंग्रेजों की कूटनीति को न समझ सके और उनके शिकार बन गये।

सागर विश्वविद्यालय,
सागर
१ जून १९६१

सुशील चन्द्र सिंह

## द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना

इस संस्करण में हमने विशेष परिवर्तन नहीं किया है। भारत के संविधान में हुये परिवर्तनों का उल्लेख हमने कर दिया है।

मैं प्रभात प्रेस के अधिकारियों का भी कृतज्ञ हूँ। जिन्होंने विशेष परिश्रम से इस पुस्तक को समय पर छाप कर मुझे अनुगृहित किया है।

सागर विश्वविद्यालय,
सागर
१७ अक्तूबर १९६४

सुशील चन्द्र सिंह

## तृतीय संस्करण की प्रस्तावना

इस संस्करण में विशेष परिवर्तन नहीं किया गया है। परन्तु फिर भी हमने प्रयत्न किया है कि पुस्तक विद्यार्थियों के लिये अति उपयोगी हो।

मैं प्रभात प्रेस के अधिकारियों का भी कृतज्ञ हूँ। जिन्होंने विशेष परिश्रम से पुस्तक को शीघ्रता से छापा है और हमें अनुगृहित किया है।

सागर विश्वविद्यालय
सागर
२९ जनवरी १९६६

सुशील चन्द्र सिंह

## चतुर्थ संस्करण की प्रस्तावना

इस संस्करण में हमने भारतीय संवैधानिक विकास के प्रारम्भिक काल के सम्बध में तीन अध्याय और जोड़ दिये हैं। भारत के वर्तमान संविधान के सम्बध में हुए परिवर्तनों को भी यथास्थान जोड़ दिया गया है।

मैं प्रभात प्रेस के अधिकारियों का भी कृतज्ञ हूँ जिन्होंने विशेष परिश्रम से पुस्तक को शीघ्रता से छापकर मुझे अनुगृहीत किया है।

सागर विश्वविद्यालय
सागर
१ अप्रैल १९६७

सुशील चन्द्र सिंह

—: o :—

# विषय-सूची

अध्याय १

# पार्श्व भूमि

भारत एक प्राचीन देश है। परन्तु थ्यूसीडाईड्स, टैकीटस या हैरोडोटस जैसे इतिहासकार भारत में नही थे जो कि भारत के इतिहास का वर्णन करते। परन्तु फिर भी भारत का अपना एक विस्तार पूर्ण और हलचलो से परिपूर्ण इतिहास है। अनेक विद्वानो और पुरातत्ववेत्ताओ के धैर्यपूर्ण अनुसन्धानो से भारत के प्राचीन इतिहास के विषय मे पर्याप्त सामग्री प्राप्त हुई है, इसके आधार पर भारत के प्राचीन इतिहास की पृष्ठभूमि तैयार हो सकी है। सिन्ध मे मोहनजोदडो और पश्चिमी पजाब मे हड़प्पा मे पाये गये चिह्न सिन्ध की घाटी की सभ्यता पर काफी प्रकाश डालते हैं जिससे पता चलता है कि हजारो वर्षो पहले भारतीय सभ्यता व कला कौशल कितनी उन्नति के शिखर पर थी। इसके पश्चात् आर्यों का युग प्रारम्भ होता है जिनके रहन-सहन और सस्थाओ ने भारतीय सभ्यता पर सबसे बडा प्रभाव डाला है। जनक (वैदेह) के समय मे वैदेह राज्य की प्रसिद्धि दूर तक फैली हुई थी। उसके समय मे कला कौशल और दर्शन का स्तर बडा ऊँचा था। औल्डिनबर्ग कहता है कि जैसे मैसीडन के शासको ने एथिन्स मे बडे-बडे विद्वानो को इकट्ठा कर रखा था उसी तरह जनक ने कोसल और कुरु पचाल प्रदेशो के विद्वानो और दार्शनिको को अपने दरबार मे स्थान दिया था। रामायण, महाभारत, वेद और उपनिषद् भारतीय सभ्यता के स्तम्भ है।

मौर्य वश ने एक समृद्ध और शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित किया। यूनानी लेखको—मैगस्थनीज, जसटिन, स्ट्रैबो और ऐरियन आदि ने चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन की बडी प्रशसा की है। चाणक्य जो भारतीय राजनीति मे एक बडा कूटनीतिज्ञ माना गया है, चन्द्रगुप्त मौर्य का मुख्यमन्त्री था। अशोक इस वश का अन्तिम शासक था जिसने प्रारम्भ मे अनेक देशो पर विजय प्राप्त करके अपने साम्राज्य को बढाया और अन्त मे बौद्ध धर्म का अनुयायी बन कर शान्ति का प्रतीक बन गया। अशोक ने ४० वर्ष तक राज्य किया और ईसा से २३२ वर्ष पूर्व उसका देहान्त हो गया। अशोक की मृत्यु के कुछ समय बाद ही मौर्य साम्राज्य का अन्त हो गया और अगले ६०० वर्षो मे कोई दृढ राजनीतिक सगठन देश मे नही हो सका। विभिन्न स्थानो मे छोटे-छोटे राज्य कार्य करते रहे। गुप्त वश ने दुबारा एक बहुत दृढ और शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित किया। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (३८०-४१३) के समय मे सारा भारतवर्ष एक साम्राज्य के अन्तर्गत आ गया। गुप्त युग मे भारतीय सस्कृति और कला की बहुत उन्नति हुई तथा नालन्दा जैसे विख्यात विश्वविद्यालय स्थापित किये गये जिनमे सारे देश के विद्यार्थी पढने आते थे। उस समय मे नौ सेना की उन्नति हुई और बहुत से हिन्दू उपनिवेश दक्षिण-पूर्वी एशिया मे स्थापित किये गये।

वहाँ पर भारतीय सभ्यता के चिह्न अब भी पाये जाते हैं। गुप्त वंश के सौ वर्ष बाद तक देश की राजनैतिक अवस्था अवनति की ओर रही। कुछ समय तक हर्ष ने फिर देश को एक सूत्र में बाँधने की कोशिश की और ४० साल तक भली प्रकार शासन किया। समृद्धिशाली हिन्दू सम्राटों में हर्ष अन्तिम सम्राट था।

हर्ष के पश्चात् कुछ छोटे-छोटे राजपूत राज्य विभिन्न भागों में स्थापित हुए जिनमें राजपूत राजा राज्य करते थे। उनमें पृथ्वीराज चौहान उल्लेखनीय है। इस समय भारत अवनति की ओर था और देश में आपस में फूट उत्पन्न हो गई थी। जैसा कि श्री जवाहरलाल नेहरू ने अपनी पुस्तक 'दि डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' में लिखा है इस समय भारत में हर दिशा में अवनति हो रही थी। दार्शनिक, राजनैतिक, युद्ध के साधनों, दूसरे देशों से सम्बन्ध आदि सभी दिशाओं में देश का पतन हो रहा था। इस दुर्बल अवस्था का लाभ उठाकर बाहर के मुसलमान शासकों ने भारत पर आक्रमण किया और थोड़ी सी सेना की सहायता से ही हिन्दू राजाओं को पराजित कर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। गजनी के महमूद और मोहम्मद गोरी उनमें से उल्लेखनीय हैं। मोहम्मद गोरी की मृत्यु के बाद उसके एक सरदार ने भारत में मुस्लिम साम्राज्य स्थापित किया जो कई सौ वर्ष तक रहा। इस साम्राज्य के अन्तर्गत बलबन और अलाउद्दीन के समय दृढ़ शासन व्यवस्था थी। इस मुस्लिम सल्तनत का अंत १५२६ में हुआ, जब बाबर ने समकालीन देहली सुल्तान को हराकर मुगल साम्राज्य स्थापित किया। मुगल साम्राज्य १५२६ से लेकर १८५७ तक स्थापित रहा, यद्यपि औरंगजेब की १७०७ में हुई मृत्यु के बाद यह बहुत कमजोर हो गया था। अकबर इस समय का सबसे प्रतापशाली सम्राट था। उसने उस समय के राजपूत राजाओं से अच्छे सम्बन्ध रखे और देश में उच्च शासन व्यवस्था स्थापित की जिससे उसका कार्यकाल सफल रहा। जहाँगीर और शाहजहाँ ने उसकी नीति को कुछ हद तक अपनाया। परन्तु औरंगजेब ने अकबर की नीति को पूर्ण रूप से बदल दिया तथा हिन्दुओं के साथ क्रूर व्यवहार किया। उसने छोटे मुस्लिम राज्यों का भी अन्त करने की ठान ली और मराठों को कुचल डालने का भरसक प्रयत्न किया।

औरंगजेब तो कुछ हद तक अपने शत्रुओं का सामना कर सका परन्तु उसकी मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य बहुत ही कमजोर पड़ गया और वह अपना नियन्त्रण देश के ऊपर नहीं रख सका। सिक्खों और मराठों ने डटकर मुगल साम्राज्य का सामना किया और उसकी जड़ें कमजोर कर दीं। औरंगजेब के समय में ही मराठों ने शिवाजी के नेतृत्व में अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था। औरंगजेब की मृत्यु के बाद मराठों ने अपनी शक्ति और बढ़ा ली थी और एक मराठा राज्यमण्डल स्थापित कर लिया था। मराठों का आधिपत्य दिल्ली, आगरा, बंगाल और लाहौर तक हो गया था परन्तु १७६१ की पानीपत की तीसरी लड़ाई में मराठों की पराजय हुई और उनकी शक्ति और क्षीण हो गई। कुछ समय बाद पेशवाओं ने मराठा शक्ति को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया। परन्तु घरेलू झगड़ों और मराठा सरदारों के आपसी झगड़ों ने बाहरी शक्तियों को प्रोत्साहन दिया। १८०२ में मराठा शासक

और अंग्रेजो के बीच हुई संधि ने मराठा राज्य को शक्तिहीन कर दिया। ए० बी० कीथ के अनुसार इस संधि के बाद भारतवर्ष में अंग्रेजी साम्राज्य की नीव जमनी शुरु होती है। कुछ छोटे मराठा सरदारो ने अंग्रेजो का लोहा नही माना जिसके परिणामस्वरूप मराठो और अंग्रेजो मे अन्तिम युद्ध हुआ, जिसमे मराठो की बडी हार हुई और हमेशा के लिए उनके साम्राज्य का अन्त हो गया। सबसे पहले अंग्रेज लोग भारत मे व्यापार करने के ध्येय से आये थे और कुछ ही समय मे भारत मे एक बहुत बडा साम्राज्य स्थापित कर लिया। उनके राज्य स्थापित करने की कहानी भारतीयो की आपस की फूट पर प्रकाश डालती है। मुनरो ने ठीक ही कहा है कि यदि भारत सच्चे अर्थ में एक राष्ट्र होता और यहां पर एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार और संयुक्त देश होता तो देश की अवस्था ऐसी कभी नहीं होती। परन्तु यहां पर भारत मे न तो एकता थी और न राष्ट्रीय जागृति ही थी।

१५९९ में लन्दन के कुछ व्यापारियो ने फाउन्डर्स हाल मे एक सभा की और भारत से व्यापार करने के लिये एक कम्पनी की स्थापना की। उस कम्पनी को भारत के साथ व्यापार करने का एकाधिकार था। सबसे पहले कम्पनी में २१९ सदस्य थे और उनकी कुल पूंजी ६८,३७३ पौंड थी। महारानी ऐलिजाबेथ ने १६०० ई० के अन्तिम दिन ईस्ट इण्डिया कम्पनी को एक चार्टर प्रदान किया। इस कम्पनी की पहली फैक्ट्री सूरत में स्थापित हुई। १६४० मे चन्द्रगिरि के राजा ने कुछ जमीन देकर मद्रास मे एक अंग्रेजी फैक्ट्री बनवाई। १६६२ मे चार्ल्स द्वितीय ने बम्बई को १० पौंड सालाना के पट्टे पर कम्पनी को दे दिया। पुर्तगाल की राजकुमारी से शादी करने पर चार्ल्स को बम्बई दहेज मे मिला था। १६९० मे कलकत्ते की फैक्ट्री बनी। इस तरह कम्पनी ने देश के विभिन्न भागो मे अपनी फैक्ट्रियां या व्यापार केन्द्र स्थापित किये और आयात-निर्यात का बढता हुआ धन्धा जमा लिया। अपने प्रारम्भ के समय मे कम्पनी को पुर्तगाल और हालैण्ड के व्यापारियो का सामना करना पडा और कुछ समय तक उनमे आपस मे संघर्ष रहा। इसके पश्चात् कम्पनी भारतीय राजनीति मे भी रुचि लेने लगी और उसने फौज भर्ती करना और प्रदेश जीतना प्रारम्भ कर दिया। देश मे आपसी फूट और शक्तिहीन छोटे राज्यो के होने से कम्पनी को अपने राजनैतिक कार्य में सफलता मिली। इसी समय अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी को फ्रांसीसी ईस्ट इण्डिया कम्पनी का विरोध करना पड़ा। फ्रांसीसी कम्पनी १६६४ मे बनाई गई थी और उसका उद्देश्य भी भारत मे व्यापार करना था। फ्रांसीसी कम्पनी को लुई १४ वें के वित्त मन्त्री कोलबर्ट ने स्थापित किया था। १८ वी सदी के मध्यकाल मे यह फ्रांसीसी कम्पनी बडी प्रभावशाली रही। इस समय डूप्ले इस कम्पनी का महाराज्यपाल था। अन्त मे फ्रांसीसी कम्पनी की हार हुई और डूप्ले को भी उसकी सरकार ने वापिस बुला लिया। फ्रांसीसी कम्पनी की हार का सबसे बडा कारण वहाँ की सरकार से प्रोत्साहन और सहायता न मिलना था। १७६३ की पेरिस की संधि ने फ्रांसीसी प्रभाव को भारत मे हमेशा के लिये समाप्त कर दिया।

फ्रांसीसियों के अन्त के बाद अंग्रेजों के पैर भारत में जम गये। १७५७ में प्लासी के युद्ध में अंग्रेजों की जीत हुई और बंगाल के नवाब की शक्ति क्षीण हो गई। बक्सर के युद्ध के बाद कम्पनी ने नवाब को ५३ लाख रुपया सालाना पेंशन देना तय किया और इसके बदले में नवाब ने अंग्रेजों को प्रान्त में शान्ति स्थापित करने और फौजदारी न्याय की व्यवस्था करने का अधिकार दे दिया। १७६४ में बक्सर के युद्ध में अंग्रेजों की जीत और मुगल सम्राट शाहआलम की पराजय हुई जिसके फलस्वरूप शाहआलम ने १७६५ में बंगाल, बिहार और उड़ीसा के दीवानी अधिकार ईस्ट इण्डिया कम्पनी को सौंप दिये और कम्पनी ने शाहआलम को २६ लाख रुपये सालाना देने का वायदा किया। इस तरह थोड़े से समय में इस प्रान्त पर मुगल सम्राट और नवाब का अधिकार समाप्त हो गया। प्लासी के युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद कम्पनी ने अपने केन्द्र को मद्रास से कलकत्ता बदल दिया। अंग्रेजों की शीघ्रता से विजय और देश में ब्रिटिश साम्राज्य स्थापित करने का श्रेय रावर्ट क्लाइव को है जो एक छोटे से पद से उन्नति करते करते बंगाल का गवर्नर बन गया। वारेन हेस्टिंग्ज ने बनारस और गाजीपुर को कम्पनी के लिए जीता। लार्ड कार्नवालिस ने टीपू सुल्तान को हराया। इस विजय के फलस्वरूप टीपू सुल्तान का कुछ क्षेत्र १७९२ में मद्रास प्रेसीडेन्सी में मिला लिया गया। कुछ समय बाद तक अंग्रेजों ने देशी राज्यों के मामले में हस्तक्षेप न करने की नीति का अनुसरण किया। लार्ड वेलेजली ने इसको फिर से बदल दिया। वेलेजली के भारत छोड़ते समय पंजाब और सिन्ध ही ऐसे देश थे जहाँ पर अंग्रेजों का राज्य नहीं था। १८२४ में बर्मा को और १८४३ में सिन्ध को अंग्रेजी राज्य में शामिल कर लिया गया। १८४९ में डलहौजी ने पंजाब को भी ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया। किसी न किसी बहाने से भारत के लगभग सभी देशी राज्यों का अन्त कर दिया गया। अंग्रेजों के अत्याचार, देशी राज्यों को अन्त करने की नीति और अनेक कारणोंवश भारतवासियों को १८५७ में स्वतन्त्रता के लिये युद्ध करना पड़ा जो १८५७ के गदर के नाम से प्रसिद्ध है।

---

## अध्याय २

# १७७३ का विनियामक अधिनियम

**इस अधिनियम के बनाने के कारण**—१७७३ का यह अधिनियम ब्रिटिश संसद की ओर से ईस्ट इंडिया कम्पनी के कार्यों में प्रथम महत्वपूर्ण हस्तक्षेप था। १७६७ के एक अधिनियम के द्वारा ब्रिटिश सरकार ने भारत में इस कम्पनी के उन सब दावों को स्वीकार कर लिया था जो उसने अपने जीते हुए क्षेत्रों के सम्बन्ध में किये थे और कम्पनी पर यह भी शर्त लगाई गई कि वह प्रतिवर्ष चार हजार पौण्ड ब्रिटिश सरकार के राजस्व में जमा करती रहे। परन्तु १७७३ तक इसके अलावा ब्रिटिश सरकार ने कम्पनी के भारतीय क्षेत्रों में किसी अन्य प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया था। परन्तु १७७३ में कई कारणोंवश ब्रिटिश संसद को प्रत्यक्ष रूप से कम्पनी के मामलों में हस्तक्षेप करना पड़ा।

१७७३ से ब्रिटेन की जनता भी कम्पनी के कार्यों में अधिक रुचि लेने लगी। इसके कई कारण थे। कम्पनी के दुःशासन और अत्याचारों की कहानियां ब्रिटेन तक पहुंचने लगी। कम्पनी ने अपने शासन का अनुचित लाभ उठाया और कम्पनी के हिस्सेदारों को बड़े-बड़े लाभांश दिये जब कि कम्पनी की आर्थिक अवस्था अत्यन्त शोचनीय थी और उसे ७ लाख पौण्ड का घाटा था। कम्पनी के अधिकारी वर्ग ने अनुचित ढंग से भारतीय जनता का शोषण किया और इंगलैंड लौटने पर बड़े अमीरों और नवाबों की तरह अपना जीवन व्यतीत करने लगे जिससे अंग्रेजी जनता में ईर्ष्या उत्पन्न हो गई और उसने रिश्वतखोर अधिकारियों की निन्दा करनी प्रारम्भ कर दी। ब्रिटेन की जनता को यह भी भय होने लगा कि जो कर्मचारी वर्ग अनुचित रूप से धन इकट्ठा करके लौटे थे वे अवश्य ही इंगलैंड के आन्तरिक प्रशासन पर आधिपत्य जमाने का प्रयत्न करेंगे। १७६९ में हैदरअली के साथ हुए युद्ध में कम्पनी की हार और १७७० के बंगाल के अकाल ने अंग्रेजी जनता की आंखें खोल दीं।

इन सब कारणोंवश जनता को यह प्रतीत होने लगा कि शासन कार्य और व्यापार साथ-साथ नहीं हो सकते। वास्तव में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी केवल एक व्यापारिक संस्था ही थी और उसका व्यापार कार्य कितनी ही उन्नति पर क्यों न हो वह ब्रिटिश संसद के बिना किसी भी तरह के मार्ग दर्शन या नियन्त्रण और शासन प्रबन्ध करने के लिये योग्य नहीं मानी गई। महान शासकों का यह मत था कि बिना संसदीय नियन्त्रण के कम्पनी का कार्य चलाना असम्भव था। क्लाईव और हेस्टिंग्ज का मत था कि राजमुकुट के साथ कम्पनी के प्रत्यक्ष सम्बन्ध होने चाहियें। क्लाईव कम्पनी के भारतीय शासन के विरुद्ध थे। वे संसदीय हस्तक्षेप के पक्ष में थे।

११ नवम्बर १७७३ के डायरेक्टर्स को लिखे गये अपने पत्र में वारेन हेस्टिंग्ज ने लिखा था कि भारत में कम्पनी के एक बड़े राजतन्त्र का कार्य कम्पनी से सम्बन्धित व्यक्तियों के हाथ में न होकर एक नियमित संविधान के आधार पर होना चाहिये।[1] कुछ मनुष्य तो यहाँ तक कहते थे कि भारतीय क्षेत्रों को ब्रिटिश राजमुकुट को अपने प्रत्यक्ष नियन्त्रण में ले लेना चाहिये परन्तु ऐसा करना ब्रिटिश परम्पराओं और सम्पत्ति अधिकारों की पवित्रता के विरुद्ध होगा।

बरगोयने ने यह आरोप लगाया कि कम्पनी की सबसे महान त्रुटि यह थी कि वह व्यापार और सरकार का कार्य साथ-साथ करती थी। बरगोयने के प्रयत्नों के फलस्वरूप ब्रिटिश संसद ने कम्पनी के मामलों की जाँच करने के लिये एक प्रवर समिति नियुक्त की। कम्पनी की आर्थिक स्थिति खराब होने के कारण उसने अगस्त १७७२ में सरकार से एक ऋण की प्रार्थना की। कुछ ही समय पहले कम्पनी ने १२½ प्रतिशत का लाभांश घोषित किया था। इस दुरवस्था के कारण संसद को एक गुप्त समिति नियुक्त करनी पड़ी। इन दोनों समितियों (प्रवर समिति और गुप्त समिति) ने अपनी रिपोर्ट में कम्पनी के कुशासन पर अधिक प्रकाश डाला। इस आलोचना को ध्यान में रखकर चैटम् ने १७७३ में लिखा कि कम्पनी की ओर से भारत में इतने अत्याचार हो रहे हैं कि उसकी दुर्गन्ध समस्त विश्व में फैली हुई है।[2] वॉलवर्न ने कम्पनी के प्रशासन की कड़ी निन्दा की।

१७६५-१७७२ के बीच कम्पनी के कर्मचारियों ने निजी व्यापार द्वारा अनुचित लाभ उठाया था। इसके कारण कम्पनी के व्यापार और भारतीय व्यापारियों को अधिक आर्थिक हानि हुई थी। इन सब बातों के कारण कम्पनी की वित्तीय स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो गई। जब मार्च १७७३ में कम्पनी ने ब्रिटिश सरकार से ऋण की अपील की तो उसे कम्पनी के मामलों में हस्तक्षेप करने का सुअवसर प्राप्त हो गया। पहले तो ब्रिटिश संसद ने एक प्रस्ताव द्वारा यह निश्चय किया कि कम्पनी द्वारा जीते गये सब भारतीय क्षेत्र ब्रिटिश राजमुकुट के अधीन आते हैं। अन्त में ब्रिटिश संसद ने १७७३ का विनियामक अधिनियम पास किया। जो भारतीय संवैधानिक विकास में एक महत्वपूर्ण घटना है।

**विनियामक अधिनियम के उपबन्ध**—१७७३ का विनियामक अधिनियम (The Regulating Act) संसद के प्रत्यक्ष नियन्त्रण का सबसे प्रथम अधिनियम था। इसका उद्देश्य कम्पनी की व्यवस्था सुधारने का था। इस अधिनियम द्वारा कम्पनी की प्रादेशिक प्रभुसत्ता स्वीकार कर ली गई और कम्पनी का शासन कार्य व्यापारिक और वित्त कार्यों से पृथक कर दिया गया। राजमुकुट के द्वारा मनोनीत महाराज्यपाल को शासन सौंप दिया गया और व्यापारिक कार्य कम्पनी के बोर्ड आफ डायरेक्टर्स को सौंप दिये गये।

---

१. बी० एम० शर्मा, दि रिपब्लिक ऑफ इण्डिया, १९६६, पृष्ठ ४।
२. ए० बी० कीथ, ए कॉन्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृष्ठ ७०।

इस अधिनियम के अनुसार ब्रिटिश राजमुकुट एक महाराज्यपाल और उसे परामर्श देने वाले चार पार्षद मनोनीत करता था। अधिनियम में महाराज्यपाल और इन चार पार्षदों का नाम भी निहित किया गया था। वारेन हेस्टिंग्ज को महाराज्यपाल नियुक्त किया गया। जनरल क्लैवरिंग, कर्नल मौनसन, बारवेल और फ्रांसिस पार्षद मनोनीत किये गये। उनकी कार्यावधि पांच वर्ष थी। कोर्ट आफ डायरेक्टर्स की सिफारिश पर सम्राट उन्हें पदच्युत कर सकता था। यदि अस्थायी रूप से महाराज्यपाल का पद रिक्त हो तो परिषद् का वरिष्ठ सदस्य उसका कार्य भार सम्भालता था। यदि परिषद् के सदस्यों का स्थान कभी इस प्रकार रिक्त होता था तो कम्पनी ही उस स्थान की रिक्त पूर्ति करती थी। इन पांचों अधिकारियों का कार्य बंगाल प्रेसीडेन्सी के शासन को चलाना था। मद्रास व बम्बई के शासन को चलाने के लिये पृथक्-पृथक् एक प्रेसीडेन्ट और एक परिषद् होती थी। ये परिषद् और प्रेसीडेन्ट महाराज्यपाल के आधीन होते थे और उसके आदेशानुसार कार्य करते थे। प्रेसीडेन्टों का कर्तव्य था कि प्रत्येक महत्वपूर्ण विषय में महाराज्यपाल को अवगत रखे। महाराज्यपाल की स्वीकृति के बिना वे युद्ध या संधि नहीं कर सकते थे। कीथ के शब्दों में इसके दो महत्वपूर्ण अपवाद भी थे। आपत्तिकाल में अति आवश्यकता पड़ने पर और कम्पनी से विशेष आदेश प्राप्त करने पर प्रेसीडेन्ट व उसकी परिषद्, महाराज्यपाल और उसकी परिषद् के परामर्श के बिना आवश्यक पग उठा सकती थी अर्थात् युद्ध या शांति घोषित कर सकती थी। महाराज्यपाल और उसकी परिषद् को यह भी अधिकार था कि वह प्रेसीडेन्ट और उसकी परिषद् को आदेशों की अवहेलना करने पर स्थगित कर दे। प्रेसीडेन्टों का यह भी कर्तव्य था कि अपने आधीन सरकार के कार्यों, राजस्व और कम्पनी के हितों के सम्बन्ध में नियमित रूप से महाराज्यपाल को सूचना पहुंचाते रहें।

महाराज्यपाल और उसकी परिषद् सामूहिक कार्यकारिणी के सिद्धान्त (The Principle of a Collegiate Executive) पर कार्य करते थे। परिषद् के सब निर्णय बहुमत से होते थे। बराबर मत होने की अवस्था में ही महाराज्यपाल को निर्णायक मत देने का अधिकार था। परिषद् के बहुमत के निर्णय को रद्द करने का उसे अधिकार नहीं था। पार्षदों की संख्या चार थी। जब कभी भी तीन पार्षद एक ओर मिल जाते थे तो वे महाराज्यपाल की इच्छा के विरुद्ध कुछ भी निर्णय ले लेते थे।

महाराज्यपाल और उसकी परिषद को डायरेक्टरों के आदेशों को मानना ही पड़ता था। महाराज्यपाल और उसकी परिषद् का यह भी कर्तव्य था कि कम्पनी के हितों से सम्बन्धित सब विषयों में डायरेक्टरों को अवगत रखे। डायरेक्टरों का भी यह कर्तव्य था कि कम्पनी के सैनिक, असैनिक और वित्तीय विषयों से ब्रिटिश सरकार को अवगत रखे।

महाराज्यपाल और उसकी परिषद को कम्पनी के भारतीय क्षेत्रों के सुशासन

के लिये नियम, उपनियम और अध्यादेश जारी करने का अधिकार था। इस अधिकार द्वारा भारत सरकार की नियम बनाने की शक्ति का आरम्भ हुआ। इस प्रकार के सब नियमों की रजिस्ट्री सुप्रीम कोर्ट में होती थी। सुप्रीम कोर्ट इन्हें स्वीकार या अस्वीकार कर सकती थी। दो वर्ष के भीतर कोई भी नियम सम्राट की परिषद् द्वारा रद्द किया जा सकता था[1]।

इस अधिनियम के अन्तर्गत कलकत्ते में एक सुप्रीम कोर्ट की स्थापना हुई। इस न्यायालय में एक चीफ जस्टिस और तीन अन्य न्यायाधीश होते थे। इन न्यायाधीशों की नियुक्ति सम्राट द्वारा होती थी। ये न्यायाधीश पाँच वर्ष के अनुभव प्राप्त बैरिस्टर होते थे और सम्राट की इच्छा पर अपने पद पर रह सकते थे। न्यायाधीशों को अपने आधीन अधिकारियों को नियुक्त करने का अधिकार था। ए० बी० कीथ के अनुसार इस न्यायालय का क्षेत्राधिकार बहुत अधिक व्यापक था। यह न्यायालय कम्पनी के सब भारतीय क्षेत्रों में दीवानी, फौजदारी, नौसेना सम्बन्धी और धार्मिक विषयों की सुनवाई कर सकती थी। कम्पनी के कर्मचारियों और ब्रिटिश जनता पर इसका क्षेत्राधिकार था। सुप्रीम कोर्ट के निर्णयों के विरुद्ध अपीलें सम्राट की परिषद् में जाती थीं।

महाराज्यपाल, उसकी परिषद् के सदस्यों और सुप्रीम कोर्ट के जजों को अच्छा वेतन मिलता था। कम्पनी के कर्मचारियों को घूस लेना निषिद्ध था। वे भेंट भी स्वीकार नहीं कर सकते थे। उन्हें निजी व्यापार करने का भी अधिकार नहीं था। कम्पनी के शासन को सुधारने की दृष्टि से ही इस प्रकार के प्रबन्ध लगाये गये।

बोर्ड आफ डायरेक्टर्स के संगठन में भी परिवर्तन किया गया। चौबीस डायरेक्टर प्रतिवर्ष चुनने के स्थान पर छः डायरेक्टर प्रतिवर्ष चुने जाते थे। और ये चार वर्ष तक अपने पद पर रहते थे और एक वर्ष तक वे फिर चुने नहीं जा सकते थे। मत देने का अधिकार केवल उन्हीं शेयर होल्डरों को दिया गया जिनके पास प्रतिवर्ष एक हजार पौंड का स्टाक होता था। इस प्रतिबन्ध के परिणामस्वरूप १,२४६ छोटे शेयर होल्डर मत देने से वंचित रखे गये। परन्तु इसका वास्तविक प्रभाव कुछ नहीं पड़ा। तीन हजार पौंड का स्टाक रखने वालों को दो मत दिये गये। छः हजार पौंड का स्टाक रखने वालों को तीन मत और दस हजार पौंड का स्टाक रखने वालों को चार मत दिये गये। भारत से लौटे हुए कर्मचारियों के पास अधिक धन होता था इसलिये उन्होंने इन परिवर्तनों का पूरा लाभ उठाया।

१७७३ के अधिनियम में कुछ ऐसे उपबन्ध भी रखे गये जिसके कारण कम्पनी के शासन में अवश्य ही सुधार हो सके। किसी भी ब्रिटिश प्रजा को १२% से अधिक ब्याज पर ऋण लेने का अधिकार नहीं था। यदि कम्पनी के कर्मचारी नियम के

---

१. आर. एन. अग्रवाल, नेशनल मूवमेंट एण्ड कान्स्टीट्यूशनल डवलपमेंट आफ इंडिया पृष्ठ १२।

विरुद्ध कार्य करें तो उन्हें इंग्लैण्ड वापस भेजने की व्यवस्था की गई। एक पदच्युत कर्मचारी को पद पर फिर से तभी नियुक्त किया जाता था जब डाइरेक्टर्स और प्रोप्राइटर्स का तीन चौथाई भाग इसकी स्वीकृति दे दे। इस अधिनियम में कम्पनी के अधिकारियों को उचित वेतन देकर सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया गया। महाराज्यपाल का वेतन २५,००० पौण्ड प्रतिवर्ष रखा गया। उसकी परिषद के सदस्यों का वेतन १०,००० पौण्ड वार्षिक था और चीफ जस्टिस का वेतन ८,००० पौंड वार्षिक था[1]।

**इस अधिनियम का महत्व**—यह अधिनियम भारतीय शासन के विकास में एक महत्वपूर्ण युग प्रवर्तक घटना है। इस अधिनियम का महत्व कई बातों से था। इसके फलस्वरूप भारत में अच्छा शासन स्थापित हुआ। पार्लियामेंट ने भारत के शासन कार्य में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया। सरदार गुरमुख निहाल सिंह ने अनेक कारणोंवश १७७३ के अधिनियम को महान सवैधानिक महत्ता का अभिलेख बताया है। इस अधिनियम में निश्चित रूप से कम्पनी के राजनैतिक कार्यों को स्वीकार किया गया। १७७३ तक कम्पनी एक व्यापारिक संस्था ही थी। अब यह एक राजनैतिक संस्था भी बन गई। दूसरे संसद ने प्रथम बार यह निश्चय किया कि कम्पनी के भारतीय क्षेत्रों में किस प्रकार की सरकार स्थापित की जाय। तीसरे यह पहला संसदीय परिनियम था जिसने भारतीय सरकार के ढांचे में परिवर्तन कर दिया।[2] ए० बी० कीथ ने भी इस अधिनियम की महत्ता पर बल दिया है। उनके अनुसार इस अधिनियम में कम्पनी के लन्दन के संगठन में परिवर्तन कर दिया गया। भारत में सरकारी ढांचे को बदल दिया गया। कम्पनी के सारे भारतीय क्षेत्रों को एक केन्द्रीय नियन्त्रण के आधीन रख दिया गया और ब्रिटिश मन्त्रालय द्वारा कम्पनी के कार्य की देख भाल के लिये व्यवस्था कर दी गई।

इस अधिनियम के बन जाने से कम्पनी की अपनी इच्छानुसार नियुक्ति करने की शक्ति कम हो गई। अधिनियम में यह स्पष्ट कर दिया गया कि महाराज्यपाल और उसकी परिषद् के सदस्य कौन-कौन होंगे। भविष्य में प्रमुख नियुक्तियां सम्राट के अनुसमर्थन पर ही हो सकती थी। इस अधिनियम द्वारा कम्पनी के भारतीय क्षेत्रों का एकीकरण करने का प्रयत्न किया गया। महाराज्यपाल और उसकी परिषद् को यह अधिकार दिया गया कि विदेशी विषयों में वे सब प्रेसीडेन्सियों पर नियन्त्रण रखें कुछ विषयों में और कुछ विशेष परिस्थितियों में वे स्वयं भी निश्चय कर सकती थी। परन्तु १७७३ के अधिनियम का स्पष्ट उद्देश्य था कि कम्पनी के भारतीय क्षेत्रों में सामंजस्य स्थापित किया जाय। और उनके शासन को केन्द्रीभूत किया जाय। कुशल और सुचारुपूर्ण शासन के लिये यह अति आवश्यक था।

इस अधिनियम ने कम्पनी के कर्मचारियों में भ्रष्टाचार को कम करने का

१. ए. बी. कीथ, ए कॉन्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृष्ठ ७६।

२. गुरमुख निहाल सिंह, लैंडमार्क्स इन इण्डियन कॉन्सटीट्यूशनल एण्ड नेशनल डेवलपमेन्ट पृष्ठ १४—१५।

भी प्रयत्न किया। कम्पनी का कोई भी अधिकारी न तो घूँस ले सकता था और न किसी प्रकार की भेंट स्वीकार कर सकता था यहाँ तक कि महाराज्यपाल उसकी परिषद् के सदस्य और सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश भी इन प्रतिबन्धों से मुक्त नहीं थे। इस अधिनियम द्वारा ब्रिटिश सरकार ने कुछ ऐसे क्षेत्रों की सरकार का उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर लिया जो एक व्यापारिक कम्पनी द्वारा जीते गये थे। १७७३ से पहले कम्पनी का स्वेच्छाचारी शासन ही भारत में लागू था। १७७३ के अधिनियम द्वारा कम्पनी के भारतीय क्षेत्रों के लिये एक लिखित संविधान की व्यवस्था की गई। महाराज्यपाल की तानाशाही प्रवृत्ति को रोकने के लिये एक परिषद् की व्यवस्था की गई जो सामूहिक कार्यकारिणी पद्धति के आधार पर कार्य करती थी।

**इस अधिनियम की त्रुटियाँ**—एडमन्ड बर्क ने इस अधिनियम की कड़ी निन्दा की। उसने इसे निश्चित अधिकारों पर असंवैधानिक हस्तक्षेप बताया। उन्होंने कहा कि यह अधिनियम राष्ट्रीय अधिकार, राष्ट्रीय विश्वास और राष्ट्रीय न्याय की अवहेलना करता है। हाउस ऑफ कॉमन्स में बोलते हुए श्री बूटन रोज ने कहा कि इस अधिनियम का उद्देश्य तो अच्छा था परन्तु इस अधिनियम द्वारा स्थापित पद्धति त्रुटि पूर्ण थी। इस अधिनियम द्वारा एक ऐसे महाराज्यपाल का पद निर्मित किया गया जो अपनी परिषद् के सम्मुख ही असहाय था। इस अधिनियम ने एक ऐसी कार्यकारिणी स्थापित की जो उस सुप्रीम कोर्ट के सम्मुख असहाय थी जिसको देश की शांति व भलाई के उत्तरदायित्व से मुक्त रखा गया था। इस प्रकार की पद्धति एक महान मनुष्य की बुद्धिमत्ता और साहस के कारण ही कार्यान्वित की जा सकी[1]। राबर्ट् स ने इस अधिनियम की निन्दा की क्योंकि यह अधकचरा था और बहुत से विषयों में यह बुरी तरह अस्पष्ट था। डोडवेल ने इसे विरोधाभासों से परिपूर्ण बताया है। उसके अनुसार यह अज्ञान पर आधारित था। गुरमुख निहाल सिंह ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि प्रसन्नता की बात थी कि इस अधिनियम में त्रुटि होते हुए भी यह ब्रिटिश सरकार के लिये घातक सिद्ध नहीं हुआ।

इस अधिनियम में कई दोष थे। महाराज्यपाल और उसके पार्षदों में आपस में मतभेद रहते थे। १७७३ के अधिनियम के अनुसार वारेन हेस्टिंग्ज सबसे प्रथम महाराज्यपाल था। यह अधिनियम में ही लिखा था कि पहला महाराज्यपाल वारेन हेस्टिंग्ज होगा। परिषद् के सदस्यों के नाम भी उसमें निहित थे। सब निर्णय इन पाँचों अधिकारियों के बहुमत से होते थे। यदि मत बराबर हों तो महाराज्यपाल को निर्णायक मत देने का अधिकार था। पहले दो वर्षों में वारेन हेस्टिंग्ज और उसके पार्षदों में काफी मत भेद रहा। महाराज्यपाल की परिषद् के बहुमत ने वारेन हेस्टिंग्ज की बहुत सी योजनाओं को रद्द कर दिया। चार पार्षदों में से तीन क्लेवरिंग, मोन्सन और फ्रांसिस अपने कार्य से बिलकुल अनभिज्ञ थे। उन्हें भारत की परिस्थिति का नाम मात्र को भी ज्ञान नहीं था और वे भारत में आने से पहले ही

१. रिपोर्ट आन इंडियन कान्स्टीट्यूशनल रिफोर्मस, १९१८ पृष्ठ १७।

हेस्टिंग्ज के विरुद्ध थे। पग-पग पर वे वारेन हेस्टिंग्ज का विरोध करते थे। इन तीनो पार्षदो का विचार था कि कम्पनी के सब भारतीय और यूरोपिय अधिकारी भ्रष्टाचार मे लिप्त हैं इसलिये उन्होंने प्रत्येक परिस्थिति मे महाराज्यपाल का विरोध किया। वे महाराज्यपाल को भ्रष्टाचार का प्रतीक समझते थे। फ्रांसिस का यह विचार था कि महाराज्यपाल को अयोग्य सिद्ध करके स्वय महाराज्यपाल बन जाय। केवल बारवेल ने ही महाराज्यपाल का साथ दिया। और यह भी इसलिये क्योंकि ऐसा करने से उसे अनुचित प्रकार से धन एकत्रित करने का अच्छा अवसर मिलता था।

२५ सितम्बर १७७६ तक जब मान्सन की मृत्यु हुई तब तक महाराज्यपाल की परिषद् का नियन्त्रण विरोधियो के ही हाथों मे था। विरोधियो ने अपनी शक्ति का दुरुपयोग किया और महाराज्यपाल को तग करने का भरसक प्रयत्न किया। उन्होने महाराज्यपाल के शत्रु नन्दकुमार को भडकाकर महाराज्यपाल के विरुद्ध आरोप लगवाये। अन्त मे नन्दकुमार को फासी दे दी गई और इसके कारण वारेन हेस्टिंग्ज की भी काफी बदनामी हुई। कई बार वारेन हेस्टिंग्ज को ऐसे निर्णय कार्यान्वित करने पडते थे जिन्हे वह स्वय नही चाहता था। तग आकर एक बार वारेन हेस्टिंग्ज ने अपने पद से त्याग-पत्र भी दे दिया, परन्तु जैसे ही उसे यह पता चला कि क्लेवरिंग की मृत्यु हो चुकी है तो उसने त्याग-पत्र को वापस ले लिया और सुप्रीम कोर्ट से यह निर्णय ले लिया कि उसका त्याग-पत्र अवैध था[१]। महाराज्यपाल और उसकी परिषद् मे मतभेद होने से कम्पनी की स्थिति बडी खराब हो गई। कम्पनी के सम्मुख बहुत से गम्भीर विषय आते थे। जब अधीन अधिकारियो को विशेषकर प्रेसीडेन्सियो को यह पता चलता था कि केन्द्रीय सरकार मे मतभेद है तो उसका खराब प्रभाव पडता था। ऐसी अवस्था मे महाराज्यपाल और उसकी परिषद् को प्रेसीडेन्सियो पर नियन्त्रण करने मे काफी कठिनाई आती थी।

१७७३ के अधिनियम मे कुछ त्रुटि होने के कारण मद्रास और बम्बई के अधिकारी महाराज्यपाल और उसकी परिषद् के आदेशो की अवहेलना कर देते थे। अधिनियम मे यह उल्लेख था कि बम्बई व मद्रास की सरकारे महाराज्यपाल के अधीन हैं परन्तु इन दोनो सरकारो ने आपातकालीन व्यवस्था का बहाना लेकर मराठो और हैदरअली से युद्ध छेड दिया। और ऐसा करने से पहले उन्होने महाराज्यपाल की परिषद् की अनुमति नही ली। उनके ऐसा करने से कलकत्ते की केन्द्रीय सरकार की प्रतिष्ठा को बडा धक्का पहुँचा। बगाल की सरकार की स्थिति बडी खराब हो गई। कभी-२ उन्हे उन युद्धो के लिये धन देना पडता था जिनसे उनका कोई सम्बन्ध नही था और प्रेसीडेन्सियो के अनेक अनुचित कार्यों का राजनैतिक उत्तरदायित्व सम्भालना पडता था।

कलकत्ते की केन्द्रीय सरकार और उच्चतम न्यायालय मे भी लगातार सघर्ष

---

१. गुरमुख निहाल सिंह, लैंडमार्क्स इन इंडियन कॉन्स्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डेवलपमेंट पृष्ठ २२।

रहा क्योंकि उनके अधिकार अधिनियम में स्पष्ट नहीं थे। उच्चतम न्यायालय का क्षेत्राधिकार अस्पष्ट था। यह स्पष्ट नहीं लिखा हुआ था कि उच्चतम न्यायालय को किन विधियों को अपनाना है। महाराज्यपाल की परिषद् और उच्चतम न्यायालय के सम्बन्ध स्पष्ट नहीं थे। यह स्पष्ट नहीं था कि उच्चतम न्यायालय के क्षेत्राधिकार में कौन २ मनुष्य आते हैं। 'ब्रिटिश प्रजा' शब्द की उचित परिभाषा नहीं दी गई थी। यह भी स्पष्ट नहीं था कि किस २ श्रेणी के मनुष्य कम्पनी के कर्मचारी समझे जायेंगे। उच्चतम न्यायालय ने यह दावा किया कि सारी भारतीय जनता पर उसका क्षेत्राधिकार लागू है। उच्चतम न्यायालय ने यह भी मत दिया कि उसे उन सब मामलों की सुनवाई का अधिकार है जो भारतीय और यूरोपीय अधिकारियों के सरकारी कार्यों से सम्बन्धित है। उच्चतम न्यायालय ने प्रान्तीय न्यायालयों के क्षेत्राधिकार को भी स्वीकार नहीं किया। इसने ऐसे अनेक मनुष्यों को रिहा कर दिया जिन्हें प्रान्तीय न्यायालयों ने राजस्व न देने पर जेल भेजा था। उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश ब्रिटिश न्याय पद्धति और परम्पराओं से अवगत होते थे। वे हिन्दू व मुस्लिम कानून व भारतीय परम्पराओं से अनभिज्ञ होते थे और न ही वह इन्हें जानने का प्रयत्न करते थे। उन्होंने प्राप्त सीखकर ब्रिटिश न्यायपद्धति और प्रक्रिया को भारत में लागू करना प्रारम्भ कर दिया। न्यायाधीशों के इन कार्यों से जनता भयभीत हो गई। कभी २ डिग्रियों को जारी करने के लिये न्यायालय के अधिकारी पर्दानशीन महिलाओं के घर में घुस जाते थे और मन्दिरों व मस्जिदों में भी हस्तक्षेप करते थे। उच्चतम न्यायालय के इन सब अनुचित कार्यों के कारण जनता में बड़ी अशान्ति फैल गई और कई बार महाराज्यपाल की परिषद् को हस्तक्षेप करना पड़ा। अन्त में १७८१ में ब्रिटिश संसद को एक संशोधन अधिनियम पास करना पड़ा।

इस अधिनियम के द्वारा कम्पनी की लन्दन की घरेलू सरकार में जो परिवर्तन किये गये वे भी त्रुटिपूर्ण थे। जनरल कोर्ट के सदस्यों की मतदान योग्यता बढ़ाने के कारण १२४६ छोटे हिस्सेदार मत देने से वंचित कर दिये गये, इसके कारण कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स कुछ अमीर लोगों की स्थायी सम्पत्ति बन गई। रावर्ट्स का विचार है कि मतदान पद्धति में परिवर्तन करने से कोई लाभ नहीं निकाला।[१] १७८१ की प्रवर समिति की ६ वीं रिपोर्ट में यह बताया गया कि १७७३ के अधिनियम के निर्माताओं के दोनों अनुमान गलत सिद्ध हुए। एक तो यह कि थोड़ी संख्या के द्वारा गुटबन्दी को दूर किया जा सकता है और दूसरे यह कि अधिक सम्पत्ति रखने वाले मनुष्य अधिक ईमानदार होते हैं[२]।

इस अधिनियम में यह दिया हुआ था कि १४ दिन के भीतर डायरेक्टर्स उन सब पत्रों को ब्रिटिश सरकार के सम्मुख रखेंगे जो उन्हें महाराज्यपाल की परिषद् से प्राप्त हुए हैं। परन्तु उन पत्रों व रिपोर्टों की जाँच की कोई व्यवस्था

१. गुरमुख निहाल सिंह, लैंड मार्क्स इन इण्डियन कान्स्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डेवलपमेंट, पृष्ठ २१।

२. विष्णु भगवान, कान्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इंडिया एण्ड नेशनल मूवमेंट, पृष्ठ २१।

नही की गई। इस प्रकार कम्पनी के कार्यों पर संसद का नियन्त्रण अधिक प्रभावशाली नहीं था। अन्त मे हम राबर्टस के इन शब्दो को दोहराना उचित समझते है, "१७७३ के अधिनियम ने न तो ब्रिटिश पार्लियामेंट का कम्पनी पर निश्चित नियन्त्रण रखा और न ही डायरेक्टरो का कम्पनी के कर्मचारियो पर निश्चित नियन्त्रण था और न ही महाराज्यपाल का उसकी परिषद् पर नियन्त्रण था और न ही कलकत्ता प्रेसीडेन्सी का मद्रास और बम्बई पर निश्चित नियन्त्रण था।" उचित नियन्त्रण का अभाव ही इस अधिनियम की विशेष त्रुटि थी।

---

अध्याय ३

# १७८४ का पिट का भारत अधिनियम

**१७८१ का अधिनियम**—पिछले अध्याय मे हम १७७३ के विनियामक अधिनियम की त्रुटियो पर प्रकाश डाल चुके है। महाराज्यपाल और उसकी परिषद् के सम्बन्ध सुप्रीम कोर्ट के साथ स्पष्ट न होने के कारण अन्य प्रकार के झगड़े उत्पन्न हो गये थे। इन झगड़ो का अन्त करने के लिये ब्रिटिश संसद ने १७८१ मे एक न्यायपालिका अधिनियम पास किया। जिसके द्वारा महाराज्यपाल और उसकी परिषद और सुप्रीम कोर्ट की क्षेत्राधिकार और शक्तियां स्पष्ट कर दी गई। इस अधिनियम के अनुसार कम्पनी के कर्मचारियों के उन कार्यों को सुप्रीम कोर्ट के क्षेत्राधिकार से दूर रखा गया जो वे सरकारी रूप मे करते थे। यदि महाराज्यपाल और उसकी परिषद अपनी सार्वजनिक स्थिति मे कोई ऐसा निर्णय या आदेश दे जिनका ब्रिटिश जनता से कोई सम्बन्ध न हो तो उन पर सुप्रीम कोर्ट का क्षेत्राधिकार लागू नहीं होता था। कलकत्ते के सब निवासियो पर सुप्रीम कोर्ट का अधिकार था। कम्पनी को अपने भारतीय कर्मचारियो की सूची रखनी पड़ती थी।

इस अधिनियम मे यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि सुप्रीम कोर्ट को किस प्रकार के कानून लागू करने हैं। इस अधिनियम मे यह स्पष्ट कर दिया गया कि विरासत, उत्तराधिकार, भूमि, किराया, सामान और कन्ट्रैक्ट सम्बन्धी मामले विभिन्न पक्षों के स्वीय विधि (personal law) अनुसार निश्चित किये जायेंगे। मुसलमानों के लिये मुस्लिम विधि लागू होगी और हिन्दुओ के लिये हिन्दू विधि लागू होगी। यदि दोनों पक्षो मे से एक पक्ष हिन्दू या मुसलमान है तो ऐसी अवस्था मे प्रतिवादी की विधि लागू होगी। इस प्रकार प्रतिवादी से सम्बन्ध रखने वाला कोई भी मामला विदेशी कानून पर आधारित न होकर उसके स्वीय विधि पर आधारित होगा। इस अधिनियम मे यह भी व्यक्त कर दिया गया कि सुप्रीम कोर्ट भारतवासियों के रीति रिवाज, धार्मिक व सामाजिक प्रथाओ व परम्पराओं का आदर करेंगी। यदि ये प्रथायें और परम्परायें अंग्रेजी कानून के विपरीत हो तब भी वह उन्हे मान्य होंगी। महाराज्यपाल और उसकी परिषद को यह अधिकार दे दिया गया कि कम्पनी द्वारा स्थापित न्यायालयों की अपीलें वे सुनें। इस प्रकार महाराज्यपाल की परिषद् को एक कोर्ट आफ अपील का रूप दे दिया गया। इसके निर्णय अन्तिम होते थे। यदि दीवानी विषयो का मूल्य पांच हजार पौण्ड या इससे अधिक होता था तो उनकी अपीलें सम्राट की परिषद को जाती थीं। महाराज्यपाल की परिषद् को एक राजस्व न्यायालय भी बना दिया गया। राजस्व सम्बन्धी सब विषय महाराज्यपाल की परिषद् के सम्मुख आते थे। १७८१ के अधिनियम के अनुसार

महाराज्यपाल की परिषद को यह भी अधिकार दे दिया गया कि वह समय-समय पर प्रान्तीय न्यायालयों व परिषदों के लिये नियम व उपनियम बनायें। सम्राट की परिषद् दो वर्ष के भीतर इस प्रकार के किसी भी नियम को रद्द कर सकती थी।[1]

**१७८४ का पिट का भारत अधिनियम**—१७७३ के विनियामक अधिनियम की अन्य त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न पिट के १७८४ के भारत अधिनियम में किया गया। १७७३ के अधिनियम के अनुसार कम्पनी के कार्यों को दो भागों में बांट दिया गया—राजनैतिक और व्यापारिक। ऐसा करने के फलस्वरूप कम्पनी के कार्यों में निरंतर संघर्ष रहता था। और कम्पनी इतने बड़े साम्राज्य के शासन को चलाने के योग्य भी नहीं थी। १७७३ के अधिनियम में संसद ने कम्पनी के कार्यों में हस्तक्षेप करने का कुछ सीमा तक प्रयत्न किया। परन्तु संसद का यह नियन्त्रण शासन की स्थिति को सुधारने के लिये पर्याप्त नहीं था। अब यह अति आवश्यक होगया कि ब्रिटिश संसद कम्पनी के कार्यों पर पूरा नियन्त्रण रखे। इस ध्येय की पूर्ति के लिये १७८४ का अधिनियम पास किया गया। यह अधिनियम अगस्त १७८४ में पास हुआ।

**१७८४ के अधिनियम के उपबन्ध**—इस अधिनियम के द्वारा भारतीय विषयों के लिये छ कमिश्नरों की एक बोर्ड बनाई गई जिसको बोर्ड आफ कन्ट्रोल का नाम दिया गया। इस बोर्ड में एक राज्य सचिव, चान्सलर आफ दि एक्सचैकर (वित्त मंत्री) और चार अन्य प्रिवी कौन्सिलर होने थे जिन्हें सम्राट मनोनीत करता था। ये सम्राट की इच्छानुसार ही अपने पद पर रहते थे। बोर्ड की गणपूर्ति तीन थी। यदि राज्यसचिव और चान्सलर आफ दि एक्सचैकर अनुपस्थित हों तो वरिष्ठ कमिश्नर बोर्ड का सभापति होता था। कमिश्नरों को कोई वेतन नहीं मिलता था। संसद के सदस्य भी कमिश्नर हो सकते थे। बोर्ड आफ कन्ट्रोल को कम्पनी के कर्मचारियों को नियुक्त करने का अधिकार नहीं था। यह कार्य कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स और कम्पनी के हाथों में ही था।

बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल को यह अधिकार दिया गया कि वह ईस्ट इंडिया कम्पनी के सब भारतीय क्षेत्रों पर पूरा नियन्त्रण रखे। सारे दीवानी, सेना व राजस्व के प्रशासन संबंधी मामले इसके क्षेत्राधिकार में आते थे। बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के सदस्यों को यह अधिकार था कि वे कम्पनी के सब पत्रों को देख सकें। उन सब पत्रों की प्रतियां बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के सदस्यों को भी भेजी जाती थी जो डायरेक्टर्स कम्पनी के अधिकारियों को भारत में भेजते थे या उनसे स्वयं प्राप्त करते थे। कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स को कन्ट्रोल बोर्ड के उन सब आदेशों को मानना पड़ता था जो बोर्ड भारत की सैनिक व असैनिक सरकार के सम्बन्ध में और भारतीय राजस्व के संबंध में जारी करती थी। बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल को यह अधिकार था कि वह डायरेक्टर्स के किसी भी पत्र या आदेश को अस्वीकार कर दे या उसमें संशोधन

१. गुरमुख निहाल सिंह, लैंडमार्क्स इन इंडियन कान्स्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डेवलप-मेन्ट, पृष्ठ २३—२४।

कर दे। डायरेक्टर्स का यह कर्तव्य था कि वह ऐसे संशोधित आदेशों या पत्रों को कम्पनी के कर्मचारियों को भेज दे।

काम की शीघ्रता से करने के लिये बोर्ड को यह भी अधिकार था कि वे किसी भी विषय पर डायरेक्टर्स को कोई आदेश या पत्र तैयार करने को कहे। यदि कुछ सप्ताहों तक डायरेक्टर्स इस प्रार्थना पर अमल न करें तो बोर्ड को ऐसे आदेशों या पत्रों को स्वयं तैयार करने का अधिकार था। डायरेक्टर्स को ऐसे आदेश या पत्र भारत सरकार को भेजने ही पड़ते थे। बोर्ड आफ कन्ट्रोल को कोर्ट आफ डायरेक्टर्स की गुप्त समिति के सम्मुख गुप्त आदेश और निर्देशन भेजने का अधिकार था। ये गुप्त आदेश युद्ध घोषित करने, शांति संधि करने या देशी राज्यों से वार्तालाप करने के सबंध में होते थे। डायरेक्टर्स की गुप्त समिति इन गुप्त आदेशों को बिना अन्य डायरेक्टरों को बताये हुए भारत सरकार को भेज देती थी।[1] यदि डायरेक्टर्स के किसी आदेश या प्रस्ताव पर बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल अपनी अनुमति दे देती थी तो कोर्ट ऑफ प्रोपराइटर्स को इन्हें रद्द करने का अधिकार नहीं था।

बोर्ड आफ कन्ट्रोल के कर्मचारियों का वेतन, भत्ता इत्यादि भारत के राजस्व से दिया जाता था यदि यह रकम १६ हजार पौंड से अधिक न हो। बोर्ड आफ कन्ट्रोल का एक अध्यक्ष भी होता था। कुछ समय बाद अध्यक्ष ही बोर्ड का कर्ता-धर्ता बन गया था। यह उसके स्वयं के व्यक्तित्व पर अधिक निर्भर था। पहला अध्यक्ष सर हैनरी डन्डस था। वह ब्रिटिश प्रधानमन्त्री पिट का मित्र था और इस लिये बोर्ड पर हावी था। डायरेक्टर्स को बहुत कम वेतन मिलता था। परन्तु उन्हें कम्पनी के कर्मचारियों को नियुक्त करने का अधिकार था, जिसका वे पूरा लाभ उठाते थे। वे कभी भी बोर्ड आफ कन्ट्रोल को असन्तुष्ट करना नहीं चाहते थे। बोर्ड आफ कन्ट्रोल के अध्यक्ष को संसद के सम्मुख कोई वार्षिक लेखा जोखा नहीं रखना पड़ता था और वह संसद के प्रति उत्तरदायी भी नहीं था इस कारण अध्यक्ष बड़ा शक्तिशाली बन गया था। कभी कभी अध्यक्ष मन्त्रिमण्डल का सदस्य भी होता था इससे उसकी शक्ति और अधिक हो जाती थी। डन्डस अपने समस्त कार्य काल तक मंत्रिमण्डल का सदस्य रहा। परन्तु मिन्टो सरीखे अन्य अध्यक्ष मन्त्रिमण्डल के सदस्य नहीं थे।[2]

सरदार गुरमुख निहाल सिंह के अनुसार १७८४ के अधिनियम में भारत के एकीकरण को एक पग और आगे बढ़ाया गया। इस अधिनियम के आधार पर महाराज्यपाल और उसकी परिषद् की शक्तियों में वृद्धि की गई और मद्रास व बम्बई के राज्यपाल और परिषदों पर इसका अधिक नियन्त्रण हो गया। इस अधि-नियम के ३१ वें खन्ड के अनुसार महाराज्यपाल की परिषद् को यह अधिकार दिया

१. विष्णु भगवान, कान्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इन्डिया एण्ड नेशनल मूवमेंट पष्ठ २६।

२. गुरमुख निहाल सिंह, लैण्डमार्क्स [redacted] इंडियन कान्स्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डेवलपमेंट, पृष्ठ १८

गया कि वह अन्य प्रेसीडेन्सियों और सरकारों पर पूरी देख भाल व नियंत्रण रखे। उन्हें राजस्व युद्ध व शांति करने या देसी राज्यों से बातचीत करने के संबंध में आदेश दें। १७८४ के अधिनियम ने महाराज्यपाल और राज्यपालों की परिषदों में भी परिवर्तन कर दिया। प्रत्येक परिषद् में, चाहे वह महाराज्यपाल की परिषद हो या राज्यपाल की, तीन सदस्य होते थे। इन तीन सदस्यों में एक सेनापति होता था। इन सदस्यों की नियुक्ति कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स करते थे परन्तु सम्राट को उन्हें निकालने या वापिस बुलाने का अधिकार था। प्रथम बार इस अधिनियम में कम्पनी के क्षेत्रों को "इस राजतन्त्र के क्षेत्र" और "भारत में ब्रिटिश क्षेत्र" का नाम दिया गया।

इस अधिनियम में ईस्ट इंडिया कम्पनी से यह आग्रह किया गया कि वह अपनी व्यवस्था को सुधारे और खर्च को कम करने का प्रयत्न करे और अपने साम्राज्य के विस्तार की सब योजनाओं को रोक दे। अधिनियम में यह भी व्यक्त किया गया कि "विजय की योजनायें और भारत में साम्राज्य का विकास ऐसे कार्य हैं जो इस राष्ट्र की इच्छा, सम्मान और नीति के विरुद्ध हैं।" इस अधिनियम ने उन अपराधों के मुकदमों के लिये भी अच्छी व्यवस्था कर दी जो कि अंग्रेज लोग भारत में कर देते थे। ऐसे अपराधों के लिये मुकदमे इंगलैंड में चलाये जाते थे। इस कार्य के लिये एक विशेष न्यायालय स्थापित किया गया जिसमें तीन न्यायाधीश, चार लार्ड्स और छः हाउस ऑफ कॉमन्स के सदस्य होते थे।

**१७८४ के अधिनियम का महत्व**—यह अधिनियम बड़ा महत्वपूर्ण था। पिट के प्रबल परिश्रम के कारण ही यह पास हुआ था। १८५८ तक यह अधिनियम ही भारतीय शासन की आधारशिला बना रहा। इस अधिनियम के अनुसार वास्तव में कोर्ट ऑफ प्रोप्राइटर्स के स्थान पर बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल ही कम्पनी के शासन के लिये उत्तरदायी हो गया। इलबर्ट के शब्दों में कम्पनी के शासन को स्थायी रूप से एक ऐसे निकाय के अधीन कर दिया गया जो ब्रिटिश संसद का प्रतिनिधित्व करती थी। १७७३ के अधिनियम की सबसे बड़ी त्रुटि यह थी कि इसके अन्तर्गत संसद का कम्पनियों के क्षेत्रों पर नियंत्रण काफी नहीं था। १७८४ के अधिनियम में इस कमी को दूर कर दिया गया। बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल को स्थापित करके संसद ने कम्पनी के क्षेत्रों पर पूरा अधिकार कर लिया। बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल वास्तव में ब्रिटिश सरकार की एक सहमेलन सरीखी संस्था (a sort of annexe to the ministry) ही थी।[1] यह निकाय प्रत्येक ब्रिटिश मंत्रिमंडल के साथ बदलती रहती थी। इस अधिनियम द्वारा महाराज्यपाल और उसकी परिषद् की शक्तियाँ भी बढ़ा दी गईं। महाराज्यपाल और उसकी परिषद् का नियंत्रण प्रेसीडेन्सियों पर अधिक हो गया। यदि प्रेसीडेन्सियां महाराज्यपाल की परिषद् के आदेशों को न मानें तो उन्हें स्थगित किया जा सकता

१. गुरमुख निहाल सिंह, लैंडमार्क्स इन इण्डियन कांस्टीट्यूशनल ऐण्ड नेशनल डेवलपमेंट पृष्ठ २१।

था। महाराज्यपाल और राज्यपालों की स्थिति में भी सुधार हुआ। यदि वे अपनी परिषदों के एक भी सदस्य को अपनी ओर करलें तो उनका काम चल सकता था। इस अधिनियम के द्वारा कोर्ट ऑफ प्रोप्राइटर्स को शक्तिहीन कर दिया गया। श्री रोज जे० हालैंड का कहना है कि इस अधिनियम की सबसे बड़ी सफलता यह थी कि इसके द्वारा महाराज्यपाल की स्थिति को सुदृढ़ बनाया गया। महाराज्यपाल को इतनी शक्तियाँ सौंपी गई जो वारेन हेस्टिंग्ज के पास भी नहीं थीं और साथ ही साथ महाराज्यपाल को सम्राट और ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी बनाया गया। वह इनकी इच्छा पर निर्भर रहता था।[1]

**१७८६ का अधिनियम**—१७८४ के अधिनियम के अन्तर्गत भारत सरकार के निर्णय महाराज्यपाल की परिषद् के बहुमत द्वारा ही लिये जाते थे। यदि महाराज्यपाल अपनी परिषद् के एक भी सदस्य को अपनी ओर कर ले तो उसका कार्य चल जाता था, परन्तु वारेन हेस्टिंग्ज का दुर्बल उत्तराधिकारी मैकफर्सन इसका भी उपयोग न कर सका। १७८६ में जब लार्ड कार्नवालिस से यह प्रार्थना की गई कि वे महाराज्यपाल का पद स्वीकार करें तो उन्होंने यह शर्त लगाई कि वे तभी महाराज्यपाल के पद को स्वीकार कर सकते हैं जब उसकी शक्तियों में वृद्धि की जाये। ब्रिटिश सरकार लार्ड कार्नवालिस को इस पद के अधिक योग्य समझती थी। हेनरी डण्डस ने तो यहाँ तक कह दिया कि भारत सरकार के संचालन के लिये संसार में सबसे उत्तम मनुष्य लार्ड कार्नवालिस हैं। ऐसी स्थिति में ब्रिटिश गवर्नमेन्ट ने लार्ड कार्नवालिस की माँग स्वीकार कर ली और ब्रिटिश संसद ने १७८६ में इस आशय का एक अधिनियम पास किया। इस अधिनियम के अधीन महाराज्यपाल और राज्यपालों को यह अधिकार मिला कि विशेष परिस्थितियों में वे अपनी परिषदों के निर्णयों को रद्द कर सकते थे। इस अधिनियम के अनुसार लार्ड कार्नवालिस को यह भी अधिकार मिला कि वे महाराज्यपाल और सेनापति इन दोनों पदों को स्वयं ग्रहण करें। इस अधिनियम में यह भी अंकित किया गया कि सेनापति को छोड़कर महाराज्यपाल और राज्यपालों की परिषदों के सदस्य वे ही मनुष्य हो सकते हैं जो कम से कम बारह वर्ष तक भारत में कम्पनी की सेवा कर चुके हों। इन उपबन्धों द्वारा महाराज्यपाल की स्थिति को सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न किया गया।

---

१. विष्णु भगवान, कान्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री आफ इण्डिया एण्ड नेशनल मूवमेन्ट, पृष्ठ ३१,३२।

अध्याय ४

# १८१३, १८३३ और १८५३ का चार्टर अधिनियम

१७७३ के अधिनियम को पास करते समय ससद ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के चार्टर की अवधि बीस साल के लिये और बढा दी थी। बीस वर्ष समाप्त होने पर फेर यह प्रश्न आया कि कम्पनी के चार्टर की अवधि किन शर्तों पर बढाई जाय। इस समय ब्रिटेन के व्यापारियो और सामान तैयार करनेवालो ने यह आन्दोलन उठाया कि सब नागरिको को भारत के साथ व्यापार करने की समान सुविधा होनी चाहिए। परन्तु बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल और बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष मे नही थे इसलिये १७९३ मे ब्रिटिश ससद ने कम्पनी के चार्टर की अवधि बीस वर्ष अवश्य बढा दी परन्तु इस चार्टर मे अधिक परिवर्तन नही किये गये। यहा पर यह उल्लेखनीय है कि ब्रिटिश ससद ने बीस वर्ष की अवधि के बाद कम्पनी के चार्टर मे परिवर्तन किये। १७७३ के बाद पहला परिवर्तन १७९३ मे किया। इसके बाद १८१३ मे चार्टर मे परिवर्तन हुआ। १८१३ के बीस वर्ष बाद १८३३ मे चार्टर मे परिवर्तन हुआ और इसके बाद १८५३ मे परिवर्तन हुआ। १८५८ के भारत सरकार अधिनियम ने तो कम्पनी के अस्तित्व को ही समाप्त कर दिया और ब्रिटिश राजमुकुट ने भारतीय शासन की बागडोर अपने हाथ मे ले ली। इस अध्याय मे हम विभिन्न चार्टरो के मुख्य उपबन्धो का उल्लेख करेंगे।

**१७९३ का चार्टर अधिनियम**—यह अधिनियम बडा लम्बा था परन्तु इसने कोई भी महत्वपूर्ण परिवर्तन नही किये। कम्पनी को पूर्व मे व्यापारिक अधिकार बीस वर्ष के लिए और दे दिया गया। बोर्ड ग्राफ कन्ट्रोल के कर्मचारियो को भारत के राजस्व से वेतन दिया जाने लगा। बोर्ड ग्राफ कन्ट्रोल के दो छोटे सदस्यो के लिए प्रिवी कौन्सिल का सदस्य होना अनिवार्य नहीं रहा। इस अधिनियम मे कम्पनी के वित्त की सुव्यवस्था कर दी गई। इस अधिनियम ने भारत मे सरकार की पद्धति मे कुछ परिवर्तन किया। प्रत्येक प्रेसीडेन्सी की परिषद की प्रक्रिया नियमित की गई और महाराज्यपाल व राज्यपालो को अपनी परिषद के निर्णयो को रद्द करने का अधिकार मिल गया। जब कभी महाराज्यपाल किसी दूसरी प्रेसीडेन्सी का भ्रमण करे तो उस अवस्था मे वह राज्यपाल का स्थान ले लेता था। अपने कार्यकाल मे महाराज्यपाल, राज्यपाल, सेनापति और अन्य उचित अधिकारियो को भारत से बाहर छुट्टी लेकर जाने का अधिकार नही था। यह नियम १८२५ तक लागू रहा। १८२५ मे ही एक विशेष अधिनियम द्वारा ससद ने इस नियम को बदला। महाराज्यपाल को यह अधिकार था कि दूसरी किसी प्रेसीडेन्सी का भ्रमण करते समय वह किसी सदस्य को अपनी परिषद का उप-सभापति नियुक्त कर दे। अब सेनापति महाराज्य-

सल की परिषद का सदस्य नहीं रहा। परन्तु यदि डायरेक्टर्स चाहें तो सेनापति परिषद का सदस्य नियुक्त किया जा सकता था। सुप्रीम कोर्ट के क्षेत्राधिकार में भ थोड़ा सा परिवर्तन हुआ।[1]

**१८१३ का चार्टर अधिनियम**—१७९३ के चार्टर अधिनियम की अवधि समाप्त होने के समय फिर ब्रिटेन में यह आन्दोलन प्रारम्भ हुआ कि ईस्ट इण्डिय कम्पनी के व्यापारिक एकाधिकार को समाप्त करना चाहिए। इस समय ब्रिटेन स्वतन्त्र व्यापार और व्यक्तिवाद के विचारों का बोलबाला था। नैपोलियन क सैनिक हलचलों के कारण ब्रिटिश व्यवसाय को बड़ा धक्का पहुँचा था और इस सम बहुत से इङ्गलैंड निवासी भारत में व्यवसाय करने के बड़े इच्छुक थे। कुछ यूरोपी लोग यहाँ पर बसना भी चाहते थे। भारत में अंग्रेजी राज्य के स्थापित होने पर य स्वाभाविक ही था कि ईसाई धर्म के प्रचारक भारत में भी इस धर्म को फैलाने क प्रयत्न करें। विलबर फोर्स सरीखे मनुष्यों ने ब्रिटिश संसद पर यह दबाव डाल कि वे ईसाई धर्म के प्रचार के लिये भारत में कुछ सुविधायें प्रदान करें। मार्क्स और लार्ड टेनमाउथ सरीखे अनुभवी राजनीतिज्ञों ने इस सुझाव का समर्थन नहीं किय परन्तु दबाव में आकर ब्रिटिश सरकार को कुछ सीमा तक झुकना पड़ा और ईसा धर्म के प्रचार के लिये कुछ सुविधायें उसने प्रदान कीं। इन सब बातों को ध्यान रखकर १८१३ का चार्टर अधिनियम पास किया गया।

**१८१३ के चार्टर अधिनियम के उपबन्ध**—इस अधिनियम के अन्तर्गत भार के साथ व्यापार के द्वार को सब ब्रिटिश नागरिकों को खोल दिया गया। केवल चा के व्यापार और चीन के साथ व्यापार का ही कम्पनी को एकाधिकार रहा। दोनों में व्यापार केवल कम्पनी के ही हाथों में रहा। व्यापार को सब नागरिकों क खोलने पर यह भय था कि अधिक संख्या में अंग्रेज लोग भारत में बस जायेंगे। इ बात को ध्यान में रखकर एक मध्यम मार्ग अपनाया गया। इस सम्बन्ध में ए परमिट व्यवस्था अपनाई गई। जो अंग्रेज लोग भारत जाना चाहते थे उन्हें परमि या लाइसेंस लेना पड़ता था। उन्हें भारत में भूमि खरीदने का अधिकार नहीं था उन्हें स्थानीय सरकारों के अधिकार को भी मानना पड़ता था। यदि बिना लाइसेंस लिए कोई ब्रिटिश नागरिक भारत जाता था तो उसे दण्ड दिया जाता था।

इस अधिनियम के अन्तर्गत भारतीय राजस्व के प्रयोग पर भी नियन्त्रण लग दिया गया। सबसे पहले राजस्व सेना पर व्यय किया जायगा, उसके बाद ब्याज दे देने पर और अन्त में दीवानी और व्यापारी व्यवस्था पर। कम्पनी के ऋण को कम करने की व्यवस्था की गई। कम्पनी से कहा गया कि वह अपने व्यापारिक और क्षेत्रीय लेखे जोखे को पृथक-पृथक रखे। अधिनियम ने यह भी निश्चित कर दिया कि कम्पनी के राजस्व में से केवल २६,००० सैनिकों को ही वेतन दिया जा सकता

१. गुरुमुख निहालसिंह, लैंडमार्क्स इन इण्डियन कान्स्टिट्यूशनल एण्ड नेशनल डेवलपमेण्ट, पृष्ठ ४३।

है। कम्पनी को यह भी अधिकार मिला कि वह भारतीय सेना के लिये कानून व नियम निर्धारित करे। उसे कोई मार्शल स्थापित करने का भी अधिकार मिला। बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल की शक्तियां और स्पष्ट कर दी गई और उनमें वृद्धि भी कर दी गई। भारत में स्थानीय सरकारों को मनुष्यों पर कर लगाने का अधिकार भी दिया गया। यदि कोई मनुष्य कर न देता था तो उसे दण्ड दिया जाता था। ऐसे मुकदमों के लिए विशेष व्यवस्था की गई जिनसे भारतवासी और अंग्रेज सम्बन्धित थे। चोरी, जालसाजी और मुद्रा सम्बन्धी अपराधों के लिये विशेष व्यवस्था की गई।

इस अधिनियम के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई कि महाराज्यपाल, राज्यपाल और सेनापति की नियुक्ति कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स के माध्यम से होगी, परन्तु इसके साथ साथ सम्राट् की लिखित अनुमति भी आवश्यक होगी और इस अनुमति पर बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल का सभापति हस्ताक्षर करेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि बिना बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के सभापति की आज्ञा के कोई नियुक्ति नहीं हो सकती थी। दूसरे शब्दों में अर्थ यह हुआ कि ब्रिटिश सरकार ही इन नियुक्तियों को करती थी। बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल ब्रिटिश सरकार की ही एक संस्था थी। इस प्रकार नियुक्तियों का कार्य बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के ही हाथ में आ गया।

इस अधिनियम ने धर्म और शिक्षा के लिये भी व्यवस्था की। कम्पनी के सैनिक और असैनिक कर्मचारियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई। हेलीबरी का कालेज और अडिसकोम्बे का सैनिक केन्द्र बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के नियंत्रण में आ गया। कलकत्ता और मद्रास के कालेज भी बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के नियंत्रण में आ गये। भारत में इस अधिनियम के द्वारा ईसाईयों का धार्मिक संगठन भी स्थापित किया गया। अधिनियम ने उन सब मनुष्यों को भारत जाने की आज्ञा दे दी जो वहाँ पर उपयोगी विद्या, धर्म और नैतिक सुधार को प्रोत्साहन देना चाहते थे। इस उपबन्ध द्वारा भारत में ईसाई धर्म को फैलाने और पश्चिमी ढंग की शिक्षा का प्रचार करने का प्रयत्न किया गया। साथ-साथ यह भी कहा गया कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी सब भारतवासियों को धर्म के विषय में पूर्ण स्वतन्त्रता देने के पक्ष में है। यूरोपियनों की धार्मिक भलाई के लिये तीन-चार पादरी भी नियुक्त किये गये। इस अधिनियम के अन्तर्गत एक लाख रुपये की रकम इस आशय के लिये निर्धारित की गई कि वह भारतवासियों के साहित्य को प्रोत्साहन देने पर व्यय की जाये। इस राशि का उद्देश्य यह भी था कि भारत अंग्रेजी क्षेत्रों के निवासियों को विज्ञान की शिक्षा दी जाये।[1]

**१८१३ के अधिनियम की महत्ता**—इस अधिनियम की थोड़ी बहुत महत्ता अवश्य थी। इस अधिनियम के कारण भारत से ब्रिटेन का व्यापार अधिक बढ़ गया। कम्पनी ने सबसे पहली बार यह स्वीकार किया कि भारतीय जनता का

---

१. गुरुमुख निहालसिंह, लैंडमार्क्स इन इंडियन कान्स्टीट्यूशनल ऐण्ड नेशनल डेवलप-मेंट, पृष्ठ ४८।

बौद्धिक और नैतिक विकास करना भी उनका कर्त्तव्य है। इस अधिनियम के बाद ब्रिटिश फैक्ट्रियों और व्यापारियों ने भारत में अपना अच्छा और सस्ता माल अधिक मात्रा में बेचना प्रारम्भ कर दिया। डॉ० ईश्वरी प्रसाद के शब्दों में इस अधिनियम की तिथि से भारतीय व्यवसायों का पतन और भारतीय जनता की दरिद्रता प्रारम्भ होती है। इस अधिनियम के द्वारा भारत में ईसाई मत के प्रचार का द्वार खुल गया अंग्रेजी पादरियों ने विभिन्न स्थानों पर स्कूल, कालेज व अस्पताल खोल कर अशिक्षित हिन्दुओं को ईसाई बनाना प्रारम्भ कर दिया। नागालैण्ड, मिजोलैण्ड, छोटा नागपुर और मध्यप्रदेश के अन्य ईसाई क्षेत्र इस नीति का ही परिणाम हैं।

**१८३३ का चार्टर अधिनियम**—इस चार्टर अधिनियम को बनाते समय ब्रिटेन में उदारवाद, व्यक्तिवाद और उपयोगितावाद का बोल बाला था राजनैतिक विचारक प्रत्येक क्षेत्र में स्वतन्त्रता पर बल दे रहे थे। वे नहीं चाहते थे कि किसी क्षेत्र में भी सरकार हस्तक्षेप करे। इसी समय दासता व्यापार का अन्त हुआ था। कैथोलिक धर्म के मानने वालों पर से प्रतिबन्ध हटा लिये गये थे प्रेस को स्वतन्त्रता दे दी गई थी। साधारण जनता की शिक्षा पर बल दिया जा रहा था। एक वर्ष पहले ही १८३२ में ब्रिटिश संसद ने रिफार्म बिल पास किया था जिसने संसद के ढांचे में मूल परिवर्तन कर दिया था। १८३३ में समस्त ब्रिटिश साम्राज्य में दासता प्रबंध घोषित कर दी गई थी। ब्रिटेन में यह सुधारों का युग था। उस समय मैकॉले, ग्रे और मिल बड़े सम्मानित व्यक्ति थे। मैकॉले संसद के सदस्य थे और बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के मंत्री भी थे। जेम्स मिल, बैन्थम के विचारों से बड़े प्रभावित थे और इंडिया हाउस में पत्र व्यवहार के निरीक्षक थे। ग्रे ब्रिटेन के प्रधान मंत्री थे। इन योग्य मनुष्यों ने इस अधिनियम के बनाने में अधिक योग दिया।[1]

कई प्रसिद्ध राजनीतिज्ञों ने कम्पनी के शासन की कड़ी निन्दा की। १३ जून १८३३ को कॉमन्स सभा में बोलते हुए ग्रान्ट ने कहा कि कम्पनी के हाथ में व्यापारिक व राजनैतिक कार्यों का साथ-साथ होना अनुचित था। उन्होंने यह भी कहा कि ब्रिटिश सरकार को भारतीय शासन में बहुत कम हस्तक्षेप करना चाहिये। लार्ड लैन्सडाउन ने कहा कि स्थानीय विषयों के प्रशासन में भारतवासियों को अधिक मात्रा में सम्मिलित करना चाहिये। लार्ड एलिनबरो ने इस विचार का बड़ा विरोध किया। उन्होंने इसे पागलपन बताया। ड्यूक ऑफ वेलिंगटन के विचार में राजस्व और न्यायिक संस्थाओं में भारतवासियों को स्थान दिया जा सकता था। चार्टर विधेयक पर बोलते हुए बकिंघम ने कहा कि एक ज्वाइंट स्टाक कम्पनी को राजनैतिक सरकार का कार्य सौंपना अनुचित था। उन्होंने यह भी सुझाव रखा कि कुछ मात्रा में भारतीयों को स्वराज्य दिया जाना चाहिये। मैकाले

१. विष्णु भगवान, कॉन्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया एण्ड नेशनल मूवमैंट, पृष्ठ ४५-४६।

ने इस बात का विरोध किया। उसने यह भी कहा कि भारतीय क्षेत्रो की सरकार का भार कम्पनी के हाथो मे ही रहना चाहिये। ब्रिटिश ससद को इतना समय नही है कि वह भारतीय सरकार की देख-रेख कर सके। कम्पनी एक निष्पक्ष सस्था है। वह अपना कार्य भली प्रकार चला रही है। मैकाले ने यह भी कहा कि ब्रिटिश राजमुकुट को अधिक शक्तियाँ प्रदान करना वाछनीय नही था क्योकि ससद भारतीय सरकार पर प्रभावशाली नियत्रण रखने के अयोग्य थी।[1] इन सब बातो को ध्यान मे रख कर ब्रिटिश ससद ने २८ अगस्त १८३३ को कम्पनी के चार्टर की अवधि बीस वर्ष के लिये और बढा दी।

**१८३३ के चार्टर अधिनियम के उपबन्ध**—इस अधिनियम ने कम्पनी की व्यवस्था मे कई महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिये। कम्पनी को तीस अप्रैल १८५४ तक अपनी प्रशासकीय व राजनैतिक शक्तियो को प्रयोग मे लाने का अवसर दे दिया गया। ये शक्तियाँ कम्पनी को सम्राट की धरोहर के रूप मे दी गईं। कम्पनी के व्यापारिक विशेष अधिकारो का अन्त कर दिया गया और चीन के व्यापार के एकाधिकार का भी अन्त हो गया। कम्पनी के ऋणो को भारतीय राजस्वों पर लाद दिया गया। कम्पनी को ४० वर्ष के लिये अपनी पूंजी पर १० प्रतिशत लाभांश की गारन्टी दी गई। बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के सगठन मे भी परिवर्तन किया गया। लॉर्ड प्रेसीडेन्ट ऑफ दी कौन्सिल, लॉर्ड प्रिवी सील, फर्स्ट लार्ड ऑफ दी ट्रेजरी, *चान्सलर ऑफ दी एक्सचेकर और मुख्य राज्य सचिव बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के पदेन* सदस्य बना दिये गये।[2] *यूरोपियनो के आवागमन पर जो प्रतिबन्ध थे वे हटा लिये गये। वे भारत मे स्वतन्त्रतापूर्वक आ सकते थे और भूमि भी खरीद सकते थे।* परन्तु महाराज्यपाल की परिषद को यह अधिकार दिया गया कि वह शीघ्र से शीघ्र ऐसे नियम बनाये जिससे भारतवासियो के व्यक्तित्व, धर्म और मतो को ठेस न पहुचे।

*भारतीय सरकार की पद्धति मे महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये।* के० बी० पुनिया के शब्दों मे इन सब परिवर्तनो का एक ही लक्ष्य था—केन्द्रीयकरण। इस अधिनियम द्वारा महाराज्यपाल की परिषद के प्रेसीडेन्सियो पर नियत्रण को अधिक कठोर और कड़ा कर दिया गया। प्रान्तीय सरकारें कभी-कभी अनुचित कार्य और अधिक व्यय कर देती थी। ऐसा कार्य करने के बाद ही महाराज्यपाल को सूचित किया जाता था। ऐसी अवस्था मे महाराज्यपाल को विवश होकर सब बातें माननी पड़ती थी। १८३३ के चार्टर अधिनियम मे समस्त सैनिक और असैनिक सरकार को महाराज्यपाल की परिषद मे केन्द्रीभूत करने का प्रयत्न किया गया। प्रान्तीय सरकारो का स्तर कम कर दिया गया। महाराज्यपाल की परिषद का विधायी क्षेत्र बढा दिया गया। महाराज्यपाल की परिषद मे एक चौथा सदस्य भी मनोनीत कर

१. ए० बी० कीथ ए कॉन्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इंडिया पृष्ठ १३१।

२. विष्णु भगवान: कॉन्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इंडिया एन्ड नेशनल मूवमेंट, पृष्ठ ४७।

दिया गया। यह सदस्य विधि सदस्य होता था। वह डायरेक्टर्स द्वारा सम्राट् की अनुमति पर नियुक्त होता था। यह सदस्य कम्पनी का कर्मचारी नहीं होता था। यह परिषद की बैठकों में उसी समय भाग लेता था जब कानून व नियम बनाने पर विचार हो रहा हो। महाराज्यपाल की परिषद के अन्य तीन सदस्यों की नियुक्ति डायरेक्टर्स द्वारा ऐसे मनुष्यों में से होनी थी जो दस साल तक भारत में कम्पनी की सेवा कर चुके हों। विधायी कार्य करने के लिये परिषद की गणपूर्ति चार थी जिसमें महाराज्यपाल और तीन अन्य सदस्य होने चाहियें। कार्यकारिणी सबधी कार्य करते समय दो सदस्यों की उपस्थिति आवश्यक थी—एक महाराज्यपाल और एक अन्य सदस्य। यदि परिषद चाहे तो कानूनी सदस्य उस समय भी बैठकों में शामिल हो सकता था जब वह विधायी कार्य न कर रही हो। परन्तु ऐसी स्थिति में उसे मत देने का अधिकार नहीं था।[1] साधारण रूप से कानूनी सदस्य की सलाह मान ली जाती थी।

कानूनों और नियमों के संहिताकरण के लिये एक भारतीय कानून आयोग की व्यवस्था की गई। महाराज्यपाल की परिषद को यह अधिकार दिया गया कि वह इस आयोग की नियुक्ति करे। इस आयोग का यह कार्य था कि वर्तमान न्यायालयों के क्षेत्राधिकार, शक्तियों और नियमों का निरीक्षण करे, उनकी प्रक्रिया पर विचार करे। लिखित व अलिखित कानून पर विचार करे और जनता की जाति और धर्मों को ध्यान में रखकर उनमें आवश्यक परिवर्तनों का सुझाव दे। इस आयोग ने कई रिपोर्टें प्रस्तुत कीं। सबसे महत्वपूर्ण रिपोर्ट पीनलकोड के सम्बन्ध में थी जिसको अधिकतर मैकाले ने ही तैयार किया था। भारत में कानून बनाने का कार्य महाराज्यपाल की परिषद को ही सौंप दिया गया। १८३३ से पहले भारत में अन्य प्रकार के कानून विद्यमान थे जैसे हिन्दू कानून, मुस्लिम कानून, अंग्रेजी कानून, कामन ला, बंगाल-मद्रास-बम्बई रेगुलेशन्स। ये सब एक दूसरे से भिन्न होते थे। अब यह आवश्यक समझा गया कि इन सब कानूनों का संहिताकरण किया जाय। १८३३ के अधिनियम में यह भी घोषित किया गया कि कानून बनाने की शक्ति केवल महाराज्यपाल की परिषद को ही है। और भारतीय क्षेत्रों के भीतर आने वाले सब मनुष्यों, न्यायालयों, स्थानों और वस्तुओं पर महाराज्यपाल की परिषद का क्षेत्राधिकार लागू होता था।

प्रान्तों की सरकार को गवर्नर-इन कौंसिल का नाम दिया गया। भारत के महाराज्यपाल को कुछ समय के लिये यह अधिकार दिया गया कि वह बंगाल प्रेसीडेन्सी के राज्यपाल का कार्य भी करता रहे। प्रेसीडेन्सी की सरकारों को यह अधिकार था कि वह महाराज्यपाल की परिषद के सम्मुख आवश्यक कानूनों व नियमों का सुझाव रखें। महाराज्यपाल की परिषद इन सुझावों पर विचार करके अपना मत दे देती थी और इसकी सूचना सम्बन्धित प्रेसीडेन्सी को भी दे दी जाती

१. विष्णु भगवान, कान्स्टिट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इंडिया एण्ड नेशनल मूवमेंट, पृष्ठ ४८

थी। मद्रास और बम्बई के राज्यपालो को कानून बनाने का अधिकार नही रहा। आपातकाल मे ही वे कोई नियम या उपनियम बना सकते थे। इसकी सूचना उन्हे महाराज्यपाल की परिषद को देनी पडती थी। प्रत्येक प्रेसीडेन्सी की सरकार प्रत्यक्ष रूप से कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स से पत्र व्यवहार कर सकती थी। परन्तु सब महत्वपूर्ण पत्रो की लिपि महाराज्यपाल की परिषद को भेजनी पडती थी। वित्तीय मामलो मे प्रेसीडेन्सियो को भारत सरकार के अधीन कर दिया गया। यदि कोई प्रेसीडेन्सी अधिक व्यय करना चाहे या कोई नया पद स्थापित करना चाहे तो उसे भारत सरकार की अनुमति लेनी पडती थी।[1] १८३३ के चार्टर अधिनियम मे बगाल प्रेसीडेन्सी के विभाजन की व्यवस्था की गई। इसे बगाल और आगरा इन दो भागो मे विभाजित किया गया, परन्तु इस योजना को कार्यान्वित नही किया गया। १८३५ के अधिनियम द्वारा इस योजना को स्थगित कर दिया गया, इसके स्थान पर उत्तर-पश्चिम के प्रान्तो के लिये एक उपराज्यपाल की नियुक्ति की व्यवस्था की गई।

१८३३ के चार्टर अधिनियम के ८७ खड के अन्तर्गत यह बताया गया कि भारत के किसी भी मूल निवासी को धर्म, जन्मस्थान, वर्ण या किसी अन्य आधार पर कम्पनी की सेवा से वचित नही रखा जायेगा। कम्पनी की सेवाओ के लिये प्रतियोगिता की पद्धति का भी सुझाव रखा गया परन्तु डायरेक्टर्स ने इस सुझाव को रद्द कर दिया। इस अधिनियम मे भारत के लिये पादरियो की सख्या तीन कर दी गई और कलकत्ते के पादरी को मेट्रोपोलिटन विशप का स्तर दिया गया। यह मेट्रोपोलिटन विशप केन्टरबरी के आर्कबिशप के अधीन रहेगा। प्रत्येक प्रेसीडेन्सी मे चर्च ऑफ स्काटलैण्ड के दो चैपलिनो की व्यवस्था की गई। अन्य ईसाई वर्गों के भी पादरी नियुक्त किये जा सकते थे। महाराज्यपाल की परिषद् को यह अधिकार दिया गया कि वह दासता की स्थिति, दासो के सुधार और दासता का अन्त करने के प्रश्न पर विचार करे और अपने सुझाव डायरेक्टर्स की अनुमति के लिये भेजे। डायरेक्टर्स का यह कर्तव्य था कि वे प्रतिवर्ष इन सब सुझावो को ब्रिटिश ससद के सम्मुख प्रस्तुत करें और यह बतायें कि उन्होने इस सम्बन्ध मे क्या कार्य किया है। इस अधिनियम मे भारत के असैनिक सेवको के लिये हेलीबरी कालेज मे प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई। इस अधिनियम मे कम्पनी का नाम ईस्ट इण्डिया कम्पनी रखा गया।

**१८३३ के चार्टर अधिनियम की महत्ता**—इस अधिनियम को ब्रिटिश ससद द्वारा पास १९वी शताब्दी का सबसे महत्वपूर्ण अधिनियम बताया गया है। लार्ड मोर्ले ने इस अधिनियम को १७८४ के पिट के अधिनियम और १८५८ के भारत सरकार अधिनियम के बीच का सबसे महत्वपूर्ण अधिनियम बताया है। इसने भारत सरकार के सगठन मे अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन किये और मानवता सम्बन्धी कई घोषणायें की। इस अधिनियम के ८७वें खण्ड को जिसके अनुसार बिना भेद-भाव के कम्पनी

१. विष्णु भगवान, कान्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री आफ इडिया एण्ड नेशनल मूवमेंट, पृष्ठ ४६।

का कोई सा भी पद भारतवासियों को मिल सकता था, एक "उत्तम भाव" बताया गया है।[1]

यद्यपि इस घोषणा की कोई वास्तविक महत्ता नहीं थी। १७९३ के अधिनियम के एक उपबन्ध के अनुसार भारतवासियों को कोई भी ऐसा पद नहीं मिल सकता था जिसका वेतन ५०० पौण्ड प्रति वर्ष से अधिक हो। मुनरो, मैलकाम, एलफिन्स्टन, स्लीमेन और बिशप हीबर ने १७९३ के इस उपबन्ध का कड़ा विरोध किया। परन्तु उनके विरोध का कोई परिणाम नहीं निकला। इसलिये १७९३ के अधिनियम के उपबन्ध की उपस्थिति में १८३३ के अधिनियम के ८७वें खण्ड की घोषणा का अधिक महत्व नहीं है। रामजे म्योर ने इसे अद्भुत घोषणा बताया है जो किसी शासक वर्ग ने शायद ही कभी किसी शासित वर्ग के लिये घोषित की हो। मैकाले ने इस खण्ड को एक बुद्धिमत्तापूर्ण और पवित्र खण्ड बताया है।

इस अधिनियम के द्वारा भारतीय कानून के संहिताकरण का कार्य प्रारम्भ हुआ। यह कार्य अभी तक उपयोगी सिद्ध हो रहा है। इस अधिनियम द्वारा कम्पनी का वाणिज्य कार्य समाप्त कर दिया गया और कम्पनी केवल एक प्रशासकीय निकाय मात्र रह गई। प्रथम बार अंग्रेजों को भारत में आने जाने की पूरी सुविधा मिली। इस अधिनियम के अन्तर्गत दासता को दूर करने के लिये जो व्यवस्था की गई उसे ए० बी० कीथ "मौलिक महत्ता" का कार्य समझता है। श्री विष्णु भगवान का मत इस प्रकार है, "हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि १८३३ का अधिनियम एक महान् संवैधानिक महत्ता की योजना है। इसके द्वारा शासन पद्धति की महत्वपूर्ण त्रुटियाँ समाप्त कर दी गईं। इसके द्वारा शासन के नियमों में एकरूपता स्थापित कर दी गई। केन्द्रीय सरकार की विधायी प्रभुता स्वीकार की गई और विभिन्न प्रेसीडेन्सियों के कानूनों के भेदों का अन्त किया गया। विभिन्न न्यायालयों के क्षेत्राधिकार के झगड़ों को दूर कर दिया गया। महाराज्यपाल के हाथों में कार्यकारिणी और वित्त सम्बन्धी प्रशासन को रखकर साधारण प्रशासन में एकरूपता लाई गई। कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स की शक्तियों को कम करके भारतीय विषयों की व्यवस्था में ब्रिटिश सम्राट् और संसद की सर्वोच्चता को सफलता के साथ स्थापित किया गया।"

१८५३ का चार्टर अधिनियम—इस अधिनियम की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि यह भारतीयों के प्रयत्नों के फलस्वरूप ही पास किया गया। पहले चार्टर अधिनियमों का श्रेय ब्रिटिश व्यापारियों या सुधारवादियों व व्यक्तिवादियों को था। उनकी आलोचनाओं के आधार पर ही चार्टर अधिनियम बनाये जाते थे, परन्तु १८५३ के लगभग स्थिति भिन्न थी। अब कम्पनी के विरुद्ध आन्दोलन में भारतवासियों ने स्वयं सक्रिय भाग लिया। १८३३ के अधिनियम के ८७वें खण्ड में भारतवासियों

१. ए० बी० कीथ, ए कॉन्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृष्ठ १३४।
२. ए कॉन्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृष्ठ १२६।
३. कॉन्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इंडिया एण्ड नेशनल मूवमेंट, पृष्ठ ४२।

को यह आश्वासन दिलाया गया था कि बिना भेद भाव के वे कम्पनी के किसी भी पद पर नियुक्त हो सकते थे। इसी कारण बहुत से भारतवासी इंगलैण्ड गये, परन्तु वापस लौटने पर उन्हें बड़ी निराशा हुई। भारतीय विधि आयोग के अध्यक्ष और महाराज्यपाल की परिषद् के एक सदस्य श्री कैमरून ने बताया कि पिछले २० वर्षों में एक भी भारतवासी को उच्चपद नहीं दिया गया। ८७वें खण्ड का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। पहले की तरह ही भारतवासियों को उच्च पदों से वंचित रखा गया। भारतवासी इस स्थिति से बड़े असन्तुष्ट हुए। तीनों प्रेसीडेन्सियों के निवासियों ने संसद के पास याचिकायें भेजी कि कम्पनी का अवधिकाल न बढ़ाया जाये।[1] बंगाल की याचिका में यह कहा गया कि द्वैध सरकार पद्धति का अन्त होना चाहिये और भारतीय शासन के लिये एक राज्य-सचिव और भारत परिषद की नियुक्ति होनी चाहिये इस भारत परिषद् में आधे मनुष्य निर्वाचित होने चाहियें और आधे मनोनीत होने चाहियें। उन्होंने यह भी मांग रखी कि भारत के लिये एक पृथक् विधान-मंडल स्थापित होना चाहिये। भारतीय कर्मचारियों के वेतन में वृद्धि होनी चाहिये। भारतीय असैनिक सेवा सबके लिये समान रूप से खुली होनी चाहिये और प्रतियोगिता के आधार पर इसमें भर्ती होनी चाहिये। ब्रिटिश संसद के दोनों सदनों ने भारतीय स्थिति पर विचार करने के लिये अपनी-अपनी समितियाँ बनाईं। इन जांच समितियों की रिपोर्ट के आधार पर १८५३ का चार्टर अधिनियम पास किया गया।

**१८५३ के चार्टर अधिनियम के उपबन्ध**—१८५३ से पहले के चार्टर अधिनियमों में यह स्पष्ट रूप से लिखा जाता था कि कम्पनी की अवधि कितने वर्ष के लिये बढ़ाई जा रही है। परन्तु इस अधिनियम में ऐसा नहीं किया गया। यह कार्य-काल संसद की इच्छा पर छोड़ दिया गया। इस अधिनियम के अनुसार डायरेक्टर्स की संख्या २४ से घटाकर १८ कर दी गई, जिनमें से ६ की नियुक्ति सम्राट् द्वारा होनी थी। सम्राट् को दी गई इस शक्ति के कारण कोर्ट ऑफ प्रोप्राईटर्स की शक्ति और भी कम हो गई। महाराज्यपाल को बंगाल के राज्यपाल के कार्य से मुक्त कर दिया गया और बंगाल के लिये एक पृथक् राज्यपाल की नियुक्ति की व्यवस्था की गई। बंगाल के लिये पृथक् राज्यपाल के नियुक्त होने तक महाराज्यपाल को यह अधिकार दिया गया कि वह डायरेक्टर्स और बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल की अनुमति से बंगाल के लिये एक उपराज्यपाल नियुक्त कर दे। १९१२ में ही बंगाल के लिये एक पृथक् राज्यपाल नियुक्त हो सका यद्यपि इस प्रेसीडेन्सी के लिये एक उपराज्यपाल १८५४ में ही नियुक्त हो गया था। इस अधिनियम के अन्तर्गत डायरेक्टर्स को यह अधिकार मिला कि वे एक और प्रेसीडेन्सी की स्थापना करें जिसका शासन बम्बई व मद्रास के नमूने पर ही होना चाहिये। यदि ऐसा न हो सके तो इस नई प्रेसीडेन्सी के लिये एक उपराज्यपाल नियुक्त कर दिया जाये। १८५९ में इस नियम के आधार

१. गुरमुख निहाल सिंह, लैंडमार्क्स इन इंडियन कॉन्स्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डेवलपमेन्ट, पृष्ठ ६१

पर पंजाब के लिये एक लेफ्टिनेन्ट गवर्नरशिप स्थापित की गई ।

इस अधिनियम के अन्तर्गत एक इंगलिश कमिश्नरों की निकाय की नियुक्ति व्यवस्था की गई जिसका कार्य भारतीय विधि आयोग की सिफारिशों पर विचार करना था। यह आयोग १८३३ में लार्ड मैकाले की अध्यक्षता में स्थापित हुआ था। यह कानूनों के संहिताकरण के लिये बनाया गया था। इन निकायों की रिपोर्टों पर इण्डियन पीनल कोड, इण्डियन सिविल कोड और इण्डियन कोड आफ क्रिमिनल प्रोसीजर तैयार किये गये और इन्हें कानून का रूप दिया गया। ये इस समय भी बड़ी महत्वपूर्ण कृतियाँ समझी जाती हैं,[1] इनमें अभी तक भी बहुत कम परिवर्तन हुआ है।

इस समय तक महाराज्यपाल और राज्यपालों के अतिरिक्त सब नियुक्तियाँ डायरेक्टर्स के हाथों में थी। १८५३ के अधिनियम के द्वारा यह शक्ति डायरेक्टर्स से छीन ली गई। बोर्ड आफ कन्ट्रोल को यह अधिकार दिया गया कि भारत में सेवाओं के लिये वह नियम व उपनियम बनाये। इसके फलस्वरूप भारतीय असैनिक सेवा परीक्षा सबके लिये खोल दी गई और एक खुली प्रतियोगिता द्वारा इसमें भर्ती होने लगी। इस अधिनियम के अनुसार महाराज्यपाल की परिषद् को यह अधिकार दिया गया कि बोर्ड कंट्रोल और कोर्ट आफ डायरेक्टर्स की अनुमति लेकर विभिन्न प्रशासकीय इकाई स्थापित कर सकती थी और उनके प्रशासन के लिये अधिकारी नियुक्त कर सकती थी। इस शक्ति के आधार पर नये प्रान्त और चीफ कमिश्नर के प्रान्त स्थापित किये गये।

इस अधिनियम के अन्तर्गत सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन महाराज्यपाल की परिषद् के गठन में किया। महाराज्यपाल की परिषद् के ला मेम्बर को इस परिषद् का साधारण सदस्य बना दिया गया। वह अब इस परिषद् के सब कार्यों में खुले रूप से भाग ले सकता था और मत भी दे सकता था। महाराज्यपाल की परिषद् के कार्यों को दो भागों में बाटा गया—विधायी कार्य और कार्यकारिणी सम्बन्धी कार्य। महाराज्यपाल की परिषद् को विधायी कार्य में सहायता करने के लिये ६ नये सदस्यों की नियुक्ति की व्यवस्था की गई। इन ६ नये सदस्यों को विधायी सदस्य कहा जा सकता था। जब महाराज्यपाल की परिषद् कार्यकारिणी सम्बन्धी कार्य करती थी तो उसमें केवल ६ मनुष्य ही भाग लेते थे—महाराज्यपाल, सेनापति और परिषद् के चार अन्य सदस्य। जब महाराज्यपाल की परिषद् विधायी कार्य करती थी तो उसमें ६ और सदस्य सम्मिलित कर लिये जाते थे जो विधायी सदस्य होते थे। इन ६ विधायी सदस्यों में एक तो कलकत्ता का मुख्य न्यायाधीश और एक कलकत्ता के सर्वोच्च न्यायालय का अन्य एक न्यायाधीश और चार वे अधिकारी जो मद्रास, बम्बई, बंगाल और आगरा की स्थानीय सरकारों द्वारा नियुक्त किये जाते थे। प्रान्तीय सरकारों के इन चार प्रतिनिधियों को ५,००० पौण्ड वार्षिक वेतन मिलता था। जब महाराज्यपाल की परिषद् १२ सदस्यों के रूप में विधायी कार्य करती थी तो उसका कार्य खुले रूप

१. आर० एन० अग्रवाल, नेशनल मूवमेन्ट एण्ड कान्स्टीट्यूशनल डेवलपमेंट आफ इण्डिया, पृष्ठ २३

से होता था, और इसकी कार्यवाही प्रकाशित भी की जाती थी। इस परिषद् द्वारा बनाया गया कोई भी नियम तब तक लागू नहीं होता था जब तक महाराज्यपाल उस पर अपनी अनुमति न दे दे।

**१८५३ के अधिनियम की महत्ता**—इस अधिनियम की सबसे बड़ी महत्ता यह थी कि महाराज्यपाल की परिषद् प्रथम बार खुले रूप से भारत के लिये विधि निर्माण का कार्य करने लगी। मान्टेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट के अनुसार सबसे प्रथम बार यह स्वीकार किया गया कि कानून बनाने का कार्य सरकार का विशेष कार्य है जिसके लिये एक विशेष मशीनरी और विशेष प्रक्रिया की आवश्यकता है।[1] महाराज्यपाल की परिषद् जब विधायी कार्य करती थी तो वह एक छोटी सी संसद की तरह कार्य करती थी। प्रत्येक विधेयक के तीन वचन होते थे और उन पर विचार करने के लिये समिति भी नियुक्त की जाती थी। परिषद् की सदस्य जनता की शिकायतें भी रखते थे और कार्यकारिणी के व्यवहार की आलोचना भी करते थे। महाराज्यपाल की परिषद के १२ सदस्य केवल विधायी कार्य ही नहीं करते थे, बल्कि वे छोटे से प्रतिनिधि मण्डल की तरह थे, जिनका ध्येय जांच करना और शिकायतों को दूर करना था।[2] लार्ड डलहौजी ने महाराज्यपाल की परिषद् के विधायी कार्य पर प्रसन्नता प्रकट की। परन्तु ब्रिटेन का अधिकारी वर्ग कुछ और ही सोचता था। ब्रिटिश राजनीतिज्ञ अभी तक भारतवासियों को राजनैतिक अधिकार देने के पक्ष में नहीं थे। बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के अध्यक्ष सर चार्ल्स वुड का मत था, "मेरे विचार में महाराज्यपाल की परिषद् भारत में एक संवैधानिक संसद का प्रारम्भ और बीजारोपण नहीं करती, जैसा कि कुछ युवक भारतवासी समझ बैठे हैं।"[3] जब महाराज्यपाल की परिषद् ने विधायिनी कार्यों के सम्बन्ध में संसदीय प्रणालियों का अनुसरण करना प्रारम्भ किया और सरकार की नीतियों की विशेषकर मैसूर के राजकुमारों को अनुदान देने के प्रश्न को लेकर आलोचना करना चाहा तो ब्रिटिश सरकार ने इन बातों को पसन्द नहीं किया। ब्रिटिश सरकार के सामने एक सुझाव यह भी रखा गया था कि महाराज्यपाल की परिषद् में अवैतनिक यूरोपीय व भारतीय सदस्यों को भी सम्मिलित किया जाये। परन्तु इस सुझाव का इस आधार पर विरोध किया गया कि किसी योग्य भारतीय या मुस्लिम प्रतिनिधि को छांटना बड़ा कठिन था।[4] एक महान् क्रान्ति ही उन्हें यह बतला सकती थी कि भारतवासियों को शासन से पृथक् रखना एक बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य नहीं था।

**१८५४ का भारत सरकार अधिनियम**—इस अधिनियम द्वारा कुछ महत्वपूर्ण

१. रिपोर्ट आन इंडियन कॉन्सटीट्यूशनल रिफार्म्स, पृष्ठ ८१।

२. वही, पृष्ठ ३६।

३. आर० एन० अग्रवाल, नेशनल मूवमेन्ट एण्ड कान्सटीट्यूशनल डेवलपमेन्ट आफ इंडिया पृष्ठ २२।

४. ए० बी० कीथ, ए कॉन्सटीट्यूशनल हिस्ट्री आफ इंडिया, पृष्ठ १३८।

प्रशासकीय परिवर्तन किये गये। इस अधिनियम के द्वारा महाराज्यपाल की परिषद् बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल और कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स की अनुमति लेकर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के किसी क्षेत्र का भी नियन्त्रण अपने हाथ में ले सकती थी और उसके लिये प्रशासन की व्यवस्था कर सकती थी। इन उपबन्धों के आधार पर आसाम, मध्यप्रदेश, उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त, बर्मा, ब्रिटिश बलूचिस्तान और देहली में चीफ कमिश्नरियाँ स्थापित की गईं। भारत सरकार अब केवल देख-भाल का ही कार्य करने लगी। वह किसी भी क्षेत्र का स्वयं शासन नहीं करती थी। बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल और डायरेक्टर्स की अनुमति लेकर महाराज्यपाल की परिषद् किसी भी प्रान्त की सीमा को स्पष्ट और सीमित कर सकती थी। इस अधिनियम के अनुसार महाराज्यपाल स्वयं को बंगाल का राज्यपाल नहीं कह सकता था।

## अध्याय ५

# १८५७ का विद्रोह और १८५८ का अधिनियम

१८५६ में लॉर्ड डलहौजी ने महाराज्यपाल का पद छोड़ते समय यह अनुमान लगाया था कि उसके जाने के बाद भारत में बहुत समय तक शान्ति रहेगी। परन्तु उसका यह विचार ठीक नहीं उतरा। मॅलीसन ने कहा है कि १८५६ के दिसम्बर मास में ही ऐसे लक्षण दिखाई देते थे कि बहुत जल्दी ही भारत में कोई महत्वपूर्ण घटना होने वाली है। लार्ड केनन जो कि एक प्रसिद्ध ब्रिटिश राजनीतिज्ञ हुआ है उसने विद्रोह होने के कुछ कारण दिये हैं। धार्मिक मामलों में नये परिवर्तन लाना, कर लगाना, रीति-रिवाजों में परिवर्तन करना, विशेष अधिकारों का अन्त करना, सामान्य अत्याचार, अयोग्य मनुष्यों को ऊपर उठाना और युद्ध के उपरान्त निकाले हुए सैनिकों का एक सामान्य ध्येय के लिये मिल जाना, इस प्रकार के अनेक कारण विद्रोह की भावना जनता में भरते हैं। मराठा शक्ति के ह्रास होने के उपरान्त इन पिछले ४० वर्षों में भारत में ये सब विद्रोह के कारण विद्यमान थे। डा० पट्टाभि सीतारमय्या ने तो यहाँ तक कहा है कि यह विद्रोह, १७५७ के प्लासी युद्ध के बाद १०० वर्षों तक भारत में जो कुछ घटनायें घटती रहीं, उनके परिणाम का द्योतक रहा।

राजा और महाराजाओं को गद्दी से उतार दिया गया था। लॉर्ड डलहौजी ने कई लावारिस राजाओं की रियासतें भी जब्त कर लीं, तथा अवध की रियासत भी शासन ठीक न होने का कारण बताकर ब्रिटिश भारत में मिला ली। विशेषाधिकार भी नष्ट कर दिये गये और ऐतिहासिक परिवारों को तहस-नहस कर दिया। पुराने शासकों के हजारों विसर्जित किये हुए सैनिक बिना किसी कार्य के इधर-उधर घूमते थे। नये कानून और नये कर निर्धन जनता के लिये भार थे। जो नये प्रान्त और राज्य ब्रिटिश अधिकार में आये उनमें भूमि-व्यवस्था ऐसी की गई जो कि अधिक अनुचित थी और जनता उससे सन्तुष्ट नहीं थी। अवध, नागपुर और बुन्देलखण्ड के प्रदेशों में सैकड़ों जमींदारों और ताल्लुकेदारों की भूमि छीन ली गई। इस भूमि व्यवस्था से उत्पन्न हुए असन्तोष के कारण अनेक जमींदार और ताल्लुकेदार ब्रिटिश शासन के विरुद्ध हो गये। जनता ब्रिटिश शासन को इतनी घृणा के साथ देखती थी कि पटना में शिक्षा निरीक्षक के कार्यालय को शैतानी दफ्तर कहते थे। लॉर्ड डलहौजी ने बहुत से ऐसे सामाजिक विधान के कार्य किये जिनसे जनता के मन में शंका उत्पन्न हो गई। १८५६ का हिन्दू विधवा विवाह अधिनियम और १८५० का धार्मिक नियोग्यता अधिनियम जिसके अनुसार धर्म परिवर्तन करने वालों को कुछ विशेष सुविधायें दी गईं और ईसाई पादरियों के धार्मिक परिवर्तन के कार्यों ने

जनता के मन में ऐसे भय उत्पन्न कर दिये जिनके कारण उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि सरकार देश की सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्था को समाप्त कर देना चाहती है और भारतीयों पर ईसाई धर्म को लादना चाहती है।[1] रेलवे, तार, गंगा की नहर और यूरोपियन शिक्षा को भारतीयों ने रुचिपूर्वक नहीं माना। अफगानिस्तान में अंग्रेजी फौज के हारने से भारतीय जनता पर खराब प्रभाव पड़ा। इस समय एशिया में युद्ध के कारण अंग्रेजी फौज बहुत कम थी और क्रीमिया के युद्ध में अंग्रेजी फौज की हार ने उनकी प्रतिष्ठा को ठेस पहुँचाई। इस समय भारत में २ लाख ४३ हजार तो देशी फौज थी और ४४ हजार २०० अंग्रेजी फौज थी। ब्रिटिश सरकार ने यह आदेश निकाला कि सैनिकों को भारत से बाहर जाकर भी युद्ध में भाग लेना पड़ेगा। इससे भारतीय सैनिकों में बहुत असन्तोष हुआ। चर्बी लगी हुई कारतूसों की घटना ने यह भ्रम उत्पन्न कर दिया कि अंग्रेजी लोग भारतवासियों के धर्म और जाति को नष्ट करना चाहते हैं।[2] इन बातों के अलावा आर्थिक शोषण भी जारी था जिससे भारतीय जनता दिन पर दिन कंगाल होती जा रही थी। सरदार गुरमुख निहालसिंह के कथनानुसार १८५७ के विद्रोह का मुख्य कारण शासक और शासितों में वास्तविक स्नेह का अभाव था।[3] वे भारतीय जनता को हीन समझते थे और प्रत्येक भारतीय व्यवस्था को चाहे वह कितनी ही अच्छी क्यों न हो नष्ट करना चाहते थे। इन सब कारणोंवश भारतीय जनता में विद्रोह की आग भभक उठी और १० मई सन् १८५७ को मेरठ में विद्रोह प्रारम्भ हुआ।

डा० पट्टाभि सीतारमय्या ने इस विद्रोह को स्वतन्त्रता का प्रथम युद्ध कहा है, परन्तु अंग्रेजी सरकार ने इसे एक सैनिकों का विद्रोह ही बतलाया है। उनका अभिप्राय था कि भारतीय जनता सम्मिलित नहीं थी, परन्तु सैनिकों के कुछ छोटे से दुकड़े ने ही विद्रोह किया था। कीथ तो इस विद्रोह को केवल एक सेना का विद्रोह कहता है। कुछ इतिहासकारों ने अंग्रेजों के इस विचार की पुष्टि करने का प्रयत्न किया है जिनमें डॉ० आर० सी० मजूमदार मुख्य हैं। यह खेद की बात है कि कुछ विदेशी लेखकों ने भी इस विद्रोह के विषय में गलत धारणा बना रखी है। यह प्रत्येक दशा में एक राष्ट्रीय विद्रोह और स्वतन्त्रता का युद्ध था। लेकिन डॉ० पामर का यह कहना कि यह विद्रोह कुछ सीमित क्षेत्र तक ही सीमित था कुछ अर्थ नहीं रखता।[4] यदि विद्रोह भारत जैसे बड़े देश के प्रत्येक भाग में नहीं हुआ तो इसका

---

१. डॉ० पी० मिश्र : दि हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम मूवमेंट इन मध्यप्रदेश। नागपुर १९५६, पृष्ठ ४१।

२. ए० बी० कीथ : ए कान्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, १६००—१९३५, लंदन १९३५ पृष्ठ १६४।

३. गुरमुख निहालसिंह : लैंडमार्क्स इन इंडियन कॉन्स्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डेवलपमेंट, दिल्ली १९५०, पृष्ठ ७५।

४. मेजर गवर्नमेंट्स ऑफ एशिया : न्यूयार्क १९५८, पृष्ठ २४६।

यह अर्थ नहीं कि वह एक राष्ट्रीय और व्यापक आन्दोलन नहीं था। राष्ट्रीय विद्रोह कभी भी किसी देश के प्रत्येक भाग में नहीं होते वे कुछ स्थानों में होते हैं, परन्तु उनका प्रभाव देशव्यापी होता है। इराक का मोसूल विद्रोह, हंगरी का १९५६ का विद्रोह और तिब्बत का नवीन खम्पा विद्रोह नाम मात्र के ही विद्रोह नहीं थे। व राष्ट्रीय प्रतिरोध आन्दोलन थे। श्री जवाहरलाल नेहरू ने ठीक ही कहा है कि १८५७ का विद्रोह एक सर्वव्यापी और स्वतन्त्रता का संग्राम था। सरदार के० एम० पन्नीकर ने ठीक ही कहा है कि विद्रोह के सभी नेता ऐसे वर्ग से आये थे जिनकी सम्पत्ति या इलाके छीन लिये गये थे। परन्तु सब एक ही ध्येय की प्राप्ति के लिये एक हो गये। उनका ध्येय अग्रेजों को देश से बाहर निकालना और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को प्राप्त करना था। इस अर्थ में यह एक विद्रोह न होकर एक महान् राष्ट्रीय अपद्रोह था।[1]

**१८५७ के विद्रोह के परिणाम**—१८५७ का विद्रोह भारतीय शासन के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना है। इस विद्रोह के उपरान्त भारत के लिये ब्रिटिश सरकार की नीति में परिवर्तन हुआ। इस विद्रोह के फलस्वरूप द्विसरकार जिसके अन्तर्गत भारत की शासन व्यवस्था कुछ ब्रिटिश पार्लियामेंट के हाथ में थी और कुछ ईस्ट इन्डिया कम्पनी के हाथों में थी, समाप्त कर दी गई। जैसा कि ब्राइट ने कहा है इस घटना से ब्रिटिश जनता के ऊपर गहरा प्रभाव पड़ा और उन्होंने यह निश्चित किया कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अन्त होना चाहिये। सर आलफ्रेड लायल के अनुसार १८५७ के विद्रोह के परिणाम क्रान्तिकारी थे। इसने कुछ समय के लिये ब्रिटिश साम्राज्य की नींव को हिला दिया और रचनात्मक कार्य और सुधारों के लिये मार्ग खोल दिया।[2] १८५८ के अधिनियम के अन्तर्गत भारत सरकार का शासन सूत्र सीधा ब्रिटिश राजमुकुट अर्थात् ब्रिटिश पार्लियामेंट के हाथों में आ गया। भारत सरकार *का ईस्ट इण्डिया कम्पनी से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं* रहा। भारत सरकार का सब कार्य अब ब्रिटिश राजमुकुट के नाम से होने लगा। ब्रिटिश सरकार को अब यह अच्छी तरह प्रगट होने लगा कि भारत का शासन *चलाने के लिये भारतीयों का* सहयोग अनिवार्य है। अन्य उत्तरदायी प्रशासनिक सेवा के लिये भी यह आवश्यक था कि वे यह मालूम करें कि भारतीय जनता क्या चाहती है। जनता यह भी चाहती थी कि अपनी शिकायतें सरकार के समक्ष रख सके और वह उनकी बाधाओं से अवगत रहे। इस समय तक भारतीय ब्रिटिश सरकार के समक्ष अपने दृष्टिकोण को नहीं रख पाते थे और वह भारतीय भावनाओं को पूरी *तरह से नहीं जान पाती थी।* १८५७ के विद्रोह के उपरान्त ब्रिटिश सरकार ने इस विषय में एक नई नीति अपनाई और भारतीयों का सहयोग प्राप्त करने लगे। इस

---

१. के० एम० पन्नीकर : ए सर्वे ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, पृष्ठ २०६।

२. दी राइज एण्ड एक्सपेन्सन ऑफ दि ब्रिटिश डोमिनियन इन इण्डिया, पृष्ठ २७६।

उद्देश्य की प्राप्ति के लिये व्यवस्थापिका परिषदें स्थापित की गईं जिनमें कुछ गैर-सरकारी भारतीयों को भी स्थान दिया गया। कुछ भारतीय तो मनोनीत होते थे और कुछ निर्वाचन द्वारा आते थे। ऐसी व्यवस्था १८६१, १८९२ और १९०९ के अधिनियम के अन्तर्गत की गई।

ब्रिटिश सरकार ने यह भी जान लिया कि भारतीय जनता को अपने पक्ष में करने के लिये यह आवश्यक है कि भारतवासी ब्रिटिश सभ्यता, शिक्षा, शासन और न्याय पद्धति से अवगत रहें। इस ध्येय की प्राप्ति के लिये अंग्रेजी शिक्षा, का भारत में प्रचार किया गया और १८५८ में भारत में कई विश्वविद्यालय खोले गये। १८६१ में उच्च न्यायालय अधिनियम पास किया गया जिसके अन्तर्गत अंग्रेजी न्याय और प्रणाली भारत में लागू की गई। भारत की जनता को अपने पक्ष में करने के लिये और भी बहुत से यत्न किये गये। महारानी विक्टोरिया के पहली नवम्बर सन् १८५८ के घोषणा पत्र में यह बताया गया कि भारतीय प्रजा चाहे जिस धर्म या जाति की हो, यदि वह योग्य, शिक्षा में पूर्ण और ईमानदार है तो प्रत्येक सरकारी पद पर उसकी नियुक्ति हो सकती है। सरकारी नौकरियाँ बिना किसी पक्षपात के दी जायेंगी। १८३३ में भी इस प्रकार का एक कानून पास किया गया था और इस नवीन घोषणा पत्र में इसको दोहरा कर भारतीय जनता को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया गया। यह यहाँ उल्लेखनीय बात है कि घोषणा पत्र का यह भाग सिर्फ नाममात्र में ही रहा। वास्तव में इसको मान्यता नहीं दी गई।

१८५७ के विद्रोह में देशी राजाओं ने मुख्य भाग लिया था क्योंकि उनके राज्य छीन लिये गये थे। इसीलिए उनको सन्तुष्ट करना भी आवश्यक समझा गया। महारानी विक्टोरिया के घोषणा पत्र में यह बताया गया कि ब्रिटिश सरकार देशी राजाओं के साथ हुई सब सन्धियों और समझौतों को पूरी तरह से मान्यता देगी। इस बात का भी उल्लेख किया गया कि ब्रिटिश सरकार भारत में अब किसी प्रदेश या राज्य पर अपना अधिपत्य नहीं बढ़ायेगी। अब वह किसी देशी राज्य को नहीं छीनेगी। ब्रिटिश सरकार ने यह आश्वासन दिया कि देशी राजाओं के अधिकार, प्रतिष्ठा और मान को वह इतना ही अधिक आदर देंगे जितना कि अपने अधिकारों, प्रतिष्ठा और मान को। विद्रोह के उपरान्त ब्रिटिश सरकार ने भारत में सैनिक संगठन में भी परिवर्तन कर दिया। भारतीय सेना में अंग्रेजों की संख्या बढ़ा दी गई। भारतीय सेना को प्रान्तों और जातियों के आधार पर संगठित कर दिया, जिससे कि वे कभी भी एक झण्डे के नीचे आकर और सम्मिलित होकर ब्रिटिश सरकार का विरोध न करें। इसके साथ-साथ अंग्रेजों ने सामाजिक कार्यों में भी भारतीयों से पृथक् रहना आरम्भ कर दिया। वे भारतीयों को घृणा और भय की दृष्टि से देखने लगे। ब्लन्ट ने ठीक ही कहा है कि पिछले बीस वर्षों में जातीय घृणा और भेदभाव के लिये अधिक रूप में अंग्रेज ही उत्तरदायी थे।[1] विद्रोह के उपरान्त अंग्रेजों

१. आर० एन० अग्रवाल: नेशनल मूवमेंट एण्ड कॉन्स्टीट्यूशनल डेवलपमेंट ऑफ इण्डिया, देहली १९५६, पृष्ठ २३।

ने मुसलमानों के साथ क्रूरता का व्यवहार किया क्योंकि अंग्रेज समझते थे कि मुसलमान ही विद्रोह के मुख्य अग्रगामी थे। एक महाराज्यपाल ने एक मुस्लिम शिष्टमण्डल से कहा था कि मैं आपके लिये सब कुछ कर सकता हूँ परन्तु मैं आपको विशेषाधिकार नहीं दे सकता।

**१८५८ का अधिनियम**—फरवरी १८५८ में प्रधानमन्त्री लार्ड पामर्सटन ने पार्लियामेंट में एक विधेयक पेश किया जिसका अभिप्राय भारत का शासन कम्पनी से हटा कर ब्रिटिश राजमुकुट के हाथों में सौंपना था। जॉन स्टुअर्ट मिल ने कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स की ओर से इसका घोर विरोध किया और इसे मूर्खतापूर्ण और उत्पात का कार्य कहा। इस विरोध के होते हुए भी विधेयक का दूसरा वाचन अधिक बहुमत से पास हो गया। १२ फरवरी १८५८ को इस विधेयक पर बोलते हुए लार्ड पामर्सटन ने कम्पनी के शासन की कड़ी आलोचना की और उसकी शासन प्रणाली के दोषों पर प्रकाश डाला। उसने बताया कि कम्पनी की सरकार-व्यवस्था असहनीय, शोचनीय और बड़ी पेचीदा है। उसने कहा कि अंग्रेजी राजनैतिक पद्धति उत्तरदायित्व पर आधारित है। अंग्रेजी सरकार, संसद, जनमत और राजमुकुट के प्रति उत्तरदायी है। परन्तु कम्पनी सरकार न तो संसद के प्रति उत्तरदायी है न राजमुकुट द्वारा नियुक्त हुई है परन्तु यह ऐसे चुने हुए मनुष्यों द्वारा चलाई जाती है जिनका भारत से कोई सम्बन्ध नहीं है, कम्पनी में केवल उनके कुछ हिस्से हैं। पामर्सटन ने यह भी बताया कि कम्पनी के शासन के अन्तर्गत सरकार के कार्य और उत्तरदायित्व, डायरेक्टर्स, बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल और महाराज्यपाल में बँटे हुए थे और ये तीनों अधिकारी न तो फुर्ती से काम कर सकते थे और न उन तीनों में ध्येय की एकता थी। महत्वपूर्ण विषयों के पत्र कैनन रो और इण्डिया हाउस के बीच ही चक्कर काटते रहते थे।[1] एक पक्ष कुछ सुझाव रखता था, दूसरा पक्ष उसमें परिवर्तन करता था, पहला पक्ष फिर परिवर्तन करता था और यह पत्र फिर दूसरे पक्ष के पास भेजा जाता था। ऐसे निर्णयों से कोई पक्ष भी पूर्ण रूप से संतुष्ट नहीं होता था। पामर्सटन ने कम्पनी की ओर से उठायी गई आपत्तियों का भी उत्तर दिया। उसने कहा कि भारत की जनता कम्पनी की अपेक्षा राजमुकुट को अधिक श्रद्धा के साथ देखेगी। कम्पनी में व्यापारी ही है चाहे वे कितने ही उच्च घराने के क्यों न हों। कम्पनी की ओर से यह कहा गया कि पार्लियामेंट का नियन्त्रण कम्पनी की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली और उचित नहीं होगा। इसके जवाब में पामर्सटन ने कहा कि कम्पनी के द्वारा भारतीय सरकार में सुधार किये गये हैं, वे पार्लियामेंट के दबाव के कारण किये गये हैं। कम्पनी की ओर से यह भी कहा गया कि एक सरकारी मन्त्री के हाथ में विशेषाधिकार देना ठीक नहीं है। पामर्सटन ने इसका उत्तर देते हुए कहा कि इस युक्ति में कोई तत्त्व नहीं है। कम्पनी की ओर से यह भी कहा गया कि इस

१. ए० सी० बनर्जी : इण्डियन कॉन्स्टिट्यूशनल डॉक्यूमेंट्स, भाग १ कलकत्ता १९४८, पृष्ठ ४।

विधेयक को इस समय पास करना इस अवसर पर उचित नहीं है। पामर्स्टन ने इस आपत्ति का भी उत्तर दिया और कहा कि आपातकालीन समय में ही हम सरकार के विषय में अच्छी तरह सोच सकते हैं। हम भारत की वर्तमान व्यवस्था में कुछ परिवर्तन नहीं करना चाहते। परन्तु हम यह अवश्य चाहते हैं कि वर्तमान शक्तिहीन सरकारी मशीनरी को अधिक दिन स्थापित न रक्खें और इसके बजाय एक शक्तिशाली और प्रभावशाली सरकारी व्यवस्था करें जिससे कि भारत में शान्ति हो जाय।[1]

इस विधेयक के दूसरे वाचन के पास होने के थोड़े दिन के बाद ही लॉर्ड पामर्स्टन को 'कॉन्सपिरेसी टू मर्डर बिल' के विषय में अपने पद से त्याग पत्र देना पड़ा। इसके उपरान्त लॉर्ड डरबी प्रधान मन्त्री बने और श्री डिजरेली वित्तमन्त्री बने। लार्ड ऐलिनबरो बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के अध्यक्ष बने। श्री डिजरेली ने तुरन्त ही भारतीय सरकार के लिये एक नया विधेयक पेश किया। उसकी यह योजना असफल रही। और जब सदन की ईस्टर के बाद दुबारा बैठक हुई तो किसी ने भी इस विधेयक का समर्थन नहीं किया। पामर्स्टन ने व्यंगपूर्वक कहा कि जब कभी भी कोई हँसता हुआ व्यक्ति सड़कों पर दिखाई पड़े तो यह समझ लेना कि वह डिजरेली के भारत सरकार सम्बन्धी विधेयक की चर्चा कर रहा है।[2] इसी बीच लॉर्ड ऐलनबरो को कुछ कारणवश त्याग पत्र देना पड़ा और उसका स्थान लॉर्ड स्टेनले को लेना पड़ा। लॉर्ड स्टेनले ने भारतीय सरकार के विषय में एक और विधेयक पेश किया। यह विधेयक सदन में ३० अप्रैल सन् १८५८ को पास किये गये १४ प्रस्तावों पर आधारित था। अन्त में यही विधेयक १८५८ का भारतीय सरकार अधिनियम बना।

**१८५८ के अधिनियम के उपबन्ध**—१८५८ का अधिनियम २ अगस्त १८५८ को पास किया गया। इसके मुख्य उपबन्ध यहाँ पर दिये जाते हैं :—

(१) भारत के जो प्रदेश कम्पनी के शासन के अन्तर्गत थे उन पर से कम्पनी का आधिपत्य समाप्त कर दिया गया। ये प्रदेश ब्रिटिश राजमुकुट में निहित कर दिये गये।

(२) इस अधिनियम के द्वारा यह निश्चित हुआ कि भारत का शासन *ब्रिटिश राजमुकुट के नाम से और उसके द्वारा होगा।* सारे प्रादेशिक और अन्य राजस्व ब्रिटिश राजमुकुट के लिये और उसी के नाम से प्राप्त किये जायेंगे।

(३) जो शक्तियाँ और अधिकार भारत के शासन और राजस्व के विषय में कम्पनी कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स या कोर्ट ऑफ प्रोप्राइटर्स को मिले हुए थे वे सब

१. गुरमुख निहालसिंह : लैण्डमार्क्स इन इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डेवलपमेंट, पृष्ठ ६८-६९।

२. सर कोर्टने इल्बर्ट : दि गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया, ऑक्सफोर्ड १९०७, पृष्ठ ९४।

ब्रिटिश राजमुकुट के एक मुख्य सेक्रेटरी ऑफ स्टेट को दे दिये गये। इस कार्य के लिये नियुक्त पाँचवें सेक्रेटरी ऑफ स्टेट का वेतन भारतीय राजस्व से दिया जाना भी निश्चित हुआ।

(४) इस अधिनियम के अन्तर्गत सेक्रेटरी ऑफ स्टेट को सहायता देने के लिये एक परिषद् की नियुक्ति का प्रबन्ध किया गया। इस परिषद् का नाम कौंसिल ऑफ इंडिया (The Council of India) रखा गया। इस अधिनियम में इस परिषद् के संगठन, शक्तियों और कार्यों का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया गया। इस परिषद् की सदस्य संख्या १५ थी। ८ सदस्यों की नियुक्ति ब्रिटिश राजमुकुट के द्वारा होती थी और ७ सदस्य पुराने कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स चुनते थे। अगर इन चुने हुए ७ सदस्यों में से किसी कारणवश भविष्य में कोई स्थान रिक्त हो जाय तो उसकी पूर्ति परिषद् करेगी। राजमुकुट के द्वारा नियुक्त सदस्यों के रिक्त स्थान की पूर्ति राजमुकुट ही करेगी। परिषद् के इन पन्द्रह सदस्यों में से ९ सदस्य ऐसे होने चाहियें जो या तो भारत में दस वर्ष तक रह चुके हों या वहाँ पर कोई नौकरी कर चुके हों और इन ९ सदस्यों की नियुक्ति के समय इनको भारतवर्ष छोड़े हुए दस वर्ष से अधिक नहीं हुए हों। परिषद् का प्रत्येक सदस्य जब तक सद्व्यवहार करेगा तभी तक पद पर आसीन रह सकता है। राजमुकुट संसद के दोनों सदनों की प्रार्थना पर किसी भी सदस्य को अलग कर सकता है। परिषद् का कोई भी सदस्य संसद का सदस्य नहीं हो सकता। प्रत्येक सदस्य को भारत के राजस्व में से १२०० पौंड सालाना वेतन मिलेगा। कुछ अवस्थाओं में अवकाश प्राप्त सदस्यों को पेन्शन देने की व्यवस्था भी की गई थी। यह परिषद् सेक्रेटरी ऑफ स्टेट के निर्देशन में इंगलैंड में भारत सरकार का कार्य और पत्र व्यवहार करेगी। कोई पत्र या आदेश भारत सरकार के विषय में जो भारत को भेजा जायेगा वह सेक्रेटरी ऑफ स्टेट के हस्ताक्षरों से भेजा जायेगा। कोई भी प्रेषण जो भारत या किसी भी प्रदेश से इंगलैंड भेजा जायेगा वह सेक्रेटरी ऑफ स्टेट को सम्बोधित किया जायगा। सेक्रेटरी ऑफ स्टेट को यह अधिकार दिया गया कि परिषद् के कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिये वह परिषद् में से ही कुछ समितियाँ बना सकता है। वह बाद में उनका पुनः निर्माण भी कर सकता था। उसको यह भी अधिकार था कि किस विभाग का कार्य किस समिति को सौंपा जाय और ऐसे कार्य को किस ढंग से चलाया जाय। सेक्रेटरी ऑफ स्टेट इस परिषद् के सभापति बनाये गये जो अपना मत भी दे सकते थे। उनको एक उप-सभापति नियुक्त करने का भी अधिकार दिया गया। वह इस उप-सभापति को उसके पद से अलग भी कर सकता था। परिषद् की कार्यवाही तभी उचित समझी जाती थी जबकि कम से कम पाँच सदस्य उपस्थित हों। परिषद् की बैठक सेक्रेटरी ऑफ स्टेट की अनुमति से ही बुलाई जाती थी। परन्तु सप्ताह में एक बैठक होना आवश्यक था।

परिषद् के निर्णय साधारण तौर से बहुमत से निश्चित होते थे। यदि सेक्रेटरी ऑफ स्टेट उचित समझता था तो वह परिषद् के बहुमत की अवहेलना भी कर

सकता था। ऐसा करते समय उसे यह लिखित रूप से देना पड़ता था कि वह परिषद् के बहुमत की अवहेलना क्यों कर रहा है। उसकी अनुपस्थिति में जो निर्णय होते थे उनके लिए भी सेक्रेटरी ऑफ स्टेट की अनुमति लेना आवश्यक था। कोई आदेश या पत्र जो भारत को भेजा जाता था, वह परिषद् के कमरे (यदि पहले परिषद् के समक्ष न रख दिया गया हो) में रख दिया जाता था और सदस्यों को यह अधिकार था कि वे उस पत्र या आदेश को देखें और यदि वे उससे सहमत न हों तो उस पर सहमत न होने के कारण लिख दें। सेक्रेटरी ऑफ स्टेट ऐसे पत्र या आदेश को बहुमत की राय के विरुद्ध भी भेज सकता था, कुछ अविलम्ब पत्र और आदेश भी सेक्रेटरी ऑफ स्टेट भेज सकता था जिनके लिये यह आवश्यक नहीं था कि वे परिषद् के समक्ष या कमरे में सदस्यों के देखने के लिये सात रोज तक रखे जायें। ऐसे कार्यों के कारण उसे लिखित रूप में देने पड़ते थे। कुछ ऐसे आदेश या पत्र जो पहले कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स की गुप्त समिति द्वारा भारत की सरकार या अधिकारियों को भेजे जाते थे उनके लिए अब सेक्रेटरी ऑफ स्टेट को अधिकार था कि वह न तो उन्हें परिषद् के समक्ष रखे और न सदस्यों के देखने के लिये रखे और न उनके भेजने के कारण बतावे। जो पत्र भारत से कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स की गुप्त समिति को भेजे जाते थे वे अब सेक्रेटरी ऑफ स्टेट को भेजे जाने लगे और यह आवश्यक नहीं था कि सेक्रेटरी ऑफ स्टेट उन्हें परिषद् के समक्ष रखे या बतावे। कुछ विषय में सेक्रेटरी ऑफ स्टेट को परिषद् के बहुमत की बात माननी पड़ती थी। भारत के राजस्व से किस प्रकार खर्च किया जाय, भारत सरकार की तरफ से कहीं से ऋण किस प्रकार लिया जाय, आदि इस प्रकार के विषय थे।

(५) १८५८ के अधिनियम के द्वारा आश्रय (patronage) की शक्ति राजमुकुट, सेक्रेटरी ऑफ स्टेट इन कौंसिल और भारतीय अधिकारियों में विभाजित कर दी गई। जो पदोन्नति या नियुक्तियां भारतीय अधिकारी रीति-रिवाज या किसी नियम के अनुसार करते थे वे उन्हीं के द्वारा होती रहीं। यह भी निश्चित किया गया कि भारतीय प्रसंविद सेवकों की नियुक्तियां प्रतियोगिता द्वारा उन नियमों के अनुसार होंगी जिनको कि सेक्रेटरी ऑफ स्टेट सिविल सर्विस कमिश्नर्स की सहायता से बनवायेगा।

(६) १८५८ के अधिनियम के अनुसार कम्पनी की सेना और जो सेना राजमुकुट के अन्तर्गत रख दी गई। यह भी निश्चित किया गया कि उन्हें कम्पनी के समय के जैसे ही अधिकार, सुविधायें, भत्ते और पेंशन दी जावेंगी।

(७) १८५८ के अधिनियम के ५३ अनुच्छेद के अनुसार सेक्रेटरी ऑफ स्टेट के लिये यह अनिवार्य था कि वह हर साल पिछले साल का वित्त ब्यौरा संसद के दोनों सदनों के समक्ष रक्खे। इसके साथ ही उसे एक ऐसा विवरण भी देना था जिसमें भारत के नैतिक और भौतिक विकास और वहाँ की दशा पर प्रकाश डाला जाय।

(८) यदि राजमुकुट की भारतीय सेना को किसी युद्ध में शामिल होने के

लिए कोई आदेश भेजा जाय तो इसका पता संसद के दोनों सदनों को तीन महीने के अन्दर ही अन्दर दिया जाना चाहिये। कुछ विशेष अवस्थाओं को छोड़कर भारतीय फौज यदि भारत के क्षेत्र से बाहर युद्ध में सम्मिलित होगी तो उसका खर्चा संसद के दोनों सदनों की अनुमति के बिना भारतीय राजस्व से नहीं लिया जायेगा।

(९) १८५८ के अधिनियम के ६५वें अनुच्छेद के अनुसार सेक्रेटरी ऑफ स्टेट इन कौंसिल को किसी के विरुद्ध मुकदमा चलाने का अधिकार मिल गया और इस सेक्रेटरी ऑफ स्टेट के विरुद्ध भी मुकदमा चलाया जा सकता था। इस अधिनियम के अनुसार यह नियम निकाय (corporate body) बन गई।

१८५८ के अधिनियम ने वास्तव में भारत सरकार की व्यवस्था में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया। ब्रिटिश संसद के द्वारा पास हुए बहुत से चार्टर और अधिनियमों ने कम्पनी के अधिकारों को लगभग समाप्त कर दिया था। वास्तव में अधिकतर भारतीय सरकार पर ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल का ही आधिपत्य था। इस अधिनियम ने कम्पनी का शासन कानून द्वारा समाप्त कर दिया। ब्रिटिश संसद सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में भारतीय शासन के लिये उत्तरदायी बन गई। लॉर्ड डरबी ने १५ जुलाई १८५८ को लॉर्ड सभा में इस बिल के ऊपर भाषण देते हुए कहा था कि वास्तव में राजमुकुट को जो अधिकार हस्तान्तरित किये गये हैं वे वास्तविक न होकर नाममात्र के हैं। कम्पनी के शासन काल में कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स सिर्फ कुछ अड़चन और देर ही लगा सकते थे और सिवाय महाराज्यपाल को वापिस बुलाने के उनकी ऐसी कोई शक्ति नहीं थी, जिसका प्रयोग वे बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के सभापति की अनुमति के बिना कर सकें। लॉर्ड डरबी ने यह भी बताया कि अर्ल ऑफ ऐलनबारो ने जो बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के सभापति रह चुके हैं एक बार अपनी समिति में कहा कि जब वे *(अर्ल ऑफ एलनबारो)* अपने पद पर आसीन थे तो भारतीय सरकार पूर्ण रूप से उन्हीं के हाथों में थी।[1]

— • —

१. ए० सी० बनर्जी "इन्डियन कान्स्टीट्यूशनल डाक्यूमेंट्स, भाग २, पृष्ठ २३, २४।

# १८६१ और १८९२ के भारतीय परिषद् अधिनियम

**१८६१ का भारतीय परिषद् अधिनियम**—इस अधिनियम को पास करने के दो मुख्य कारण थे। ब्रिटिश गवर्नमेंट को यह भली-भांति प्रकट हो गया था कि भारतवासियों के सहयोग के बिना शासन ठीक तरह से नहीं चल सकेगा। सर सैयद अहमद ने ठीक ही कहा था कि सरकार में यहाँ की जनता का प्रतिनिधित्व न होने के कारण उनके विचार और भावनायें सरकार को पता नहीं चल सकते। महाराज्यपाल की कार्यकारणी के सदस्य सर बारटिल फ्रेअर ने १८६० में कहा था कि भारतवासियों को परिषद् में स्थान दिये बिना शासन चलाना एक भयानक प्रयोग है। ऐसी शासन व्यवस्था के अन्तर्गत विद्रोह के अलावा और कोई चारा नहीं है, जिससे जनता अपनी भावना व्यक्त कर सके और यह बता सके कि वह किस प्रकार की सरकार और कानून चाहती है। उस समय की व्यवस्था की एक बड़ी कमी यह थी कि जनता सिवाय विरोध करने के और कुछ कर नहीं सकती थी।[1] इस अधिनियम को बनाने का दूसरा कारण १८५३ के अनुसार बनाई गई सुप्रीम लेजिस्लेटिव कौंसिल की शक्ति को कम करना था, जो सरकार के मामलों में हस्तक्षेप करने लगी थी तथा एक छोटी सी संसद ही बन गई थी। इस तरह के व्यवहार को ब्रिटिश सरकार ठीक नहीं समझती थी। सर चार्ल्स वुड ने इस अधिनियम के विषय में हाउस ऑफ कॉमन्स में ६ जून सन् १८६१ को कहा था कि यह परिषद् उसकी इच्छा के विरुद्ध वाद-विवाद करता था एक छोटी सी संसद बन गई थी। इस परिषद् के विषय में सर लॉरेन्स पील के कहे गये शब्दों को भी चार्ल्स वुड ने हाउस ऑफ कॉमन्स के समक्ष रक्खा था। पील के अनुसार यह परिषद् तक ऐंग्लो इंडियन कामन्स सभा नहीं थी, उसको यह अधिकार नहीं था कि वह जनता की शिकायतों को दूर करे या बजट को अस्वीकार कर दे। वुड ने कहा कि यह बड़ी भूल थी कि १२ सदस्यों का एक ऐसा निकाय बना जो स्वयं संसद के कार्यों को करने लगा।

**१८६१ के अधिनियम के उपबन्ध**—(१) इस अधिनियम के अनुसार महाराज्यपाल की कार्यकारिणी के सदस्यों की संख्या चार से बढ़ा कर पांच कर दी गई। सर चार्ल्स वुड ने बताया था कि महाराज्यपाल की कार्यकारिणी में एक भी सदस्य ऐसा नहीं था जो कानून और विधि निर्माण के सिद्धान्तों को जानता हो। इस कमी को पूरा करने के लिये पांचवें सदस्य की नियुक्ति का निश्चय किया गया। इस सदस्य को विधिवेत्ता होना आवश्यक था, वकील नहीं। अधिनियम के तीसरे अनुच्छेद में

१. रिपोर्ट आन इंडियन कान्स्टीट्यूशनल रिफार्म्स १९१८, पृष्ठ ३८।

बताया गया था कि महाराज्यपाल की कार्यकारिणी में पाँच सदस्य होंगे। तीन सदस्यों की नियुक्ति 'सेक्रेटरी ऑफ स्टेट इन कौंसिल' अपनी परिषद् के बहुमत की अनुमति से करेगा। इन तीनों सदस्यों के लिये यह आवश्यक था कि नियुक्ति के समय वे राजमुकुट की असैनिक सेवा में भारत में दस साल से रह रहे हों। अन्य दो सदस्यों की नियुक्ति राजमुकुट करता था, उनमें से एक सदस्य के लिये अनिवार्य था कि वह या तो बैरिस्टर हो या स्काटलैंड की एडवोकेट्स की फैकल्टी का पाँच साल तक सदस्य रहा हो। 'सेक्रेटरी ऑफ स्टेट इन कौंसिल' को यह भी अधिकार दिया गया कि राजमुकुट की भारतीय सेना के सेनापति को महाराज्यपाल की कार्यकारिणी का असाधारण सदस्य नियुक्त कर दे। उन पाँचों सदस्यों को वेतन दिया जाता था और सेक्रेटरी ऑफ स्टेट इन कौंसिल अपनी परिषद् के बहुमत से इनका वेतन नियुक्त करता था।

(२) इस अधिनियम में यह भी उपबन्ध था कि यदि महाराज्यपाल कहीं बाहर जाय और उसकी कार्यकारिणी उसके साथ न जाये तो कार्यकारिणी स्वयं तय कर देती थी कि महाराज्यपाल की अनुपस्थिति में कौन सा सदस्य सभापति होगा। वह सभापति महाराज्यपाल की अनुपस्थिति में कानूनों पर हस्ताक्षर करने, कानूनों के रोक लेने या रानी की अनुमति के लिये कानून रख लेने के सिवाय महाराज्यपाल के और सब अधिकारों का उपभोग कर सकता था। कार्यकारिणी को यह अधिकार था कि वह कानून बनाने के सिवाय अपनी सब शक्तियाँ महाराज्यपाल को सौंप दे, ऐसा अधिकार अनुच्छेद छः में दिया गया था।

(३) अनुच्छेद ८ के अनुसार महाराज्यपाल को यह अधिकार दिया गया कि वह कार्यकारिणी के कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिये नियम और आदेश जारी कर सकता है। इस उपबन्ध के आधार पर ही लॉर्ड कैनिंग ने भारतीय सरकार को चलाने के लिये विभाग सौंपने की पद्धति (Portfolio System) अपनाई थी। इस पद्धति के अनुसार प्रत्येक सदस्य को अलग-अलग विभाग मिल गये। अपने विभाग के साधारण विषयों को सदस्य स्वयं तय कर लेते थे और महत्व के प्रश्न महाराज्यपाल के परामर्श से तय कर लेते थे। नीति विषयक मामले कार्यकारिणी की बैठक में रखे जाते थे।

(४) सरदार गुरमुख निहाल सिंह ने बताया है कि १८६१ का अधिनियम इसलिये महत्वपूर्ण है कि इसके अनुसार प्रान्तों को कानून बनाने के अधिकार की नींव पड़ी और बाद में यह १९३७ में प्रान्तीय स्वायत्त शासन के रूप में परिणित हो गई। इस अधिनियम के अनुसार मद्रास और बम्बई की सरकारों को कानून बनाने और उन्हें संशोधित करने के अधिकार मिल गये। परन्तु सार्वजनिक ऋण, सिक्के इत्यादि, डाक, तार, फौजदारी कानून, धार्मिक प्रथायें सैनिक अनुशासन और दूसरे देशों से सम्बन्ध आदि कुछ विषय ऐसे थे जिन पर कानून बनाने में पहले महाराज्यपाल की अनुमति आवश्यक थी। प्रान्तीय सरकारों द्वारा बनाये हुए कानूनों के लिये पहले राज्यपाल की अनुमति मिलना आवश्यक थी। राज्यपाल की अनुमति

के उपरान्त महाराज्यपाल की अनुमति आवश्यक थी। मगर महाराज्यपाल चाहे तो अनुमति न दे। महाराज्यपाल की अनुमति प्राप्त करने के बाद प्रत्येक कानून राजमुकुट की अनुमति के लिये भेजा जाता था। राजमुकुट यदि उसे चाहे तो रद्द कर सकता था। प्रान्तीय कानून बनाने के लिये राज्यपाल को यह अधिकार था कि वह अपनी कौंसिल में प्रान्त के एडवोकेट जनरल और कम से कम चार और अधिक से अधिक आठ अन्य मनुष्यों को अपनी कौंसिल का सदस्य मनोनीत कर दे। यह आवश्यक था कि ऐसे मनोनीत सदस्यों में कम से कम आधे सदस्य गैर-सरकारी हों। महाराज्यपाल को ऐसी व्यवस्थापिका परिषद् (Legislative council) फोर्ट विलियम प्रान्त की बंगाल कमिश्नरी के लिये भी स्थापित करने का अधिकार दिया गया था। उत्तर पश्चिमी प्रान्त और पंजाब के लिये भी ऐसी व्यवस्था करने का अधिकार उसे दिया गया। इस तरह की एक व्यवस्थापिका परिषद् बंगाल के लिये जनवरी १८६२, उत्तर पश्चिमी प्रान्त के लिये १८८६ और पंजाब के लिये १८९७ में स्थापित की गई।

(५) अधिनियम के ४६वें अनुच्छेद के अनुसार महाराज्यपाल को प्रान्तीय कानून बनाने के ध्येय से नये प्रान्त स्थापित करने का अधिकार मिला। उनके लिये महाराज्यपाल उपराज्यपाल भी नियुक्त कर सकता था। वह क्षेत्रों या प्रान्तों के क्षेत्र-फल को घटा-बढ़ा भी सकता था।

(६) इस अधिनियम के अनुसार महाराज्यपाल आपातकाल में अध्यादेश भी जारी कर सकता था। ये अध्यादेश छः महीने तक जारी रह सकते थे यदि इस बीच सेक्रेटरी ऑफ स्टेट इन कौंसिल या सुप्रीम लेजिस्लेटिव कौंसिल के द्वारा रद्द न कर दिये गये हों।

(७) १८६१ के अधिनियम का १०वाँ अनुच्छेद बहुत ही महत्वपूर्ण है। इस अनुच्छेद में महाराज्यपाल की व्यवस्थापिका परिषद् का संगठन शक्ति और कार्य दिये हुए हैं। इस अनुच्छेद में यह प्रयत्न किया गया है कि यह व्यवस्थापिका परिषद् संसद की तरह शक्तिशाली न बन जाय। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये उसकी शक्तियों पर काफी नियन्त्रण लगाये गये हैं। इस अनुच्छेद के द्वारा भारत-वासियों के सहयोग प्राप्त करने की चेष्टा भी की गई है। सर चार्ल्स वुड जो उस समय भारत के सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया थे उन्होंने ६ जून १८६१ को कामन्स सभा में इस विधेयक पर भाषण देते हुए कहा था कि भारत में प्रतिनिधि संस्थायें स्थापित करना असम्भव है। उनका विचार था कि वे भारत में ऐसे मनुष्य एकत्रित नहीं कर सकते जो सारे देश व जातियों का प्रतिनिधित्व कर सकें। भारतवासियों के प्रतिनिधित्व की बात करना एक असम्भव बात का जिक्र करना है। आगे चलकर वुड कहते हैं कि कानून बनाते समय देशी राजाओं का सहयोग लेने में बहुत लाभ होगा। ऐसा करने से भारतवासी सोचेंगे कि शासन कार्य में उनका हाथ है और उनमें असन्तोष की भावना जागृत नहीं होगी और उच्च

धराने के भारतवासी हमारे राज्य कार्य में सहयोग देने लगेंगे।[1] १८६१ के अधिनियम द्वारा महाराज्यपाल को यह अधिकार दिया गया कि वह कानून और नियम बनाने के हेतु अपनी परिषद् में साधारण और असाधारण सदस्यों के अलावा कम से कम छः और अधिक से अधिक १२ सदस्यों को मनोनीत कर सकता था, केवल कानून बनाते समय ही ये सदस्य परिषद् में बैठ सकते थे। यह आवश्यक था कि इन मनोनीत सदस्यों में से कम से कम आधे सदस्य गैर-सरकारी हों। इस उपबन्ध के द्वारा ही भारतवासियों का सहयोग प्राप्त करने की चेष्टा की गई थी। ये सदस्य २ साल के लिये मनोनीत होते थे। कानून बनाने पर बहुत सी रुकावटें थीं। परिषद् का कोई भी सदस्य सार्वजनिक ऋण, सार्वजनिक राजस्व, धर्म और धार्मिक रीतिरिवाज, सैनिक अनुशासन या विदेशी राज्यों के साथ विषयों आदि पर महाराज्यपाल की आज्ञा बिना कानून या प्रस्ताव पेश नहीं कर सकता था। इस परिषद् के द्वारा बनाये गये प्रत्येक कानून व नियम के लिये महाराज्यपाल की अनुमति आवश्यक थी। वह किसी भी कानून को रद्द कर सकता था या राजमुकुट की अनुमति प्राप्त करने के लिये रख सकता था। यदि किसी कानून या नियम के लिये महाराज्यपाल अनुमति भी दे दे तो भी राजमुकुट उसे रद्द कर सकता था। इस अधिनियम द्वारा भी राजमुकुट और ब्रिटिश पार्लियामेंट के अधिकार ही उच्च रहे।

भारतीय शासन पद्धति के इतिहास में १८६१ का अधिनियम एक महत्वपूर्ण घटना है। सर चार्ल्स वुड ने १८६१ के विधेयक को भारतीय साम्राज्य के लिये सबसे अधिक महत्वपूर्ण बताया था। इसके द्वारा भारतीय कार्यकारिणी का ढांचा बदल दिया गया और कानून बनाने की व्यवस्था में भी परिवर्तन हो गया। उन्होंने कहा कि इस अधिनियम द्वारा जितना अधिक उत्तरदायित्व उन्होंने अपने कन्धों पर लिया उतना कभी भी नहीं लिया था। मोन्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट के अनुसार १८६१ के अधिनियम के साथ एक युग समाप्त होता है। इस अधिनियम से सरकार को शक्तिशाली बना दिया जाता है। तीनों प्रान्तों में एक सा शासन स्थापित हो जाता है। महाराज्यपाल की परिषद् का अधिकार सब प्रान्तों और सब नागरिकों पर समान रूप से लागू कर दिया जाता है। स्थानीय समस्याओं को सुलझाने के लिये स्थानीय परिषद् स्थापित या पुनः स्थापित की गयीं। कुछ गैर-सरकारी और भारतीय सदस्यों का सहयोग भी प्राप्त किया गया। इन सब अच्छाइयों के होते हुये भी हमें यह मानना पड़ेगा कि इस अधिनियम में भी अनेक त्रुटियाँ थीं। मोन्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में यह बताया गया है कि यह परिषद् सरकार की व्यवस्थापिका समिति मात्र ही थी। वास्तव में इन परिषदों में प्रतिनिधि संस्थाओं (responsible institutions) के लक्षण भी विद्यमान नहीं थे। मोन्टेग्यू और चेम्सफोर्ड दोनों ने यह अनुभव किया कि कुछ अंग्रेज अधिकारियों की त्रुटियों के कारण (जोकि महाराज्यपाल की परिषद् को एक संसद में परिवर्तित करने के

१. ए० सी० बनर्जी : इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशनल डॉक्यूमेंट्स, भाग २, पृष्ठ ६२।

प्रयत्न से थे) भारत में संसदीय पद्धति का विकास रुक गया। इस विकास से सारे देश को लाभ होता। हर्व कोवल ने लिखा है कि कानून के बनाने में सरकार गैर-सरकारी सदस्यों की भावनाओं से प्रभावित हुई है। परन्तु फिर भी यह कहना असत्य नहीं होगा कि परिषदों में बनाये गये कानून वास्तव में सरकारी आदेश हैं। वह आगे कहता है "कि ये परिषदें पर्यालोचन निकाय (deliberative bodies) उन्हीं विषयों के लिये हैं जो उनके समक्ष रखे जाते हैं। वे शिकायतों को नहीं सुन सकती, कहीं से कोई सूचना भी नहीं मंगा सकती और न कार्यकारिणी के बर्ताव की जांच ही कर सकती थी, शासन कार्य की निन्दा भी नहीं की जा सकती थी। और न उन कार्यों का समर्थन ही किया जा सकता था, सिर्फ उन कार्यों का ही पक्ष लिया जा सकता था जिनके ऊपर परिषदों में वादविवाद हो रहा हो।"[1] ये परिषदें वास्तव में नाममात्र की संस्थायें ही थी। योग्य और देशभक्त व्यक्तियों के लिये ऐसी संस्थाओं में कोई स्थान नहीं था। इन परिषदों में न तो प्रश्न पूछे जा सकते थे, न बजट में कमी की जा सकती थी और न शासन कार्यों पर ही टिप्पणी की जा सकती थी, इनको तो हम केवल सरकारी कानून बनाने की परामर्शदात्री समितियां ही कह सकते थे। इनमें संसदीय सरकार के कोई चिह्न प्रतीत नहीं होते।

**अन्य महत्वपूर्ण अधिनियम**—१८६१ और उसके बाद में बहुत से अधिनियम पास हुये जिनसे सरकार के संगठन में साधारण परिवर्तन हुये। एक ऐसा अधिनियम १८६१ का इण्डियन हाई कोर्ट्स ऐक्ट है। लॉ कमिशनर्स के प्रयत्नों से भारत में कानूनों की पद्धति में परिवर्तन किया गया। १८५६ में 'कोड ऑफ सिविल प्रोसिजर' कानून बना। १८६० में इण्डियन पीनल कोड बना। १८६१ में फौजदारी कानून बना। दूसरा महत्वपूर्ण कदम न्याय शासन को सुधारने के लिये १८६१ का इण्डियन हाईकोर्ट्स एक्ट था। इस अधिनियम के अनुसार राजमुकुट को कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में हाईकोर्ट्स स्थापित करने का अधिकार दिया गया। पुरानी सुप्रीम कोर्ट, सदर दीवानी और फौजदारी अदालतें नष्ट कर दी गई और उनके कार्यक्षेत्र नये हाईकोर्टों को सौंप दिये गये। प्रत्येक नये हाईकोर्ट में एक चीफ जस्टिस था और अधिक से अधिक १५ जज होते थे। हाईकोर्ट के सारे जजों का ⅓ भाग बैरिस्टरों का होना आवश्यक था और ⅓ भाग में धर्मनिष्ठ सेवक होते थे। अन्य जज वे होते थे, जिन्होंने या तो पांच साल तक न्यायिक पद ग्रहण किये हों और या दस साल तक वकालत की हो। राजमुकुट के प्रसाद काल तक ही जज अपने पद पर रह सकते थे। हाईकोर्ट को अपने मातहत कोर्टों की देख-रेख और नियन्त्रण करने का पूरा अधिकार था। इस अधिनियम से राजमुकुट को यह भी अधिकार मिल गया कि वह और किसी स्थान पर भी हाईकोर्ट स्थापित कर सकता है। अपने इस अधिकार से उसने १८६६ में इलाहाबाद हाईकोर्ट स्थापित

१. रिपोर्ट ऑन इंडियन कॉन्स्टीट्यूशनल रिफार्म्स, पृष्ठ ८१।

किया। १८६१ में एक अधिनियम द्वारा भारत में नये रूप से फौज का संगठन किया गया। सेना का यह संगठन पील कमीशन की सिफारशों पर आधारित था। इस अधिनियम के अनुसार अंग्रेजी फौज का पृथक रूप में रहना समाप्त कर दिया गया। *अंग्रेजी सेना अब भारतीय सेना का अंग बन गई। यह नया संगठन कई मुख्य* सिद्धान्तों के ऊपर आधारित था। पहले सिद्धान्त से इन्होंने जाति-भेद और प्रान्तों का भेद स्थापित कर दिया। अंग्रेजों का विचार था कि विभिन्न प्रान्तों और जातियों के आधार पर सेना का संगठन करने से भारतीय सेना में मेल नहीं हो सकता। इसलिए वे सब एक साथ मिलकर विद्रोह नहीं कर सकेंगे। दूसरे भारतीय फौज बहुत ही कम कर दी गई। तोपखाना और गोला-बारूद आदि का विभाग भारतवासियों से छीन लिया गया और अंग्रेज सैनिकों को सौंप दिया गया। तीसरे, भारतीय जनता को दो भागों में बाँट दिया गया—सैनिक व असैनिक जाति (martial and non-martial races)। सैनिक जाति के मनुष्य ही फौज में भर्ती किये जाते थे। चौथे अंग्रेजी फौज की संख्या काफी बढ़ा दी गई। १८७६ में रॉयल टाइटिल्स एक्ट पास किया गया, जिसके अनुसार महारानी विक्टोरिया ने भारत की सम्राज्ञी (*Empress of India*) की उपाधि ग्रहण की।

**१८९२ का भारतीय परिषद् अधिनियम**—१८६१ के उपरान्त ब्रिटिश संसद ने भारतीय सरकार के विषय में बहुत से अधिनियम पास किये। इन अधिनियमों में १८९२ का अधिनियम सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। पिछले तीस सालों में भारतीय जनता में राजनैतिक जागृति उत्पन्न हो गई थी, शिक्षा, पश्चिमी संस्थाओं और विचारों के सम्पर्क में आकर भारतीयों में लोक चेतना जागृत हो गई थी। सरकार में जनता का प्रत्यक्ष हाथ नहीं था इसलिये जनता में असन्तोष की भावना फैल रही थी। इसी समय बहुत सी भारतीय राजनैतिक संस्थायें बन गई थी जिनका उद्देश्य भारतीयों को सरकार में उचित स्थान दिलाने का था। राष्ट्रीय कांग्रेस ही इस समय सबसे महत्वपूर्ण और प्रभावशाली संस्था थी। १८९२ का भारतीय परिषद् अधिनियम राष्ट्रीय कांग्रेस के कार्यों का प्रथम फल था।[1] अपने सबसे पहले अधिवेशन में कांग्रेस ने सरकार में सुधार करने के प्रस्ताव रखे। कांग्रेस ने यह माँग की कि भारतीय परिषदों में निर्वाचित भारतीय सदस्य को अधिक संख्या में स्थान मिलना चाहिए। उत्तर पश्चिमी प्रान्त, अवध और पंजाब में भी प्रान्तीय परिषदें बननी चाहियें। परिषदों के सदस्यों को बजट पर वादविवाद करने का अधिकार होना चाहिए। शासन के सम्बन्ध में भारतीय सदस्यों को कार्यकारिणी से प्रत्यक्ष प्रश्न पूछने का भी अधिकार मिलना चाहिए।[2] प्रारम्भ में भारत सरकार का कांग्रेस के प्रति अच्छा व्यवहार रहा। परन्तु जब

१. गुरुमुख निहालसिंह : लैंडमार्क्स इन इंडियन कॉन्स्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डेवलपमेंट पृष्ठ १२४।

२. बेनी बेसेन्ट : हाऊ इंडिया फॉट फॉर फ्रीडम, मद्रास १९१५, पृष्ठ १३।

कांग्रेस का प्रभाव बढ़ने लगा और कांग्रेस सरकार में सुधार की मांग दृढ़ रूप से रखने लगी तो सरकार ने अपनी नीति में परिवर्तन करना प्रारम्भ कर दिया। कांग्रेस के अधिवेशनों के होने में भी अड़चनें डाली जाने लगी तथा कांग्रेस के प्रतिनिधियों को भी धमकी दी जाने लगी। लार्ड डफरिन ने तो यहां तक कह दिया कि कांग्रेस शिक्षित जनता के भी बहुत कम भाग का प्रतिनिधित्व करती है। परन्तु भारत सरकार यह जानती थी कि शिक्षित जनता को सन्तुष्ट किये बिना शासन चलाना असम्भव है। लार्ड डफरिन ने यह साफ-साफ कह दिया कि भारत सरकार को अब एक प्रगतिशील पग उठाना चाहिये और प्रभावशाली, योग्य व विश्वसनीय भारतीयों को भी सरकार में स्थान देकर उनका सहयोग प्राप्त करना चाहिये। इस विषय में लार्ड डफरिन ने सर जॉर्ज चेसने, सर चार्ल्स एटकिंसन और वेस्टलैंड और उनके प्रतिष्ठित व्यक्तियों से परामर्श की। उन्होंने लार्ड डफरिन को सलाह दी कि भारतवासियों का प्रमुख वर्ग उन्नति चाहता है। निर्वाचित सदन जो कार्यकारिणी के ऊपर नियन्त्रण रखने ऐसे सदनों की स्थापना करना तो अभी सम्भव नहीं था परन्तु जिन बातों से परिषदें स्थानीय ज्ञान प्राप्त कर सकें और परिषदों को कुछ स्वतन्त्रता और शक्ति मिल सके इस तरह के सुधार करना आवश्यक था। सर चार्ल्स ऐटकिंसन ने बताया कि महाराज्यपाल की परिषद् की अपेक्षा प्रान्तीय परिषदों में सुधार करना आसान है, विकेन्द्रीकरण परम आवश्यक है। सारे अधिकार तो भारत सरकार और भारत मंत्री के हाथ में हैं। इसलिए प्रान्तीय परिषदों की शक्ति कुछ भी नहीं है। अगर प्रान्तीय परिषदों को लाभकारी बनाना है तो यह परमावश्यक है कि उन्हें कुछ अधिकार दिये जाने चाहियें, जिससे यह पता चल सके कि वे कितनी प्रभावशाली हैं और सरकार में उनका कितना हाथ है।

१८८८ में लॉर्ड डफरिन ने एक ऐसी समिति बनाई जो यह बताये कि क्या क्या सुधार करने हैं। इस समिति ने बहुत से सुधारों की सिफारिश की। इसने कहा कि परिषदों को सरकारी पत्रों को देखने, सलाह व सुझाव देने का अधिकार होना चाहिए, उन्हें वाद-विवाद करने का अधिकार भी होना चाहिए। स्थानीय राजस्व के ऊपर भी वादविवाद करने का अधिकार होना चाहिये। इस समिति ने यह भी सिफारिश की कि योग्य और अच्छे घराने के नागरिकों को भी शासन में स्थान मिलना चाहिए। उन्होंने भारतीय सदस्यों के चुनाव की योजना भी रक्खी। उन्होंने कहा कि धनी, स्थानीय संस्थाओं के प्रतिनिधि और विश्वविद्यालयों के अध्यापक ही चुनाव में भाग ले सकते हैं। उनका अभिप्राय था कि भारत के प्रत्येक वर्ग का प्रतिनिधित्व होना आवश्यक है। लॉर्ड डफरिन ने अपने विचार भी प्रगट किये और कहा कि पार्लियामेंट और ब्रिटिश राजमुकुट की प्रभुता को कम करना सम्भव नहीं है। ब्रिटिश सरकार अपने भारतीय शासन के उत्तरदायित्व को कम नहीं कर सकती, इतना होते हुए भी यह आवश्यक है कि परिषदों में अधिक संख्या में अनुभवी, योग्य और गुणों से परिपूर्ण भारतीयों को स्थान दिया जाय जिससे कि वे सरकार के कार्य में सहयोग दे सकें। ऐसे भारतीय सदस्यों को आलोचना, सुझाव और पूछताछ का

भी अवकाश मिलना चाहिये जिससे कि वे प्रान्तीय व स्थानीय कार्यों मे भाग ले सकें। लॉर्ड डफरिन का उद्देश्य निर्वाचित और मनोनीत भारतीयो को परिषदो और शासन मे स्थान देना था। इस तरह ही भारतीय सरकार भारतवासियो की भावनाओं से अपरिचित रह सकती थी। थोडे दिन बाद ही लार्ड डफरिन भारत से चले गये लार्ड क्रौस ने परिषदो के सदस्यो के चुनाव की सिफारिश को रद्द कर दिया। उसने कहा कि पूर्वी देशो के निवासी चुनाव प्रथा से अनभिज्ञ है और उन्हे चुनाव प्रथा का अनुभव नही है। लॉर्ड डफरिन के बाद लार्ड लैन्सडाउन भारत के महाराज्यपाल बने। लॉर्ड लैन्सडाउन की सरकार ने लॉर्ड डफरिन के विचारो का समर्थन किया और चुनाव के विचार को अपनाया। अन्त म लॉर्ड लैन्सडाउन की ही विजय हुई और किम्बरले नामक खण्ड (Kimberley clause) के द्वारा भारत सरकार को चुनाव करवाने का अधिकार मिला। किम्बरले खण्ड के कार्यान्वित होने से (जिसके द्वारा महाराज्यपाल की परिषद को भारत मन्त्री की परिषद की अनुमति से परिषदो के सदस्यो को मनोनीत करने के नियमो को बनाने का अधिकार मिल गया) भारतीय सविधान मे एक क्रान्ति हो गई।[1] सैद्धान्तिक रूप से तो प्रान्तीय परिषदो के सदस्य सरकार द्वारा मनोनीत होते थे, परन्तु भारत सरकार ने प्रान्तीय सरकारो की परामर्श से ऐसे नियम बनाये जिसके अनुसार निर्वाचित मनुष्य ही सरकार द्वारा मनोनीत कर दिये जाते थे। लॉर्ड किम्बरले ने इस सुझाव को मान लिया। १८९२ के अधिनियम मे चुनाव शब्द का प्रयोग कही पर नही हुआ है। परन्तु फिर भी वास्तव में गैर-सरकारी सदस्यो को चुनने के लिये निर्वाचन प्रथा दृढतापूर्वक मान ली गई।

१८९२ के अधिनियम के उपबन्ध—(१) इस अधिनियम के अनुसार महाराज्यपाल की परिषद मे कम से कम १० और अधिक से अधिक १६ अतिरिक्त सदस्य मनोनीत करने का अधिकार हो गया। इस तरह महाराज्यपाल की सुप्रीम कौंसिल मे १६ नये सदस्य मनोनीत हो सकते थे। इसी तरह बम्बई और मद्रास की परिषदो मे सदस्य सख्या ८ से लेकर २० तक बढाई जा सकती थी। बगाल के लिये अधिक से अधिक सख्या बीस रक्खी गई और उत्तर-पश्चिमी प्रान्त और अवध के लिये यह सख्या १५ रक्खी गई। नए मनोनीत सदस्यो की सख्या सब परिषदो के लिये बहुत कम थी विशेषकर भारत जैसे विशाल देश के लिये यह बहुत ही कम थी, परन्तु कर्जन ने इस बात का समर्थन किया। उसके विचार मे बडी सख्या से शासन खर्चीला हो जाता है और सदस्यगण बेकार के वाद-विवाद मे पड जाते हैं। कम सख्या से शासन कार्य मे क्षमता आवेगी और शासन कार्य सुचारु रूप से चलेगा।

(२) सब परिषदो के सदस्यो को आलोचना करने और जानकारी प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त हो गया। परिषदो के सदस्यो को वार्षिक वित्त विवरण के ऊपर वाद-विवाद करने का अधिकार मिल गया। महाराज्यपाल की और राज्यपाल

१. रिपोर्ट आन इन्डियन कॉन्स्टीट्यूशनल रिफार्म्स, पृष्ठ ४२-४६।

को परिषद द्वारा बनाये गये कानूनों के अनुसार ही यह वाद-विवाद हो सकता था। २८ मार्च १८९२ को कौंसिल सभा में बोलते हुए कर्जन ने अधिनियम के इन उपबन्धों की बड़ी प्रशंसा की। उसने कहा कि इस अधिनियम के अन्तर्गत सब परिषदें बजट के ऊपर वाद-विवाद कर सकती थीं परन्तु बजट पर मतदान मत लेना सम्भव नहीं था। फिर भी परिषद के सब सदस्य सरकार की वित्त नीति की स्वतन्त्र रूप से आलोचना कर सकते थे। ऐसी आलोचना सब हितों को लाभदायक होगी। परिषद के किसी भी सदस्य को बजट के ऊपर प्रस्ताव पेश करने या उस पर मत लिवाने का अधिकार नहीं था।

(३) परिषदों के सदस्य सार्वजनिक हितों से सम्बन्धित विषयों पर प्रश्न पूछ सकते थे। महाराज्यपाल की परिषद व राज्यपाल की परिषद द्वारा बनाये गये कानूनों के अनुसार ही प्रश्न पूछे जा सकते थे। प्रत्येक प्रश्न के लिये छ रोज का नोटिस आवश्यक था। यह अवधि घटाई-बढ़ाई भी जा सकती थी। प्रश्न पूछने का तात्पर्य सिर्फ सूचना प्राप्त करने मात्र से ही था। तर्क पूर्ण औपचारिक या मान-हानि के प्रश्न नहीं पूछे जा सकते थे। किसी भी प्रश्न के उत्तर पर वाद-विवाद नहीं हो सकता था। परिषद के सभापति किसी भी प्रश्न को अस्वीकार कर सकते थे, यदि उसका पूछा जाना सार्वजनिक हित में न हो।

(४) अधिनियम के खण्ड (१) उपखण्ड (४) के अनुसार महाराज्यपाल की परिषद को भारत मन्त्री की परिषद की अनुमति से यह अधिकार दिया गया था कि वह परिषद के नए सदस्य मनोनीत करने के लिये नियम बना सकती है। इसी खण्ड को किम्बरले खण्ड कहते हैं। इसी से भारत में अप्रत्यक्ष निर्वाचन का प्रारम्भ हुआ। इस अधिनियम में यह लिखा हुआ था कि नए सदस्य महाराज्यपाल द्वारा मनोनीत होंगे, परन्तु लार्ड किम्बरले ने सरकार की ओर से यह आश्वासन दे दिया था कि खण्ड (१) उपखण्ड (४) के अन्तर्गत महाराज्यपाल को यह अधिकार है कि वह ऐसी व्यवस्था करे कि जो प्रतिनिधि चुनाव में आये उन्हें ही वह परिषदों में मनोनीत कर दे। इस तरह केन्द्रीय और प्रान्तीय परिषदों के गैर-सरकारी सदस्य वास्तव में सरकार से मनोनीत न होकर बहुत सी निकायों जैसे चेम्बर्स ऑफ कामर्स, प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा, निगम, जिला परिषद, विश्वविद्यालय, जमींदार और व्यापार समितियों से निर्वाचित होकर आते थे। लॉर्ड कर्जन का यह विश्वास था कि इस ढंग से भारतीय समाज के प्रमुख वर्गों के प्रतिनिधि परिषदों में भी स्थान पायेंगे।

(५) इस अधिनियम के अन्तर्गत केन्द्रीय और प्रान्तीय परिषदों में सरकारी सदस्यों का ही बहुमत रहा। केन्द्रीय परिषद के १६ नए सदस्यों में १६ गैर-सरकारी थे। इन गैर-सरकारी सदस्यों में चार सदस्य चार प्रान्तों की परिषदों के गैर-सरकारी सदस्यों द्वारा निर्वाचित होकर आते थे और एक सदस्य कलकत्ता चेम्बर ऑफ कॉमर्स से निर्वाचित होकर आता था। बाकी पांच गैर-सरकारी सदस्य अन्य निकायों से न

एम

...ल स्वयं मनोनीत करता था। प्रान्तीय परिषदों में निर्वाचित

...गाल तक ८ से अधिक नहीं हुई।

१८६२ का अधिनियम भारतीय शासन विकास में एक नया पग था। भारतवासियों को संसदीय प्रणाली और स्वायत्त शासन सौंपने की दिशा में यह प्रथम पग था। गैर-सरकारी भारतीयों को परिषदों में शामिल करना, बजट पर वाद-विवाद करना, सरकारी नीति की आलोचना और प्रश्न पूछने की सुविधा देना ये सब नये पग थे, जिससे कि सरकार को भारतवासियों की भावनाओं और इच्छाओं का पता चले। परन्तु वास्तव में सरकार अभी बहुत आगे नहीं बढ़ी थी। सर फिरोजशाह मेहता के शब्दों में १८६२ का विधेयक कांग्रेस के परिश्रमों का पहला फल था। इससे यह पता चलता है कि जिस ध्येय से कांग्रेस स्थापित की गई थी उस ध्येय को सरकार ने मान लिया। गैर-सरकारी सदस्यों के अधिकार सीमित थे। सरकार को प्रभावित करने के अवसर बहुत कम थे। सदस्य बजट पर वाद-विवाद तो कर सकते थे, परन्तु उस पर मत लेने का प्रस्ताव नहीं रख सकते थे। बजट पर मतदान बहस नहीं हो सकती थी। सदस्य प्रश्न तो पूछ सकते थे, परन्तु अनुपूरक प्रश्न नहीं पूछ सकते थे, प्रश्न के उत्तर में भी कोई वाद-विवाद नहीं हो सकता था। बजट व किसी अन्य प्रश्न के विषय में भी वे कोई प्रस्ताव नहीं रख सकते थे। फिरोजशाह मेहता ने सरकार विधेयक को एक अधिक सुन्दर स्टीम ऐंजिन बताया जिसमें से स्टीम बनाने की आवश्यक सामग्री निकाल दी गई है और उसके बजाय कुछ दिखावे की वस्तु रख दी गई है।[1] श्री उमेशचन्द्र बनर्जी ने बताया कि १८६२ के अधिनियम का उपयोग अच्छी तरह होता अगर उसके अन्तर्गत अच्छे नियम बनाये जाते परन्तु ऐसा नहीं हुआ। परिषदों में स्थानों का वितरण अधिक असन्तोषजनक था। कुछ हितों को अधिक प्रतिनिधित्व मिला हुआ था और कुछ महत्त्वपूर्ण हितों को बिलकुल भी प्रतिनिधित्व नहीं मिला हुआ था। ग्लैडस्टन की यह आशा थी कि इस अधिनियम द्वारा भारतीयों को वास्तविक और जीवित प्रतिनिधित्व मिलेगा। लार्ड सेल्सबरी ने भी कहा था कि इस अधिनियम के द्वारा सम्पूर्ण भारत जाति के महत्त्वपूर्ण अंगों को प्रतिनिधित्व मिलेगा परन्तु ये सब आशायें निराशा में परिणित हो गईं। मल्फोंड वेब ने कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन में बताया कि सरकार के बनाये गये नियमों के द्वारा अधिनियम के सच्चे उद्देश्यों का ध्येय ही नष्ट हो गया। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने कहा कि सरकार ने आवश्यकता से अधिक सावधानी से काम लिया यह सरकार की भूल थी। बंगाल में ७ करोड़ मनुष्यों का प्रतिनिधित्व केवल ७ सदस्य ही करते थे जबकि ब्रिटेन में चार करोड़ मनुष्यों का प्रतिनिधित्व ६७० सदस्य करते थे। बंगाल की [illegible] कमिश्नरियों में से ३ को प्रतिनिधित्व मिला ही नहीं था। परिषदों की संख्या बढ़ाई अवश्य गई थी परन्तु ऐसे ढंग से नहीं कि साधारण और स्थानीय ढंग से जनता को प्रतिनिधित्व मिल सके।[2]

—•—

१. ए० सी० बनर्जी : इण्डियन कॉन्सटीट्यूशनल डॉक्यूमेंट्स, भाग २, पृष्ठ १३७।
२. वही, पृष्ठ १४०।

अध्याय ६

# भारतीय राष्ट्रीयता का विकास

भारतवर्ष सैकड़ों वर्ष तक राष्ट्र रहा। पहले तो आर्यों और बाद में रामायण महाभारत, गुप्त, मौर्य, हर्ष और कनिष्क के समय तक भारत एक राष्ट्र बना रहा। प्राचीन भारत में उपर्युक्त कालों में जातीय स्नेह और भाषा की एकरूपता बनी रही। जब आर्य जाति का प्रभुत्व बढ़ा उस समय संस्कृत भाषा सम्पूर्ण भारत में बोली जाती थी। मनुष्यों में सामान्य राजनैतिक जागृति और ऐतिहासिक चलन विद्यमान रहा। प्रत्येक भारतीय शासक के हृदय में संगठित भारत की धारणा थी और वह भारत को एक राष्ट्र समझता था। उस समय प्रान्तीयता, साम्प्रदायिकता या वर्ग-भेद की भावना नहीं थी। राजपूतों के उत्थान के कारण भिन्न राज्यों में मतभेद होने लगे और एक हजार ईस्वी में मध्य एशिया के मुसलमान शासकों ने भारतीय फूट से लाभ उठाने की सोची। पहले गुलाम, खिलजी और सूर आदि वंशों का राज्य रहा। बाद में शक्तिशाली मुगल साम्राज्य स्थापित हुआ किन्तु इस काल में भी भारतीय जनता मौन नहीं रही। वह अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये दृढ़ संघर्ष करती रही। संघर्ष करने वालों में सिक्ख, मराठे और राजपूत प्रसिद्ध हैं। मुगल साम्राज्य के अन्त से एक विदेशी शासनसत्ता का प्रारम्भ हो गया। वह सत्ता ब्रिटिश साम्राज्य थी। भारत में अंग्रेजी सत्ता ने कुछ प्रमुख भारतीयों, जैसे पेशवा और भारतीय मुसलमान नवाबों की शक्ति नष्ट कर दी। अंग्रेजों ने भारत को एक ऐसी सरकार द्वारा शासित करना चाहा जो नाम और कार्य दोनों में ही विदेशी थी। स्वभावतः स्वतन्त्रता संग्राम की आग सुलगती रही और सन् १८५७ में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये विद्रोह हुआ। दुर्भाग्य से भारतीय जनता उस समय इतनी संगठित नहीं थी, इसलिये ब्रिटिश साम्राज्य का पासा पलट न सका। स्वतन्त्रता का आन्दोलन असफल रहा और राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचल दिया गया। जनता और राजकुमारों की अन्तरात्मा को चोट पहुँची और उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश शासन का विरोध करना बन्द कर दिया, किन्तु फिर भी ब्रिटिश नौकरशाही की मनोवृत्ति और आचरण ने विद्रोह के उपरान्त ऐसे वातावरण का निर्माण कर दिया जिससे भारतीय राष्ट्रीयता निरन्तर बढ़ती रही। अन्य कई संगठित तत्वों से ब्रिटिश शासन के प्रति घृणा उत्पन्न हो गई। हम इन तत्वों का एक-एक करके विवेचन करेंगे।

(१) पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव—पहले हम भारत में पाश्चात्य शिक्षा के राष्ट्रीयतावर्धक प्रभाव का विवेचन करेंगे। आधुनिक लेखकों के गवेषणापूर्ण लेखों से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि "बहुत सीमा तक पाश्चात्य सभ्यता ने ही भारतीय

समाज की जीवन उत्थान भावना को निखारा और उज्ज्वल बना दिया।"[1] भारतीय वयोवृद्ध दादाभाई नौरोजी ने घोषणा की थी कि यह पाश्चात्य सभ्यता और विचारों का उज्ज्वलतम प्रभाव था जो राष्ट्रीय जागरण का आधार बन गया। सर वैलेन्टाइन चिरोल के अनुसार अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत पाश्चात्य शिक्षा ने ही नवीन भारत के निर्माण में अधिक प्रभाव डाला है। भारतीय विद्वानों को फ्रांसीसी जन-क्रान्ति से और यूरोप के भिन्न भागों में होने वाली जनतान्त्रिक विद्रोहों से विशेष प्रेरणा मिली। अमरीका के विद्रोह का भी भारतवासियों पर अधिक प्रभाव पड़ा। ये क्रान्तियाँ और जनतान्त्रिक आन्दोलन समानता, भ्रातृ भाव और व्यक्ति स्वातन्त्र्य के आधारों पर चली थीं। भारतीय शिक्षित वर्ग बर्क, शैरीडन, जॉन ब्राइट, मिल्टन, मिल और हरबर्ट स्पेन्सर के विचारों से अधिक प्रभावित हुए। बर्क के इस कथन ने कि भारत ब्रिटिश लोगों का न्यास है, लोगों के दिलों को स्फुरित कर दिया। मैजिनी और गैरी बाल्डी ने भारतीयों को उनकी इच्छानुसार राष्ट्रीय एकता और स्वतन्त्रता के लिये प्रेरित किया। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने लिखा है, 'मैजिनी के विचारों और रचनाओं ने मेरे मस्तिष्क पर बहुत प्रभाव डाला है। मैजिनी इटली की एकता का प्रतीक और ईश्वरीय दूत और मनुष्य जाति का मित्र है। बंगाल की जनता के समक्ष उन जैसे उदाहरणों को रखना जिससे कि वहाँ की जनता उनका अनुसरण करे। मैजिनी ने इटली को एकता का पाठ पढ़ाया था हम भारतीय एकता के इच्छुक थे।'[2]

(२) भारतीयों का विदेशी मनुष्यों से सम्पर्क—इसके साथ ही ब्रिटिश शासन के कारण कुछ भारतीयों को इंग्लैंड तथा यूरोप के अन्य देशों को जाने का अवसर मिला। ऐसे मनुष्य पाश्चात्य विचारों से प्रभावित हुए और उन्होंने उन पर मनन किया। स्वाभाविक रूप से लौटने के पश्चात् वे उन विचारों को भारत में फैलाने का प्रयास करने लगे। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि कुछ भारतीय प्रमुख नेतागण जैसे दादाभाई नौरोजी और डब्ल्यू० सी० बनर्जी इंग्लैंड में दीर्घकाल तक रहे। डब्ल्यू० सी० बनर्जी के विषय में तो लोगों का कहना है कि वे भावनाओं और कार्यों से पूर्णतया अंग्रेज हो गये थे। ऐसे शासक जाति के लोगों और समाज के साथ स्वतंत्र लोगों से व्यक्तिगत और सीधे सम्पर्क होने से ही भारतवासियों में अपने देश में राष्ट्रीय भावना की वृद्धि के लिए उत्कट इच्छा का होना स्वाभाविक बात थी।

(३) पुनरुत्थानवादी आन्दोलन का प्रभाव—भारतीयों ने पाश्चात्य शिक्षा, विचारों और केवल धाराओं से ही प्रेरणा नहीं ली अपितु प्राचीन भारतीय इतिहास से भी उन्हें प्रेरणा मिली। अंग्रेजों द्वारा भारत में राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित करने से पुनरुत्थानवादी आन्दोलन को प्रोत्साहन मिला। भारतीयों ने अपने प्राचीन इतिहास के अध्ययन में उत्साह दिखाया और वे उस भूतकाल के गौरव से प्रभावित

१. बी० सी० पाल ... नेशनलिस्ट मूवमेंट ...
१९५४, पृष्ठ ४।
२. ए नेशन इन मेकिंग, १९२५, पृष्ठ ४३।

हुए। उन्हें ज्ञान हो गया कि उनकी सभ्यता भी किसी समय उन्नता के शिखर पर थी। उनके पूर्वज गौरवशाली जीवन व्यतीत करते थे इसलिये उनकी सन्तान को गुलाम रहकर जीना मरने से भी बुरा है तथा वे विश्व के अन्य लोगों की तरह स्वतन्त्र रहना चाहेंगे। यह आवश्यक नहीं था कि पाश्चात्य सभ्यता की नकल की जाय। हमारी संस्कृति किसी भी पाश्चात्य संस्कृति से टक्कर लेने का दम रखती है। श्रीमती ऐनीबेसेन्ट ने बताया कि भारतीय राष्ट्रीयता दुर्बल पौधा नहीं है परन्तु वन के विशाल वृक्ष की तरह है जिसके पीछे सहस्रों वर्षों का इतिहास है। प० जवाहरलाल नेहरू ने जागृति के दो कारण देते हुए कहा कि भारत ने पश्चिम का अवलोकन किया और उसी समय "उसने अपना और अपने भूतकाल का भी निरीक्षण किया।"[1] डा० रघुवंशी का भी लगभग यही मत है, उनका कथन है कि राष्ट्रीय आन्दोलन कुछ हद तक पुनरुत्थानवादी आन्दोलन था। राष्ट्रीयता प्राचीन स्मृतियों और प्राप्तियों पर निर्भर रहती है। "साम्राज्यवादियों के दबाव से प्रताड़ित हो उसकी (भारत की) राष्ट्रीय आत्मा अपने भूतकाल से प्रेरणा प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगी। १६वीं शताब्दी के धार्मिक आन्दोलन से भी भारतीय जनता को अपने प्राचीन गौरव का ज्ञान हुआ और भविष्य में उन्नति करने की सम्भावना भी प्रतीत हुई।"[2] भारतीय पुनरुत्थान के कर्णधारों ने जनता के हृदय पर गहरा प्रभाव डाला। उन्होंने भारतीय गौरव और सभ्यता को बताया और उसकी ओर सभी का ध्यान आकर्षित किया। ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन और थ्योसोफिकल सोसाइटी आदि प्रमुख धार्मिक आन्दोलन थे। राजा राममोहनराय ने १८२८ में ब्रह्म समाज स्थापित किया। वे भारतीय राष्ट्रीयता के अग्रगामी समझे जाते हैं। राजा राममोहनराय ने हिन्दू समाज में बहुत से सामाजिक सुधार किये और एक नये युग का आरम्भ किया। ऐनीबेसेन्ट के शब्दों में उन्होंने स्वतन्त्रता का बीजारोपण किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने १८७५ में बम्बई में आर्य समाज स्थापित किया। वे पुनरुत्थान करने वाले कर्मठ देश रत्नों में सबसे महान् व्यक्ति समझे जाते हैं। रोमेन रोलैंड उनकी समानता वीर पुरुष हरकुलिस से करते हैं। उनके विचार में शंकराचार्य के समय से अब तक कोई भी इतना प्रतिभाशाली मनुष्य पैदा नहीं हुआ। हेन्स कोहन के अनुसार आर्य समाज आन्दोलन एक धार्मिक और राष्ट्रीय पुनरुत्थान आन्दोलन था। यह भारत की जनता और हिन्दू जाति में नया जीवन संचार करना चाहता था।[3] आर्य समाज ने हिन्दू समाज में बहुत से सुधार किये। स्त्री शिक्षा पर बल दिया। बहुत सी शिक्षा संस्थायें खोली गई। हरिजन उद्धार और स्वदेशी माल पर बल दिया गया। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को रामकृष्ण परमहंस से भी प्रेरणा मिली। उनके

---

१. दि डिस्कवरी ऑफ इण्डिया, पृष्ठ ३६२।
२. इण्डियन नेशनलिस्ट मूवमेंट एण्ड थॉट, पृष्ठ ५।
३. हिस्ट्री ऑफ नेशनलिज्म इन दि ईस्ट, पृष्ठ ६२।

अनुयायी स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरु के सदेश को सारे देश मे फैलाया। १९वी शताब्दी के अन्तिम भाग मे वे एक पुनरुत्थानवादी विचारो को फैलाने वाले थे। उन्होने वेदान्त का प्रचार किया। शिकागो मे १८९३ के विश्व धर्म सम्मेलन में हुए अपने भाषणो से उन्होने जनता को प्रभावित किया। भारत लौटने के पश्चात् उन्होने रामकृष्ण मिशन स्थापित किया और भारत के प्राचीन दर्शन और धर्म की महत्ता बताई। उन्होने कहा कि भारत को अपने नैतिक और आत्मिक प्रभाव से विश्व को एक बार फिर जीतना चाहिए। उनके जीवन का यही स्वप्न था। हेम कोहन का कहना है कि स्वामी दयानन्द की तरह विवेकानन्द ने भारत को आत्म-विश्वास और अपनी शक्ति के ऊपर भरोसा रखना सिखाया। स्वामी विवेकानन्द भारतीय नव जागृति के मुख्य नेता थे। इस नव-जागृति में हिन्दू समाज मे आत्म-विश्वास उत्पन्न हो गया और बढ़ता हुआ राष्ट्रीवादी आन्दोलन इससे प्रभावित हुआ।[1] थ्योसिफिकल सोसायटी ने भी भारतीय नव-जागृति को आगे बढने मे सहयोग दिया। बिलवट्सकी, अलकाट और ऐनीबेसेन्ट ने बताया कि राष्ट्रवाद को केवल धर्म से ही प्रेरणा मिल सकती है। राष्ट्रीय जागरूक प्रहरियो ने व्याख्यानो और लेखो ने भी पाश्चात्य जनता का ध्यान आकर्षित किया। इसका परिणाम यह हुआ कि पाश्चात्य विद्वानो ने भारतीय प्राचीन संस्कृति के अध्ययन में अतुल उत्साह प्रदर्शित किया। 'मैक्समूलर, मोनियर विलियम्स, रौथ, लसून एच० एच० विल्सन और विद्वानो ने संस्कृत भाषा का गौरव और रत्न भंडार जो कि पाश्चात्य देशो की अपेक्षा भारत को स्वयं मुश्किल से ज्ञात था, स्पष्ट कर दिया ··· और ऐतिहासिक साहित्य मूल्य बताया जो कि हिन्दी साहित्य मे छिपा था जो भारतीयो की सभ्यता का अमूल्य कारण है।" (चिरोल)

(४) यातायात के साधनो का प्रभाव—दूसरा साधन जिसने यहाँ की राष्ट्रीय भावनाओ की वृद्धि मे योग दिया वह था यातायात के साधनो की बहुतायत, सदेशवाहक साधनो का जाल, रेल, पोस्ट, टेलीग्राफ आदि जिनसे भारत का कोना-कोना सम्बन्धित था। इनसे लोग एक भाग से दूसरे भाग को सरलता से आ-जा सकते थे और समाचारो का आदान-प्रदान भी सुलभ था। ब्रिटिश साम्राज्य ने अपने शासन मे सुदृढ़ता और साम्राज्य को शक्तिशाली बनाने के ध्येय से ये सब साधन यहाँ स्थापित किये थे। परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से इन साधनो के कारण राष्ट्रवादी आन्दोलन को प्रोत्साहन मिला।

(४) अग्रेजी भाषा का प्रभाव—लार्ड मैकाले ने भारत मे अग्रेजी को माध्यम बनाते समय यह कभी नही सोचा था कि उसका यह कार्य भारतीयो को राष्ट्रीय जागृति का हित का साधन होगा। उसका तत्काल उद्देश्य कुछ भारतीय पढ़े-लिखे उम्मीदवारो को चाहना था जो नौकरियो के लिए उपयुक्त होते। प्राचीन भारत में सर्वत्र संस्कृत भाषा बोली जाती थी किन्तु इन दिनो कोई ऐसी भाषा नही थी जो

---

१. नेमैन डी० पामर ' मेजर गवर्नमेन्ट्स ऑफ एशिया, पृष्ठ ५४।

सारे देश में सर्वत्र बोली जाती थी। प्रान्तों की भाषाओं की उपेक्षा कर भारत सरकार ने अंग्रेजी को सामान्य भाषा बनाया जिसके द्वारा सभी राज्य-कार्य होने लगे। विभिन्न प्रान्तों के लोग अंग्रेजी भाषा के द्वारा ही पत्र व्यवहार कर सकते थे और अपने विचारों को प्रगट कर सकते थे। प्रारम्भ में राष्ट्रीय प्लेट-फार्मों पर और सम्मेलनों में अंग्रेजी भाषा का ही प्रयोग होता था। ये ही भारतीयों में एकता उत्पन्न करने का साधन बना। स्वयं मैकाले भी जानते थे कि अंग्रेजी भाषा के प्रचार के कारण भारतीयों में पाश्चात्य संस्थाओं के विषय में रुचि पैदा होगी। १८३३ में उन्होंने कहा कि अंग्रेजी इतिहास में यह सबसे अधिक गौरव का दिवस होगा जब भारतवासी योरोप का ज्ञान प्राप्त करके योरोप की राजनीतिक संस्थाओं की माँग करेंगे।

(६) **आर्थिक असन्तोष**—आर्थिक आपत्तियों और उद्योगों के विनाश ने भी राष्ट्रीय आन्दोलन की आग को अधिक प्रज्वलित किया। स्थानीय उद्योगों के विकास के लिये कोई प्रोत्साहन नहीं दिया गया। केवल ब्रिटिश उद्योगों को जनप्रिय बनाने के लिये प्रयत्न किये गये। सर्वत्र अकाल और दरिद्रता का प्रकोप था। सरकार अपने स्वतन्त्र व्यवसाय में संलग्न थी और गृह-उद्योगों पर उसने ज़रा भी ध्यान नहीं दिया। जीवन-यापन के भी अच्छे साधन नहीं थे। भारतीय सेवकों को अल्प वेतन दिया जाता था। उन्हें कभी ऊँचे पद पर नहीं रखा जाता था चाहे वे कितने ही योग्य क्यों न हों। डी० ई० वाचा ने कहा था कि ४० करोड़ भारतवासी दिन में केवल एक समय भोजन करते हैं। १८८० ईस्वी में सर विलियम हण्टर ने लिखा कि ऐसे करोड़ों भारतीय हैं जो अपर्याप्त भोजन पर जीवन-यापन करते हैं। भारत सचिव सैलसबरी ने १८७५ में स्वीकार किया कि अंग्रेजी राज्य भारत का रक्त चूस रहा था। २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में विलियम डिग्बी ने बताया कि ब्रिटिश भारत में ७ करोड़ मनुष्य भूखे थे।

(७) **सम्पूर्ण देश में एक केन्द्रीय सत्ता**—मध्यकालीन युग में भारत कई राज्यों में विभाजित हो गया था। राजपूतों, मराठों, सिक्खों और मुसलमानों की विभिन्न रियासतें थीं, वे सभी सामान्य राजनैतिक सत्ता के एकाधिकार शासन में बाधक थीं किन्तु यह ब्रिटिश शासन में ही सम्भव हुआ कि सभी केन्द्रीय सरकार द्वारा शासित होकर एक सूत्र में पिरो दिये गये। इसीलिए भारत के सभी निवासी अपने को सम्पूर्ण भारतव्यापी सत्ता से शासित और संगठित समझने लगे और स्वाभावतः उनकी इच्छा हुई कि सम्पूर्ण देश इस गुलामी से मुक्त हो।

(८) **जातीय भेद-भाव**—ब्रिटिश शासकों द्वारा अपनाया गया जाति भेद-भाव भारतीयों की क्रोधाग्नि में ईंधन का कार्य कर गया। उन्हें इससे मार्मिक वेदना हुई। वे इस नीति का अन्त देखने को कटिबद्ध हो गये। भारतवासी घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे और उनके साथ समानता का व्यवहार नहीं किया जाता था। लार्ड मोर्ले का कहना है कि भारत में असभ्य व्यवहार एक अपराध है। कटिंग ने लिखा है कि वे बहुत शिक्षित भारतवासियों के सम्पर्क में आये हैं और उनमें से कुछ ऐसे

हैं जो निश्चित रूप से ब्रिटेन से सम्बन्ध नहीं रखना चाहते। इन सबका मूल कारण यह था कि किसी न किसी समय वे अंग्रेजों द्वारा अपमानित किये गये थे।[1] उन्हें क्लबों में प्रवेश नहीं करने दिया जाता था और न पहले दर्जे में सुरक्षा के साथ रेल में यात्रा करने दी जाती थी। हथियार अधिनियम (Arms Act) जाति भेद भाव की नीति को अपमान के लिये ही काम किया गया था। भारतीय अपने साथ कोई हथियार नहीं रख सकते थे। किन्तु योरोपियनों के लिये कोई प्रतिबन्ध नहीं था। हथियार अधिनियम भारतवासियों के लिये ही था। इस कारण भारतीयों को ब्रिटिश नीति में अविश्वास हो गया, न्याय के मामलों में भी जातीय भेद भाव को स्थान दिया जाता था। अंग्रेजों ने कई भारतीयों की हत्याएँ कर डाली किन्तु उनका कोई निर्णय नहीं किया गया। लार्ड रिपन के समय में इलबर्ट विधेयक वाद-विवाद (Ilbert Bill Controversy) ने इस क्रोधाग्नि में घी का काम किया।[2] उस समय प्रेजीडेन्सी नगरों से बाहर फौजदारी जुर्म के लिये किसी भी योरोपियन के मुकदमे की सुनवाई सिवाय योरोपियन जज या मजिस्ट्रेट के अलावा और कोई नहीं कर सकता था। कानून के द्वारा इस तरह भारतीय और योरोपियन मजिस्ट्रेट में भेद-भाव किया गया। एक योरोपियन ज्वायन्ट मजिस्ट्रेट एक योरोपियन अभियुक्त के मुकदमे की सुनवाई कर सकता था, परन्तु एक भारतीय जिला *मजिस्ट्रेट जो कि ज्वॉयन्ट मजिस्ट्रेट से उच्च पद पर है ऐसा नहीं कर सकता था।* जब लार्ड रिपन को इस भेद-भाव का पता चला तो उसने इस नीति का अन्त करने का निश्चय कर लिया। इस आशय का एक विधेयक १८८३ में व्यवस्थापिका परिषद में विधि सदस्य सर कोर्ट इलबर्ट ने पेश किया। तुरन्त ही योरोपियनों की ओर से आन्दोलन प्रारम्भ किया गया। उन्होंने इस आन्दोलन को चलाने के लिये डेढ़ लाख रुपया भी इकट्ठा किया। अंग्रेजी अखबारों ने इलबर्ट विधेयक की घोर निन्दा की। योरोपियनों ने एक रक्षा समिति इस आन्दोलन को चलाने के लिये बनाई। उन्होंने बहुत सी सभायें बुलाकर इस विधेयक की निन्दा की। उन्होंने कहा कि 'काले' मजिस्ट्रेट अपने अधिकार का दुरुपयोग करेंगे और अंग्रेजी औरतों को अपने 'हरम' (मकानों) में रख लेंगे। लार्ड रिपन का सरकारी भवनों के द्वारों पर अपमान किया गया और योरोपियनों ने लार्ड रिपन और उसकी परिषद् के सदस्यों का सामाजिक बहिष्कार कर दिया और सरकारी भवन में होने वाले सामाजिक सम्मेलनों का बहिष्कार किया। चाय के बागों के मालिकों ने कलकत्ते से वापिस आने समय रेलवे स्टेशन पर उनके साथ दुर्व्यवहार किया। उन्होंने लार्ड रिपन को शिकार को जाते हुए अपहरण करने का प्रयत्न किया। लार्ड रिपन स्वयं नहीं गये थे और उनका लड़का शिकार को गया था, इसलिए वे बच

---

१. एल० कर्टिस : डायरकी, भूमिका।

२. के० वी० पुनिया दी कॉन्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री आफ इण्डिया १९३८, पृष्ठ १०६।

गये। इस आन्दोलन के कारण ब्रिटिश सरकार को ऐसा प्रतीत हुआ जैसे कि भारत में अंग्रेजी राज्य खतरे में है। लार्ड रिपन की सरकार को झुकना पड़ा और उनको समझौता करना पड़ा। अन्त में यह निश्चित हुआ कि भारतीय जिला मजिस्ट्रेट और जज योरोपियन अभियुक्तों के मुकदमे की सुनवाई कर सकते हैं परन्तु योरोपियन अभियुक्तों को यह अधिकार है कि अगर वे चाहें तो निम्न से निम्न मामलों में न्याय सभ्य मण्डली (Jury) की माँग कर सकते हैं जिनमें कम से कम आधे सदस्य योरोप निवासी या अमेरिका निवासी होंगे। इलबर्ट विधेयक वाद-विवाद ने भारतीय और योरोपियनों में अधिक जाति घृणा उत्पन्न कर दी। सर वैलेन्टाइन शिरोल के अनुसार इलबर्ट विधेयक वाद-विवाद के कारण अन्य प्रश्नों की ओर किसी ने ध्यान ही नहीं दिया। भारतवासी उत्तेजित हो गये और अंग्रेजों के प्रति इतनी घृणा उत्पन्न हो गई जैसी कि १८५७ के विद्रोह से अब तक नहीं हुई थी। भारत की जनता को यह प्रतीत हो गया कि जहाँ शासक वर्ग के विशेषाधिकारों का सम्बन्ध है वहाँ पर न्याय की आशा नहीं की जा सकती। भारतवासियों को यह भी प्रकट हो गया कि संगठित आन्दोलन ही एक ऐसा उपाय था जिसके द्वारा अपनी माँगों को स्वीकार कराने के लिये सरकार को बाध्य किया जा सकता था।[1] इलबर्ट विधेयक वाद-विवाद वास्तव में आँख खोलने वाली घटना थी और उसने हमारी वास्तविक स्थिति का नग्न प्रदर्शन कर दिया। इसको देखकर कोई स्वाभिमानी भारतवासी चुप नहीं रह सकता था। जो इसका महत्त्व समझते थे उनके लिये यह देश-भक्ति के लिये पुकार थी।[2]

(६) **लार्ड लिटन की क्रूर नीति**—लार्ड लिटन की सरकार द्वारा की गई गल्तियाँ भी भारतीय राष्ट्रीय जागृति की ज्वाला को प्रज्वलित करने के लिये बहुत हद तक उत्तरदायी हैं। सन् १८७७ ई० का शाही दरबार जिसमें महारानी विक्टोरिया साम्राज्ञी घोषित की गई थी, भारतीयों की घृणा का पात्र था। यह मूल्यवान आडम्बर दिल्ली में उस समय रचा गया जबकि दक्षिण भारत में एक भीषण अकाल पड़ रहा था जिसका असर बंगाल और पंजाब तक पर पड़ा। कलकत्ते के एक पत्रकार ने इस विषय में यहाँ तक कह दिया कि 'जब रोम जल रहा था तो नीरो सितार बजा रहा था।'[3] लार्ड लिटन ने द्वितीय अफगान युद्ध का सारा खर्चा भारत के माथे मढ़ दिया। जिससे भारत की दशा और भी दयनीय हो गई। भारतीयों को इसलिए भी बुरा लगा कि भारतीय हितों का कोई सम्बन्ध नहीं था। रूस के डर के बहाने भारतीय सेना को बहुत अधिक बढ़ा दिया गया और एक वैज्ञानिक सीमा को स्थापित करने के लिये बेकार रुपया खर्च किया गया। लार्ड लिटन ने रुई कपड़े पर से कर उठा कर लंकाशायर के उद्योगपतियों को खुश करने के कार्य से भी

१. के० वी० पुन्निया : दी कान्स्टिट्यूशनल हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृष्ठ १०७।
२. सुरेन्द्रनाथ बनर्जी : ए नेशन इन मेकिंग, पृष्ठ ९८।
३. ए० सी० मजूमदार : इण्डियन नेशनल इवोल्यूशन १९१७, पृष्ठ ४८।

भारतीय जनता अधिक चिढ़ गई। लार्ड लिटन के इस कार्य का उनकी कार्यकारिणी परिषद् के बहुमत ने भी विरोध किया। उनका मातृ-भाषा मुद्रणालय अधिनियम (Vernacular Press Act) भी लोगों को अप्रसन्न करने सहायक हुआ। इस अधिनियम के अन्तर्गत मजिस्ट्रेटों को यह अधिकार था कि वे मुद्रक और प्रकाशकों से या तो जमानत माँगे या उनसे यह आश्वासन लें कि वे सरकार के विरुद्ध कुछ नहीं छापेंगे। यदि उन्होंने इस नियम की अवहेलना की तो उनके मुद्रणालयों की मशीनें जब्त कर ली जायेंगी। मजिस्ट्रेटों के निर्णय के विरुद्ध कोई अपील नहीं की जायेगी। मातृभाषा मुद्रणालय अधिनियम "मुद्रणालय नियमों के इतिहास में अधिकतम दमनकारी पग था, इसमें शिक्षित वर्ग पर वज्र प्रहार हुआ"।[1] इसी समय भारतीय परिषद (Indian Association) राष्ट्रीय प्रचार के लिये बंगाल में स्थापित की गई। इस परिषद को मुश्किल से साल भर ही हुआ होगा कि ब्रिटिश सरकार ने असैनिक सेवा परीक्षा की आयु २१ से घटाकर १६ कर दी, जिससे कि भारतीय इस महत्वपूर्ण पद से वंचित रहें। महारानी विक्टोरिया की घोषणा में असैनिक सेवा के समान अवसर देने का विश्वास दिलाया गया था, किन्तु आयु कम करके अप्रत्यक्ष रूप से शाही घोषणा का उल्लंघन किया गया। भारतवासी इससे असन्तुष्ट और अप्रसन्न हुए। १६ वर्ष की आयु का प्रतिबन्ध रख कर भारतीय विद्यार्थियों के लिये परीक्षा के द्वार ही बन्द कर दिये गये। सन् १८५३ और १८७० के बीच में एक भी भारतीय इस शाही नौकरी को न पा सका। सर सैयद अहमद ने लिखा था कि आयु २१ वर्ष से घटाकर १६ वर्ष कर देने के कारण असैनिक सेवा में सफलता प्राप्त करना बड़ा कठिन था। जब से आयु कम की गई है, केवल एक ही भारतवासी सफल हुआ है। उससे पहले एक दर्जन के करीब भारतवासी सफल हो चुके थे।[2] सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने सारे देश की यात्रा की और इस जातीय भेदभाव की निन्दा की। उन्होंने कहा कि असैनिक सेवा की परीक्षा भारत और इंगलैंड दोनों जगह होनी चाहिये, साथ ही साथ इस परीक्षा में प्रवेश करने के लिये आयु कम नहीं करनी चाहिये। उन्होंने १८७७ की गर्मियों में उत्तरी भारत का दौरा किया और बनारस, इलाहाबाद, लखनऊ, कानपुर, मेरठ, आगरा, दिल्ली, अलीगढ़, अमृतसर, लाहौर, और रावलपिंडी में सभायें कीं और भाषण दिये। उन्होंने दक्षिण भारत का भी दौरा किया। जनता पर उनके भाषणों का बड़ा प्रभाव पड़ा। उनके दौरे का उल्लेख करते हुए सर हेनरी कौटन ने अपनी न्यू इण्डिया नामक पुस्तक में लिखा है कि शिक्षित वर्ग ही देश की पुकार और मस्तिष्क है। पेशावर से लेकर चिटगाँव तक बंगाली व्यक्तियों का ही जनमत पर प्रभाव है। पिछले साल बंगाल वक्ता का उत्तरी भारत में दौरा अधिक प्रगतिशील और विजयी रहा। इस समय मुल्तान

---

१. बी० पी० एस० रघुवंशी - इण्डियन नेशनलिस्ट मूवमेन्ट ऐण्ड थाट पृष्ठ ३६।

२. राम गोपाल : इण्डियन मुस्लिम्स ए पोलीटिकल हिस्ट्री, पृष्ठ ५३।

से लेकर ढाका तक सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का नाम नवयुवकों में उत्साह पैदा करता है।[1] इस अखिल भारतीय आन्दोलन के विषय में सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने स्वयं लिखा है "आन्दोलन एक साधन था। आयु की अधिकतम सीमा बढ़ाकर स्वतन्त्रतापूर्वक परीक्षा में सम्मिलित होने का अवसर देना और एक साथ परीक्षायें (भारत व इंगलैंड में) प्रारम्भ करना इस आन्दोलन का उद्देश्य था। किन्तु आन्तरिक धारणा और असैनिक सेवाओं के प्रति आन्दोलन का सच्चा उद्देश्य भारतीय जनता में संगठन और एकता की भावना जागृत करना था।"[2] लार्ड लिटन के ऊपर क्रूर व्यवहार के कारण भारतीय जनता असन्तुष्ट हो गई थी और इस कारण सर विलियम वेडर बर्न को ऐसा प्रतीत होने लगा कि लार्ड लिटन के शासन काल के अन्त में भारतीय व्यवस्था इतनी खराब थी कि किसी समय भी क्रान्ति हो सकती थी।

(१०) भारतीय समाचार पत्रों का प्रभाव—भारतीय समाचार पत्रों ने राजनैतिक जागृति में अधिक योग दिया। शिक्षा के विकास के साथ-साथ भारतीय समाचार पत्रों का प्रभाव भी तेजी से बढ़ता गया। यह सब जागृति पिछले सौ वर्षों में ही हुई। भारतीय समाचार पत्रों का विकास बहुत ही शीघ्रतापूर्वक (almost phenomenal) हुआ। १८७५ में देश में ४७८ समाचार पत्र थे, अधिकतर इनमें से देशी भाषाओं में छपते और सारे देश में ये पढ़े जाते थे।[3] इस समय अंग्रेजों द्वारा संचालित भी कुछ समाचार पत्र थे। परन्तु जैसा कि जॉन ग्रांट ने कहा कि ये अंग्रेजी समाचार पत्र केवल अधिक क्षेत्र पर कब्जा करने, पदों वेतनों और पेंशनों के ही गीत अलापा करते थे। लार्ड लिटन ने भारतीय समाचार पत्रों के प्रभाव पर रोक लगाने के लिये एक मुद्रणालय अधिनियम पास किया जिसके द्वारा वह भारतीय अशांति की बढ़ती हुई ज्वाला को अधिनियम रूपी चिमनी लगाकर बन्द करना चाहता था।[4] लार्ड रिपन के भारत आने पर यह अधिनियम वापस ले लिया गया। भारतीय समाचार पत्रों ने राजनैतिक जीवन के विकास में महत्वपूर्ण भाग लिया। उन्होंने जनता की शिकायतों को सरकार के सम्मुख रखा और यह बताया कि जनता की परेशानियों को दूर करने का एक मात्र साधन गुलामी का अन्त करना था। समाचार पत्रों ने राजनैतिक संगठनों के कार्यों का खूब प्रचार किया और स्वतन्त्रता के लिये तैयार कर दिया।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म—कांग्रेस के जन्म के विषय में विभिन्न लेखकों के विभिन्न मत हैं। कुछ लोग इसे एक व्यक्ति विशेष की कृति कहते हैं। दूसरे इसे परिस्थितियों की देन कहते हैं। यह कहा जाता है कि विभिन्न प्रान्तों की राजनैतिक संस्थाओं में इसकी जड़ें विद्यमान हैं। यह भी कहा जाता है कि देशी

---

१. सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी : ए नेशन इन मेकिंग, पृष्ठ ४१।
२. वही, पृष्ठ ४४।
३. ए० सी० मजुमदार : इण्डियन इवोल्यूशन, पृष्ठ ३२।
४. एन० सी० ई० जकरियास : रिनेसेन्ट इण्डिया १९३३, पृष्ठ १०३।

भाषा मुद्रणालय अधिनियम, हथियार अधिनियम, असैनिक सेवा के प्रवेश के लिये उम्र की कमी और इलबर्ट विधेयक के विषय में हुए वाद-विवादों ने कांग्रेस की स्थापना के लिये अच्छा वातावरण उपस्थित किया। कुछ मनुष्य ऐसे भी हैं जो कांग्रेस को रूस के खतरे की उपज बताते हैं। बहुत से ऐसे भी मनुष्य है जो ये कहते है कि कांग्रेस की उपज योग्य अनुभवी अंग्रेजी राजनीतिज्ञों द्वारा स्थापित विद्यालयों और महाविद्यालयों के कारण हुई। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी और वेडरबर्न के अनुसार पाश्चात्य सभ्यता और विचारों का भारतीय विचारों और दर्शन पर जो प्रभाव पड़ा उसी के कारण देश में राजनैतिक जागृति हुई और उसके फलस्वरूप कांग्रेस की स्थापना हुई। सत्य तो यह है कि इन सभी कारणोंवश कांग्रेस का जन्म हुआ। कोई एक विशेष कारण इसके जन्म के लिये उत्तरदायी नहीं है। लार्ड रिपन के जाति भेदभाव को दूर करने के प्रयत्न में असफल रहने से भारत में अशान्ति उत्पन्न हो गई। देश के माननीय नेताओं को इससे बड़ा धक्का पहुँचा। उनमें से कुछ का तो यह विचार हो गया कि कुछ दृढ़ कार्य करना चाहिए। न्यायालय की मानहानि करने का आरोप लगाकर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को जेल में भेज दिया गया। इससे देश में अशान्ति फैली। इलबर्ट विधेयक के आन्दोलन के उपरान्त हुई राजनैतिक जागृति का भारतीय नेता पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहते थे। कलकत्ते में दिसम्बर १८८३ में अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी होने वाली थी। इसका लाभ उठाकर भारतीय नेताओं ने कलकत्ते में २८ से ३० दिसम्बर तक प्रथम राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया। यह सम्मेलन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का पूर्वाधिकारी समझा जाता है। जिन नैतिक परिवर्तनों ने कांग्रेस का उत्थान किया उनका बीजारोपण इसी राष्ट्रीय सम्मेलन में हुआ, जिसकी सबसे पहली बैठक कलकत्ते में हुई। शिक्षित समाज की ओर से यह इलबर्ट बिल आन्दोलन का उत्तर था (सुरेन्द्रनाथ बनर्जी)। भिन्न-भिन्न प्रान्तों की विभिन्न संस्थाओं ने इस राष्ट्रीय सम्मेलन को बुलाने में सहयोग दिया। इन संस्थाओं के नाम बंगाल की भारतीय परिषद्, बम्बई का प्रेजीडेन्सी एसोसिएशन मद्रास की महाजन सभा और पूना की सार्वजनिक सभा थे। इनके अलावा बहुत से नगरों में भी स्थानीय संस्थाएँ स्थापित हो गई थी। इनमें से आगरा परिषद्, लखनऊ का रिफाए आम एसोसिएशन, इलाहाबाद का हिन्दी समाज, फिरोजपुर का अंजुमन इस्लामिया, डेरा इस्माईलखाँ की प्रान्तीय सभा, ढाका का म्युस्लिम एसोसिएशन और शिलांग एसोसिएशन उल्लेखनीय हैं।[1]

इसी समय एक ब्रिटिश असैनिक सेवक ने राष्ट्रीय कांग्रेस को स्थापित करने के लिए दृढ़ विचार किया। पहले वह उत्तर पश्चिमी प्रान्त के इटावा जिले में मजिस्ट्रेट था। वह यह सोचा करता था कि १८५७ का विद्रोह किन कारणों द्वारा हुआ। वह ब्रिटिश शासन की त्रुटि को जानता था कि सरकार में भारतीयों का कोई हाथ नहीं है। उसने महारानी विक्टोरिया को एक पत्र में लिखा था कि कोई ऐसा माध्यम होना चाहिए जिससे भारतीय अपनी शिकायतें सरकार के समक्ष रख

१. पी० एन० चोपड़ा - "जिनेसिस ऑफ दी कांग्रेस" दि हिन्दुस्तान टाइम्स, १८ अगस्त, १९५८।

सकें। बाद मे वह भारत सरकार के सचिव के पद पर भी नियुक्त हो गया था, परन्तु अपने उदार विचारो के कारण वह अपने पद से हटा दिया गया था। यह असैनिक सेवक स्काटलैंड निवासी ऐलन ओक्टेवियन ह्यूम के पास था। यह भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस का पिता समझा जाता है। ह्यूम लार्ड लिटन के क्रूर शासन को देखकर बड़ा अप्रसन्न हुआ। लार्ड लिटन के अन्तिम वर्षो मे भारत मे बड़ा असंतोष फैला। उसके बहुत से कार्य जैसे वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट, आर्म्स ऐक्ट, अफगान युद्ध, देहली दरबार, बाहर से आने वाले सामान पर कर हटाना और असैनिक सेवा मे प्रवेश करने की आयु कम करना आदि से बहुत असतोष फैला। सशस्त्र गिरोह देश भर मे घूमते फिरते थे। सर विलियम वैडरबर्न ने वल्ट से कहा, जिन्होने उस समय देश का भ्रमण किया था। "लार्ड लिटन के शासन के अन्त मे भारत की अवस्था क्रान्ति के द्वार पर थी। परन्तु लिटन की क्रूर नीति से भारत को लाभ ही हुआ। उसने अशान्ति के वे कारण उत्पन्न कर दिये जो भारत की विभिन्न जातियो को एक सूत्र मे बाँधने के लिये आवश्यक थे।" इतना ही नही बल्कि राजनैतिक अशान्ति भीतर ही भीतर बढ़ रही थी। इसका अकाट्य प्रमाण ह्यूम के पास था। उनके हाथ ऐसी रिपोर्ट की ७ जिल्दें लगी जिनमे भिन्न-भिन्न जिलो के अन्दर विद्रोह के विचारो के फैलने का वर्णन था। भिन्न-भिन्न गुरुओ के कुछ शिष्यो का धर्माचार्यों और महन्तो से जो पत्र व्यवहार हुआ उसके आधार पर वे सब तैयार की गई थीं। यह रिपोर्ट जिला तहसील, सब डिवीजन के अनुसार तैयार की गई थी। शहर, कस्बे और गाव भी इसमे सम्मिलित थे। इसका यह अर्थ नही कि कोई सुगठित विद्रोह जल्दी होने वाला था बल्कि लोगो मे निराशा छाई हुई थी। वे कुछ न कुछ कर डालना चाहते थे। इन रिपोर्टों के आधार पर उसने कुछ वर्ष बाद कहा "कि मुझे उस समय भी और अब भी कोई शक नही है कि भारत मे भयानक क्रान्ति का अधिक डर था।" कुछ धार्मिक वर्गो के नेताओ ने ह्यूम से यह आग्रह किया कि इस खराब दशा को सुधारने के लिए कुछ प्रयत्न किया जाय।

१८८२ मे ह्यूम को असैनिक सेवा से अवकाश प्राप्त हो गया। पंजाब के उपराज्यपाल का पद उन्हे दिया गया, परन्तु इन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया। इसी समय उनके मस्तिष्क मे यह विचार आया कि भारतवासियो की एक राष्ट्रीय सभा स्थापित की जाय और उन्होंने मार्च १८८३ ई० को कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकों के नाम एक पत्र लिखा था जो जोश पैदा करने वाला था। इस पत्र मे उन्होंने कहा—"कि आप लोग ही यहाँ के सबसे अधिक शिक्षित वर्ग है और यहा की मानसिक, नैतिक, सामाजिक और राजनैतिक उन्नति के स्रोत हैं। आप जैसे सभ्य मनुष्यो से ही देश को यह आशा है कि आप ही वहाँ जागृति के पथ प्रदर्शक होंगे। एकता और सगठन की आवश्यकता है। इसको हम एक परिषद द्वारा प्राप्त कर सकते हैं जिसका ध्येय भारत की जनता का मानसिक, नैतिक, सामाजिक

१. पी० एन० चोपड़ा: "जिनेसिस आफ दि कांग्रेस" दि हिन्दुस्तान टाइम्स, १५ अगस्त, १९५८।

और राजनैतिक सुधार करना है।" इस पत्र में उन्होंने पचास ऐसे मनुष्यों की माँग की थी जो भले मानसे, निःस्वार्थ, आत्म संयमी व नैतिक साहस रखने वाले और दूसरों का हित करने की तीव्र भावना रखने वाले हों। "यदि केवल पचास भले और सच्चे मनुष्य संस्थापक के रूप में मिल जायें तो संस्था स्थापित हो सकती है और आगे का काम आसान हो सकता है।" पत्र में ह्यूम ने यह स्पष्ट कर दिया कि "यदि आप अपना सुख चैन नहीं छोड़ सकते तो कम से कम इस समय हमारी प्रगति की सारी आशा व्यर्थ है, और यह कहना होगा कि भारत सचमुच वर्तमान सरकार से अच्छा शासन न चाहता है और न उसके योग्य ही है।" इस पत्र के अन्तिम शब्द कुछ इस प्रकार हैं "यदि देश के विचारशील नेता भी या तो सब के सब ऐसे निर्बल जीव हैं या अपनी स्वार्थ साधना में इतने निमग्न हैं कि अपने देश के लिये कोई साहसपूर्ण कार्य नहीं कर सकते, तब कहना होगा कि वे सही और उचित ढंग पर ही दबा कर रखे गये और पददलित किये गये हैं, क्योंकि वे इससे अधिक अच्छे व्यवहार के योग्य नहीं थे। प्रत्येक राष्ट्र ठीक-ठीक वैसी ही सरकार प्राप्त कर लेता है जिसके कि वह योग्य होता है।... आपके कन्धों पर रक्खा हुआ यह जुआ तब तक दुःखदायी होगा जब तक कि आप इस चिर सत्य का अनुभव नहीं कर लेते और इसके अनुसार चलने की तैयारी नहीं कर लेते कि आत्म बलिदान और निःस्वार्थता ही सुख और स्वातन्त्र्य के अचूक पथ प्रदर्शक हैं।"[1]

लार्ड डफरिन का शासनकाल अच्छा था और उसके अच्छे शासन काल के कारण ही ह्यूम यह सोच सका कि भारत में एक राजनैतिक संगठन होना आवश्यक है। उसने अपने अवकाश प्राप्त करने के उपरान्त ही इस संस्था को स्थापित करने का विचार किया। ह्यूम के अतिरिक्त और भी बहुत से भारतीय यहाँ पर एक अखिल भारतीय राजनैतिक संगठन स्थापित करने की सोच रहे थे। यह बात पूना नगर के बंगाली वकील तारापद बनर्जी के पत्रों से ज्ञात है जो कि 'इण्डियन मिरर' समाचार पत्र में छपे। स्वयं ह्यूम ने भी इलाहाबाद में एक समाचार में कहा था कि कांग्रेस अधिकतर स्वयं भारतवासियों के प्रयत्नों का ही फल है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि कांग्रेस को स्थापित करने में ह्यूम का हाथ नहीं था। गोखले ने ठीक ही कहा है कि यदि कांग्रेस के जन्मदाता एक महान् अंग्रेज और प्रतिष्ठित अवकाश प्राप्त अधिकारी न होते तो उस समय राजनैतिक शिक्षा की ऐसी बुरी दशा थी कि अधिकारी वर्ग एक न एक ढंग से आन्दोलन को दबाने का ढंग निकाल लेते।'[2] ह्यूम की अपील का शिक्षित वर्ग पर बड़ा प्रभाव पड़ा और उन्होंने उसको सहयोग देने की आशा दिलाई। उन्होंने सरकारी और गैर सरकारी मित्रों से भी सलाह ली। वे

१. पट्टाभि सीतारमैया : कांग्रेस का इतिहास, पहला खण्ड १९४८, पृष्ठ ६ से ८ तक।

२. पी० एन० चोपड़ा : "बिगिनिंग्स आफ दि कांग्रेस" दि हिन्दुस्तान टाइम्स, १५ अगस्त, १९५८।

१८८५ में लार्ड डफरिन से भी शिमले में मिले। उमेशचन्द्र बनर्जी ने लिखा है कि लार्ड डफरिन ने उनकी बातों को ध्यान से सुना और कहा कि यह अच्छा होगा, इसमें शासक और शासित दोनों का हित है कि यहाँ के राजनीतिज्ञ प्रतिवर्ष अपना सम्मेलन किया करें और सरकार को बताया करें कि शासन में क्या-क्या त्रुटियाँ हैं और उनमें क्या-क्या सुधार किये जायें। लार्ड डफरिन ने मिस्टर ह्यूम से यह शर्त तय करा ली कि जब तक वे इस देश में हैं तब तक इस सलाह के बारे में उनका नाम कहीं न लिया जाय। ह्यूम ने इन सब परामर्शों के फलस्वरूप इण्डियन नेशनल यूनियन नामक संस्था स्थापित की। मार्च १८८५ में यह तय हुआ कि बड़े दिनों की छुट्टियों में देश के सब भागों के प्रतिनिधियों की एक सभा पूना में की जाय। इस बैठक के लिये एक पत्र जारी किया गया, जिसका मुख्य अंश यह है, "२५ से ३१ दिसम्बर, १८८५ तक पूना में इण्डियन नेशनल यूनियन की एक परिषद् की जायेगी। इसमें बंगाल, बम्बई और मद्रास प्रदेशों के अंग्रेजी जानने वाले प्रतिनिधि अर्थात् राजनीतिज्ञ सम्मिलित होंगे‥ ‥ इस परिषद् के प्रत्यक्ष उद्देश्य यह होंगे—(१) राष्ट्र की प्रगति के कार्य में जी जान से लगे हुए लोगों का एक दूसरे से परिचय हो जाना और (२) इस वर्ष में कौन-कौन से राजनैतिक कार्य अंगीकार किये जायें। इसकी चर्चा करके निर्णय करना……प्रत्यक्ष रूप में यह परिषद् एक देशी पार्लियामेंट का बीज रूप बनेगी और यदि इसका कार्य सुचारु रूप से चलता रहा तो थोड़े ही दिनों में इस आक्षेप का मुंहतोड़ जवाब होगी कि भारत प्रतिनिधि शासन संस्थाओं के बिल्कुल अयोग्य है…… ।"[1]

लार्ड डफरिन का आशीर्वाद लेने के बाद ह्यूम इंगलैंड पहुंचे और वहां लार्ड रिपन, लार्ड डलहौजी, सर जेम्स केयर्ड, जोन ब्रोमेंट, रीड, स्लेग और दूसरे प्रसिद्ध मनुष्यों से सलाह ली। उनके भारत लौटने पर इंडियन नेशनल यूनियन का नाम इंडियन नेशनल कांग्रेस कर दिया गया। इंडियन नेशनल कांग्रेस का पहला अधिवेशन पूना में नहीं हुआ, क्योंकि बड़े दिन के पहिले ही वहां हैजा आरम्भ हो गया और यह ठीक समझा गया कि परिषद् का अधिवेशन बम्बई में किया जाय। इस तरह कांग्रेस का पहिला अधिवेशन २८ दिसम्बर १८८५ को दिन के १२ बजे बम्बई में गोकलदास तेजपाल संस्कृत कॉलिज के भवन में हुआ और श्री उमेशचन्द्र बनर्जी इस अधिवेशन के सभापति चुने गये। महादेव गोविंद रानाडे और सुरेन्द्र नाथ बनर्जी इस सम्मेलन में शामिल नहीं हो सके। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी दिसम्बर के मास में कलकत्ते के एक दूसरे राष्ट्रीय सम्मेलन में व्यस्त थे। अधिवेशन के प्रतिनिधियों में 'मराठा केसरी,' 'हिन्दू,' 'ट्रिब्यून' इत्यादि पत्रों के सम्पादक भी थे। इस अधिवेशन में उपस्थित कुछ प्रतिष्ठित प्रतिनिधियों के नाम इस प्रकार हैं - ह्यूम, उमेशचन्द्र बनर्जी, आप्टे, गंगा प्रसाद वर्मा, दादाभाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता, तैलंग, चारलू, अय्यर इत्यादि। इस पहले अधिवेशन के विषय में लन्दन टाइम्स के सम्वाददाता ने

१. पट्टाभि सीतारमैया : कांग्रेस का इतिहास, भाग १, पृष्ठ १४।

इस प्रकार लिखा है—"मद्रास से लाहौर और बम्बई से लेकर कलकत्ता तक सारे देश का प्रतिनिधित्व था। जब से सृष्टि की रचना हुई है तब से अब तक यह पहला मौका था जब समस्त भारतवासी एक राष्ट्र के रूप में एक साथ एकत्रित हुए।"

कांग्रेस के प्रथम अध्यक्ष उमेशचन्द्र बनर्जी ने देश के कार्यकर्ताओं में स्नेह और निकटता बढ़ाना, कांग्रेस का ध्येय बताया। देश के प्रेमियों के अन्दर प्रान्तीय, जातीय और धार्मिक भेदभाव दूर करना और राष्ट्रीय एकता के विचारों को दृढ़ करना और उनका विकास करना भी कांग्रेस का ध्येय बताया। पहले अधिवेशन में ७२ प्रतिनिधि शामिल हुए। कांग्रेस का दूसरा अधिवेशन १८८६ में दादाभाई नौरोजी के सभापतित्व में कलकत्ते में हुआ। इस अधिवेशन में ४३४ प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इनमें से ७४ उत्तर पश्चिम प्रान्त और अवध से आये थे। कांग्रेस का तीसरा अधिवेशन १८८७ में मद्रास में श्री बदरुद्दीन तैयबजी की अध्यक्षता में हुआ। इस अधिवेशन में ६०७ प्रतिनिधि सम्मिलित हुए, उनमें से ३६२ प्रतिनिधि मद्रास से ही थे। चौथा अधिवेशन १८८८ में इलाहाबाद में श्री जोर्जयूल के सभापतित्व में हुआ जो कलकत्ते के एक प्रसिद्ध अंग्रेजी व्यापारी थे। इस अधिवेशन में १२४८ प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इस अधिवेशन के विषय में समाचार पत्रों और इश्तहारों से काफी प्रचार हुआ इस अधिवेशन में सरकार के शासन कार्य के ऊपर काफी प्रकाश डाला गया। सर पी० बार्ड० चिन्तामणि के विचार से यह अधिवेशन सफल अधिवेशनों में से एक था। इस अधिवेशन की रिपोर्ट एक राजनैतिक शिक्षा के अध्ययन के लिये उपयोगी हो सकती है।[1] पांचवां अधिवेशन १८८९ में बम्बई में सर विलियम वैडरबर्न की अध्यक्षता में हुआ। संयोगवश इसमें १८८९ प्रतिनिधि आये थे। श्री गोखले इसी वर्ष कांग्रेस में सम्मिलित हुए और उनके भाषण को सुनकर सबने यह अनुमान लगाया कि वे कांग्रेस के भावी सभापति हैं। इस तरह दिन पर दिन कांग्रेस लोकप्रिय होती गई और यह शिक्षित वर्ग का दृढ़ संगठन बन गया।

*जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं कांग्रेस का प्रारम्भ सरकारी अफसरों विशेषकर लार्ड डफरिन की इच्छानुसार हुआ। प्रारम्भ के वर्षों में सरकार ने कांग्रेस* के अधिवेशनों में सहयोग दिया। पहले अधिवेशन के लिये तो यह सोचा जा रहा था कि बम्बई के गवर्नर लार्ड री ही इसका अध्यक्ष पदग्रहण करें। कांग्रेस के पहले अधिवेशन में जो प्रस्ताव पास हुए वे सब एलफीन्स्टन कॉलिज के प्रिन्सिपल वर्ड्सवर्थ के निवास स्थान पर एक निजी सभा में तय हुये थे। इस बैठक में कुछ सरकारी अधिकारी सर विलियम वैडरबर्न, रानाडे और तैलंग आदि उपस्थित थे।[2] दूसरे अधिवेशन के प्रतिनिधियों को लार्ड डफरिन ने भी कलकत्ते में एक जलपान का आयोजन किया। मद्रास के गवर्नर ने तीसरे अधिवेशन के प्रतिनिधियों की आवभगत की।

---

१. इंडियन पॉलिटिक्स सिन्स दि म्युटेनी, पृष्ठ ५४।

२. वही, पृष्ठ ३८।

जैसे ही कांग्रेस का प्रभाव बढ़ता गया और उसकी मांगें बढ़ती गयीं सरकारी अधिकारियों का व्यवहार भी बदलता गया। लार्ड डफरिन ने नवम्बर १८८८ में सेन्ट एन्ड्रूज के डिनर में दिये गये भाषण में कांग्रेस की बड़ी निन्दा की। उसने कहा कि एक समझदार मनुष्य यह कैसे सोच सकता है कि ब्रिटिश सरकार जो कि भारत की सुरक्षा और भलाई के लिए परमात्मा और सभ्यता के समक्ष उत्तरदायी है उस महान् भारतीय साम्राज्य के शासन की बागडोर बहुत कम अल्पमत (microscopic minority) को सौंप दे। मेरे विचार में यह सोचना कि कांग्रेस भारतीय जनता का प्रतिनिधित्व करती है एक सारहीन धारणा है। उसका विचार था कि भारतीय जनता का अधिक भाग कांग्रेस के कार्यों से विचलित हो उठा है और वह अपने आप गठित सभा है। कांग्रेस के चौथे अधिवेशन करने के लिये कांग्रेसी नेताओं को बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इस अधिवेशन की रिपोर्ट में यह लिखा हुआ है कि कांग्रेस का चौथा अधिवेशन भयानक विरोध सहने के उपरान्त हुआ। इलाहाबाद में अधिवेशन न होने के लिये निर्लज्ज और भरसक प्रयत्न किये गये।[1] कांग्रेस अधिवेशन के लिये जिस स्थान को लेती थी उपराज्यपाल सर ऑकलैंड कोलविन उसी के लिए कुछ न कुछ अड़चन लगा देते थे। अन्त में महाराजा दरभंगा को लाउथर कैसिल खरीदना पड़ा, जहाँ पर कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। जब कांग्रेस का अधिवेशन १८९१ में नागपुर में हुआ तो वहाँ के चीफ कमिश्नर ए० पी० मैकडॉनल ने सार्वजनिक रूप में कह दिया कि उन्हें कांग्रेस में कोई रुचि नहीं है।

प्रथम अधिवेशन में नौ प्रस्ताव पास हुए जिनके द्वारा भारत की मांगों का प्रारम्भ होता है। प्रथम प्रस्ताव के द्वारा भारत के शासन-कार्य की जाँच के लिये एक शाही आयोग नियुक्त करने की मांग पेश की गई। दूसरे प्रस्ताव द्वारा इंडिया कौंसिल को भंग करने की मांग की गई। तीसरे द्वारा धारासभा की त्रुटियों की ओर संकेत किया गया जिनमें अब तक मनोनीत सदस्य होते थे और उनके स्थान पर निर्वाचित सदस्यों को रखने, प्रश्न पूछने का अधिकार देने की, पंजाब व संयुक्त प्रान्त में कौंसिल स्थापित की जाने की तथा हाउस ऑफ कॉमन्स में स्थायी समिति स्थापित करने की मांग रखी गई। असैनिक सेवा की परीक्षा भारत और इंगलैंड में एक ही समय हो और परीक्षार्थियों की आयु बढ़ाने की मांग चौथे प्रस्ताव में की गई। पांचवां और छठा प्रस्ताव सेना के व्यय के विषय में था। सातवें के अनुसार ऊपरी बर्मा को भारत में मिला लेने के सुझाव का विरोध किया गया था। आठवें के द्वारा यह आदेश दिया गया था कि ये सब प्रस्ताव राजनैतिक सभाओं को भेज दिये जावें। नवें प्रस्ताव में सारे देश में राजनैतिक मंडलों और सार्वजनिक सभाओं द्वारा उन पर चर्चा की गई और कुछ साधारण संशोधन के बाद वे बड़े उत्साह से पास किये गये। अन्तिम प्रस्ताव में अगले अधिवेशन का

1. एनी बेसेन्ट : हाऊ इंडिया रोट फर फ्रीडम, पृष्ठ ५४।

स्थान कलकत्ता और ता० २८ दिसम्बर तय हुई।[1]

प्रथम अधिवेशन के बाद से कांग्रेस के २० साल के अधिवेशनों में जो प्रस्ताव पास हुए उनमें से मुख्य प्रस्तावों को हम अंकित करते हैं। कुछ प्रस्ताव तो कई अधिवेशनों में बार-बार पास हुए। (१) भारतीय जनता की अवस्था को सुधारने का सबसे महत्वपूर्ण साधन यहाँ पर प्रतिनिधि संस्थायें स्थापित करना है। (२) महाराज्यपाल की व्यवस्थापिका परिषद् और प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदों की सदस्यता बढ़ाई जाय और उनमें सुधार किये जायें। (३) जूरी प्रथा को देश के और भागों में भी लागू किया जाय। (४) कार्यकारिणी और न्यायपालिका एक दूसरे से स्वतन्त्र होनी चाहिएँ। (५) भारतवासियों को सैनिक शिक्षा देनी चाहिए। (६) सेना में ऊँची नौकरियाँ भारतीयों को मिलनी चाहियें और सरकार को सैनिक शिक्षा के लिए विद्यालय खोलने चाहिएँ। (७) औद्योगिक शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिए। (८) असैनिक सेवा के लिए इंगलैंड व भारत में एक साथ परीक्षा होनी चाहिए। (९) नशीली वस्तुओं की बिक्री पर नियन्त्रण लगाना चाहिए (१०) आयकर का प्रशासन ठीक प्रकार होना चाहिए। (११) पुलिस शासन को सुधारने के लिए एक पुलिस कमिश्नर नियुक्त करना चाहिए। (१२) दरिद्र वर्ग के बोझ को कम करने के लिए नमक कर घटा देना चाहिए। (१३) सरकार को शिक्षा पर बहुत अधिक खर्च करना चाहिए। (१४) वन विभाग के कार्यों को इस तरह चलाया जाय जिससे दलित वर्ग को हानि न पहुँचे। (१५) पाँच करोड़ भारत की जनता भूखी रहती है और लाखों मनुष्य खाना न मिलने के कारण मर जाते हैं, इस दुर्व्यवस्था का अन्त होना चाहिए। (१६) बेगार और रसद का अन्त होना चाहिए। (१७) रुई का जो सामान भारत में बनता है उस पर कर (excise duty) नहीं लगाना चाहिए। (१८) देशी राज्यों में समाचार पत्रों के ऊपर जो रुकावटें लगाई गई हैं, वे प्रतिक्रियावादी और खराब हैं। (१९) पानी कर दूर होना चाहिए। (२०) तीसरे दर्जे के रेल के यात्रियों को अधिक सुविधायें मिलनी चाहियें। (२१) देशी और घरेलू उद्योगों को प्रोत्साहन मिलना चाहिए। नये कारखानों और उद्योगों की स्थापना होनी चाहिए। (२२) कृषि बैंक खोलने चाहियें जिससे कि गरीब जनता को ऋण मिल सके। सरकार को कृषि व्यवस्था में भी सुधार करने चाहियें और देश की कृषि की आवश्यकताओं को पूरा करना चाहिए। (२३) भारतवासियों को असैनिक सेवा के उच्च पदों पर नियुक्त करना चाहिए। जब तक ऐसा नहीं किया जायेगा तब तक देश की वित्तीय और प्रशासकीय त्रुटियाँ दूर नहीं की जा सकती। (२४) भारत की जनता की दरिद्रता का मूल कारण है कि उसका धन दूसरे देश को जा रहा है। (२५) यहाँ के उद्योगों को नष्ट कर दिया गया है और सरकारी शासन का खर्च बहुत अधिक है। जो भारतवासी ब्रिटिश उपनिवेशों में रहते हैं उनके साथ बड़ा

[1] पट्टाभि सीतारमैया : कांग्रेस का इतिहास, खण्ड १, पृष्ठ १६।

सराव व्यवहार होता है।

**कांग्रेस में नरम दल का प्रभाव**—प्रारम्भिक काल में कांग्रेस में नरम दल का प्रभाव रहा। ऊपर लिखे प्रस्तावों से प्रतीत होता है कि नरम दल के नेता सरकार के विभिन्न विभागों और असैनिक सेवाओं में सुधार करना चाहते थे। वे उग्र विचारों के नहीं थे परन्तु यह कहना पड़ेगा कि वे राष्ट्र का हित चाहते थे। वे किसी वर्ग विशेष के हित के इच्छुक नहीं थे। उन्होंने मजदूरों, किसानों, जमींदारों, पूँजीपतियों और मध्यम वर्ग के हितों की रक्षा करने का प्रयत्न किया। नरम दल के नेता उच्च घराने के थे परन्तु उन्होंने सारे देश के हित में ही अपना हित समझा। यहाँ पर हम नरम दल के सिद्धान्तों की व्याख्या करते हैं।

**(१) पाश्चात्य संस्थाओं में अटूट विश्वास**—नरम दल के नेता पाश्चात्य सभ्यता और पाश्चात्य संस्थाओं के पुजारी थे। उनका विश्वास था कि पाश्चात्य शिक्षा के द्वारा ही भारत की उन्नति सम्भव है भारतवासियों को पाश्चात्य सभ्यता और संस्थाओं का अनुसरण करना चाहिए। राजा राम मोहनराय ने पहले ही बता दिया था कि भारतवासियों को पश्चिमी सभ्यता से लाभ उठाना चाहिये। प्रसिद्ध मुस्लिम नेता सर सैयद अहमद खां का भी ऐसा विचार था। नरम दल के प्रमुख नेता दादा भाई नौरोजी, डब्लू० सी० बनर्जी, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, फिरोजशाह मेहता, आनन्द चारलू, गोपाल कृष्ण गोखले इत्यादि पश्चिमी सभ्यता के असर में आ चुके थे और इसी कारण वे पश्चिमी संस्थाओं को देश में लागू करना चाहते थे। दादा भाई नौरोजी और उमेशचन्द्र बनर्जी तो अधिकतर इंगलैंड में ही रहते थे। दादा भाई नौरोजी हाउस ऑफ कॉमन्स के प्रथम भारतीय सदस्य भी रहे। नरम दल के नेताओं पर अंग्रेजी विचारकों, लेखकों और शिक्षकों का भी प्रभाव पड़ा, बर्क और मिल, मैकाले और ब्राइट के लेखों का उन पर काफी प्रभाव पड़ा। लार्ड रोनाल्डशे ने ठीक ही लिखा है "कि १६वीं शताब्दी के मध्य में पाश्चात्यवाद एक फैशन सा बन गया है। भारतवासी पाश्चात्य वस्तुओं की जितनी अधिक प्रशंसा करते थे उतनी ही पूर्वी वस्तुओं की निन्दा करते थे।"[१]

**(२) संवैधानिक विधि का अनुसरण**—नरम दल के नेता संवैधानिक ढंगों से अपना कार्य करना चाहते थे। वे शान्तिप्रिय प्रयोगों को अपनाते थे। वे अराजकता और शक्ति में विश्वास नहीं रखते थे। १८५७ के विद्रोह के असफल होने के कारण उन्हें यह प्रतीत हो गया था कि देश की उन्नति संवैधानिक ढंग से ही सम्भव है। हिंसा-मार्ग के प्रयोग द्वारा वे सरकार को नहीं उखाड़ सकते थे। ब्रिटिश सरकार एक शक्तिशाली सरकार थी। यह प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तों में विश्वास रखती थी, यह नैतिक सिद्धान्तों की अवहेलना नहीं कर सकती थी। इस कारण नरम दल के नेताओं का विश्वास था कि भारत की समस्याओं को सरकार के पास प्रार्थना पत्र भेजकर ही सुलझाया जा सकता है। सरकार से प्रार्थना और अपील करनी चाहिए। सरकार के

१. दी हार्ट ऑफ आर्यावर्त, पृष्ठ ४५।

सामने जनता की आवश्यकताओं को रखना चाहिए जिससे कि सुधार हो सकें। कांग्रेस के तीसरे अधिवेशन में बोलते समय पंडित मदनमोहन मालवीय ने कहा कि यद्यपि उनके प्रयत्न सफल नहीं हुए हैं फिर भी उन्हें सरकार के पास समय-समय पर जाना चाहिए और उससे अपनी मांगों को जल्दी से जल्दी स्वीकार करने की प्रार्थना करनी चाहिए। बार-बार सरकार से प्रार्थना करनी चाहिये कि वह हमारे सुझावों को स्वीकार कर ले। ब्रिटिश सरकार ने बहुत से देशों में इस प्रकार की रियायतें दी हैं।[1] दादा भाई नौरोजी ने भी १९०६ में कांग्रेस के अध्यक्ष पद से बोलते हुए कहा कि शान्तिप्रिय विधि ही इंगलैंड की राजनैतिक, सामाजिक और औद्योगिक इतिहास की जीवन और आत्मा है। इंगलैंड का तमाम जीवन शान्तिप्रिय आन्दोलन का जीवन है, इसलिए वे कहते हैं कि हमें भी उस सभ्य शान्तिप्रिय नैतिक शक्ति रूपी हथियार को प्रयोग में लाना चाहिए। यह शारीरिक शक्ति से बहुत हद तक अच्छी है। हमको आन्दोलन करना चाहिए और ब्रिटिश जनता को हमें यह बता देना चाहिये कि हमारे अधिकार क्या हैं और ब्रिटिश सरकार को इन अधिकारों को क्यों स्वीकार करना चाहिए।[2] साधारण रूप से कांग्रेस के अधिवेशनों द्वारा पास प्रस्ताव महाराज्यपाल या भारत सचिव को प्रार्थना पत्र के रूप में भेजे जाते थे उनसे यह आशा की जाती थी कि वे उन प्रस्तावों पर ध्यानपूर्वक विचार करें। कांग्रेस के अधिवेशनों में ब्रिटिश सरकार को प्रभावित करने के लिए शिष्टमण्डल भी नियुक्त किये जाते थे। कांग्रेस के दसवें और सोलहवें अधिवेशन में महाराज्यपाल से भेंट करने के लिए शिष्टमण्डल नियुक्त किये गये। बीसवीं कांग्रेस के अधिवेशन में एक शिष्ट मण्डल ब्रिटिश जनता को भारतीय समस्याओं से अवगत करने के लिए नियुक्त किया गया। २१वीं कांग्रेस के अधिवेशन में जो १९०५ में बनारस में हुआ एक प्रस्ताव द्वारा श्री गोपालकृष्ण गोखले को कांग्रेस का प्रतिनिधि बनाकर इंगलैंड भेजा गया जिससे कि वे ब्रिटिश अधिकारियों के समक्ष भारतीय समस्याओं को रख सकें, इन सब उदाहरणों से कांग्रेस की प्रार्थना करने की नीति प्रतीत होती है।

(२) ब्रिटेन से स्थायी सम्बन्ध रखने में विश्वास—नरम दल के नेता ब्रिटिश राजमुकुट और ब्रिटिश सरकार से सम्बन्ध रखने में विश्वास रखते थे। वे ब्रिटिश सभ्यता से परे थे और वे जानते थे कि ब्रिटिश सरकार द्वारा ही देश का कल्याण हुआ। ब्रिटिश सम्बन्ध के कारण ही वे पाश्चात्य संस्थाओं और पाश्चात्य विज्ञान के सम्पर्क में आये जिनके कारण वे उन्नति के पथ पर अग्रसर हुए। भारत की एकता और शान्ति और राजनैतिक विकास उन्हीं के प्रयत्नों का फल है। तीसरे कांग्रेस के अधिवेशन में स्वागत समिति के अध्यक्ष पद से बोलते हुये राजा सर टी माधवराव ने कहा कि कांग्रेस ब्रिटिश शासन की सबसे सच्ची जीत है और ब्रिटिश राष्ट्र के लिये अधिक गौरव की बात है। यहाँ पर अंग्रेजों के इन शब्दों को दोहरा सकते हैं

१. ए.सी. मैजेण्ड : दि इंडिया रोड टू नेशनहुड, पृष्ठ ४५ ।
२. वही, पृष्ठ ४४६ ।

जब उन्होंने कहा था कि ब्रिटिश शासन की सबसे पवित्र यादगार भारत में स्वतन्त्र संस्थायें स्थापित करना होगा। नरम दल के नेता कांग्रेस प्लेटफार्म से हमेशा ब्रिटिश सम्बन्ध को स्थापित रखने के विषय में ही बोलते थे। कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन में बोलते हुए डेरा इस्माईल खां के मालिक भगवानदास ने कहा कि सच्ची बात कह देने का तात्पर्य यह नहीं है कि वे ब्रिटिश शासन के विरुद्ध थे। वे तो उसके सच्चे समर्थक थे। उनकी ईश्वर से प्रार्थना थी कि ब्रिटिश शासन सदैव भारत में रहे और ईश्वर ब्रिटिश सरकार को बुद्धि दे कि वे भारत के सुधारों के प्रस्तावों को स्वीकार करें।[1] कांग्रेस के तीसरे अधिवेशन में बोलते हुए पंडित विश्वनारायण धर ने कहा कि अंग्रेजी शासन के द्वारा ही भारतवासियों में स्वतन्त्र राजनैतिक संस्थाओं के लिये रुचि उत्पन्न हुई है और इंगलैंड ने ही भारत को भूतकालिक झंझटों से मुक्ति दिला दी है। फिरोजशाह मेहता ने कांग्रेस के छठे अधिवेशन के अध्यक्ष पद से बोलते हुए कहा कि ब्रिटिश सरकार हमारी मांगों को अन्त में स्वीकार करेगी, इसमें हमें जरा भी संदेह नहीं है। उन्हें ब्रिटिश संस्कृति, शिक्षा के विकासवादी और जीवित सिद्धान्तों में अटल विश्वास था। इङ्गलैंड और भारत का सम्बन्ध इन दोनों और समस्त विश्व कि आने वाली पीढ़ियों के लिए वरदान होगा।[2] १८८६ में कांग्रेस के अध्यक्ष पद से बोलते हुए दादा भाई नौरोजी ने कहा कि कांग्रेस ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने वाली संस्था नहीं है। वह तो ब्रिटिश सरकार की नींव को दृढ़ करना चाहती है। कांग्रेस के सदस्य ब्रिटिश सरकार के अच्छे कार्यों से परिचित हैं। वे इसके विरुद्ध नहीं हैं। हमें यह घोषित कर देना चाहिए कि हम ब्रिटिश सरकार के परम भक्त हैं। १९०५ में श्री गोपालकृष्ण गोखले ने बनारस के कांग्रेस के अध्यक्ष पद से बोलते हुए कहा कि हमारा भाग्य अंग्रेजों के साथ ही मिला हुआ है चाहे वह अच्छे के लिए हो या बुरे के लिए। कांग्रेस इस बात को स्वतन्त्रतापूर्वक स्वीकार करती है कि हमारा विकास ब्रिटिश सरकार के अन्तर्गत ही हो सकता है। नरम दल के नेता यह नहीं सोचते थे कि उनका सम्बन्ध ब्रिटिश राजमुकुट से न रहेगा। जब कभी भी कोई अवसर आता था तो वे राजमुकुट में ही अपनी श्रद्धा दिखाते थे। कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन में महारानी विक्टोरिया को उसके शासन के पचास साल पूरे होने और १२वें अधिवेशन में ६० साल पूरे होने की बधाई दी गई थी। कांग्रेस ने अपने १८वें अधिवेशन में सम्राट एडवर्ड सप्तम को १९०३ की पहली जनवरी को होने वाले देहली दरबार के उपलक्ष में बधाई दी। नरम दल के नेताओं के भाषणों का सार ब्रिटिश राजमुकुट के प्रति भक्ति होता था और इसी आधार पर वे अधिक अधिकारों की मांग करते थे। जब वे प्रजातान्त्रिक संस्थाओं की मांग करते थे तब वे अंग्रेजों के शत्रु की हैसियत से नहीं बल्कि साम्राज्य के शुभचिन्तकों की हैसियत से कहते थे।[3]

१. ऐनी बेसेन्ट : हाउ इण्डिया रौट फार फ्रीडम, पृष्ठ ७०।
२. वही पृष्ठ १०६
३. बी० पी० एस० रघुवंशी : इण्डियन नेशनलिस्ट मूवमेंट एण्ड थॉट, पृष्ठ ६६-६८।

**(४) ब्रिटिश न्याय में विश्वास**—नरम दल के नेता अंग्रेजों की सत्यता और न्याय में विश्वास रखते थे। उनका विचार था कि यदि अंग्रेजी सरकार को भारत की स्थिति अच्छी तरह प्रतीत हो जाय तो वह भारतवासियों की मांगों को स्वीकार करने में नहीं हिचकिचायेंगे। पंडित विशन नारायण धर ने कांग्रेस के चौथे अधिवेशन में बोलते हुए कहा कि अगर आप अपनी मांगें नम्रता, सत्यता और उत्साह के साथ अंग्रेजी सरकार के समक्ष रखें तो वे उन्हें अवश्य स्वीकार करेंगे। अंग्रेज लोग न्याय और स्वतन्त्रता की प्रत्येक मांग को स्वीकार करते हैं। १८९६ में कांग्रेस के १२ वें अधिवेशन के अध्यक्ष पद से बोलते हुए श्री मोहम्मद रहीमतुल्ला स्यानी ने अंग्रेजों को न्यायप्रिय बताया, उन्होंने कहा कि अंग्रेज विश्व भर में सबसे सच्ची और दृढ़ जाति है। हमें यह निस्संदेह स्वीकार कर लेना चाहिए कि वे अन्त में हमारी सब मांगों को स्वीकार कर लेंगे।[1] सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने कांग्रेस के ७वें अधिवेशन में बोलते हुए कहा कि भारत का शासन ठीक प्रकार नहीं हो रहा है। इसके लिए अंग्रेजी प्रणाली उत्तरदायी है, वहां के मनुष्य उत्तरदायी नहीं हैं। अंग्रेजी नौकरशाही जो भारत में स्थापित हुई है वह निरंकुश और तानाशाही है, उसकी निन्दा भारत और सभ्य विश्व के जनमत के समक्ष होनी चाहिए।[2] १९११ में ब्रिटिश गवर्नमेंट ने बंग विच्छेद रद्द कर दिया। कांग्रेस ने एक प्रस्ताव द्वारा राजमुकुट, भारत सरकार और भारत सचिव को धन्यवाद दिया। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने ब्रिटिश सरकार के इस कार्य की बड़ी प्रशंसा की, भारत और इंगलैंड के अटल सम्बन्ध से उनको प्रसन्नता हुई। कांग्रेस के २६वें अधिवेशन में बोलते हुए अम्बिका चरन मजूमदार ने कहा "कि कठिनाइयों के दिनों में भी हमने ब्रिटिश न्याय में अपना विश्वास नहीं खोया, उसी आशा में हम कार्य करते रहे हैं और परेशानियां उठाते रहे हैं। अंग्रेजों के अन्तःकरण ने हमेशा क्रूरता, अन्याय और जनता के साथ दुर्व्यवहार का विरोध किया है। होवर्ड, विल्बरफोर्स, बर्क, ग्लैडस्टन, कैनिंग और रिपन की जाति त्रुटि नहीं कर सकती थी और यदि वह ऐसा करती है तो वह विश्व की सबसे महान् जाति नहीं रह जायेगी।[3]

**(५) धीरे-धीरे परिवर्तनों की इच्छा**—नरम दलवादी अग्रगामी नहीं थे। वे क्रान्तिकारी सिद्धान्तों में विश्वास नहीं रखते थे। वे अराजकता के विरुद्ध थे। वे शान्ति चाहते थे। सरकार में धीरे-धीरे परिवर्तन किया जाय, यही उनकी मांग थी वे देश में प्रतिनिधि संस्थायें स्थापित करना चाहते थे। इनके द्वारा ही जनता शासन के कार्यों में हाथ बटा सकती थी और सरकार के समक्ष अपनी शिकायतें रख सकती थी। कांग्रेस ने कई बार सरकार से यह प्रार्थना की कि उच्च पदों पर भारतीयों को नियुक्त किया जाए। असैनिक सेवा में सुधार किया जाय। सरकार

१. एनी बेसेन्ट : हाउ इण्डिया रॉट फॉर फ्रीडम, पृष्ठ २३१-२३२।
२. वही, पृष्ठ १२४।
३. वही, पृष्ठ ५३२-३४।

का खर्चा कम किया जाय, जनता की आर्थिक अवस्था सुधारी जाय और कर कम किए जायें। नरम दल के नेताओं ने सरकार के परिवर्तन की माँग कभी नहीं रखी। उनका विश्वास था कि धीरे-धीरे भारतवासियों को शासन कार्य की शिक्षा मिलनी चाहिए और उन्हें ऊँचे पदों के योग्य होना चाहिए। वे यह नहीं सोचते थे कि भारत में ब्रिटिश शासन का कभी अन्त हो सकता है।

(६) राष्ट्रीय ध्येय—नरम दल के नेता भारत में प्रतिनिधि सरकारें स्थापित करना चाहते थे और उनमें से कुछ ऐसे दूरदर्शी भी थे जो यह जानते थे कि इन संस्थाओं के द्वारा हमें स्वराज्य भी प्राप्त हो सकता है। स्वराज्य अंग्रेजों का ही एकाधिकार नहीं है। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन में कहा था कि स्वायत्त शासन प्रकृति के नियमों के अनुसार है और ईश्वर की देन है, प्रत्येक राष्ट्र अपना भाग्यविधाता स्वयं है। ...... हमारी पंचायत पद्धति बहुत पुरानी है और हमारे मनुष्यों के ऊपर उसका प्रभाव जमा हुआ है, इसलिए स्वायत्त शासन भारतवासियों के लिए कोई नई वस्तु नहीं है।[1] पंडित मदन मोहन मालवीय ने कांग्रेस के तीसरे अधिवेशन में कहा कि ब्रिटिश सरकार ने बहुत से क्षेत्रों को प्रतिनिधि सरकार प्रदान की है। वह भारत को ऐसी सरकार से किस प्रकार वंचित रख सकती है।[2] सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कांग्रेस के आठवें अधिवेशन में ग्लैडस्टन और उसके साथियों से अपील की कि वे भारत में ऐंग्लो सैक्सन जाति की मूल्यवान वंशानुगत देन को भारत में प्रचलित करें। जहाँ पर इंगलैंड का झण्डा फहराता है वहाँ पर स्वायत्त शासन ही प्रचलित है।[3]

नरम दल की भारतीय राजनीति को देन—कांग्रेस के प्रारम्भ में नरम दल का बोलबाला रहा। बड़े-बड़े जमींदार, व्यापारी, वकील, बैरिस्टर और अध्यापक ही अधिकतर नरम दल के नेता होते थे। ये शिक्षित वर्ग के प्रतिनिधि होते थे और ये जनता के सम्पर्क में बहुत कम आते थे, फिर भी उन्होंने अपने ढंग से भारतीय हितों की रक्षा की। सरकार की खराब और क्रूर नीति की निन्दा की, वे क्रान्ति में विश्वास नहीं रखते थे। उनके लिए यह सम्भव नहीं था क्योंकि वे अधिकतर धनिक वर्ग से सम्बन्धित होते थे और पाश्चात्य शिक्षा से अधिक प्रभावित थे। इतने पर भी उन्होंने भारतवासियों को अपने अधिकारों के लिए लड़ना सिखाया और उनमें जागृति उत्पन्न की। उन्होंने भारत की जनता को स्वतन्त्रता के युद्ध के लिए तैयार किया। व्यवस्थापिका सभा में जो कार्य नरम दल के नेताओं ने किया उसी के फल-स्वरूप भारतवासियों के लिए अधिकाधिक शासन में सुधार होते गए। अगर इन नेताओं में कार्य करने की शक्ति और उत्तरदायित्व की भावना न होती और देश के हित के लिए लगन और सच्चे दिल के साथ कार्य न किया होता तो मॉर्ले सुधार

---

१. ऐनी बेसेन्ट : हाउ इण्डिया राट फॉर फ्रीडम, पृष्ठ २६-२७।
२. वही, पृष्ठ ४५।
३. वही, पृष्ठ १४५।

सम्भव न थे।[1] श्रीमती ऐनी बेसेन्ट ने अपनी पुस्तक 'हाऊ इण्डिया रॉट फार फ्रीडम' की प्रस्तावना मे लिखा है कि भारत के नवयुवक मे असन्तोष है क्योंकि सरकार ने उनकी मांगो को स्वीकार नहीं किया है, परन्तु ऐसा करना उनकी भूल है। उन्हें इस बात को स्वीकार करना चाहिए कि नरम दल के नेताओ के ३० साल के कार्य ने ही हमको इस योग्य बनाया कि हम स्वतन्त्रता की माग अच्छी तरह सरकार के समक्ष रख सकें। नवयुवको को उन भारतीय राष्ट्र के निर्माणकर्त्ताओं के प्रति भी कृतज्ञ होना चाहिए जिन्होंने कठिन से कठिन समय मे भी स्वाधीनता मे दृढ विश्वास रखा और साहस व धैर्य से काम लिया। १६०८ के कांग्रेस अध्यक्ष डा० रासबिहारी घोष ने कहा, नवयुवकों को नरम दल के नेताओं का कार्य अपने हाथ मे लेना चाहिए और उनका कर्त्तव्य है कि वे नरम दल के नेताओं के प्रति सद्भावना रक्खें, जिन्होंने देश के प्रति अपना कर्त्तव्य पालन करने का भरसक प्रयत्न किया। वे भी अपने देश की स्वाधीनता के लिए उतनी ही लगन रखते थे जितनी की नवयुवक।[2]

**भारत मे उग्रवादीदल की उत्पत्ति के कारण**—१८५७ के विद्रोह के तीस पैंतीस वर्ष के बाद तक भारतीय राजनीति मे नरम दल के समर्थकों का प्रभाव रहा। परन्तु बाद मे परिस्थितियोंवश उनका प्रभाव कम होता चला गया और अतिवादी दल उत्पन्न हो गया। यहा पर हम इसकी उत्पत्ति के कारणो का उल्लेख करेंगे।

**(१) नरम दल की असफलता**—भारत की राष्ट्रीय जागृति के आरम्भ काल मे नरम दल के समर्थकों का प्रभाव रहा। उन्होंने संवैधानिक ढंग से और नम्रता-पूर्वक सरकार को प्रभावित करना चाहा परन्तु उनके प्रयत्न असफल रहे और जनता मे असन्तोष बना ही रहा। १८६१ और १८६२ के सुधार जनता को सन्तुष्ट नहीं कर सके। जनता का सरकार के कार्यों मे वास्तविक सहयोग न हो सका, क्योंकि जनता को पूर्ण रूप से उत्तरदायित्व नहीं दिया गया था। इन सब कारणों मे जनता अतिवादी हो चली थी और उनका विश्वास संवैधानिक तरीकों से हट चला था। उनका विश्वास था कि प्रार्थना-पत्रों शिष्टमण्डलों और सरकार की भक्ति करने मे कुछ नही हो सकेगा। इन विधियो द्वारा सरकार की नीति मे परिवर्तन नही हो सकेगा। सरकार को झुकाने का एकमात्र साधन सरकार से विरोध करना ही है।

**(२) १८६७ के अकाल के कारण असन्तोष**—१८६७ मे भारत मे भयंकर अकाल पडा और लगभग दो करोड मनुष्य इसके शिकार हुए। सरकार ने अकाल को दूर करने का प्रयत्न किया परन्तु सरकारी तरीके सहानुभूतिपूर्ण न होकर बडे खराब थे। जनता की यह धारणा हो गई कि अगर भारत मे एक राष्ट्रीय सरकार होती तो वह अकाल को दूर करने के अच्छे उपाय निकालती। अकाल से पीडित जनता के साथ कठोर व्यवहार करने से सरकार की नीति की आलोचना हुई।

**(३) प्लेग का प्रकोप**—अकाल के थोडे दिनो बाद ही बम्बई प्रान्त के कुछ

---

१. सुर० हा. वाई. चिन्तामणि - इण्डियन पालिटिक्स सिन्स दी म्यूटनी, पृष्ठ १८।

२. हाऊ इण्डिया रॉट फार फ्रीडम, पृष्ठ ४६५।

भागों में प्लेग का प्रकोप हुआ । सरकार ने प्लेग को दूर करने के प्रयत्न किए, परन्तु जिस ढंग से कार्य किया गया वह जनता ने पसन्द नहीं किया और उनमें असन्तोष की भावना फैल गई । सरकार ने इस कार्य में फौज के सिपाहियों की सहायता ली । सिपाही घरों का निरीक्षण करते थे और प्लेग से पीड़ित मनुष्यों को अस्पताल भेज देते थे। बच्चे और महिलाओं को भी अस्पतालों में भेजा जाता था । पुराने विचार वाले भारतीयों ने महिलाओं को अस्पताल भेजना बुरा समझा । एक नवयुवक ने तो क्रोध में आकर पूना के प्लेग कमिश्नर श्री रैण्ड और उनके एक साथी के गोली मार दी । इस नवयुवक को फाँसी की सजा दी गई । श्री बाल गंगाधर तिलक ने अपने पत्र 'केसरी' में सरकार के प्लेग को दूर करने के उपायों की घोर निन्दा की । सरकार ने उन पर यह आरोप लगाया कि उन्होंने 'केसरी' के लेखों द्वारा नवयुवकों में प्रोत्साहन उत्पन्न किया और इसी कारण एक नवयुवक को रैण्ड की हत्या करने का साहस हुआ । यूरोपियनों के बहुमत वाले जूरी ने तिलक को दोषी ठहराया और उन्हें १८ महीने का कठोर कारावास दे दिया । तिलक ने इस सजा के विरुद्ध प्रिवी कौंसिल में अपील करनी चाही, परन्तु उन्हें ऐसा करने की अनुमति नहीं मिली । तिलक के साथ इन व्यवहारों के कारण जनता में उत्तेजना फैल गई और जनता उग्र विचार वाली हो चली ।[1]

(४) पुनरुत्थानवादी आन्दोलन का प्रभाव—भारत में राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न करने वाले नेताओं में अधिकतर पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित मनुष्य ही थे । परन्तु कुछ नेता पुनरुत्थानवादी थे । स्वामी दयानन्द ने हिन्दी, संस्कृत, वेद और भारतीय सभ्यता की प्रशंसा की । उन्होंने साफ-साफ कह दिया कि अच्छा शासन स्वराज्य से अच्छा नहीं होता । लोकमान्य तिलक, विपिन चन्द्रपाल, अरविन्द घोष और स्वामी विवेकानन्द ने भारत की प्राचीन सभ्यता का गौरव बताया । ये सब नेता पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति को भारतीय सभ्यता से अधिक अच्छी नहीं समझते थे । लाला लाजपतराय कट्टर आर्यसमाजी थे और वैदिक धर्म को सर्वोच्च बताते थे । लोकमान्य तिलक ने गणेश उत्सव और छत्रपति शिवाजी के कार्यों का प्रचार करके सरकार के विरुद्ध आन्दोलन को प्रोत्साहन दिया । विपिन चन्द्रपाल ने काली और दुर्गा के नाम से संघर्ष करने की ठानी ।[2]

(५) सरकार की दमनकारी नीति का परिणाम—सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि प्रतिक्रियावादी शासक महान् सार्वजनिक आन्दोलनों को उत्पन्न करते हैं । वे इस आरोप को स्वीकार नहीं करेंगे और न इन कृतज्ञता को मानेंगे परन्तु वे ऐसा बीजारोपण करेंगे जिसके कारण ठीक समय पर जनमत और लोकप्रिय ध्येयों की विजय होगी ।[3] यह कथन उन्नीसवीं शताब्दी में

१. आर० एन० अग्रवाल : नेशनल मूवमेंट एण्ड कान्स्टीट्यूशनल डेवलपमेंट आफ इण्डिया, पृष्ठ ५०—५१ ।
२. वही, पृष्ठ ५० ।
३. ए नेशन इन मेकिंग, पृष्ठ ४४ ।

भारत के तीनों अन्तिम महाराज्यपालों के लिये अच्छी तरह लागू होता है। दुर्भाग्यवश ये तीनों महाराज्यपाल ऐसे थे जिन्हें भारतीय भावनाओं से जरा सी भी सहानुभूति नहीं थी। लार्ड लैंसडाउन (१८८८-१८९४) ने शिमला में अपनी व्यवस्थापिका परिषद् की एक ही बैठक में जिसमें एक भी निर्वाचित भारतीय सदस्य उपस्थित नहीं था, एक कानून पास किया जिसके द्वारा भारतीय टकसालों में चाँदी के स्वतन्त्र सिक्के बनने बन्द हो गये। इसके कारण चलार्थ (currency) कठिनाइयाँ प्रारम्भ हो गई।[1] श्री गोखले ने यह कहा कि लार्ड लैंसडाउन की शिक्षा, स्थानीय शासन और प्रशासनिक सेवा की नीति देश के हित में नहीं थी। १८९४ में सरकार ने लंकाशायर के मिल मालिकों को खुश करने के लिए बाहर से आने वाली रुई पर ३½% ड्यूटी कम कर दी और देशी सामान पर ड्यूटी लगा दी। लार्ड एलगिन (१८९४-१८९८) के कार्यकाल में नौकरशाही ने बड़ा अत्याचार किया और कठोर नीति अपनाई। १८९६ में लार्ड एलगिन जबलपुर गये जबकि वहाँ पर बुरी तरह अकाल पड़ रहा था और लोग 'मक्खियों की तरह मर रहे थे।' उसने जबलपुर पहुँचने पर मध्यप्रान्त की खुशहाली पर वहाँ की जनता को बधाई दी जबकि वे अकाल से पीड़ित थे। उसकी सरकार ने १८९५ और १८९७ के सैनिक कार्यों में बहुत रुपया खर्च किया, जबकि इन कार्यों से देश का कोई सम्बन्ध नहीं था। उसने जनता को दबाने के लिए बहुत से कानून पास किये। उसने कानून फौजदारी में भी परिवर्तन करने के प्रयत्न किये और जनता के अधिकारों को छीनने की भी कोशिश की। उसने एक पोस्ट आफिस अधिनियम भी पास कराया जिसके आधार पर डाक द्वारा आने-जाने वाले पत्रों पर रुकावट लग सकती थी। लार्ड एलगिन ने श्री आनन्द चारलू के सामने यह स्वीकार किया कि वे भारत के विषय में कुछ नहीं जानते थे और यदि वे अपने सलाहकारों की सहायता से कार्य न करते तो वे बेवकूफ साबित होते।[2] नाटू बन्धुओं की हिरासत और तिलक के विरुद्ध अभियोग लगाने से यह स्पष्ट हो गया कि सरकार ने देश का वातावरण दूषित कर दिया। बम्बई सरकार ने इसमें अधिक भाग लिया। उसने देश में एक बनावटी षडयन्त्र का वातावरण स्थापित किया। सरकार चित्तपावन ब्राह्मणों को सदेह की दृष्टि से देखती थी। क्योंकि वे शिवाजी और पेशवाओं की प्रशंसा करते थे। चिरोल ने अंग्रेजी अधिकारियों की हत्या के लिये चित्तपावन ब्राह्मणों को ही उत्तरदायी ठहराया। तिलक भी चित्तपावन ब्राह्मण थे। अंग्रेजों के विरुद्ध असन्तोष फैलाने वाले नेताओं में उसने तिलक को ही मुख्य व भयानक नेता ठहराया। उसने तिलक को भारतीय असन्तोष का पिता कहा है।[3] श्री आर० सी० दत्त ने कांग्रेस के १८९८ के अधिवेशन में कहा कि भारत की जनता का विश्वास अंग्रेजी शासकों के न्याय और ईमानदारी में

१. सर सी० वाई चिन्तामणि : इंडियन पॉलिटिक्स सिन्स दी म्यूटेनी, पृष्ठ ४८।

२. वही पृष्ठ ५०।

३. सर वैलन्टाइन चिरोल : इंडियन अनरेस्ट, पृष्ठ ४०-४१।

पिछले दो सालो मे जितना कम हो गया है उतना कभी नही हुआ था। १८९६ मे रुड़की के इंजीनियरिंग कॉलिज मे एशिया के असली निवासियों को प्रवेश बन्द हो गया, जबकि विशुद्ध निवासियों को प्रवेश मिल सकता था। आनन्द मोहन बोस ने व्यंग करते हुये कहा है कि भारत सरकार जारजावस्था को प्रोत्साहन देती है।[1]

लार्ड कर्जन सात साल तक भारत के महाराज्यपाल रहे। अपने कार्य काल मे उन्होंने अधिक से अधिक क्रूर व्यवहार करने का प्रयत्न किया। उनके दूषित शासन के कारण देश मे एक तूफान सा उमड़ आया। उनकी वास्तविक इच्छा काँग्रेस को चुपचाप अन्त करने की थी।[2] लार्ड लिटन ने अपनी क्रूर नीति के कारण राष्ट्रीय जागृति को प्रोत्साहन दिया। इसी प्रकार लार्ड कर्जन ने अपनी क्रूर नीति के कारण भारतीय राजनीति मे उग्रगामी दल को जन्म दिया। एम० वी० रमनराव लिखते हैं कि लार्ड कर्जन की क्रूर नीति के कारण कांग्रेस सुदृढ और राष्ट्रीय संस्था बन गई, इसमे आन्दोलन करने की शक्ति आ गई। २० साल से कांग्रेस को इतना प्रोत्साहन नही मिला था जितना कि लार्ड कर्जन की क्रूर नीति से मिला। काँग्रेस की प्रतिष्ठा और शक्ति उसके संस्थापकों की आशा भी अधिक बढ गई। उसने जनता को दबाने के लिए बहुत से अधिनियम पास कराये। उसके 'आफिशियल सीक्रेट्स बिल' के अनुसार अभियुक्त को स्वयं ही यह प्रमाणित करना पडता था कि उसने जुर्म नही किया। यह अन्य शास्त्रों के सिद्धान्तो के विरुद्ध था। कांग्रेस ने इस अधिनियम को पाशविक बताया। नम्र विचारों वाले काँग्रेसी नेता श्री गोखले ने भी इस अधिनियम की बडी निन्दा की। उसने १९०४ का भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम पास कराया जिसके कारण उच्च शिक्षा के केन्द्रों मे सरकार का नियन्त्रण बढ गया। कांग्रेस के बीसवें अधिवेशन मे बोलते हुए सर हरीसिंह गौड ने कहा कि विश्वविद्यालय अधिनियम ने शिक्षा के द्वार ऐसे सोने के तालो से बन्द किए हैं जो सोने की चाबियों से ही खुल सकते थे। इस अधिनियम से शिक्षा धनिक वर्ग के लिए ही हो गई, निर्धन शिक्षा प्राप्त नही कर सकते थे।[3] लार्ड कर्जन के कलकत्ता कारपोरेशन ऐक्ट ने जनता के अधिकार कम कर दिये। उसके इन सब कार्यों से जनता का विश्वास सरकार मे खो गया। १९०५ मे कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षान्त भाषण द्वारा उसने भारतीय जनता को क्रोधित कर दिया। लार्ड कर्जन ने कहा कि भारतवासी सच्चाई को कोई महत्व नहीं देते और सच बोलना भारतवासियों का आदर्श कभी नहीं रहा। लार्ड कर्जन १८९८ के अन्त मे आये थे और १९०५ के अन्त मे वापिस चले गये। लार्ड कर्जन ने अचानक रात मे चोर की तरह भारत छोड़ा तो देश के कोने-कोने मे असन्तोष छाया हुआ था।[4] १९०५ मे श्री गोपाल कृष्ण गोखले ने

१. बेनी बेसेन्ट : हाउ इण्डिया रौट फार फ्रीडम, पृष्ठ २७२।

२. डी० पी० एम० रघुवंशी : इण्डियन नेशनलिस्ट मूवमेंट एण्ड थट, पृष्ठ ७९–८०।

३. हाउ इण्डिया राटफॉर फ्रीडम, पृष्ठ ३९९।

४. इण्डियन पालिटिक्स सिन्स दी म्यूटेनी, पृष्ठ ५५।

कांग्रेस के बनारस अधिवेशन में बोलते हुए कहा कि प्रत्येक वस्तु का अन्त होना है और इसी तरह लार्ड कर्जन के कार्य-काल का भी अन्त हो गया। हम उसके शासन काल की तुलना औरंगजेब के शासन से कर सकते हैं। उनका विश्वास था कि लार्ड कर्जन का बड़े से बड़े बड़ा अनुयायी भी इस बात को स्वीकार नहीं कर सकता कि कर्जन के शासन ने अंग्रेजी राज्य की जड़ दृढ़ बनाई।[1] स्वयं लार्ड मॉर्ले ने १९०६ में इस बात को स्वीकार किया था कि भारत में लार्ड कर्जन का कार्य-काल असफल रहा।

(६) बंग विच्छेद—भारत में उग्रगामी दल के उत्पन्न होने का एक महत्वपूर्ण कारण बंग विच्छेद भी है। लार्ड कर्जन एक कट्टर साम्राज्यवादी था। वह यह जानता था कि ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध पढ़े लिखे हिन्दू बंगालियों ने अधिक भाग लिया है। जनसंख्या के अनुसार बंगाल उस समय सबसे बड़ा प्रान्त था। उसने कहा कि प्रान्त बहुत बड़ा है इसलिए शासन में असुविधा होती है। यह बहाना लेकर उस ने प्रान्त के दो टुकड़े करने चाहे। उसका ध्येय बंगाल के हिन्दुओं की राजनैतिक शक्ति को कम करना था। जनता को जब उसके सुभाव का पता चला तो उन्होंने उसका विरोध किया। जनता का विचार था कि भारत सचिव इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करेंगे। परन्तु २० जुलाई १९०५ को बंगाल के दो टुकड़े हो गये और पूर्वी बंगाल को एक नया प्रान्त बना दिया गया। पूर्वी बंगाल के प्रथम उप-राज्यपाल सर बैमफाईल्ड फुलर प्रत्यक्ष रूप से मुसलमानों का पक्षपात और हिन्दुओं का अपमान करने लगे, हिन्दुओं के साथ दुर्व्यवहार भी होने लगा। बंगालियों ने बंग विच्छेद का कड़ा विरोध किया। अकेले बंगाल प्रान्त में इसके विरुद्ध ५०० सार्वजनिक सभायें की गईं। ब्रिटिश पार्लियामेंट को ७ हजार हस्ताक्षर सहित एक आवेदन पत्र भी भेजा गया जो बेकार रहा। बंग विच्छेद ने आग में घी का काम किया।[2] यह एक क्रूर वज्रपात (great thunderbolt) था।[3] सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा कि चकित जनता के ऊपर बंग विच्छेद एक बम्ब के गोले के समान था। बंगाल की जनता ने यह अनुभव किया कि उनका अपमान किया गया है, उन्हें धोखा दिया गया है, उन्हें नीचा दिखाया गया है। उनका भविष्य खतरे में पड़ गया है। बंगाली जनता की एकता और जागृति को जानबूझ कर नष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।[4] श्री गोखले जो ब्रिटिश साम्राज्य के पक्ष में थे और नम्र विचार वाले थे उनको भी यह कहना पड़ा कि १०० वर्षों के बाद भी बंग विच्छेद जैसी घटना हो सकती है इससे बड़ी ब्रिटिश साम्राज्य की कोई निन्दा कि जा सकती।

बंग विच्छेद का कार्य प्रत्यक्ष रूप से धोखेबाजी का था (manifestly

१. ए० सी० बनर्जी : इंडियन कॉन्सटीट्यूशन डोक्यूमेंट्स भाग २, पृष्ठ २०० ।
२. बी० बी० एम० रघुवंशी : इंडियन नेशनलिस्ट मूवमेंट एण्ड थॉट, पृष्ठ ८० ।
३. एच० सी० ई० जकरियास : रिनैसेन्ट इंडिया, पृष्ठ १२६ ।
४. ए नेशन इन मेकिंग पृष्ठ १८७ ।

Machiavellian) इसका ध्येय बंगाली जाति की एकता को छिन्न भिन्न करना था। और उनकी राजधानी कलकत्ते के प्रभाव को कम करना था। इसका अभिप्राय पूर्वी बंगाल के मुसलमानों और वहाँ के बाकी भाग के हिन्दुओं में आपस में ईर्ष्या पैदा करना था। यह अचम्भे की बात नहीं कि देश के प्रत्येक कोने में इसके विरुद्ध आवाज उठनी आरम्भ हो गई।[1] लार्ड कर्जन ने कहा कि कुछ थोड़े बहुत स्वार्थी मनुष्य ही उसकी योजना के विरुद्ध हैं। सत्य तो यह था कि लार्ड कर्जन बुरी तरह बंग विच्छेद की योजना को कार्यान्वित करना चाहता था। बंग विच्छेद की योजना के कार्यान्वित होने से पहले ही लार्ड किचनर से झगड़ा होने के कारण उसने त्यागपत्र दे दिया था, परन्तु भारत छोड़ने से पहले उन्होंने अपनी योजना को काम में लाने का दृढ़ निश्चय कर लिया। लोवेट फ्रेजर के इस वक्तव्य में, कि बंग विच्छेद जान बूझकर नहीं किया गया था, परन्तु यह कर्जन के कार्यकाल की एक आकस्मिक घटना थी, कोई सत्य नहीं है।[2] बंग विच्छेद सरकारी तौर से २० जुलाई १९०५ को घोषित किया गया। अक्टूबर १६ को यह योजना कार्यान्वित कर दी गई और १८ नवम्बर को लार्ड कर्जन ने भारत छोड़ दिया। बंग विच्छेद से क्रोधित होकर भारतीयों ने अंग्रेजी कपड़े का बहिष्कार आन्दोलन प्रारम्भ किया और स्वदेशी कपड़े का प्रचार किया। इन दोनों आन्दोलनों के द्वारा जनता ने सरकार पर दबाव रखना प्रारम्भ कर दिया। बंग विच्छेद से उत्पन्न हुई स्थिति के कारण देश में एक नये राष्ट्रवाद का बीजारोपण हुआ जो अन्त में उग्रगामी आन्दोलन के रूप में देश में फैला। कांग्रेस ने गोखले और लाला लाजपतराय को एक शिष्ट मण्डल के रूप में इंगलैण्ड भेजा। उनको भेजने का ध्येय ब्रिटिश सरकार से यह प्रार्थना करना था कि वह बंग विच्छेद को वापिस ले ले परन्तु वे विफल रहे। लार्ड मॉर्ले ने बंग विच्छेद को एक निश्चित विषय (a settled fact) बताया। इनको सरकार के इस व्यवहार से निराश हुई। श्री गोखले ने वापिस आने पर विदेशी माल के बहिष्कार का समर्थन किया और बनारस के कांग्रेस अधिवेशन में कर्जन के शासन की निन्दा की और औरंगजेब से उसकी तुलना की। लाला लाजपतराय ने कहा कि भारतवासियों को अपने आप को फकीर नहीं समझना चाहिए तथा दूसरों के सामने हाथ नहीं पसारना चाहिए। यदि हमें वास्तव में देश का ध्यान है तो हम स्वतन्त्रता के लिए संग्राम आरम्भ कर देना चाहिए। इस प्रकार भारतीय राजनीति में नया परिवर्तन हो गया[3] और कांग्रेस की वर्तमान भिखारीपन की नीति (policy of Mendicancy) का अन्त कर दिया गया। *नरम दल वालों की नीति सरकार से याचना करना और प्रार्थना पत्र भेजने की थी।* इस नीति को १९०१ में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में नाटोर के महाराजा ने राजनैतिक भिक्षागीरन की नीति कहा था। इस नीति के अन्त हो

१. ए० सी० ई० जकरियास : रिनेसेंट इण्डिया, पृष्ठ १४१।
२. लोवट फ्रेजर : इण्डिया अन्डर कर्जन एण्ड आफ्टर, पृष्ठ ३[illegible]।
३. ए० सी० ई० जकरियास : रिनेसेंट इण्डिया, पृष्ठ १८४।

जाने पर उग्रगामी दल जोर पकड़ जाता है और तिलक सरीखे नेता जनता में लोकप्रिय बन जाते हैं।

(७) एशिया की यूरोप पर विजय—१९वीं शताब्दी के अन्त में और २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में दो ऐसी घटनायें घटीं जिनके कारण एशिया के देशों में स्वतन्त्रता के आन्दोलनों को प्रोत्साहन मिला। १८९४ में एबीसीनिया ने इटली को हरा दिया, १९०४-५ के रूसी और जापानी युद्ध में जापान की विजय और रूस की हार हुई। इन दोनों घटनाओं का एशिया की जनता पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्हें अब यह मालूम हो गया कि यूरोप के राष्ट्र अजेय नहीं कि सर्वदा उनकी ही विजय हो। एक सगठित एशियाई राष्ट्र भी यूरोप के बड़े से बड़े राष्ट्र को हरा सकता है। जापान की सम्मानपूर्ण विजय ने केप कमोरिन से हिमालय पहाड़ तक एक जोश पैदा कर दिया और पूर्व और पश्चिम के राजनैतिक सम्बन्धों में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गया।[1]

(८) दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार—दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने वहाँ पर बसे हुए भारतीयों से साथ बड़ा बुरा व्यवहार किया। १८९४ में नैटाल में भारतीयों का मताधिकार छीन लिया गया। ट्रान्सवाल गणतन्त्र में भारतवासियों को कुछ विशेष स्थानों में बन्द कर दिया गया और उन स्थानों के अलावा वे फुटपाथ पर भी चल सकते थे। वे स्वतन्त्रता के साथ न तो मकान बना सकते थे, न सम्पत्ति खरीद सकते थे और न होटलों, अस्पतालों और स्कूलों में सरलता के साथ प्रवेश पा सकते थे। वे रेल के प्रथम श्रेणी के डिब्बे में यूरोपियनों के साथ यात्रा नहीं कर सकते थे। उनको दक्षिण अफ्रीका में रहने के लिये अपना नाम रजिस्टर कराना पड़ता था। इस प्रकार की बहुत सी सुविधाओं का सामना उन्हें करना पड़ता था। जब गांधी जी वहाँ पर वकालत के काम से गये और इन असुविधाओं को स्वयं देखा तो उन्होंने इनका विरोध करने का निश्चय कर लिया। भारतीय कांग्रेस ने सबसे पहले १८९४ के मद्रास अधिवेशन में इस समस्या पर विचार किया। १८९६ में भारतीयों की अवस्था ऐसी शोचनीय हो गई कि महात्मा गांधी को भारत आना पड़ा जिससे कि वे यहाँ की जनता के सामने वहाँ के भारतीयों के दुःख को रख सकें। पांच साल बाद वे इसी समस्या को सुलझाने के लिये फिर से भारत आये। भारतीय सरकार का रुख इस विषय में अधिक सन्तोषजनक नहीं रहा। इस बात को जानकर यहाँ की जनता को बड़ी निराशा हुई। वे यह सोचने लगे कि भारत की गुलामी के कारण ही हमारे देश के मनुष्यों के साथ दक्षिण अफ्रीका में दुर्व्यवहार हो रहा है। इस कारण यहाँ के राजनीतिज्ञ सरकार के विरुद्ध बड़ा कदम उठाने की सोचने लगे। स्वयं वैलन्टाइन चिरोल ने भी इस बात को स्वीकार किया था कि दक्षिण अफ्रीका में रहने वाले भारतवासियों के साथ होने वाले व्यवहार के कारण और ब्रिटिश उपनिवेशों में एशिया से गये हुए मनुष्यों

१. एच० सी० ई० जकरियास : रिनैसेन्ट इंडिया, पृष्ठ १३६।

के साथ व्यवहार ने भारत और भारत सरकार के बीच बहुत ही खराब सम्बन्ध स्थापित कर दिये है।

(६) भारतीयों की शोचनीय आर्थिक दशा—श्रीमती ऐनी बेसेन्ट ने १६१५ में कहा कि ब्रिटिश सरकार को यहाँ के शिक्षित वर्ग के असन्तोष की अपेक्षा जनता की खराब आर्थिक दशा से अधिक भय है। १६वी शताब्दी के अन्त मे भारत में निचले मध्यम वर्ग की अवस्था बडी शोचनीय थी, उनमे बेकारी थी। अकाल, महामारी और भूचालो ने मध्यम वर्ग की अवस्था और दयनीय कर दी इससे उनमे अधिक असन्तोष फैल गया। जनता ने भारत सरकार को ही दोषी ठहराया कि उनकी अवस्था सरकार के कार्यों के कारण ही खराब है। दादा भाई नौरोजी और रमेशचन्द्र दत्त ने भारत की आर्थिक अवस्था पर बडी-बडी पुस्तकें लिखी, जिनके कारण "राष्ट्रीय विचारधाराओ को एक क्रान्तिकारी रूप मिला।" बगाल के मध्यम वर्ग में सबसे अधिक बेकारी थी और इसी कारण उनकी राजनैतिक जागृति ने उग्र रूप धारण कर लिया।

कांग्रेस मे अग्रगामी दल का जन्म—ऊपर लिखी परिस्थितियों के कारण धीरे-धीरे कांग्रेस मे एक अग्रगामी दल पैदा हो गया। कांग्रेस मे सबसे पहले १६०६ में इस दल की आवाज सुनाई दी। विपिन चन्द्र पाल जो १८८७ मे मद्रास मे कांग्रेस मे सम्मिलित हुए उन्होंने न्यू इण्डिया नामक साप्ताहिक पत्र में सवैधानिक आन्दोलन की विधि की निन्दा करनी आरम्भ कर दी। नटौर के महाराजा जो १६०१ की कलकत्ता कांग्रेस की स्वागत समिति के अध्यक्ष थे, उन्होने इस विधि को राजनैतिक भिखारीपन कहा। श्री ए० चौधरी ने १६०४ मे बर्दवान के राजनैतिक सम्मेलन मे कहा कि गुलाम देश की कोई राजनीति नही होती। इसी समय बग विच्छेद की अफवाहे जनता तक पहुँचने लगी। इन खबरो को सुनकर जनता उत्तेजित हो गई। बगाल की जनता ने ब्रिटिश सामान के बहिष्कार की विधि का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया। इसी के कारण कांग्रेस के सदस्यो मे मतभेद होना आरम्भ हो गया। यह मतभेद सबसे पहले बनारस के अधिवेशन मे हुआ। १६०५ के अधिवेशन में विषय समिति में एक प्रस्ताव नरम दल वालो की ओर से रखा गया कि १६०६ मे प्रिन्स ऑफ वेल्स व महारानी वेल्स का स्वागत किया जाय। उग्रगामी दल वालो ने इसका विरोध किया। गोखले, आर० सी० दत्त और सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया। कुछ वाद-विवाद के बाद समझौते का प्रस्ताव पास हो गया। बगाल के प्रतिनिधियों ने इस प्रस्ताव पर मतदान मे भाग नहीं लिया। गोखले ने अपने अध्यक्षात्मक भाषण मे सरकार की नीति की निन्दा की और बग विच्छेद को घृणास्पद अधिनियम बताया तथा स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन किया। लोकमान्य तिलक इस अधिवेशन मे निष्क्रिय विरोध (passive resistance) आन्दोलन के पक्ष मे एक प्रस्ताव पेश करना चाहते थे परन्तु उन्हे ऐसा करने की स्वीकृति नहीं मिली। इसके कारण कांग्रेस के प्रतिनिधियो मे बडा भेद हो गया। १६०६ की कलकत्ता कांग्रेस मे स्थिति और भी खराब हो गई। भारत सचिव ने यह घोषणा

की कि बग विच्छेद एक निश्चित विषय है, इस निर्णय मे परिवर्तन नही हो सकता। इस घोषणा से स्थिति और खराब हो गई। बारीसल के बगाल प्रान्तीय राजनैतिक सम्मेलन को पुलिस ने नही होने दिया। पुलिस ने उपराज्यपाल के आदेशानुसार ऐसा किया। उग्रगामी दल के समर्थक तिलक को कलकत्ता अधिवेशन का सभापति बनाना चाहते थे। नरम दल वालो ने इस सुझाव का विरोध किया। आपस मे सम्बन्ध खराब होने के कारण ऐसा प्रतीत होने लगा कि कलकत्ता मे काग्रेस के अधिवेशन को सफल बनाने का एक ही उपाय है कि इगलैड से दादा भाई नौरोजी को बुला लिया जाय और उन्हे काग्रेस का सभापति बना दिया जाय। वे इस समय ८१ वर्ष के थे ऐसाही किया गया। उनकी अध्यक्षता मे अधिवेशन हुआ। दादा भाई नौरोजी दुर्बल होने के कारण अपना भाषण न पढ सके इसलिये गोखले ने उनका भाषण पढा। विषय समिति मे बहुत विघ्न हुआ और अधिवेशन मे आपस मे काफी विरोध रहा। वृद्ध नेताओ के साथ बडा अनुचित व्यवहार किया गया। असहनशीलता का बोलबाला था। वृद्ध नेताओ को ठीक से बोलने नही दिया गया। वे जबर्दस्ती बोलते रहे परन्तु कुछ लोगो ने उन्हे ध्यान से नही सुना।[1] दादा भाई नौरोजी की उपस्थिति के कारण ही अधिवेशन का कार्य हो सका। उग्रगामी दल की कुछ हद तक विजय हुई। अधिवेशन मे बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा, स्वदेशी और स्वराज्य के समर्थन मे प्रस्ताव पास हुए। दादा भाई नौरोजी ने कहा कि "काग्रेस का उद्देश्य स्वायत सरकार, या स्वराज्य जैसा कि इगलैड या उसके उपनिवेशो मे है" लेना है। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने दादा भाई नौरोजी के भाषण को भारत का राजनैतिक धर्मग्रन्थ बताया। स्वराज्य का शब्द सबसे पहली बार अधिकारवशात् इसी अवसर पर लिया गया। यद्यपि तिलक ने १८९० के आस पास इस शब्द का उपयोग किया था यह तब प्रचलित नहीं हुआ था। इस अधिवेशन के समय से स्वराज्य और स्वदेशी दो ऐसे विषय बन गये कि जिनको ध्येय बनाकर काग्रेस ने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया। इस अधिवेशन मे गोखले और तिलक का मतभेद और अधिक बढ गया। इसी अधिवेशन मे अरविन्द घोष ने काग्रेस मे भाग लिया। घुडसवारी मे असफल रहने के कारण वे भारतीय असैनिक सेवा मे प्रवेश नही पा सके थे। १९०६ मे वे एक राष्ट्रीय पत्र 'बन्दे मातरम्' के सम्पादक बने और उग्रगामी विचारो का समर्थन आरम्भ कर दिया। इस पत्र मे उन्होने लिखा कि राष्ट्रीय हितो की पूर्ति दो उपायो द्वारा हो सकती है—अपनी सहायता स्वय करें और निष्क्रिय विरोध (passive resistance) करे।[2]

**१९०७ की सूरत काग्रेस**—१९०७ का वर्ष देश मे मुसीबत लाया।[3] इस वर्ष काग्रेस के दो टुकडे हो गये। उग्रगामी दल ने काग्रेस को छोड दिया। श्रीमती

---

१. सर सी० वाई० चिन्तामणि : इण्डियन पालिटिक्स सिन्स दी म्यूटेनी, पृष्ठ ८४–८५।
२. एच० सी० ई० जकरियास : रिनेसेन्ट इण्डिया, पृष्ठ १४७।
३. सी० वाई० चिन्तामणि : इण्डियन पॉलीटिक्स सिन्स दी म्यूटेनी, पृष्ठ ८५।

ऐसी घेमेन्ट इसे कांग्रेस के इतिहास में सबसे दुःखद घटना कहती है।[1] कलकत्ता कांग्रेस ने १९०७ का अधिवेशन नागपुर में करना तय किया था। परन्तु उग्रगामी दल के नेताओं को मध्य प्रान्त ठीक नहीं लगा और अन्त में सूरत में अधिवेशन करना तय किया गया। १६०० प्रतिनिधि और ५,००० दर्शक इस अधिवेशन में उपस्थित थे। कलकत्ता कांग्रेस में बनाये गए संविधान के अनुसार डा० रास बिहारी घोष को अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। उग्रगामी दल के समर्थकों ने लाला लाजपतराय को अध्यक्ष चुनने का सुझाव रखा। यह झगड़े की पहली जड़ थी। लाजपतराय देश निकाले की सजा से हाल ही में छूटकर आए थे। सरकार ने लाला लाजपतराय के साथ दुर्व्यवहार किया था। उग्रगामी प्रतिवाद के रूप में उनको अध्यक्ष चुनना चाहते थे। परन्तु लाला लाजपतराय ने अध्यक्ष पद के लिये उम्मीदवार होना स्वीकार नहीं किया। फिर यह अफवाह फैल गई कि कलकत्ता कांग्रेस में पास हुए बहिष्कार, स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षा और स्वराज्य के प्रस्ताव विषय समिति के समक्ष नहीं रखे जायेंगे। इससे भीड़ में उत्तेजना फैल गई। कांग्रेस का अधिवेशन २६ दिसम्बर १९०७ को हुआ, निर्वाचित सभापति का सम्मान हुआ, परन्तु कुछ आवाजें विरोध की भी आयीं। अम्बालाल देसाई ने डा० घोष का नाम प्रस्तावित किया। कुछ लोगों ने 'नहीं नहीं' के नारे लगाए। जब सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने उनके नाम का समर्थन किया तो शोर हुआ। बैठक के सभापति ने बैठक को अगले रोज के लिए स्थगित कर दिया और यह आशा की गई कि झगड़ा शान्त हो जायेगा। कांग्रेस का अधिवेशन २७ दिसम्बर को फिर हुआ। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने अपना भाषण समाप्त किया प० मोतीलाल नेहरू ने उनका समर्थन किया। वे अध्यक्ष चुने गए और अपना स्थान ग्रहण किया। इस समय तिलक प्लेटफार्म पर आए और उन्होंने अध्यक्ष के चुनाव के विषय में एक संशोधन रखना चाहा। अध्यक्ष ने उन्हें यह प्रस्ताव नहीं रखने दिया। इस पर प्लेटफार्म पर कुर्सियें चलने लगीं और एक भारी जूता सर फिरोजशाह मेहता और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी पर फेंका गया वह उनके लग भी गया। अध्यक्ष ने बैठक स्थगित कर दी और पुलिस ने बैठक के हाल को खाली करा दिया। यह घटना कांग्रेस के यशस्वी इतिहास में एक दुःखद पृष्ठ है।[2] दूसरे दिन १६०० प्रतिनिधियों में से ९०० ने सम्मेलन (Convention) बुलाया और डा० रास बिहारी घोष को इस सम्मेलन का सर्वसम्मति से अध्यक्ष चुना गया। इस सम्मेलन में १०० मनुष्यों की एक समिति चुनी गयी जो कांग्रेस का संविधान तैयार करने के लिए बुलाई गई थी। जो मनुष्य इस संविधान को मानते थे वे ही प्रतिनिधि चुने जा सकते थे। इस समिति की बैठक इलाहाबाद में १८ व १९ अप्रैल १९०८ को हुई और कांग्रेस का संविधान तैयार किया गया। इस संविधान का पहला अनुच्छेद इस प्रकार है: कांग्रेस का ध्येय भारतवासियों को स्वायत्त सरकार

१. डान इंडिया स्टैंड फार फ्रीडम, पृष्ठ ४६५।
२. वही, पृष्ठ ४६८।

दिलाने का है जैसी सरकार ब्रिटिश साम्राज्य के स्वशासित देशों में है, दूसरे देशों की तरह भारतीयों को साम्राज्य में समान अधिकार और उत्तरदायित्व मिलना चाहिये। कांग्रेस इन ध्येयों की पूर्ति संवैधानिक विधियों से करेगा। ये ध्येय वर्तमान शासन पद्धति में सुधार करके, राष्ट्रीय एकता को बढ़ाकर, सार्वजनिक हितों को बढ़ाकर और देश के मानसिक, नैतिक, आर्थिक और औद्योगिक साधनों का विकास और संगठन करके ही सम्भव है।" अन्त में यह ही कांग्रेस का मुख्य सिद्धान्त "बन गया।"

नये संविधान के अन्तर्गत पहली कांग्रेस मद्रास में हुई और जो मनुष्य इन सिद्धान्तों को मानते थे वे ही कांग्रेस में शामिल होते रहे। १९१५ में सर सत्येन्द्र प्रसन्न सिंह कांग्रेस के अध्यक्ष बने और उन्होंने कांग्रेस का ध्येय जनता की, जनता के लिए और जनता द्वारा सरकार बताया। इसी बीच नये और पुराने दलों में मतभेद रहा। नया उग्रगामी दल कांग्रेस में सम्मिलित नहीं हुआ, वह कांग्रेस से अलग रहा। कांग्रेस के अधिवेशनों में जनता की रुचि कम हो गई और जनता उग्रगामी दलों के नेताओं में अधिक विश्वास रखने लगी।

**उग्रगामी दल के सिद्धान्त**—इस दल के समर्थक उग्र विचारों वाले थे। वे नरम दल की नीति में विश्वास नहीं रखते थे। वे सरकार में छोटे-छोटे सुधार करने के पक्षपाती नहीं थे। वे सरकार में परिवर्तन चाहते थे। वे सरकार की बागडोर भारतीयों के हाथ में सौंपना चाहते थे। वे तिलक के शब्दों—कि 'स्वराज्य मेरा जन्माधिकार है और मुझे इसे प्राप्त करना चाहिये' में विश्वास रखते थे। उनका विश्वास था कि सरकारी कामों में थोड़ा-थोड़ा हाथ बटाने से देश का कल्याण नहीं हो सकता। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि पहले देश स्वतन्त्र हो तभी उसकी आर्थिक, सामाजिक और नैतिक उन्नति हो सकती है इसीलिए उन्होंने स्वराज्य प्राप्ति पर अधिक जोर दिया। उग्रगामी दल के नेता ब्रिटिश न्याय और सज्जनता के पुजारी नहीं थे। वे जानते थे कि ब्रिटिश राज्य भारत में शक्ति पर आधारित है और शक्ति द्वारा ही प्राप्त किया गया है। इसीलिए अंग्रेज भारत को खुशी से नहीं छोड़ेंगे। वे ब्रिटेन से स्थायी सम्बन्ध रखने में विश्वास नहीं करते थे और न ब्रिटिश राजमुकुट के प्रति भक्ति रखते थे। वे जल्दी से जल्दी ब्रिटेन से सम्बन्ध विच्छेद करने के पक्ष में थे। इस विषय में नये और पुराने दलों के बीच जमीन आसमान का अन्तर था। विपिन चन्द्रपाल ने कहा "नरम दल वाले अंग्रेजों से सम्बन्ध विच्छेद किए बिना भारत सरकार को लोकप्रिय बनाना चाहते हैं। हम अंग्रेजों से सम्बन्ध नहीं रखना चाहते और भारत में स्वतन्त्र सरकार चाहते हैं।"[1] उग्रगामी दल के अधिकतर नेता पाश्चात्य सभ्यता के विरोधी थे, वे भारतीय सभ्यता की उत्तमता में विश्वास रखते थे। वे पश्चिमी विचारों की नकल नहीं करना चाहते थे। अरविन्द घोष का कहना था

१. रिनेसेन्ट इण्डिया, पृष्ठ १५० ।

"कि हमारे सब आन्दोलनों का ध्येय स्वतन्त्रता है और हिन्दू धर्म के द्वारा ही हमारी अभिलाषा पूरी हो सकती है।" उन्होंने आगे कहा "राष्ट्रीयता ईश्वर के द्वारा भेजा हुआ एक धर्म है। ईश्वर की न तो हत्या की जा सकती है और न उसे जेल भेजा जा सकता।"[1] उग्रगामी दल के नेता सवैधानिक विधियों में विश्वास नहीं रखते थे। वे भिखारीपन की नीति के विरोधी थे। उनके विचार में सरकार प्रार्थना-पत्रों और अपीलों से सन्तुष्ट होने वाली नहीं थी। वे सरकार का विरोध करना चाहते थे और उसे उखाड़ना चाहते थे। वे जनता में जागृति लाकर सरकार को अप्रिय बनाना चाहते थे, वे प्रत्यक्ष कार्य के पक्ष में थे। वे व्यापार को हटाकर और सरकार के रास्ते में रोड़ा अटकाकर इगलैंड और नौकरशाही पर दबाव डालना चाहते थे। वे सरकार को कार्य करने से रोकना चाहते थे। तिलक अपने समर्थकों से कहा करते थे "तुम्हारी क्रान्ति रक्तहीन होनी चाहिए। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि आपको कष्ट न उठाना पड़े और जेल न जाना पड़े।" तिलक यह जानते थे कि ब्रिटिश शासन का तुरन्त और पूर्णतया अन्त नहीं हो सकता, इस कारण वे चाहते थे कि देश के वर्तमान शासक आधी शासकों से मेल कर लें। वे ब्रिटिश सरकार को ऐसा करने के लिए बाध्य करना चाहते थे।[2] उग्रगामी दल के नेता साधन साध्य के चक्कर में नहीं थे। अपनी सरकार स्थापित करने के लिए सभी साधनों का प्रयोग करना चाहते थे। स्वराज्य की प्राप्ति के लिये वे अधिक नैतिकता पर जोर नहीं देते थे। भारतीय राजनीति में गांधी जी के प्रवेश करने से पहले जनता ने उन्ही के साधनों को ठीक और उचित समझा। उग्रगामी दल वाले रचनात्मक कार्यों में विश्वास रखते थे। वे देश की सामाजिक, आर्थिक और नैतिक उन्नति करना चाहते थे। वे स्वदेशी और बहिष्कार आन्दोलन को प्रोत्साहन देना चाहते थे। वे राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार करना चाहते थे और इस ध्येय की पूर्ति के लिए उन्होंने राष्ट्रीय विद्यालय खोले। वे सरकार को किसी प्रकार का सहयोग देना नहीं चाहते थे।[3]

उग्रगामी दल की भारतीय राजनीति को देन—नरम दल के नेता सरकार से प्रार्थना और अपील ही कर सकते थे। वे सरकार के सामने भारत की स्थिति को कड़ी से कड़ी भाषा में समझा सकते थे, इससे अधिक वह कुछ नहीं कर सकते थे। नरम दल के नेता प्रतिष्ठित और सच्चे व्यक्ति थे। समाज में उनका आदर था। सरकार भी उनका आदर करती थी। भारतीय परिषदों के द्वारा उन्होंने सरकारी नीति में परिवर्तन करने के प्रयत्न किए। परन्तु उनकी शक्ति नैतिकता पर आधारित थी। वे सरकार पर दबाव नहीं रख सकते थे। अनुदारवादी शासकों ने उनकी सलाह पर कार्य किया। लार्ड रिपन और लार्ड मार्ले ऐसे शासक थे। परन्तु लार्ड

---

१. हिन्दोस्तान टाइम्स इण्डिया, पृष्ठ १४६।

२. वही, पृष्ठ १५१।

३. आर० एन० अग्रवाल : नेशनल मूवमेंट एण्ड कान्स्टीट्यूशनल डवलपमेंट ऑफ इण्डिया, पृष्ठ ५७।

कर्जन सरीखे शासकों पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। क्रूर शासन का विरोध करने के लिए उग्रगामी दल के नेता ही उपयुक्त थे। उन्होंने परेशानी उठाकर सरकार का कड़ा विरोध किया और सरकार पर दबाव रक्खा। उनके दबाव के कारण ही मिन्टो मॉर्ले सुधार हुए और बंगाल विच्छेद को भंग करना पड़ा। अब से ६५ वर्ष पहले ब्रिटिश नौकरशाही अत्याचार करने पर उतरी हुई थी और जनता के हित में अच्छी से अच्छी बात सुनने को तैयार नहीं थी। वह यह कभी भी नहीं सोच सकती थी कि अंग्रेजी शासन का भी भारत में अन्त हो सकता है। यह उग्रगामी दल के नेताओं के त्याग का ही फल था कि ब्रिटिश सरकार को समय-समय पर भारतीय मांगों को स्वीकार करना पड़ा और भारतवासियों को शक्ति हस्तान्तरित करनी पड़ी।

**आतंकवादियों और क्रांतिकारियों का भारतीय राजनीति में स्थान**—कांग्रेस के उग्रगामी दल के अलावा और भी बहुत से उग्रगामी दल थे जो सरकार का प्रत्यक्ष रूप से विरोध कर रहे थे। इनमें आतंकवादी और क्रान्तिकारी मुख्य थे। आतंकवादी व्यक्तिगत कार्यों में विश्वास रखते थे। उनका कोई राष्ट्रीय संगठन नहीं था। वे अपना कार्य व्यक्तिगत रूप से करते थे। उनका ध्येय सरकारी अफसरों में आतंक पैदा करना था जिससे कि सरकार कार्य असफल हो जाय। वे अपने ध्येय में विश्वास रखते थे और उसकी पूर्ति के लिए जिस साधन को भी काम में लिया जाय वह ही उचित था। वे बम्ब फेंकने और गोली चलाने में विश्वास रखते थे। अंग्रेजों की चुपचाप हत्या करना, सरकारी समान को नष्ट और तोड़ फोड़ करना उनके मुख्य साधन थे। आतंकवादियों की संख्या बहुत थोड़ी थी। अधिकतर वे पूर्वी बंगाल में ही सीमित थे। क्रान्तिकारियों का ध्येय संगठित ढंग से सरकार का अन्त करना था। वे हिंसात्मक क्रान्ति में विश्वास रखते थे। वे सेना में अशान्ति पैदा करके और गुरिल्ला युद्ध द्वारा सरकार को पराजित करना चाहते थे। वे विदेशों से फौजी हथियार मंगाने के पक्ष में थे। लाला हरदयाल और गदर पार्टी इसी वर्ग में सम्बन्ध रखते थे।[1] वे क्रान्ति या विद्रोह द्वारा सरकार को नष्ट करना चाहते थे। इनकी संख्या भी देश में थोड़ी ही थी। इन दोनों दलों का आरम्भ १९वीं शताब्दी के अन्त में और लार्ड मिन्टो के प्रारम्भ काल में हुआ। १९०८ से १९१७ तक इनका जोर रहा। बंग विच्छेद से इन्हें प्रोत्साहन मिला बंग विच्छेद के रद्द हो जाने के बाद इनका कार्य कुछ धीमा पड़ गया। बंगाल क्रान्तिकारियों का केन्द्र था। युगान्तर पत्र के द्वारा क्रान्ति का प्रचार किया गया और बहुत से पत्रों ने इस विधि का अनुसरण किया। अरविन्द घोष के लेखों ने बंगाली युवकों को बड़ा प्रभावित किया। बंगाल की अनुशीलन समिति द्वारा हिंसात्मक साधनों का प्रचार किया गया। अक्टूबर १९०७ में महाराज्यपाल की रेलगाड़ी को नष्ट करने का

१. आर० एन० अग्रवाल : नेशनल मूवमेंट एण्ड कान्सटीट्यूशनल डवलपमेन्ट ऑफ इन्डिया, पृष्ठ ५६।

प्रयत्न किया गया। २३ अक्तूबर को ढाका के भूतपूर्व जिला मजिस्ट्रेट पर गोली चलाई गई। ३० अप्रैल १९०८ को मुजफ्फरपुर के जज श्री किंग्स फोर्ड पर हमला किया गया। २४ जनवरी १९१० को एक पुलिस डिप्टी सुपरिन्टेन्डेंट को गोली से मार दिया गया। इसके कारण अलीपुर षडयन्त्र केस चला। १९११ में क्रान्तिकारियों द्वारा १८ जगह बम्ब फेंके गये जिनमें से १६ पूर्वी बंगाल में फेंके गये थे।[1] पंजाब में सरकार ने लाला लाजपतराय और अजीतसिंह को क्रान्तिकारी बताकर बर्मा में मांडले की जेल में भेज दिया। दिल्ली भी क्रान्तिकारियों का केन्द्र था। वहाँ पर २३ दिसम्बर १९१२ को रास बिहारी बोस ने लार्ड हार्डिंग पर गोला फेंका। महाराष्ट्र के चितपावन ब्राह्मणों ने इन कार्यों को किया। केसरी के लेखकों ने उन्हें प्रोत्साहन दिया। नासिक क्रान्तिकारियों का केन्द्र था। महाराष्ट्र में कई स्थानों पर अंग्रेजों पर हमले किये गये। अहमदाबाद में नवम्बर १९०९ में लार्ड मिन्टो की गाड़ी पर हमला किया गया। विदेशों में भी क्रान्तिकारियों ने अपना कार्य किया। विनायक दामोदर सावरकर, भाई परमानन्द, अजीतसिंह, मदनलाल धिंगरा और राजा महेन्द्र प्रताप के नाम उल्लेखनीय हैं। कैलीफोरनिया में श्री हरदयाल द्वारा गदर पार्टी स्थापित की गई जिसने विदेशों देशों में भारतीय स्वतन्त्रता के लिए पूरे प्रयत्न किये। उन्होंने जापान, जर्मनी, अफगानिस्तान और अन्य देशों की सहायता लेने के लिए प्रयत्न किये। कई कारणोंवश क्रान्तिकारी आन्दोलन विफल रहा। क्रान्तिकारियों का कोई केन्द्रीय संगठन नहीं था। उच्च वर्ग के लोगों ने आन्दोलन की सहायता नहीं की। सरकार ने आन्दोलन को दबाने के लिए कोई कसर बाकी नहीं रक्खी। नये कानूनों के द्वारा जनता में आतंक फैलाने की नीति को अपनाया गया। क्रान्तिकारी नेताओं के साथ क्रूर व्यवहार किया गया। उनमें से बहुतों को कारावास में बन्द कर दिया गया और बहुतों को फांसी पर लटका दिया गया। क्रान्तिकारी सच्चे देशभक्त थे। उनके प्रयत्न विफल होने का अर्थ यह नहीं कि उन्होंने देश के लिए कोई कार्य नहीं किया। उनके कार्यों ने सरकार के विरुद्ध असंतोष उत्पन्न किया और सरकार को विवश होकर शीघ्रता से सुधार करने पड़े। जबसे महात्मा गांधी उग्रगामी दल के नेता बने तब से क्रान्तिकारियों का प्रभाव कम हो गया। गांधी जी अहिंसात्मक साधनों को ही उचित समझते थे। गांधी जी ने अहिंसात्मक असहयोग के आन्दोलन को जनता के समक्ष रखकर उनको स्वतन्त्रता के युद्ध का एक नया मार्ग बताया जिसके कारण क्रान्तिकारियों के कार्य धीमे पड़ गये।

**उग्रगामी दल के साथ सरकार का व्यवहार**—बंग विच्छेद के उपरान्त देश में हुए आन्दोलन को कुचलने के लिए सरकार ने पूरे-पूरे प्रयत्न किये। जब सरकार खुले आम राजनैतिक आन्दोलन पर प्रतिबन्ध लगाने लगी तो आन्दोलन गुप्तरूप से होने लगा। सरकार ने बहुत सी सख्ती की। लेखकों और वक्ताओं पर मुकद्दमे चलाये

[1] बी० पी० एस० रघुवंशी : इण्डियन नेशनलिस्ट मूवमेन्ट एण्ड थॉट, पृष्ठ १७।

गये। १६०८ में तिलक पर राजद्रोही का आरोप लगाकर मुकद्दमा चलाया गया और उन्हें छः साल के लिए काले पानी की सजा दे दी गई। मुजफ्फरपुर के जज पर बम्ब फेंकने के उपरान्त सरकार ने दो कानून बनाये, एक ऐक्सप्लोसिव सबस्टेन्सिज एक्ट और दूसरा अपराधी को प्रोत्साहन देने देने का अधिनियम। इनके द्वारा जनता में आतंक फैलाने का प्रयत्न किया गया। कलकत्ते में एक षडयन्त्र का भेद खुलने पर बहुत से आदमियों पर मुकद्दमे चलाये गये जिनमें अरविन्द घोष भी थे। १६०८ के अन्तिम मास में बहुत से राजनैतिक कार्यकर्ताओं को १८१८ के रेग्यूलेशन तीन के अन्तर्गत देश निकाला दे दिया गया। अश्वनीकुमार दत्त और कृष्णकुमार मित्रा इनमें से मुख्य थे। सर रास बिहारी घोष ने इस कानून को 'कानून रहित कानून' बताया। उसी मास में फौजदारी कानून संशोधन अधिनियम पास किया गया और इसके दूसरे भाग के अन्तर्गत संस्थाओं को गैर-कानूनी घोषित करने के लिए उपयोग में लाया गया। इस तरह सरकार ने आन्दोलन का उत्तर शिकायतों को दूर करके नहीं बल्कि क्रूरता के साथ दिया। अनुत्तरदायी सरकारों का यह पुराना दोष था और हमने भारत में इसको जीवन भर याद किया है।[1]

---

१. सी० वाई० चिन्तामणि : इंडियन पोलिटिकल सिन्स दी म्युटेनी, पृष्ठ ८२-८३।

अध्याय ८

# मॉर्ले मिन्टो सुधार

**१९०९ का भारती परिषद् अधिनियम**—इस अधिनियम को मॉर्ले मिन्टो सुधार के नाम से भी पुकारा जाता है। इस अधिनियम को बनाने में भारत सचिव मॉर्ले और महाराज्यपाल मिन्टो ने मुख्य भाग लिया। इसी कारण इस अधिनियम का नाम 'मॉर्ले मिन्टो सुधार' पड़ा। १८९२ के अधिनियम से भारतीय जनता बहुत दिनों तक सन्तुष्ट नहीं रही। भारत सरकार भी इस अधिनियम को भारतीय समस्या का अन्तिम हल नहीं समझती थी। १८९२ में दिये गये अधिकारों से जनता ऊब चुकी थी। इसी कारण जनता ने कुछ अधिक प्रगतिशील मांगों का सुझाव रखा। इस समय राष्ट्रीय कांग्रेस ही भारतीयों की एकमात्र राजनैतिक संस्था थी। कांग्रेस अपने विभिन्न अधिवेशनों में परिषदों की संख्या और अधिकार बढ़ाने की मांग कर रही थी। पिछले कुछ सालों में कांग्रेस में एक नया उग्र दल बन गया था जो सरकार की प्रत्येक नीति का कट्टर विरोधी था। सरकार यह जानती थी कि भारतीयों को अधिक अधिकार देकर ही कांग्रेस के नरम दल को अपनी ओर मिला सकते हैं। ऐसा करने से कुलीन वर्ग और नरम दल के अनुयायी सरकार का साथ देंगे और उग्र दल की प्रजातान्त्रिक मांगों को बढ़ने से रोकेंगे। १९०७ में श्री गोपाल कृष्ण गोखले जो नरम दल के प्रमुख नेता थे इंगलैंड गए और भारत सचिव लार्ड मॉर्ले से कई बार भेंट की। इन भेंटों के बीच में मॉर्ले ने गोखले को नये अच्छे सुधारों का आश्वासन दिया। गोखले इन आश्वासनों से सन्तुष्ट हो गये और उन्होंने इस आशय के पत्र भारत में अपने मित्रों को भेजे।[1] १९०९ के सुधारों से पहला समय भारत में राजनैतिक अशान्ति का था। सरकार की गलत और क्रूर नीति ने जनता में असन्तोष पैदा कर दिया था। कांग्रेस में ऐसे वर्ग का प्रभाव हो गया, जो भारत में स्वायत्त शासन की मांग करने लगा। सरकार की अकाल नीति व राजस्व नीति से भारतीय जनता परेशान हो उठी। लार्ड कर्जन की शिक्षा नीति, और बंग विच्छेद ने शिक्षित जनता में असन्तोष की लहर फैला दी। १९०४-५ के रूस-जापानी युद्ध ने भारतीय राजनैतिक जागृति को प्रोत्साहन दिया। इससे यह सिद्ध हुआ कि सुदूर एशिया का कोई भी देश एक योरपीय देश को पराजित कर सकता है। इस युद्ध से हिंसात्मक विचार प्रबल हो गये। पश्चिमी शिक्षा और पश्चिमी लेखकों के विचारों ने शिक्षित वर्ग को प्रभावित किया। कुछ योग्य भारतीयों को १८९२ के अधिनियम के अन्तर्गत राजनैतिक अनुभव प्राप्त हो चुका था। इन सब कारणोंवश भारत में नये सुधारों

---

१. गुरमुख निहाल सिंह : लैंडमार्क्स इन इंडियन कॉन्स्टीट्यूशन एण्ड नेशनल डेवलपमेंट, पृष्ठ १८०।

को चाहने का वातावरण फैल चुका था। भाग्यवश इसी समय नवम्बर १९०५ में लार्ड कर्जन के बाद लार्ड मिन्टो भारत के वाइसराय बने और दिसम्बर १९०५ में जॉन मॉर्ले भारत के सचिव बने। ये दोनों अंग्रेजी राजनीतिज्ञ प्रगतिशील विचारों वाले थे और भारत को सुधार देने के पक्ष में थे।

१९०९ के अधिनियम के बनने से पहले भारत सचिव लार्ड मॉर्ले और भारतीय वाइसराय लार्ड मिन्टो में पत्र-व्यवहार हुआ और यह पत्र-व्यवहार तीन साल तक चला। १९०६ में लार्ड मिन्टो ने एक टिप्पणी लिखी, जिसमें उसने भारत की राजनैतिक व्यवस्था का वर्णन किया। उसने बताया कि अंग्रेजी की सहायता से शिक्षा में जो उन्नति हुई उसके कारण बहुत सी महत्वपूर्ण जातियों का विकास हुआ जो भारत में बराबरी की नागरिकता चाहती थीं और सरकार की नीति के बनाने में भी अधिक भाग लेना चाहती थीं। भारत में नई अवस्था उत्पन्न होने के कारण जो समस्यायें पैदा हो गई थीं उनका हल ढूंढने के लिए लार्ड मिन्टो ने एक समिति स्थापित की। अरन्डेल, ईबटसन, रिचार्ड्स और बेकर इस समिति के सदस्य नियुक्त किए गए। दूसरे विषयों के अलावा इस समिति का कार्य केन्द्रीय और प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदों में भारतीयों को अधिक प्रतिनिधित्व देने की समस्या पर विचार करना था। इस समिति को स्थापित करते हुए लार्ड मिन्टो ने कहा कि भारत सरकार वर्तमान अवस्थाओं से अनभिज्ञ नहीं रह सकती। राजनैतिक वातावरण में परिवर्तन हो गया है। हमारे सामने ऐसी समस्यायें हैं, जिनकी उपेक्षा हम नहीं कर सकते और हमें उनका जवाब देना है। इन सब समस्याओं को सुलझाने का सूत्रपात हमें करना चाहिए, जिससे दूसरों को ऐसा प्रतीत न हो कि हमने भारत में आन्दोलन और जागृति के दबाव के कारण या ब्रिटिश सरकार के दबाव के कारण भारतवासियों को सुविधा देने का कदम उठाया है। हमें सबसे पहले वर्तमान अवस्थाओं को स्वीकार करना चाहिए। भारतीय जागृति के विषय में अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर राजमुकुट के समक्ष अपने विचार और सुझाव रखने चाहियें।[1] इस समिति के वाद-विवाद के उपरान्त एक सुधार योजना तैयार की गई जो गृह विभाग के पत्र के रूप में स्थानीय सरकारों को २४ अगस्त १९०७ को भेजी गई। यह पत्र भारत सचिव की अनुमति लेने पर ब्रिटिश पार्लियामेंट के समक्ष पेश किया गया, इंगलैंड तथा भारत में प्रकाशित भी हुआ। स्थानीय सरकारों से कहा गया कि वे उस पत्र के विषय में अपने क्षेत्रों के मुख्य व्यक्तियों व महत्वपूर्ण निकायों से परामर्श से और परामर्श लेने के उपरान्त अपने सुझाव भारत सरकार को भेजें। स्थानीय सरकारों के उत्तर ठीक समय पर प्राप्त हुए। पहली अक्टूबर १९०८ में एक पत्र में भारत सरकार ने यहां की अवस्था को फिर से आंका और संशोधित सुझाव रखे। इन सुझावों के साथ ही स्थानीय सरकारों के उत्तर भी संलग्न कर दिए गए। भारत सचिव ने भारत सरकार के सुझावों पर अपने विचार एक प्रेषण में

१. रिपोर्ट ऑन इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशनल रिफॉर्म्स, पृष्ठ ४७।

२७ नवम्बर, १६०८ को भेजे। हाउस ऑफ लार्ड्स में दिए गए अपने भाषण में भी लार्ड मॉर्ले ने अपने विचार और बढ़ाकर व्यक्त किए। लार्ड मॉर्ले ने अपने सुझावों के आधार पर फरवरी १६०६ में हाउस ऑफ लार्ड्स में एक विधेयक पेश किया। यह विधेयक ब्रिटिश पार्लियामेंट के दोनों सदनों में पास हो गया। संसद ने इस विधेयक में सिर्फ एक ही महत्वपूर्ण परिवर्तन किया। यह विधेयक मई के अन्त से पहले ही अधिनियम बन गया।[1]

**१६०६ के अधिनियम के उपबन्ध**—(१) व्यवस्थापिका परिषदों की संख्या अधिक बढ़ा दी गई। इस प्रकार महाराज्यपाल की परिषद् की संख्या १६ से बढ़ाकर ६० कर दी गई। कार्य-कारिणी के सदस्य जो इस व्यवस्थापिका परिषद् के पदेन सदस्य होते थे, इस संख्या में सम्मिलित नहीं थे। बंगाल, मद्रास और बम्बई की सदस्यों की संख्या २० से बढ़ाकर ५० कर दी गई। संयुक्त प्रान्त की १५ से ५० कर दी गई।

(२) इस अधिनियम के अनुसार व्यवस्थापिका परिषदों में निर्वाचित और मनोनीत दोनों प्रकार के सदस्यों की व्यवस्था की गई। कितने सदस्य निर्वाचित हों और कितने मनोनीत यह नियमों द्वारा निश्चित होगा। अधिनियम ने चुनाव के सिद्धान्त को प्रत्यक्ष रूप से मान लिया। जो नियम १६०६ के अधिनियम के अन्तर्गत बनाए गए उनके दो उद्देश्य थे। पहले सरकारी अधिकारियों को सरकार में काफी मात्रा में प्रतिनिधित्व मिले। दूसरे विभिन्न जातियों और हितों को उचित प्रतिनिधित्व दिया जाय। सदस्यों को मनोनीत करने के दो कारण थे: (अ) सरकारी अधिकारियों को सदस्य नियुक्त करने के लिए। (ब) गैर-सरकारी सदस्यों को नियुक्त करने के लिए जिससे कि वे निर्वाचित सदस्यों की अनुपूर्ति कर सकें। इस तरह प्रत्येक व्यवस्थापिका परिषद् में अतिरिक्त सदस्य तीन प्रकार के होते थे: (१) मनोनीत सरकारी सदस्य, (२) मनोनीत गैर-सरकारी सदस्य, (३) निर्वाचित सदस्य। गैर-सरकारी सदस्यों को मनोनीत करने के दो कारण थे: (१) ऐसे विशेष हितों को प्रतिनिधित्व देना था जोकि चुनाव में नहीं आ सकते थे। (२) कुछ अनुभवी व्यक्तियों को मनोनीत करना था जोकि अपनी विशेष योग्यता रखते थे। निर्वाचित सदस्य म्युनिसिपैलिटी, जिला बोर्ड, विश्वविद्यालयों, चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स, व्यावसायिक समितियों, जमींदारों या चाय के बाग के मालिकों के निर्वाचन क्षेत्रों से चुने जाते थे।

(३) १६०६ के अधिनियम में लिखा हुआ था कि महाराज्यपाल, मद्रास और बम्बई के राज्यपालों की व्यवस्थापिका परिषदों के अतिरिक्त सदस्यों की आधी संख्या गैर-सरकारी सदस्यों की होगी। दूसरी व्यवस्थापिका परिषदों के सदस्यों की ⅔ संख्या गैर-सरकारी सदस्यों की होगी। इतना उल्लेख होने पर भी यह सम्भव था कि प्रत्येक व्यवस्थापिका परिषद् में सरकारी बहुमत हो जाए। परन्तु लार्ड मॉर्ले ने

१. सर कोर्टने इल्बर्ट : दी गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, पृष्ठ १०६ और ११०।

हाउस ऑफ लार्ड्स् में १७ दिसम्बर १६०८ को दिये गये भाषण में यह स्पष्ट कर दिया था कि वे प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदों में सरकारी बहुमत के विरोधी थे। सरकारी बहुमत होने के कारण गैर-सरकारी सदस्यों में उत्तरदायित्व की भावना नष्ट हो जाती है और गैर-सरकारी सदस्यों का व्यवहार उदास और अप्रिय हो जाता है, और वे स्थायी रूप में सरकार का विरोध करते रहते हैं। लार्ड सभा के कुछ सदस्यों ने यह कहा कि सरकारी बहुमत के अभाव में परिषदें अव्यावहारिक (wild cat bills) विधेयक पास करेंगी। इसके जवाब में लार्ड मॉर्ले ने कहा कि प्रत्येक विधेयक पर महाराज्यपाल की अनुमति आवश्यक है और वह खराब विधेयकों को रद्द कर सकता है। इसके अलावा प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदों की शक्ति बहुत सीमित है। इन सब कारणों से लार्ड मॉर्ले ने साफ कह दिया कि वे प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदों में सरकारी बहुमत का अन्त करना चाहते हैं। परन्तु महाराज्यपाल की व्यवस्थापिका परिषद् के विषय में उसका दृष्टिकोण भिन्न था। इस परिषद् में लार्ड मॉर्ले सरकारी बहुमत के रखने के पक्ष में थे। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि भारत सरकार महाराज्यपाल की व्यवस्थापिका परिषद् में गैर सरकारी बहुमत रखने के पक्ष में थी। परन्तु भारत सचिव लार्ड मॉर्ले भारत सरकार के इस सुझाव से सहमत नहीं हुए।[1] लार्ड मॉर्ले के उपरोक्त विचार को ध्यान में रखते हुए इस विधेयक के अन्तर्गत ऐसे नियम बनाये जिनसे प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदों में गैर-सरकारी सदस्यों का बहुमत हो जाय और महाराज्यपाल की परिषद् में सरकारी बहुमत हो जाय। इसका यह मतलब नहीं था कि प्रान्तीय परिषदों में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत हो जाय।

(४) व्यवस्थापिका परिषदों के कार्य और शक्तियाँ भी बढ़ा दी गईं। १८६२ के अधिनियम के अन्तर्गत परिषदों के सदस्यों को बजट पर बहस करने और प्रश्न पूछने का अधिकार था। परन्तु किसी विषय पर भी उनको प्रस्ताव पेश करने या राय पड़वाने का अधिकार नहीं था। प्रतिवर्ष सरकार बजट के ऊपर वाद-विवाद करने के लिए एक-दो दिन नियत करती थी परन्तु वास्तव में सरकार बजट को पहले ही स्वीकार कर चुकती थी। १६०६ के विधेयक के अन्तर्गत परिषदों के सदस्यों को बजट और सार्वजनिक हित के विषयों पर प्रस्ताव प्रस्तुत करने का अधिकार मिल गया। सदस्यगण परिषदों में राय लेने के लिए भी कह सकते थे।[2] परिषदों में प्रस्ताव एक सिफारिश के तौर पर ही रक्खा जाता था। सरकार उस सिफारिश को मानने के लिए बाध्य नहीं थी। इस विषय में लार्ड मॉर्ले ने अपने दिसम्बर १६०८ के लार्ड सभा के भाषण में कहा था कि सरकार ऐसी सिफारिशों के ऊपर ध्यान से या लापरवाही से विचार कर सकती है जैसा कि सरकार इंगलैंड में करती है।[3] इस

१. ए० सी० बनर्जी : इण्डियन कान्सटीट्यूशनल डॉक्यूमेन्ट्स, भाग २, पृष्ठ २२६।
२. भारतीय परिषद् अधिनियम १६०६, अनुच्छेद पाँच।
३. ए० सी० बनर्जी : इन्डियन कॉन्सटीट्यूशनल डॉक्यूमेन्ट्स, भाग २, पृष्ठ २२७।

अधिनियम द्वारा अनुपूरक प्रश्न पूछने का भी अधिकार मिल गया। सभापति ऐसे प्रश्नों को अस्वीकार कर सकता था।

(५) महाराज्यपाल और राज्यपाल अपनी परिषदों में उपसभापति भी नियुक्त कर सकते थे। ऐसे उपराज्यपाल जिनकी सहायता के लिए कार्यकारिणी परिषद् होती थी वे उनके उपसभापति नियुक्त कर सकते थे। ऐसे उपसभापति, महाराज्यपाल, राज्यपाल और उपराज्यपाल की अनुपस्थिति में उनके स्थान पर कार्य करते थे और परिषदों की बैठकों में सभापतित्व करते थे। जो मनुष्य उपसभापति नियुक्त हो जाता था वह परिषद् का उच्च सदस्य (senior member) माना जाता था।

(६) मद्रास और बम्बई के राज्यपालों की कार्यकारिणी के साधारण सदस्यों की अधिकतम संख्या दो से चार कर दी गई। इन चार सदस्यों में दो सदस्य ऐसे होने चाहियें जो भारत में कम से कम १२ साल तक सरकारी नौकरी कर चुके हों।

(७) महाराज्यपाल अपनी परिषद् की अनुमति से उपराज्यपालों की सहायता के लिए घोषणा द्वारा कार्यकारिणी परिषदें स्थापित कर सकता था। परन्तु ऐसी घोषणा को पालियामेंट का कोई भी सदन अस्वीकार कर सकता था। परन्तु बंगाल की घोषणा के लिए पालियामेंट को ऐसे अधिकार नहीं थे। पालियामेंट में काफी वाद-विवाद होने के उपरान्त ही यह उपबन्ध स्वीकार हुआ था और पालियामेन्ट के दोनों सदनों के समझौते पर आधारित था। १९१५ में महाराज्यपाल की परिषद् की वह घोषणा जिसके अनुसार संयुक्त प्रान्त में एक कार्यकारिणी स्थापित हो जाती, हाउस ऑफ लार्ड्स ने अस्वीकार कर दी। राज्यपाल की कार्यकारिणी परिषदों में राज्यपाल या उसकी अनुपस्थिति में नियत हुए उपसभापति को निर्णायक मत देने का अधिकार था।

(८) १८९२ के अधिनियम की तरह १९०९ के अधिनियम में भी कुछ विषय केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिषद् के लिए रक्षित विषय बना दिये गये। सेना, नौ सेना, विदेशी मामले, धमार्थ और कानून फौजदारी आदि विषय ही रक्षित विषय थे। सरकारी अधिकारी, महिलायें, पागल मनुष्य, दिवालिये और २५ वर्ष से कम आयु वाले पुरुषों को चुनाव में मत देने का अधिकार नहीं था। महाराज्यपाल अपनी परिषद् की सलाह से किसी भी मनुष्य को उम्मीदवार बनने के अयोग्य घोषित कर सकता था यदि वह ऐसा करना सार्वजनिक हित में समझता हो।

(९) इस अधिनियम के अनुसार भारत में प्रथम बार साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति स्थापित हुई। मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचकवर्ग स्थापित हुआ। मुसलमान सिर्फ मुसलमानों को ही मत दे सकते थे। आगा खां के सभापतित्व में मुसलमानों का एक डिप्टेशन १ अक्तूबर १९०६ को लार्ड मिन्टो से मिला। उसके फलस्वरूप लार्ड मिन्टो ने मुसलमानों को पृथक् निर्वाचन पद्धति का आश्वासन दिया।

(१०) १६०६ के विधेयक पर वादविवाद के बीच लार्ड मॉर्ले ने एक ऐसी बात कही, जिसका प्रत्यक्ष रूप से विधेयक से कोई सम्बन्ध नही था परन्तु भारतीय संविधान पर उसका बहुत असर पड़ा। उसने कहा की मेरा विचार है कि महाराज्यपाल की परिषद्, बम्बई और मद्रास की परिषदों में कम से कम एक-एक भारतीय सदस्य होना आवश्यक है। ऐसा करने से भारत में ब्रिटिश सरकार की नीव दृढ़ हो जायेगी। १६०७ में उसने दो भारतीयो, सैय्यद हुसैन बिलग्रामी और के० जी० गुप्ता को भारतीय परिषद् (The Council of India) में सदस्य नियुक्त कर दिया था। उस समय अनेकों आशंकाएँ थी कि ऐसा करना उचित नहीं है परन्तु अन्त में उनका कार्य ही ठीक रहा। भारतीय सदस्यों से उन्हें काफी सहायता मिली। उनके द्वारा भारतीय दृष्टिकोण का पता चल जाता है। उन्होंने कहा कि कभी-कभी तो वे ऐसा सोचते हैं कि वे कलकत्ते की सड़कों पर है।[1] आगे चलकर उसने कहा कि भारत में हमारी सैनिक और भौतिक शक्ति तो बहुत है परन्तु भारतीयों के साथ व्यवहार करने में हमें अपनी नैतिक शक्ति का भी प्रयोग करना चाहिए। इस नीति को कार्यान्वित करने के लिए मार्च १६०६ में श्री एस० पी सिन्हा को महाराज्यपाल की कार्यकारिणी परिषद का सदस्य नियुक्त किया गया। इसी नीति का अनुसरण करने के लिए बाद में बंगाल, मद्रास, बम्बई, बिहार और उड़ीसा की कार्यकारिणी परिषदों में भारतवासियों को सदस्य नियुक्त किया गया।

मॉर्ले मिन्टो सुधार के लाभ व हानि—लार्ड मॉर्ले ने दिसम्बर १६०८ के अपने व्याख्यान में अपनी योजना को भारत और ब्रिटेन के इतिहास में एक बहुत महत्त्वपूर्ण युग का आरम्भ कहा है (The opening of a very important chapter in the history of Great Britain and India)। उसने इस योजना को संवैधानिक सुधारो के युग का आरम्भ बताया है (opening a chapter in constitutional reform)। सर कोर्टने इलबर्ट ने १६०६ के अधिनियम के विषयों में कहा कि यह अधिनियम एक युग को समाप्त करता है और दूसरे युग यानी संवैधानिक प्रयोगों के युग को आरम्भ करता है। इस अधिनियम के फलस्वरूप भारत में संवैधानिक परिवर्तनों को प्रोत्साहन मिला जो महायुद्ध के कारण और अधिक प्रचलित हुआ। लार्ड मॉर्ले और लार्ड मिन्टो भारत में ससदात्मक सरकार स्थापित करने के विरुद्ध थे। परन्तु घटनाएँ सुधारकों से अधिक शक्तिशाली होती है और भारत के लिए जो सदय १६०८ में उपयुक्त नहीं समझा गया अगस्त १६१७ में सरकार ने उसे ही दृढ़तापूर्वक मान लिया।[2] कूपलैंड के अनुसार १६०६ के अधिनियम ने राजनीतिज्ञों और अधिकारियों के लिए एक एक उपयोगी शिक्षा क्षेत्र प्रदान किया (The constitution of 1909...provided a useful training

१. ए० सी० बनर्जी : इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशनल डोक्यूमेंट्स, भाग २, पृष्ठ २३१।
२. सर कोर्टने इलबर्ट : दी गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया, पृष्ठ ११२-१३।

both for politicians and for officials)।[1] मॉर्ले मिन्टो सुधारों ने भारतीय संवैधानिक सुधारों को एक कदम आगे बढ़ाया। भारत की जनता को परिषदों में अधिक प्रतिनिधित्व मिला। सरकार ने इस बात को स्वीकार किया कि सरकारी कानूनों को गैर-सरकारी सदस्यों की अनुमति आवश्यक है। यद्यपि आपात काल में सरकार मनोनीत सदस्यों की सहायता पर आधारित थी और भारतीय व्यवस्थापिका परिषद् में सरकारी बहुमत कायम रक्खा गया।

सरकार ने अपने इस पुराने विचार को की परिषदें सरकार की व्यवस्थापिका समिति मात्र हैं त्याग दिया। सरकार ने यह स्वीकार किया कि परिषदें सरकार के प्रत्येक कार्य की जाँच (Inquest) कर सकती हैं। परिषदों को प्रशासन के हर पहलू पर वाद-विवाद करने के महत्त्वपूर्ण अधिकार मिल गये। परिषद् के सदस्य अनुपूरक प्रश्नों द्वारा सरकार के कार्यों का परिक्षण कर सकते थे। सदस्यों को अधिक स्वतन्त्रता के साथ बजट पर सदवार वाद-विवाद करने, राय दिलवाने और प्रशासन के सम्बन्ध में प्रस्ताव प्रस्तुत करने का अधिकार मिल गया। इस अधिनियम से सरकार ने निर्वाचन प्रथा को अच्छी तरह स्वीकार कर लिया यद्यपि मत देने के अधिकार बहुत कम मनुष्यों तक सीमित थे। भारतवासियों को सरकार के कार्यों में शामिल होने का अधिकार मिला और बहुत से योग्य भारतवासी कार्यकारिणी के सदस्य चुने गए। मॉन्टेग्यू और चेम्सफोर्ड ने ठीक ही कहा है : मॉर्ले मिन्टो सुधार "उस पथ में एक ऐसी निश्चित स्थिति का निर्माण करते हैं जिसने निकट भविष्य में ही उत्तरदायी शासन के प्रश्न को उपस्थित किया" (The Morely-Minto Reforms "do constitute a decided step forward on a road leading at no distant period to a stage at which the question of responsible government was bound to present itself.")[2]। श्री गोखले ने राष्ट्रीय कॉंग्रेस के १९०८ के अधिवेशन में बोलते हुए कहा था कि मॉर्ले मिन्टो सुधारों के द्वारा भारत सरकार की नौकरशाही प्रकृति में कुछ परिवर्तन हो जाता है और निर्वाचित प्रतिनिधियों को शासन में उत्तरदायी सहयोग देने का अवसर प्राप्त होता है। उन्होंने कहा कि शासन की प्रतिदिन की समस्यायें विधि निर्माण और वित्त सरकार के मुख्य ध्येय होते हैं। इस दशा में मॉर्ले मिन्टो सुधारों ने लगभग एक क्रांति उत्पन्न कर दी। पहले सरकार स्वयं शासन सम्बन्धी निर्णय कर लेती थी अब खुले वाद-विवाद की व्यवस्था हो गई। वित्त के विषय में भारत सरकार के नियन्त्रण की अपेक्षा अब आलोचना और वाद-विवाद के द्वारा परिषदों से नियन्त्रण होने लगा। इन सब कारणों से श्री गोखले ने इन सुधारों को विशाल और उदार कहा। पी० मुकर्जी ने १९०९ के सुधारों को 'युग प्रवर्तक' कहा है, भारत सरकार ने अपने १९ नवम्बर १९०९ के प्रस्ताव में कहा कि इन महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों द्वारा सरकार की अच्छी

---

१. कुपलैंड : दी कॉन्स्टीट्यूशनल प्रोब्लम इन इंडिया, भाग १, पृष्ठ ४४।
२. रिपोर्ट ऑन इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशनल रिफार्म्स, पृष्ठ ५१।

प्रवृत्तियाँ भली प्रकार पूर्ण होती हैं। इन परिवर्तनों के द्वारा भारतीय जनता के नेताओं को विधि निर्माण और सरकार में अधिक भाग मिलता है।[1] सर कॅर्ट्नेन इल्बर्ट के अनुसार यद्यपि नई परिषदें केवल परामर्श देने वाली निकाय (merely consultative bodies) ही थीं फिर भी उनके द्वारा प्रथम बार सदस्यों को निर्वाचित करने का सिद्धान्त कार्यान्वित हुआ और उत्तरदायी संस्थाओं की माँग को कुछ हद तक स्वीकार किया गया।[2]

मॉर्ले मिन्टो सुधार के समय यह आशा की जाती थी कि इनसे भारत की जनता सन्तुष्ट हो जायगी। परन्तु यह पूरी नहीं हुई जैसे कि मॉन्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में बताया गया है कि नौ साल में ही मार्ले मिन्टो सुधारों की उपयोगिता समाप्त हो गई। भारतीय जनता उनके विरुद्ध हो गई। सरकारी अधिकारी भी उनकी आलोचना करने लगे। मॉन्टेग्यू और चेम्सफोर्ड ने इन सुधारों के विफल होने के कारण बताए हैं।

(१) १९०९ के सुधारों ने भारतीय राजनैतिक समस्याओं का न तो कोई हल बताया और न कोई हल वह बता ही सकती थी। सीमित मताधिकारों और अप्रत्यक्ष चुनावों के कारण जनता में उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न नहीं हुई। वह अपने मतों का ठीक प्रकार प्रयोग नहीं कर सकी।

(२) प्रशासन का उत्तरदायित्व अविभाजित रहा। सरकार के हाथ में पूरी शक्ति रही, परिषदों के हाथ में आलोचना के अलावा और कोई कार्य नहीं रहा। सरकार की नीतियों की आलोचना बिना समझे बूझे और उत्तरदायित्व को समझे बिना होने लगी। परिषदों के सदस्य यह जानते थे कि सरकार में पद मिलने की कोई आशा नहीं है और शासन की पूरी बागडोर भारत सरकार, भारत सचिव और संसद के हाथों में है।

(३) उनके विचार में मॉर्ले मिन्टो सुधार सरकार की पुरानी हितैषी स्वेच्छाचारिता की नीति का अन्तिम परिणाम था। सरकार ने अपनी ज्ञान प्राप्ति और जनता की भावनाओं को जानने के लिए ही परिषदें स्थापित की थीं। मॉन्टेग्यु चेम्सफोर्ड की रिपोर्ट के अनुसार भारत सरकार अभी भी राज्य दरबार की तरह थी ("the Government is still a monarch in durbar") परन्तु उसके दरबारी (councillors) परेशान हैं और सरकार के व्यक्तिगत शासन से सन्तुष्ट नहीं हैं। इसी कारण शासन में शिथिलता और दुर्बलता आ गई है।

(४) १९०९ के सुधारों में ससदात्मक प्रथाओं का सूत्रपात किया गया और उन्हें परिषदों में उस सीमा तक लागू किया गया था, जिससे कि जनता सरकार की

---

१. पी० मुकर्जी : इंडियन कॉन्स्टीट्यूशनल डोक्यूमेंट्स (१६००-१९१८) भाग १, भूमिका।

२. इंडिया ओल्ड एण्ड न्यू, पृष्ठ १२७।

३. रिपोर्ट ऑन इंडियन कान्स्टीट्यूशनल रिफार्म्स, पृष्ठ ५२।

अधिकतम आलोचना कर सकें। परन्तु परिषदों के पीछे वास्तविक शक्ति न होने के कारण वे जनता का हित न कर सकी और जनता संतुष्ट न हो सकी। इन सुधारों में न तो पुरानी पद्धति की लाभकारी बातें ली गईं और न नई पद्धति की ही अच्छी बातों को लिया गया। अन्त में उन्होंने कहा कि लोकप्रिय सरकार का लक्षण वास्तव में उत्तरदायित्व का होना ही होना है। परन्तु इस अधिनियम के अन्तर्गत परिषदों का वास्तविक उत्तरदायित्व नहीं था। परिषदों को शक्तिशाली बनाने के लिए उनको उत्तरदायित्व मिलना आवश्यक था। परिषदों के हाथ में वास्तविक शक्ति होनी चाहिए और जनता के प्रति ही वे उत्तरदायी हों। तभी वे वास्तविक रूप से कार्यभार सभाल सकती हैं।

(५) परिषदों के सदस्यों को प्रश्न और अनुपूरक प्रश्न पूछने का अधिकार दिया गया। वे प्रस्ताव भी रख सकते थे और सरकार के प्रत्येक कार्य की आलोचना भी कर सकते थे। बजट के ऊपर भी मत डलवा सकते थे परन्तु विभिन्न नियमों के द्वारा उनके अधिकार सीमित कर दिये गए थे। सरकार द्वारा बनाए गए नियमों ने परिषदों की उपयोगिता को बहुत कम कर दिया था।

(६) सरकार को अधिकार था कि वह किसी मनुष्य को परिषद की सदस्यता से वंचित रख दे। ऐसा सार्वजनिक हित को ध्यान में रखने के बहाने किया जाता था। श्री एन० सी० केलकर के चुनाव के बारे में ऐसी नीति अपनाई गई थी।

(७) इस अधिनियम में मुसलमानों को पृथक निर्वाचन पद्धति दी गई थी। भारतीय नेताओं ने उसकी बहुत निन्दा की। कांग्रेस के १९०९ के अधिवेशन में अपने अध्यक्षात्मक भाषण में पंडित मदनमोहन मालवीय ने कहा कि पृथक निर्वाचन पद्धति के कारण एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म वालों के विरुद्ध हो जायेंगे। शिक्षित वर्ग के प्रभाव को कम करने के लिये ही पृथक निर्वाचन पद्धति दी गई थी। १९११ में पंडित विशन नारायण दर ने कहा कि यह पद्धति देश को छिन्न-भिन्न करने वाली होगी और साम्प्रदायिक हितों को प्रोत्साहन मिलेगा। राय बहादुर आर० एन० मधोलकर ने बताया कि इस पद्धति के कारण हिन्दुओं और मुसलमानों में मेल नहीं हो सकता। इससे मुसलमानों के राजनैतिक विकास में बाधा उत्पन्न होगी। भारतीय समाज विभिन्न भागों में बँट जायेगा, हिन्दू और मुसलमान जलाप्रवेश सविभाग (water-tight compartments) की तरह बँट जायेंगे।

(८) इन सुधारों के अनुसार जो मताधिकार भारतीय जनता को प्रदान किए गए, वे प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों के विरुद्ध थे। मुसलमानों को उनकी जनसंख्या से अधिक प्रतिनिधित्व देना सार्वजनिक हित में नहीं था। इस पद्धति को देते समय मुसलमानों की ऐतिहासिक और राजनैतिक महत्ता को ध्यान में रखना अनुचित था। कहीं-कहीं पर तो एक ही मुसलमान व्यक्ति तीन-तीन प्रकार के अधिकारों से मत दे सकता था। कहने का तात्पर्य है कि एक ही मनुष्य एक ही समय तीन स्थानों में चुनाव में भाग ले सकता था। संयुक्त प्रान्त में मुसलमानों को उनकी जनसंख्या से

अधिक प्रतिनिधित्व मिला। इस प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषद् मे २६ गैर-सरकारी सदस्यो मे से आठ मुसलमान सदस्य थे, जबकि उनकी जनसंख्या ⅓ ही थी। इस तरह मुसलमानो के हितो की रक्षा करने का प्रयत्न किया गया था और बहुमत की कोई परवाह न कर एक कोने मे फेंक दिया गया था। इससे भी अधिक खराब बात यह थी कि पंजाब, पूर्वी बंगाल और आसाम के अल्पमत हिन्दुओ को कोई सुविधा नही दी गई।

(९) मुसलमानो को परिषदो मे प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व दिया गया, परन्तु गैर-मुसलमानो के लिये ऐसी सुविधायें नही दी गई। जो मुसलमान ३,००० रु० की आमदनी पर आयकर देते थे या जिनकी ३,००० रु० की मालगुजारी थी या पाच साल पहले ग्रेजुएट हो गये थे, उनको मत देने का अधिकार था। पारसी, हिन्दू और ईसाई यदि वे तीन लाख की आय पर भी आयकर देते हो तो उन्हे मत देने का अधिकार नही था। ३० साल के पारसी, हिन्दू और ईसाई ग्रेजुएटो को भी मत देने का अधिकार नही था। इस तरह सर गुरुदास बनर्जी, डा० भन्डारकर, सर सुब्रामनीया अय्यर और डा० रास बिहारी घोष भी ऐसे ही व्यक्ति थे जिन्हे मत देने का अधिकार नही था।[1]

(१०) उम्मीदवारो को चुनने मे मतदाताओ पर बहुत से प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे। बंगाल, बम्बई और मद्रास के लिये बनाये गये नियमो के अनुसार प्रान्तीय परिषदो की सदस्यता के लिये केवल म्युनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के सदस्य ही चुने जा सकते थे। १८९२ के अधिनियम के अन्तर्गत ऐसा नही होता था। इस नई व्यवस्था के कारण बहुत से योग्य पुरुष परिषदो के सदस्य नही हो सके। भाग्यवश यह नियम उत्तर प्रदेश मे लागू नही किया गया। दूसरा प्रतिबन्ध यह था कि परिषदो की सदस्यता के लिये कुछ निश्चित सम्पत्ति रखने वाले मनुष्य उम्मीदवार हो सकते थे।

(११) परिषदो की सदस्यता के विषय मे बनाये गये नियमो के अनुसार मुसलमानो और जमींदारो को अधिक प्रतिनिधित्व दिया गया। शिक्षित वर्ग का प्रतिनिधित्व बहुत कम था। इसके कारण परिषदें जनता का वास्तविक प्रतिनिधित्व नही करती थी।

(१२) मतदाताओ की संख्या कम थी। भारतीय व्यवस्थापिका परिषद् के लिये ५८१८ मतदाता थे। २७ सदस्य चुनने के लिये मतदाताओ की औसत संख्या २१५ थी। बम्बई से आठ मतदाता एक मुस्लिम प्रतिनिधि को चुनते थे। बर्मा से ६ मतदाता एक साधारण प्रतिनिधि को चुनते थे। २७ सदस्यो मे से १३ सदस्य प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषद् के गैर-सरकारी सदस्यो द्वारा चुने जाते थे। दो सदस्य भूमि-पतियो, ६ मुसलमानो और २ कलकत्ता और बम्बई के चेम्बर्स ऑफ कामर्स से चुने

१. ए० सी० बनर्जी: इंडियन कॉन्सटीटयूशनल डोक्युमेन्ट्स, भाग २, पृष्ठ २६९–९८।

जाते थे। ऐसी अवस्था में इन व्यवस्थापिका परिषदों को वास्तव में लोकप्रिय संस्था नहीं कह सकते थे।[1]

(१३) लार्ड मॉर्ले और मिन्टो ने अपने सुधारों द्वारा भारतीय जनता के समक्ष कोई ध्येय नहीं रखा था, वे केवल भारतीय उच्च वर्ग का सहयोग ही प्राप्त करना चाहते थे। वे भारत में संसदात्मक सरकार स्थापित नहीं करना चाहते थे। लार्ड मिन्टो ने १६०७ में लिखा था कि वे भारत के लिए संवैधानिक निरंकुशता (Constitutional Autocracy) स्थायी रूप में चाहते हैं। मॉर्ले ने ६ जून १६०६ को मिन्टो को लिखा था कि वे ब्रिटिश राजनैतिक संस्थाओं को भारत में नहीं लागू करना चाहते। उनके जीवनकाल में ऐसा बिलकुल भी सम्भव नहीं था। २५ जनवरी, १६१० को एक भाषण में लार्ड मिन्टो ने कहा कि भारत सरकार पश्चिमी ढंग की प्रतिनिधि सरकार भारत में लागू नहीं करना चाहती थी। प्रजातान्त्रिक सरकार भारत के अनुकूल नहीं है। १० दिसम्बर १६०८ को लार्ड सभा में भाषण देते हुए लार्ड मॉर्ले ने साफ-साफ कहा कि "यदि यह कहा जाय कि मैं भारत में संसदात्मक सरकार स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा हूँ, यह कहा जाय कि यह सुधार प्रत्यक्ष और आवश्यक रूप से भारत में संसदात्मक पद्धति स्थापित करेगा तो मेरा इन बातों से कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि मेरा अस्तित्व शारीरिक रूप से या मेरा कार्यकाल बीस गुना भी बढ़ा दिया जाय तो भी मैं यह नहीं सोच सकता कि भारत में संसदात्मक प्रणाली स्थापित की जा सकती है।"[1] भारत के शासकों का ऐसा व्यवहार देखते हुए यह आश्चर्यजनक नहीं कि जनता ने थोड़े समय में ही इन सुधारों से असन्तोष प्रकट करना प्रारम्भ कर दिया। मोन्टेग्यू और चेम्सफोर्ड ने इन सुधारों की त्रुटियों को बताते हुए एक आलोचक के शब्दों का उल्लेख किया है। "हमें यह निश्चय कर लेना चाहिये कि या तो हमें (सरकार को) शासन करना चाहिये या फिर भारतीयों के हाथ में ही शासन की बागडोर होनी चाहिये, मध्यस्थ मार्ग ठीक नहीं है।" मिन्टो मॉर्ले सुधारों द्वारा भारतीयों का शासन में प्रभाव तो हो गया परन्तु उन्हें वास्तविक उत्तरदायित्व नहीं मिला।[3]

१६०६ के अधिनियम में त्रुटियाँ होते हुए भी भारतीयों ने इससे कुछ लाभ ही उठाया। इण्डियन कोर्ट फी (संशोधन) बिल, इण्डियन फैक्ट्रीज बिल, इण्डियन पेटेन्ट्स एण्ड डिजाइन्स बिल, इण्डियन कम्पनीज बिल, पटना यूनिवर्सिटी बिल इत्यादि के पास कराने में भारतीय व्यवस्थापिका परिषद् के गैर-सरकारी सदस्यों ने मुख्य भाग लिया। भारतीय सदस्यों ने प्रान्तीय परिषदों में भी शासन और विधि निर्माण पर प्रभाव डालने का प्रयत्न किया।[4]

---

१. डब्लू० आर० स्मिथ : नेशनलिज्म एण्ड रिफार्म इन इंडिया, पृष्ठ २८।
२. ए० सी० बनर्जी : इंडियन कान्सटीट्यूशनल डोक्यूमेंट्स, भाग २, पृष्ठ १२१।
३. रिपोर्ट ऑन इंडियन कान्सटीट्यूशनल रिफार्म्स, ▪ ६६।
४. डब्लू० आर० स्मिथ : नेशनलिज्म एण्ड रिफार्म इन इंडिया, पृष्ठ २६-३०।

अध्याय ६

# भारतीय राष्ट्रीयता का विकास (१९०७–१९१९)

**कांग्रेस का विकास**—१९०७ के सूरत के झगड़े के बाद कांग्रेस का अधिवेशन मद्रास में १९०८ में हुआ। ६२६ प्रतिनिधियों ने इस अधिवेशन में भाग लिया। रास बिहारी घोष इस अधिवेशन के सभापति थे। इस अधिवेशन के दूसरे प्रस्ताव में १९०९ के मोर्ले मिन्टो सुधारों पर हर्ष और सन्तोष प्रकट किया गया। कांग्रेस ने सरकार के इस कार्य को राजनीतिज्ञता का महान् कार्य बताया। स्वदेशी वस्तुओं, बंग विच्छेद, ब्रिटिश उपनिवेशों में भारतीयों की स्थिति, खाने की वस्तु की महंगाई, शिक्षा, स्थायी बन्दोबस्त आदि विषयों के बारे में कांग्रेस ने इस अधिवेशन में प्रस्ताव पास किये। कांग्रेस का अगला अधिवेशन लाहौर में १९०९ में हुआ, पंडित मदन मोहन मालवीय इस अधिवेशन के सभापति हुए। इस अधिवेशन के चौथे प्रस्ताव में १९०९ के अधिनियम के द्वारा साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति की कड़ी आलोचना की गई और इस अधिवेशन के अन्तर्गत बनाए गये नियमों की निन्दा की गयी। यह भी बताया गया कि इन नियमों के कारण देश में असंतोष व्यापक रूप से फैल गया है। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने इस प्रस्ताव पर बोलते हुए कहा कि इन नियमों ने सुधार योजनाओं को लगभग नष्ट ही कर दिया है।[1] इस अधिवेशन में महात्मा गांधी के दक्षिण अफ्रीका के कार्य की प्रशंसा की गई। १९०८ के अधिकतर प्रस्ताव इसमें फिर से पास कर दिये गये। १९१० में लार्ड मोर्ले ने अपने पद से अवकाश प्राप्त कर लिया। उनके स्थान पर लार्ड क्रीव नियुक्त हुए। उसी साल लार्ड मिन्टो की जगह लार्ड हार्डिंज भारत के वाइसराय बनाये गए। इसी साल सम्राट एडवर्ड सप्तम की मृत्यु हुई और जार्ज पंचम गद्दी पर बैठे। ब्रिटिश सरकार ने यह तय किया कि जार्ज पंचम १९११ में भारत का दौरा करें और यहां पर दरबार करें। १९१० का कांग्रेस का अधिवेशन इलाहाबाद में हुआ। इसमें ६३६ प्रतिनिधि सम्मिलित थे। सर विलियम वैडर बर्न इस अधिवेशन के सभापति बने, वे इंगलैण्ड से इसी कार्य से आये थे। उनके आने के दो उद्देश्य थे। एक तो वे सूरत काण्ड से कांग्रेस में हुए दोनों दलों को मिलाना चाहते थे, और हिन्दू मुसलमानों के मतभेद को मिटाना चाहते थे। इस अधिवेशन के १२वें प्रस्ताव में 'सडिशस मीटिंग्स एक्ट' को दुबारा लागू न करने की प्रार्थना की गई। प्रेस एक्ट का अन्त करने की भी प्रार्थना की गई। १९१० का प्रेस एक्ट मार्ले मिन्टो सुधारों के अन्तर्गत स्थापित केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिषद् का प्रथम कार्य था। वाइसराय

---

१. ऐनी बेसेन्ट : हाऊ इंडिया रॉट फार फ्रीडम, पृष्ठ ४६५।

को कार्यकारिणी परिषद् के भारतीय कानून सदस्य श्री एस० पी० सिन्हा ने इस अधिनियम के विरुद्ध त्याग पत्र देने की धमकी दी थी। इस धमकी के कारण इस अधिनियम में थोड़ा परिवर्तन कर दिया गया था। परन्तु फिर भी भारतीय जनता इसको सहन करने के लिए तैयार नहीं थी। इन दोनों एक्टों के द्वारा जनता की आम सभायें और जनता में भाषण करना असम्भव हो गया था। श्री जे० चौधरी ने प्रेस एक्ट को कलंक लगाने वाला बताया। श्री द्वारका नाथ ने कहा कि सरकार के इन दोनों निन्दनीय कार्यों के कारण भारत का राजनैतिक जीवन नष्ट हो गया है।[1] इस अधिवेशन में स्थानीय निकायों और पंचायतों को स्थापित करने के लिए सरकार से अनुरोध किया गया। पिछले वर्षों के प्रस्तावों को फिर से दोहरा दिया गया।

१९११ भारत की राजनीति में महत्वपूर्ण है। इसी वर्ष १२ दिसम्बर को देहली दरबार हुआ जिसमें ब्रिटिश राजमुकुट स्वयं पधारे और उन्होंने बंग विच्छेद को रद्द करने की घोषणा की। इस घोषणा को सुनकर जनता में हर्ष और सन्तोष हुआ। ब्रिटिश सम्राट ने यह भी घोषित किया कि भारत की राजधानी कलकत्ते से हटाकर दिल्ली कर दी गई है। इसका परिणाम यह होगा कि कलकत्ते में बसे हुए अंग्रेजों का प्रभाव भारत सरकार पर कम हो जायेगा और भारतीयों को मानसिक सन्तोष हो जायेगा कि भारत की पुरानी राजधानी को फिर से महत्व दे दिया गया। लार्ड लौरेन्स ने भी राजधानी को कलकत्ते से बदल कर दिल्ली करने का प्रयत्न किया। परन्तु उनकी परिषद् ने उनका साथ नहीं दिया लार्ड कर्जन भारत की राजधानी आगरे को बनाना चाहते थे। परन्तु उनकी यह योजना असफल रही, दिल्ली को राजधानी बनाने का श्रेय लार्ड हार्डिंग्ज को ही है। कलकत्ता और बंगाल में बसे हुए अंग्रेजों ने लार्ड हार्डिंग्ज का विरोध किया। वे राजमुकुट की घोषणा से बहुत अप्रसन्न हुए। इससे यूरोपीय बौखला गये और लार्ड हार्डिंग्ज को गाली देने लगे। राजधानी के बदलने से उन्हें आर्थिक हानि हुई। कर्जन और मिन्टो ने भी अंग्रेजों के आन्दोलन का समर्थन किया। परन्तु वे लार्ड हार्डिंग्ज से राजधानी बदलने के निश्चय को न बदलवा सके। राजधानी दिल्ली ही रही।[2] उसी वर्ष हिन्दू-मुस्लिम एकता सम्मेलन बुलाया गया। इसका उद्देश्य हिन्दू मुसलमानों में मेल कराना था। इस सम्मेलन में मालवीय जी, वेडरबर्न, बनर्जी, जिन्ना, रहीमतुल्ला, हसन इमाम इत्यादि सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन से अंग्रेजी अधिकारी बड़े चिन्तित हुए। एक अंग्रेजी अखबार ने तो यहाँ तक कह डाला "ये दोनों जातियाँ क्यों मिलना चाहती हैं? सरकार के विरुद्ध मिलने के सिवाय इनका ध्येय और क्या हो सकता है?" इस आलोचना से भारतीय राजनैतिक स्थिति पर बड़ा खराब प्रकाश दृष्टिगोचर होता है। १९११ का कांग्रेस अधिवेशन दिसम्बर में कलकत्ते में हुआ। श्री रामजे मैकडोनल्ड इस अधिवेशन

१. हाऊ इंडिया रॉट फार फ्रीडम, पृष्ठ ५१७।

२. लार्ड हार्डिंग : माई इंडियन ईयर्स, १९१०-१९१६, पृष्ठ ५२।

वे सभापति होने वाले थे परन्तु उनकी पत्नी की मृत्यु होने के कारण वे न आ सके। उनके स्थान पर पंडित विशन नरायण दर सभापति बने। इस अधिवेशन में बंग विच्छेद को रद्द करने के कार्य की प्रशंसा की गई। श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने इस आशय का प्रस्ताव अधिवेशन के सामने रक्खा। इस अधिवेशन ने श्री गोखले के शिक्षा विधेयक का समर्थन किया। और पिछले वर्षों के प्रस्ताव भी दुबारा पास किए। १६१२ का कांग्रेस का अधिवेशन दिसम्बर में बांकीपुर में हुआ। श्री आर० एन० मधोलकर इस अधिवेशन के सभापति बने। इस अधिवेशन में भारत सरकार के २५ अगस्त १६११ के उस प्रेषण का समर्थन किया गया जिसमें भारत के विभिन्न प्रान्तों में स्वायत्त शासन स्थापित करने का सुझाव रखा गया था। इस अधिवेशन में पिछले प्रस्तावों को भी दोहरा दिया गया। इस वर्ष के अन्तिम भाग में दुर्भाग्यवश एक खराब घटना घटी। जब लार्ड हार्डिंग्ज ने सबसे प्रथम बार नई राजधानी दिल्ली में सरकारी तौर से प्रवेश किया तो उनके ऊपर एक बम्ब फेंका गया। वे बहुत घायल हो गये। यह दुख के साथ कहना पड़ता है कि वे भारतीयों के पक्ष में थे और लार्ड मौर्ले की इच्छा के विरुद्ध प्रान्तीय स्वायत्त शासन के समर्थक थे और भारतीयों की दक्षिण अफ्रीका में जो स्थिति थी उसको सुधारने के पक्ष में थे। कांग्रेस ने १६१० में लार्ड हार्डिंग्ज का अभिनन्दन किया था और १६११ की कांग्रेस की स्वागत समिति के अध्यक्ष श्री भूपेन्द्र नाथ वसु ने कहा था कि वे बड़े शान्तिप्रिय राजनीतिज्ञ हैं और जब कभी वे कुछ खराबी देखते हैं उसे ठीक करने का प्रयत्न करते हैं। १६१३ का कांग्रेस अधिवेशन कराची में हुआ। नवाब सैयद मोहम्मद बहादुर उसके सभापति बने। नवाब साहब ने कांग्रेस के कार्यों पर प्रकाश डाला और हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करने में विश्वास प्रकट किया। इस अधिवेशन के चौथे प्रस्ताव में इस बात पर प्रसन्नता प्रकट की गई कि मुस्लिम लोगों ने भी ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत भारत के लिये स्वराज्य प्राप्त करना अपना ध्येय बना लिया है। प्रस्ताव में यह भी आशा प्रकट की गई कि दोनों जातियाँ राष्ट्र के हित में एक साथ कदम उठायेंगी। पाँचवें प्रस्ताव के द्वारा भारत सचिव की कौंसिल के संगठन में संशोधन की सिफारिश की गई। कांग्रेस ने यह पास किया कि इस कौंसिल के कुछ सदस्य मनोनीत होने चाहियें और कुछ निर्वाचित होने चाहियें और भारत सचिव का वेतन ब्रिटिश सरकार की निधि से दिया जाना चाहिए। १६१४ का कांग्रेस अधिवेशन मद्रास में हुआ जिसमें ८६६ प्रतिनिधि उपस्थित थे जिसमें ७४८ मद्रास के थे। श्री भूपेन्द्र नाथ वसु अध्यक्ष चुने गए। इस अधिवेशन में भारत में प्रान्तीय स्वायत्त शासन की माँग रखी गई और भारत सचिव की परिषद् के सुधार की माँग रखी गई। इस अधिवेशन में लार्ड हार्डिंग्ज के पद काल की अवधि बढ़ाने की माँग रखी गई। १६१४ में पहली बार मिसेज ऐनी बेसेन्ट कांग्रेस के अधिवेशन में शामिल हुईं। "उन्होंने अपने साथ नये विचार, नई योग्यता, नवीन साधन, नया दृष्टिकोण और संगठन का एक बिलकुल ही नूतन ढंग लेकर कांग्रेस क्षेत्र में पदार्पण किया।"

डा० पट्टाभि सीतारमैया के शब्दों में "भारतवर्ष के राजनैतिक इतिहास में १९१५ का वर्ष एक नये युग का श्रीगणेश करता है।" १९१५ में देश की वास्तविक स्थिति अच्छी नहीं थी। १९ फरवरी सन् १९१५ को गोपाल कृष्ण गोखले का स्वर्गवास हो गया। नवम्बर मास में फिरोजशाह मेहता का स्वर्गवास हो गया। लोकमान्य तिलक जून १९१४ में मांडले से लगभग अपनी पूरी सजा काटने के बाद मुक्त हुए थे। १९१४ में श्रीमती ऐनी बेसेन्ट ने तिलक के साथियों को कांग्रेस में मिलाने का प्रयत्न किया परन्तु वे असफल रहीं। लाला लाजपतराय अमेरिका में देश निकाले का जीवन व्यतीत कर रहे थे। १९१५ की कांग्रेस का अधिवेशन बम्बई में हुआ क्योंकि मेल मिलाप के सारे प्रयत्न असफल हो चुके थे इसलिये यह कांग्रेस नरम दल की ही थी। सर सत्येन्द्र प्रसन्न सिंह इस अधिवेशन के सभापति बने। बम्बई की कांग्रेस में २२५९ प्रतिनिधि आये थे। अधिवेशन में विभिन्न विषयों पर प्रस्ताव पास किये गये। ७वें प्रस्ताव द्वारा लार्ड हार्डिंग्ज का शासन काल बढ़ा देने की प्रार्थना की गई। आठवें प्रस्ताव में कांग्रेस द्वारा पहले पास किये गये प्रस्तावों का फिर से समर्थन किया गया। १९वाँ प्रस्ताव अधिक महत्वपूर्ण था। इस प्रस्ताव द्वारा भारत को ऐसे सुधार देने की मांग की गई जिसमें जनता को शासन पर वास्तविक नियन्त्रण मिले और प्रान्तीय स्वाधीनता दी जाय। इण्डिया कौंसिल या तो तोड़ दी जाये या उसमें सुधार कर दिया जाये और एक उदार ढंग का स्थानीय स्वराज्य दिया जाय। इसी प्रस्ताव में कांग्रेस की महासमिति को यह आदेश दिया गया कि वह देश के लिये सुधारों की एक योजना तैयार करे। इस प्रस्ताव में महासमिति को यह भी अधिकार दिया गया कि इस विषय में मुस्लिम लीग की समिति से भी परामर्श करे और अन्य आवश्यक कार्यवाही करे।[1] कांग्रेस के १९१५ के अधिवेशन में जो प्रस्ताव पास हुए, वे उन प्रस्तावों के सार हैं जो कांग्रेस के जन्म से लेकर समय-समय पर कांग्रेस द्वारा पास होते थे। इस अधिवेशन में कांग्रेस के संविधान में एक महत्वपूर्ण संशोधन कर दिया गया जिसके द्वारा उग्रगामी दल के लोग भी कांग्रेस के प्रतिनिधि चुने जा सकते थे। कांग्रेस ने तय किया कि उन संस्थाओं द्वारा बुलाई गई सार्वजनिक सभायें कांग्रेस के लिये प्रतिनिधि चुन सकेंगी जिनकी स्थापना १९१५ से दो वर्ष पूर्व हो चुकी हो और जिनका उद्देश्य वैध-उपायों से ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वराज्य प्राप्त करना हो। श्री तिलक ने इस संशोधन का हृदय से स्वागत किया। उन्होंने इस बात को सार्वजनिक रूप से घोषित कर दिया कि वे और उनके दल के लोग कांग्रेस में सम्मिलित होने को तैयार हैं।[2]

१९१६ का कांग्रेस अधिवेशन लखनऊ में हुआ। इस अधिवेशन के सभापति श्री अम्बिका चरण मजूमदार चुने गये। इस अधिवेशन में २३०१ प्रतिनिधियों ने भाग लिया। "लखनऊ की कांग्रेस अपने ढंग की अद्वितीय थी" (डा० पट्टाभि

१. पट्टाभि सीतारमैया : कांग्रेस का इतिहास, पहला खण्ड, पृष्ठ १०१-१०२।
२. वही, पृष्ठ १०३।

सीतारमैया) । कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन के साथ-साथ मुस्लिम लीग का अधिवेशन भी इसी समय इसी शहर मे हुआ । ऐसा ही १६१५ मे बम्बई मे हुआ था । दोनो सस्थाम्रो के अधिवेशन एक स्थान पर होने के फलस्वरूप एक महत्वपूर्ण हिन्दू मुस्लिम समझौता हुआ जिसे कांग्रेस लीग योजना या लखनऊ समझौता कहते हैं । इस समझौते के द्वारा कांग्रेस और लीग ने देश के लिए सवैधानिक सुधारो की मांग की और साम्प्रदायिक विषयो पर समझौता किया । कांग्रेस ने पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति को स्वीकार कर लिया और मुसलमानो को जनसख्या से अधिक स्थान देना स्वीकार कर लिया । इस अधिवेशन मे १६०७ के बाद सबसे पहली बार कांग्रेस के दोनो दलो के नेता सम्मिलित हुए । १६१४ के अधिवेशन मे जो सविधान मे सशोधन हुआ उसके द्वारा ही यह सम्भव हो सका था । वास्तव मे यह सयुक्त अधिवेशन देखने योग्य था । लोकमान्य तिलक और खापरडे, रास विहारी घोष और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी एक ही साथ एक ही स्थान पर बैठे हुए थे । श्रीमती ऐनी बेसेन्ट भी अपने दो सहयोगी अरन्डेल और वाडिया साहब के साथ, जिनके हाथो मे होमरूल के झडे थे वहीं बैठी थी । राजा महमूदाबाद, मजहरुलहक, श्री जिन्ना, गाधी जी और श्री पोलक भी उपस्थित थे । इस अधिवेशन मे श्री तिलक और श्रीमती ऐनी बेसेन्ट का ही अधिक प्रभाव था । श्री तिलक ने २३ अप्रैल १६१६ को अपनी होमरूल लीग स्थापित की । श्रीमती बेसेन्ट ने पहली सितम्बर १६१६ ई० को मद्रास के गोखले हाल मे अपनी होमरूल लीग स्थापित की । इस सस्था ने १६१७ मे प्रभाव के साथ श्रीमती बेसेन्ट द्वारा निर्धारित प्रणाली पर काम किया । वे इस सस्था की तीन वर्ष के लिये अध्यक्ष चुनी गई । २३ अप्रैल १६१६ को तिलक ने भी अपनी होमरूल लीग बनाई थी। दोनो के नाम मे गडबड न हो इसलिए श्रीमती ऐनी बेसेन्ट ने अपनी होमरूल लीग का नाम १६१७ मे आल इण्डिया होमरूल लीग रख लिया । तिलक और बेसेन्ट का जनता में बडा प्रभाव था । हर स्थान पर उनका आदर और मान होता था । इस अधिवेशन के समय प्रतिनिधियो और जनता मे बडा उत्साह था । उनको पूरी आशा थी कि भारत का भविष्य उज्ज्वल है । *कांग्रेस के स्वशासन वाले प्रस्ताव मे यह घोषित किया गया कि सम्राट्* की सरकार को चाहिये कि वह इस आशय की एक घोषणा करदे कि ब्रिटिश नीति का यह लक्ष्य है कि भारत मे शीघ्र ही स्वशासन प्रणाली को लागू करें । इस दिशा मे एक सीधा कदम इस प्रकार बढाया जा सकता है कि कांग्रेस लीग योजना को सरकार स्वीकार कर ले और साम्राज्य के पुनर्निर्माण मे भारतवर्ष को पराधीन देशो की स्थिति से निकाल कर *साम्राज्य* के बराबर साझीदारो मे औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त देशो की भांति रखा जाए । लखनऊ कांग्रेस ने एक प्रस्ताव द्वारा डिफेन्स ऑफ इण्डिया एक्ट और १८१८ के तीसरे रेग्यूलेशन (बगाल) के इतने विस्तृत रूप मे प्रयोग को बहुत ही चिन्ताजनक दृष्टि से देखा । प्रान्तीय सरकार ने कांग्रेस के अधिवेशन मे अडचन लगानी चाही परन्तु कोई अडचन नहीं आई । इसका श्रेय सर जेम्स मैस्टन को है । सर जेम्स मैस्टन और उनकी पत्नी अधिवेशन मे

पधारे। सभापति महोदय ने इनका जो स्वागत किया उसका सर जेम्स ने उपयुक्त उत्तर दिया।[1] यहाँ पर हम कांग्रेस लीग समझौता की रूप रेखा देना आवश्यक समझते हैं।

**कांग्रेस लीग योजना**—१९१६ में कांग्रेस और लीग के अधिवेशनों में जो समझौता हुआ उसे कांग्रेस लीग योजना या लखनऊ समझौता (Lucknow Pact) कहते हैं। इस समझौते के दो भाग थे। एक संवैधानिक सुधारों से सम्बन्ध रखता था दूसरा साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति के विषय में था। ब्रिटिश सरकार ने पहले भाग के सुधारों को अस्वीकार किया, परन्तु साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति से सम्बन्धित सुझावों को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया और उन्हें १९१९ के अधिनियम में लागू कर दिया। कांग्रेस लीग योजना की प्रस्तावना महत्वपूर्ण है। इसमें कहा गया कि अब वह समय आ गया है, जबकि सम्राट् इस प्रकार की घोषणा निकालने की कृपा करें कि अंग्रेज शासन नीति का यह उद्देश्य और लक्ष्य है कि वह शीघ्र ही भारत को स्वराज्य प्रदान करें। सरकार से यह भी अनुरोध किया गया कि कांग्रेस लीग योजना को स्वीकार करके स्वराज्य की ओर एक दृढ़ कदम उठाया जाए और साम्राज्य के पुनर्संगठन में भारतवर्ष पराधीनता की अवस्था से ऊपर उठाकर स्वशासित उपनिवेशों की भाँति साम्राज्य के कामों में बराबर का हिस्सेदार बनाया जाए। इस योजना में यह माँग की गई कि प्रान्तों के ऊपर केन्द्रीय नियन्त्रण अधिक न होकर पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदों को आन्तरिक सब विषयों पर कानून बनाने का अधिकार होना चाहिए। उन्हें कर्जा लेने, टैक्स लगाने और बजट पर राय लेने का अधिकार होना चाहिये। प्रान्त के राज्यपाल गैर-सरकारी व्यक्ति होने चाहियें और प्रान्तीय राज्यपाल की कार्यकारिणी के सदस्य गैर-सरकारी होने चाहियें और इनमें से आधे सदस्य प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदों द्वारा निर्वाचित होने चाहियें। प्रान्तीय कार्यकारिणी को प्रान्त की व्यवस्थापिका परिषद द्वारा पास प्रस्तावों पर अमल करना चाहिये। अगर राज्यपाल किसी प्रस्ताव को स्वीकार कर दे और व्यवस्थापिका परिषद् उसे एक साल बाद फिर पास करे तो वह पास समझा जायेगा और लागू हो जायेगा। प्रान्तीय और केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिषदों की सदस्य संख्या बढ़ा दी जाए और $\frac{4}{5}$ सदस्य निर्वाचित होने चाहियें। परिषदों के सदस्य प्रत्यक्ष रूप से जनता के द्वारा ही चुने जायें और मताधिकार जहाँ तक हो सके विस्तृत हो। केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिषद् को वित्त विषय में पूरे अधिकार होने चाहियें। वाइसराय की कार्यकारिणी के सदस्य भारतीय होने चाहियें और केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिषद् के निर्वाचित सदस्यों द्वारा उनका निर्वाचन होना चाहिये। विदेशी मामले और सुरक्षा केन्द्रीय सरकार के हाथ में रहेंगी। परिषदों के सभापति परिषदों के द्वारा ही चुने जाने चाहिये। अनुपूरक प्रश्न पूछने का अधिकार केवल मूल प्रश्न पूछने वाले सदस्य को ही न होकर किसी भी सदस्य को

१. कांग्रेस का इतिहास, पहला खण्ड, पृष्ठ १०७।

होना चाहिए । भारत की कौंसिल तोड़ देनी चाहिये । भारत सचिव का वेतन ब्रिटिश कोष से दिया जाना चाहिये । भारतीय शासन के सम्बन्ध में भारत सचिव की स्थिति यथासम्भव वही होनी चाहिए जो स्वराज्य प्राप्त उपनिवेशों के शासन में उपनिवेश सचिव की है। साम्राज्य सम्बन्धी मामलों का फैसला करने या उन पर नियंत्रण रखने के लिये जो कौंसिल या दूसरी संस्था बनाई जाय उसमें उपनिवेशों के ही समान भारतवर्ष के भी पर्याप्त प्रतिनिधि होने चाहियें । स्थल और जलसेना में हर प्रकार की नौकरियाँ भारतीयों के लिये खुली होनी चाहियें । महत्वपूर्ण अल्पसंख्यक जातियों के प्रतिनिधित्व का निर्वाचन द्वारा, यथेष्ट प्रबन्ध होना चाहिये और प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषद् के लिये मुसलमानों का प्रतिनिधित्व विशेष निर्वाचन क्षेत्रों के द्वारा नीचे लिखे अनुपात में होना चाहिये ।

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| पंजाब | निर्वाचित भारतीय सदस्यों | के | ५० | प्रतिशत | | |
| संयुक्त प्रान्त | ,, | ,, | ,, | ,, | ३० | ,, |
| बंगाल | ,, | ,, | ,, | ,, | ४० | ,, |
| बिहार | ,, | ,, | ,, | ,, | २५ | ,, |
| मध्य प्रदेश | ,, | ,, | ,, | ,, | १५ | ,, |
| मद्रास | ,, | ,, | ,, | ,, | १५ | ,, |
| बम्बई | ,, | ,, | ,, | ,, | ३३⅓ | ,, |

यह भी शर्त है कि किसी गैर-सरकारी सदस्य के द्वारा पेश किये गये किसी ऐसे विधेयक या उसकी किसी धारा या प्रस्ताव के सम्बन्ध में, जिसका एक या दूसरी जाति से सम्बन्ध हो, कोई कार्यवाही न की जायगी, यदि उस जाति के उस विशेष भारतीय या प्रान्तीय कौंसिल के ¾ सदस्य उस विधेयक या उसकी धारा या प्रस्ताव का विरोध करते हों। वह विधेयक या उसकी धारा, या प्रस्ताव किसी विशेष जाति से सम्बन्ध रखता है या नहीं, इसका निर्णय उस परिषद् के उसी जाति वाले सदस्य करेंगे।[1] केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिषद् के निर्वाचित भारतीय सदस्यों में से ⅓ मुसलमान होंगे और उनका निर्वाचन भिन्न प्रान्तों में अलग मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्रों द्वारा होगा । लखनऊ समझौता कांग्रेस की सबसे बड़ी भूल रही है । साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति को स्वीकार करके कांग्रेस ने अपने पुराने सिद्धान्त को ठुकरा दिया । मॉर्ले मिन्टो सुधारों के लागू होने समय सब भारतीय नेताओं ने एक स्वर में पृथक् निर्वाचन पद्धति की निन्दा की थी । यह खेदजनक बात है कि कांग्रेस के नेताओं ने निन्दनीय चीज को स्वीकार कर लिया । संयुक्त निर्वाचन पद्धति द्वारा ही देश में एकता और राष्ट्रीयता उत्पन्न हो सकती है । कांग्रेस के नेताओं का यह विचार था कि पृथक् निर्वाचन पद्धति को मानकर वे राष्ट्रीय संग्राम में मुसलमानों का सहयोग प्राप्त कर सकेंगे । यह उनकी बड़ी भूल थी । ब्रिटिश सरकार ने संवैधानिक सुधारों की योजना को ठुकरा दिया और पृथक् निर्वाचन पद्धति जो देश के लिये हानिकारक

१. कांग्रेस का इतिहास, पृष्ठ २०५ ।

थी उसे अपना लिया। लखनऊ समझौते के बाद मे मुसलमानो की साम्प्रदायिक मॉगे बढती ही गई और ब्रिटिश सरकार ने उनका अवाछनीय लाभ उठाया। कांग्रेस ने साम्प्रदायिक विषयो मे दूरदर्शिता से काम नही लिया और मुसलमानो की अनुचित मॉगो को स्वीकार किया। १९३२ के साम्प्रदायिक निर्णय के विषय मे भी कांग्रेस की नीति राष्ट्रीयता और प्रजातन्त्र के विरुद्ध थी। इस गलत नीति के कारण बाद मे भारतवर्ष के दो टुकडे हो गये। श्री गैरट ने कहा है कि लखनऊ समझौते को तय करते हुए भारतीय नेताओ ने इसके परिणाम की ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया।[1]

हम पहले ही लिख चुके हैं कि १९१६ मे श्रीमती ऐनी बेसेन्ट और श्री तिलक ने अपनी-अपनी होमरूल लीगें स्थापित की। वे दोनो नेता नरम दल की नीति मे असन्तुष्ट थे और राष्ट्रीय आन्दोलन को शीघ्रता से चलाना चाहते थे। कांग्रेस मे शामिल होने मे उनका अभिप्राय होमरूल को कांग्रेस द्वारा पास करवाने का था। १९१६ मे कांग्रेस लीग समझौता होने मे उनको बडा प्रोत्साहन मिला और उन्होने इस समझौते का देश मे अच्छी तरह प्रचार किया। १९१७ मे सारे देश में बहुत शीघ्रता के साथ एक राष्ट्रीय जागृति पैदा हो गई थी। होमरूल के लिये जो विराट आन्दोलन इस वर्ष हुआ वह भी बहुत लोकप्रिय था। पुलिस ने इस आन्दोलन को दबाने का भरसक प्रयत्न किया। मद्रास के राज्यपाल लार्ड पैन्टलैण्ड ने विद्यार्थियो को राजनैतिक आन्दोलन मे भाग लेने से रोका। श्रीमती बेसेन्ट के जिनका न्यू इण्डिया नामक दैनिक और कौमनवील नामक साप्ताहिक पत्र निकलता था प्रेस और पत्र के लिये २=००० रुपये की जमानत मागी गई और वह जब्त भी कर ली गई। इस आन्दोलन मे स्त्रियों ने भी भाग लिया। १५ जून १९१७ को श्रीमती बेसेन्ट, अरुन्डेल और वाडिया साहब को नजरबन्दी की आज्ञा दी गई। इन तीनों नेताओ की नजरबन्दी के कारण होमरूल लीग और भी लोकप्रिय हो गई और श्री जिन्ना भी इसमे सम्मिलित हो गये। श्री मॉन्टेग्यू ने अपनी डायरी मे एक कहानी लिखी है जो बडी ही रोचक है। शिव ने अपनी पत्नी के ५२ टुकडे कर दिये थे परन्तु अन्त मे उन्हे पता चला कि उनके एक नही ५२ पार्वतियाँ मौजूद है। वास्तव मे यही बात भारत सरकार पर घटी जबकि उसने श्रीमती बेसेन्ट को नजरबन्द किया। श्रीमती बेसेन्ट ने मद्रास प्रान्त होमरूल का प्रचार किया और महाराष्ट्र मे तिलक ने अपनी होमरूल लीग द्वारा होमरूल का प्रचार किया। उनके साथ भी कठोरता का व्यवहार किया गया और बडी रकम की जमानतें मागी गई। तिलक ने जमानत देने से इन्कार कर दिया। बम्बई हाईकोर्ट ने जमानत के विरुद्ध तिलक की अपील स्वीकार की। इन सब कार्यवाहियो से तिलक बडे लोकप्रिय हो गये, और होमरूल के आन्दोलन मे जनता की श्रद्धा बढ गई। श्रीमती ऐनी बेसेन्ट १९१७ के कलकत्ता कांग्रेस के अधिवेशन की सभापति रहीं। उनका अध्यक्षात्मक भाषण "भारत के

१. जे० पी० गैरट: इण्डियन कॉन्सटीट्यूशनल डेवलपमेंट एण्ड नेशनल मूवमेन्ट, पृष्ठ ६३।

स्वशासन पर परिश्रमपूर्वक लिखा गया एक सुन्दर निबन्ध है" । इस अधिवेशन में पास हुए प्रस्ताव कुछ पहले ही ढग के थे । एक प्रस्ताव द्वारा मिस्टर मोन्टेग्यू का स्वागत किया गया । १० दिसम्बर को सरकार ने रौल्ट कमीशन की नियुक्ति की घोषणा की थी । कांग्रेस ने एक प्रस्ताव द्वारा इसकी निन्दा की क्योंकि इस कमीशन का उद्देश्य दमन के लिये नये कानूनों की व्यवस्था करना था । मुख्य प्रस्ताव स्वराज्य के सम्बन्ध में था जो इस प्रकार है "सम्राट् के भारत सचिव न शाही सरकार की ओर से यह घोषित किया है कि उसका उद्देश्य भारत में उत्तरदायी शासन स्थापित करना है—इस पर यह कांग्रेस कृतज्ञतापूर्वक सन्तोष प्रकट करती है । यह कांग्रेस इस बात की आवश्यकता पर जोर देती है कि भारतवर्ष में स्वशासन की स्थापना का विधान करने वाला एक ससदीय कानून बने और उसमें बताये हुए समय तक पूरा स्वराज्य मिल जाय । कांग्रेस की यह दृढ राय है कि शासन सुधार की कांग्रेस-लीग योजना कानून के द्वारा सुधार की पहली किस्मत के रूप में प्रारम्भ की जानी चाहिये ।"

**प्रथम महायुद्ध और उसका प्रभाव**—सन् १९१४ में प्रथम विश्व युद्ध आरम्भ हो गया इसका भारतीय राजनीति पर गहरा प्रभाव पड़ा । इससे सारे देश में राष्ट्रीय जागृति फैल गई । समस्त भारतीय जनता ने इस युद्ध में ब्रिटिश सरकार का साथ दिया । तन-मन-धन से जनता ने सहयोग दिया । भारतीयों के साथ लार्ड हार्डिंग्ज का व्यवहार सहानुभूतिपूर्ण था, इससे वे लोकप्रिय बन गये थे । १९११ में उन्होंने लन्दन सरकार को एक प्रेषण भेजा जिसमें उन्होंने प्रान्तीय स्वायत्त शासन का सुझाव दिया था । बग विच्छेद को रद्द कराने का श्रेय भी उन्हें ही है । भारत सचिव लार्ड क्रीव ने प्रान्तीय स्वायत्त शासन का विरोध किया परन्तु लार्ड हार्डिंग्ज अपने सुझावों पर दृढ रहे और अन्त में उन्ही की जीत हुई । लार्ड हार्डिंग्ज ने दक्षिण अफ्रिका के भारतवासियों का भी पक्ष लिया और वहाँ की सरकार के कार्यों को अनुचित ठहराया । उन्होंने आग्रह किया कि भारतीय सेना को भी महत्वपूर्ण मोर्चों पर भेजा जाय । जिन मोर्चों की हार और विजय का युद्ध पर प्रभाव पड़े और भारतीय सेना के साथ समानता का बर्ताव होना चाहिये । इसी कारण भारतीय सेना फ्रांस, मैसोपोटामिया और अन्य महत्वपूर्ण मोर्चों पर भेजी गई । भारतीय जनता को लार्ड हार्डिंग्ज के व्यक्तित्व में विश्वास था । इसी कारण भारतीय व्यवस्थापिका परिषद् ने बिना विरोध के 'डिफेन्स ऑफ इण्डिया ऐक्ट' को पास कर दिया । यदि युद्ध का समय न होता तो उसका बड़ा विरोध होता । भारतीयों ने प्रसन्नतापूर्वक इगलैंड को लड़ाई लड़ने के लिये १० करोड़ पौंड का दान दे दिया । इस समय इगलैंड को भारत द्वारा दी गई सहायता सबसे अधिक मूल्यवान और महत्वपूर्ण थी । भारतीय नेताओं ने फौज की भरती में पूरा सहयोग दिया । सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने नगर-नगर में दौरे किये और फौज में भरती होने और साम्राज्य के लिये लड़ने के लिये जनता से आग्रह किया । उन्होंने तीस से अधिक सभाओं में भाषण दिये । उन्होंने कहा कि भारतीयों को साम्राज्य की नागरिकता के योग्य होने

के लिये साम्राज्य की रक्षा करनी चाहिये। उनकी अपील का जनता पर बड़ा प्रभाव पड़ा और बहुत सी सभाओं में तो एक मनुष्य ने भी उनका विरोध नहीं किया। उन्होंने ६ हजार से अधिक बंगाली नवयुवकों को सेनाओं में भरती कराया और बहुत से नौजवान अपने माता-पिता के कहने के विरुद्ध भी सेना में भरती हुए।[1] महात्मा गांधी और उनके साथियों ने भी सेना की भरती में योग दिया। महात्मा गांधी का सहयोग बिना किसी उद्देश्य के था। वे ब्रिटिश साम्राज्य की सच्चे मन से सेवा करना चाहते थे परन्तु दूसरे नेताओं का विचार भिन्न था। वे सोचते थे कि युद्ध में सहयोग देने से हमें स्वराज्य प्राप्त होगा और भारतीय सरकार को चलाने में हमारा हाथ होगा। कांग्रेस ने इसी कारण सरकार को युद्ध में पूरा सहयोग दिया। १९१५ में कांग्रेस के अध्यक्षात्मक भाषण से लार्ड सिन्हा ने ब्रिटिश सरकार से प्रार्थना की कि ब्रिटिश सरकार का ध्येय भारतवासियों को स्वराज्य देना है। १९१६ की लखनऊ कांग्रेस ने एक प्रस्ताव द्वारा प्रार्थना की कि सम्राट् को सरकार को चाहिये कि वह कृपा पूर्वक इस आशय की एक घोषणा कर दें कि ब्रिटिश नीति का यह लक्ष्य है कि भारत में शीघ्र ही स्वशासन प्रणाली को जारी करे और साम्राज्य के पुनर्निर्माण में भारतवर्ष को आधीन देशों की स्थिति से निकाल कर साम्राज्य के बराबर के साझीदारों में औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त प्रदेशों की भांति रखा जाय। युद्ध के कारण ही कांग्रेस को ऐसे प्रस्ताव पास करने का साहस हुआ।

इसके साथ ही ब्रिटिश और उनके सहयोगी राजनीतिज्ञों के भाषण और घोषणाओं ने जनता में स्वशासन के लिये उत्साह पैदा कर दिया। ब्रिटेन के प्रधान मंत्री एसक्वीथ ने कहा कि भविष्य में भारतीय प्रश्नों को नये ढंग से सुलझाना चाहिये। ब्रिटेन के सहयोगी राष्ट्रों की इस घोषणा से कि वे आत्मनिर्णय के अधिकार के लिये लड़ रहे थे जनता बड़ी प्रभावित हुई। श्री लायड जार्ज ने कहा कि यह सिद्धान्त छोटे और बड़े राष्ट्रों पर लागू किया जायेगा। यह भी बताया गया कि विश्व में प्रजातन्त्र की रक्षा करने के लिये ही युद्ध लड़ा जा रहा है। भविष्य में कोई राष्ट्र एक दूसरे के ऊपर बिना उसकी अनुमति के राज्य नहीं कर सकेगा। विल्सन ने तो यहाँ तक कह दिया," राष्ट्रीय उद्देश्यों का आदर किया जाना चाहिये। अब जनता पर विजय और शासन उसकी स्वीकृति के बाद ही हो सकता है। आत्म-निर्णय एक व्हावत मात्र नहीं है। यह कार्य का आवश्यक सिद्धान्त है जिसे राजनीतिज्ञ यदि भुलायेंगे तो एक खतरा ही मोल लेंगे।" भारतीयों ने इन सब बातों का विश्वास किया जैसा कि उन्होंने लार्ड रिपन और लार्ड मॉर्ले के समय में किया था। भारतवासियों का यह भी विचार था कि पूर्वी अफ्रीका से जर्मनी को हराकर वह भारतीयों का उपनिवेश बना दिया जायेगा।

युद्ध ने भारतीयों में आत्मविश्वास उत्पन्न किया। सर एस० पी० सिन्हा के

---

१. सुरेन्द्रनाथ बनर्जी : ए नेशन इन मेकिंग, पृष्ठ ३०१।

शब्दो मे, उनके मन मे यह विश्वास हुआ कि साम्राज्य की रक्षा करने मे वे किसी से पीछे नही रहे और कठिन से कठिन मुसीबतो को सहा। यह समय भारतीयो की परीक्षा का था और वह उसमे सफल रहे। इस कारण उनकी स्थिति और अस्तित्व बढ गया था। मोन्टेग्यू व चेम्सफोर्ड ने कहा कि इन सब बातो को ध्यान मे रखकर ब्रिटेन का कर्त्तव्य था कि भारत की स्थिति और नये अस्तित्व को श्रेय दे। बहुत से मनुष्यो की यह मॉग थी कि युद्ध मे सहयोग देने के फलस्वरूप उन्हे कुछ लाभ होना चाहिये। जनता मे यह आम विश्वास था कि भारत मे एक अधिक उदार प्रकार की सरकार स्थापित होनी चाहिये।[1]

युद्ध मे लडने के लिए भारतीय सैनिक विदेश के भिन्न-भिन्न कोनो मे गये। उन्होने वहाँ पर स्वशासन का वास्तविक रूप देखा। उन्हे भी यह प्रतीत होने लगा कि हमारा देश स्वतन्त्र होना चाहिए। वे अंग्रेजी सेना के साथ साथ न्याय और अधिकारो की रक्षा के लिये लडे और ऐसे दृश्य ने उनकी कल्पनाओ को और बढा दिया। वे इस बात मे गौरव और प्रसन्नता का अनुभव करने लगे कि वे दुनिया के सबसे अधिक सुदृढ और सुव्यवस्थित शत्रु के साथ लड रहे हैं।

प्रथम महायुद्ध के कारण भारत मे उग्रगामी दल के नेताओ को प्रोत्साहन मिला। श्री लोकमान्य तिलक और श्रीमती ऐनी बेसेन्ट के नेतृत्व मे होम रूल लीगो की स्थापना हुई। श्री तिलक ने अपनी होमरूल लीग अप्रैल १९१६ मे पूना मे स्थापित की। श्रीमती बेसेन्ट ने १९१६ के सितम्बर मास मे मद्रास मे अपनी होम रूल लीग स्थापित की। दोनो लीगो के उद्देश्य लगभग एक थे। युद्ध के प्रारम्भ के साथ-साथ ही इन दोनो नेताओ ने होमरूल के लिए आन्दोलन करने की सोची। उन्हे यह अनुभव होने लगा कि स्वराज्य प्राप्ति के लिये यह अच्छा अवसर है। अपने ध्येय की प्राप्ति के लिये वे कांग्रेस मे भी शामिल हो गये और १९१६ के कांग्रेस लीग समझौते के बनाने मे उनका पूर्ण सहयोग था। सरकार ने होमरूल लीग के दोनो नेताओ के साथ कठोर व्यवहार किया। उनके पत्रो से जमानतें मांगी। श्रीमती बेसेन्ट को तो मद्रास मे ही नजरबन्द कर दिया गया। सरकार ने विद्यार्थियो के आन्दोलन पर भी रुकावटे लगाई। सरकार के दमनकारी कार्य के फलस्वरूप इन नेताओ का जनता मे बड़ा आदर हुआ और इनके उद्देश्यो की पूर्ति की आशा होने लगी। इस तरह युद्ध के कारण अप्रत्यक्ष रूप से भारतीय राष्ट्रीय जागृति को प्रोत्साहन मिला।

प्रथम महायुद्ध के कारण हिन्दू-मुसलमानो के सम्बन्ध भी अच्छे हो गये। मुस्लिम लीग एक राष्ट्रवादी संस्था हो गई, उसके उद्देश्यो और ध्येय मे परिवर्तन होने लगा। उसके अधिवेशन कांग्रेस के साथ होने लगे और दोनो संस्थाओ मे अच्छे सम्बन्ध होने की आशा होने लगी और दोनो एक ही उद्देश्य की पूर्ति करने लगे। मोन्टेग्यू और चेम्सफोर्ड ने लिखा है कि मरोको और परशिया के मुस्लिम राजतन्त्रो

---

१. रिपोर्ट आन इन्डियन कान्सटीट्यूशनल रिफार्म्स, पृष्ठ १४।

के अन्त होने के बाद भारतीय मुसलमान टर्की से सहानुभूति करने लगे क्योंकि विश्व में वह ही महान मुस्लिम शक्ति रह गई थी और जब टर्की पर पहले इटली ने और बाद में बालकान लीग ने हमला किया तो भारतीय मुसलमानों ने यह समझा कि विश्व की ईसाई शक्तियाँ दुनिया से मुसलमानों का नामो निशान मिटाना चाहती है।[1] १९११ के इटली और टर्की के युद्ध में ब्रिटेन का तटस्थ रहना भारतीय मुसलमानों को बहुत अखरा, उन्हें यह आशा थी कि भारत के ७ करोड़ मुसलमानों की भावना का सम्मान करने के लिए ब्रिटेन टर्की की सहायता करेगा। बंग विच्छेद का रद्द होना उन्हें और भी बुरा लगा क्योंकि उनके हाथों से एक मुस्लिम प्रान्त चला गया। बालकान युद्ध के कारण मुसलमान अंग्रेजों से अप्रसन्न हो गये। दिसम्बर १९१२ में भारतीय मुसलमानों ने टर्की को एक मेडिकल मिशन भेजा। इन सब कारणों से मुसलमान ब्रिटिश सरकार की नीति से असन्तुष्ट हो थे ही परन्तु जब ब्रिटेन ने पहले महायुद्ध में टर्की के विरुद्ध लड़ाई आरम्भ की तो उनका क्रोध भभक उठा और मुसलमान नेताओं ने राष्ट्रीयता की ओर कदम उठाया। इन सब परिस्थितियों के कारण मुस्लिम लीग और कांग्रेस में संवैधानिक और साम्प्रदायिक विषयों पर समझौता हो गया जिसे १९१६ का लखनऊ का समझौता कहते हैं। इस वर्ष दोनों संस्थाओं ने भारतीय स्वराज्य की माँग की और इस आशय का एक प्रस्ताव पास किया। यह प्रस्ताव भारतीय व्यवस्थापिका परिषद् के १९ सदस्यों द्वारा लार्ड चेम्सफोर्ड को दिये गए ज्ञापन पत्र पर आधारित था। इन १९ निर्वाचित सदस्यों में वी० एस० श्रीनिवास शास्त्री, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, सर इब्राहीम रहीमतुल्ला और श्री एम० ए० जिन्ना भी सम्मिलित थे। इस ज्ञापन पत्र में कहा गया "हम अच्छी और निपुण सरकार ही नहीं चाहते बल्कि हम वह सरकार चाहते हैं जो जनता को स्वीकृत और उत्तरदायी हो, नये दृष्टिकोण से भारतीयों का ध्येय यही था। अगर युद्ध के उपरान्त भारत की स्थिति जैसे पहली थी वैसे रही तो भारत की सामान्य प्रयत्नों द्वारा सामान्य भय का मुकाबला करने के अच्छे प्रभाव नष्ट हो जायेंगे और जिन आशाओं को वे पूरी करना चाहते थे उनके पूरा न होने के कारण भारतीयों में एक निराशापूर्ण स्मृति रह जायेगी।" इस तरह यह स्पष्ट है कि हिन्दू-मुस्लिम नेता युद्ध के बाद स्वराज्य प्राप्ति की आशा रखते थे। युद्ध के कारण ही लखनऊ का समझौता सम्भव हो सका और हिन्दू-मुसलमान एक स्वर से अपनी माँग ब्रिटिश सरकार के सामने रख सके।

सन् १९१६ का वर्ष भी भारतीयों के लिये बड़ा महत्वपूर्ण है। इस वर्ष हिन्दू-मुसलमानों, उग्र व नम्र दल के नेताओं में मेल हुआ। उस वर्ष ही एस्क्वीथ के स्थान पर लायड जार्ज इग्लैंड के प्रधानमन्त्री बने। लार्ड क्रीव की जगह ऑस्टीन चेम्बरलेन भारत सचिव बने। अप्रैल १९१६ में लार्ड हार्डिञ्ज ने भारत छोड़ा और उनकी जगह लार्ड चेम्सफोर्ड वाइसराय बने। इस समय लखनऊ समझौते के होते हुए भी

१. रिपोर्ट ऑन इन्डियन कन्स्टीट्यूशनल रिफार्म्स, पृष्ठ १५।

ऐसी आशा नहीं थी कि ब्रिटिश सरकार भारत के पक्ष में कोई महत्वपूर्ण कदम उठायेगी। इसी कारण १९ सदस्यों ने लार्ड चेम्सफोर्ड को स्वराज्य के विषय में एक ज्ञापन पत्र पेश किया था। लार्ड क्रीव का व्यवहार बड़ा प्रतिक्रियावादी था। उसने जून १९१२ में हाउस ऑफ लार्ड्स में बोलते हुए कहा था, "भारत में कुछ ऐसे मनुष्य हैं जो यह सोचते हैं कि स्वशासित अधिराज्यों की तरह भारत को भी स्वराज्य दिया जा सकता है, मैं भारत के भविष्य के लिए इन दिशाओं में नहीं सोच सकता।" भारतीय जनता ब्रिटिश सरकार को युद्ध को जारी रखने में पूरा सहयोग दे रही थी, परन्तु ब्रिटिश सरकार भारत के भविष्य के विषय में कुछ नहीं कहती थी। इसी बीच जब १९१६ में मक्का शरीफ ने अपने प्रभु के विरुद्ध विद्रोह किया तो मुसलमानों ने उसे इंगलैंड के आधीन कहा। इसी समय एक ऐसी घटना हुई जिसके कारण ब्रिटिश सरकार को भारत के विषय में अपनी नीति बदलनी पड़ी। टर्की ने ५ नवम्बर १९१४ को मित्रराष्ट्रों के विरुद्ध लड़ाई करनी आरम्भ कर दी। तब से फरवरी १९१६ तक टर्की के विरुद्ध युद्ध का कार्य भार भारत सरकार को सौंपा गया। ५ नवम्बर १९१४ से २९ अप्रैल १९१५ तक सैनिक कार्य पूरी तरह सरकार के हाथ में था। इसके बाद में ब्रिटिश सेना विभाग ने इस उत्तरदायित्व को सम्भाला। भारतीय सरकार द्वारा सैनिक संचालन बड़ा खराब रहा। डा० जकरियास इसे मेसोपोटामिया की गड़बड़ (The Mesopotamia Muddle) कहता है। सिपाहियों की मरहम पट्टी और दवा दारू की व्यवस्था ठीक प्रकार नहीं की गई और न उन्हें ठीक प्रकार कुछ सुविधायें ही दी गई। जब इंगलैण्ड की जनता को इन बातों का पता चला तो उनमें बड़ा रोष उत्पन्न हुआ और इस कारण संसद ने १९१६ में एक मेसोपोटामिया कमीशन स्थापित किया। इस कमीशन ने मई १९१७ में अपनी रिपोर्ट पेश की और इस रिपोर्ट ने सब सन्देहों और अफवाहों को ठीक साबित कर दिया।[1] इस रिपोर्ट के विषय में महत्वपूर्ण बात यह है कि इसने भारत सरकार के ढाँचे को दोषपूर्ण बताया। भारत सरकार के अधिकारों पर कोई नियन्त्रण नहीं था। वह जो चाहे कर सकती थी। ऐसी पद्धति दोषपूर्ण थी। रिपोर्ट के अनुसार सारी शक्ति एक ही मनुष्य के हाथ में केन्द्रीभूत थी। शिमले में राजधानी होने के कारण सरकार जनता की भावनाओं से अवगत नहीं थी। भारतीय सरकार के सैनिक शासन की व्यवस्था बड़ी शोचनीय थी। केन्द्रीयकरण के कारण नौकरशाही प्रत्येक कार्य में विफल रही।[2] श्री जोशवा सी० वैजवुड ने जो इस कमीशन के एक सदस्य थे अपनी अल्प मत रिपोर्ट में कहा, "मेरी अन्तिम सिफारिश है कि हम भारतीयों को नागरिकता के पूरे अधिकारों से वंचित नहीं रखना चाहिए। देश की सरकार में भारतीयों का पूरा-पूरा हाथ होना चाहिए। भारतवासियों को उस नौकरशाही पर भी नियन्त्रण रखना चाहिए जिसने इस युद्ध में जनमत के नियन्त्रण के अभाव में ब्रिटिश स्तर को

१. एन० सी० ई० जकरियास : रिनेसेन्ट इन्डिया, पृष्ठ १७० ।

२. वही, पृष्ठ १७१ ।

कायम रखने में असफलता दिखाई है।"[1] इस रिपोर्ट ने भारतीयों की स्वराज्य की माँग का समर्थन किया। इस रिपोर्ट के कारण ही जुलाई सन् १९१७ में भारत सचिव श्री आस्टिन चेम्बरलेन को त्याग पत्र देना पड़ा। उनकी जगह श्री ई० एस० मोन्टेग्यू भारत सचिव बने और उन्होंने ही २० अगस्त १९१७ को भारत के विषय में एक महत्वपूर्ण घोषणा की।

**मोन्टेग्यू की घोषणा**—ऊपर लिखित परिस्थितियों के कारण ब्रिटिश सरकार को विवश होकर भारत के भविष्य के विषय में एक महत्वपूर्ण घोषणा करनी पड़ी। इस समय युद्ध में मित्र राष्ट्रों की स्थिति बड़ी शोचनीय थी और वे भारत जैसे विशाल देश को असन्तुष्ट नहीं रखना चाहते थे। यह घोषणा भारत सचिव श्री ऐडविन सैम्यूबल मोन्टेग्यू (१८७९-१९२४) द्वारा २० अगस्त १९१७ को की गई। वे लार्ड मोर्ले के आधीन उपभारत सचिव १९१४ तक रहे। भारत सचिव बनने से पहले वे मिनिस्टर ऑफ म्यूनिशन्स थे। वे पाँच साल तक भारत सचिव रहे। इस घोषणा को करते समय मोन्टेग्यू साहब बिलकुल नौजवान थे। उनकी अवस्था ३६ वर्ष के लगभग थी १९१२ में वे भारतवर्ष का पूरा दौरा भी कर चुके थे। भारतीयों ने उनकी नियुक्ति पर बड़ा हर्ष प्रकट किया। मन्त्रीपद का कार्य सम्भालने के कुछ ही समय बाद २० अगस्त १९१७ को मन्त्रीमण्डल की ओर से श्री मोन्टेग्यू ने निम्नलिखित घोषणा की जिसमें ब्रिटिश नीति का अन्तिम ध्येय भारत को उत्तरदायित्वपूर्ण शासन प्रणाली देना बताया गया—"सम्राट-सरकार की यह नीति है और उसमें भारत सरकार पूर्णतः सहमत है, कि भारतीय-शासन के प्रत्येक विभाग में भारतीयों का सम्पर्क उत्तरोत्तर बढ़े और उत्तरदायी शासन प्रणाली का धीरे-धीरे विकास हो, जिससे कि अधिकाधिक प्रगति करते हुए स्वशासन प्रणाली भारत में स्थापित हो और वह ब्रिटिश-साम्राज्य के एक अंग के रूप में रहे। उन्होंने यह तय कर लिया है कि इस दिशा में जितना शीघ्र हो ठोस रूप से कुछ कदम आगे बढ़ाया जाय।"

'मैं इतना और कहूँगा", श्री मोन्टेग्यू ने कहा, "इस नीति में प्रगति क्रमशः ही अर्थात् धीरे धीरे होगी। ब्रिटिश सरकार और भारत सरकार ही जिनके ऊपर कि भारतीयों के हित और उन्नति का भार है कब और कितना कदम आगे बढ़ाना चाहिए इस बात के निर्णायक होंगे। वे एक तो उन लोगों के सहयोग को देखकर ही आगे बढ़ने का निश्चय करेंगे जिन्हें कि इस तरह सेवा का नया अवसर मिलेगा और दूसरे यह देखा जायेगा कि किस हद तक उन्होंने अपने उत्तरदायित्व को ठीक-ठीक निभाया है और इसलिए कितना विश्वास उन पर किया जा सकता है। पार्लियामेंट के सम्मुख जो प्रस्ताव पेश होंगे उन पर सार्वजनिक रूप से वाद-विवाद करने के लिये पर्याप्त समय दिया जायेगा।" घोषणा पत्र में श्री मोन्टेग्यू ने यह भी बताया कि वे वाइसराय के निमन्त्रण पर भारत आयेंगे और वहाँ पर

१. एच० मो० ई० जकरियास : रिनेसेन्ट इंडिया, पृ० १७२।

भारत सरकार, प्रान्तीय सरकार और प्रतिनिधि निकायों के साथ इन विषयों पर वार्तालाप करेंगे।

सन् ६ अक्टूबर को इलाहाबाद में कांग्रेस की महासमिति और मुस्लिम लीग की कौंसिल की एक सम्मिलित बैठक हुई। इस बैठक में वाइसराय तथा भारत सचिव के पास एक शिष्ट-मण्डल भेजने की बात तय की गई। यह शिष्ट-मण्डल एक आवेदन पत्र के साथ लार्ड चेम्सफोर्ड और श्री मोन्टेग्यू से नवम्बर १९१७ में मिला। यह आवेदन पत्र इस प्रकार है "भारत सरकार की अनुमति से सम्राट सरकार की ओर से जो अधिकारपूर्ण घोषणा की गई है, उसके लिये भारतवासी बड़े ही कृतज्ञ हैं, पर इसके साथ ही यदि उनके आवेदन पत्र के अनुसार कार्यवाही की जाए तो उन्हें और भी अधिक सन्तोष होगा • •।" सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने श्री मोन्टेग्यू की घोषणा को १९१७ की सबसे अधिक उत्तेजना उत्पन्न करने वाली घटना कहा है। उन्होंने इस बात पर अधिक प्रसन्नता दिखाई कि भारत सचिव एक शिष्ट-मण्डल के साथ भारतीय नेताओं से परामर्श करने के लिए स्वयं भारत आ रहे हैं। उन्हें मोन्टेग्यू की ईमानदारी में बिलकुल भी शक नहीं था। उन्होंने लिखा है कि "अंग्रेजों से सम्बन्धित भारतीयों के इतिहास के पृष्ठ टूटी हुई प्रतिज्ञाओं से भरे पड़े हैं, परन्तु अब एक नया अध्याय आरम्भ होने वाला है।"[1]

मोन्टेग्यू और चेम्सफोर्ड ने इस घोषणा के विषय में इस प्रकार लिखा है, "भारत के लम्बे इतिहास में इस घोषणा के शब्द सबसे महत्वपूर्ण हैं। इन शब्दों द्वारा ब्रिटिश सरकार ने भारत के ३० करोड़ मनुष्यों के लिए स्पष्ट शब्दों में एक नई नीति अपनाने की प्रतिज्ञा की है।•••इस घोषणा से एक (पुराने) युग का अन्त होता है और एक नये युग का प्रारम्भ होता है।"[2] इस घोषणा में ब्रिटिश सरकार ने सबसे प्रथम बार यह स्वीकार किया कि उनका ध्येय भारत में उत्तरदायी सरकार स्थापित करना है और इस दिशा में दृढ़ कदम बढ़ाना है। इतने पर भी इस घोषणा पत्र में बहुत से प्रतिबन्ध और सावधानी बरती गई है, जिसके कारण यह घोषणा-पत्र समस्त भारतवासियों को सन्तुष्ट न कर सका।[3] ब्रिटिश सरकार ने भारत में उत्तरदायी सरकार स्थापित करने का अन्तिम ध्येय तो अवश्य बताया परन्तु यह स्पष्ट नहीं किया कि यह ध्येय वे कब तक पूरा करेंगे। उत्तरदायी सरकार के विषय में 'धीरे विकास' शब्दों का प्रयोग ठीक नहीं है ये शब्द अपूर्ण अविकसित हैं और वे स्पष्ट नहीं है, उनका अर्थ कुछ भी लगाया जा सकता है। इसी प्रकार 'ठोस रूप से कुछ कदम भी अस्पष्ट हैं। ब्रिटिश सरकार का यह कहना है कि उनकी नीति में प्रगति सीढ़ी दर सीढ़ी होगी बड़ा ही असन्तोषजनक है। घोषणा में यह भी बताया गया कि भारतीय जनता के विकास और भलाई का उत्तरदायित्व ब्रिटिश सरकार और भारतीय

१. सुरेन्द्रनाथ बनर्जी : ए नेशन इन मेकिंग, पृष्ठ ३०२।
२. रिपोर्ट ऑन इण्डियन कॉन्सटीट्यूशनल रिफॉर्म्स, पृष्ठ १।
३. एच० सी० ई० जकरियास : रिनेसेन्ट इण्डिया, पृष्ठ १७१।

सरकार पर है। ऐसा कहना भारतवासियों की भावनाओं को ठेस पहुँचाना था। घोषणा में यह भी बताया गया कि प्रगति कितनी और किस समय हो इसका निर्णय भी ब्रिटिश सरकार ही करेगी। यह प्रगति भारतीय जनता के सहयोग पर आधारित रहेगी। अगर भारतीय जनता सहयोग न दे तो यह प्रगति मन्द भी हो सकती है। इस प्रकार घोषणा-पत्र में बहुत से प्रतिबन्ध लगाये गये थे, जिनके कारण उसका महत्त्व कम हो गया। परन्तु फिर भी यह घोषणा भारत के राजनैतिक भविष्य के विषय में एक प्रगतिशील और नया कदम था। इसमें एक ध्येय भारतवासियों के समक्ष रक्खा गया था।

मॉन्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट—अपनी घोषणा करने के कुछ महीने बाद श्री मॉन्टेग्यू भारत आये। वे नवम्बर १९१७ से मई १९१८ तक भारत में रहे। उन्होंने लार्ड चेम्सफोर्ड के साथ देश का भ्रमण किया और बहुत से अंग्रेज और भारतीय गवाहों की गवाहियाँ लीं। वे दो-दो या तीन-तीन आदमियों से एक साथ मुलाकात करते थे। श्री आर० एन० माधोलकर और श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने एक साथ गवाही दी। श्री बनर्जी ने श्री मॉन्टेग्यू से द्वैधशासन (Dyarchy) के विषय में बातचीत की। द्वैधशासन के जन्मदाता श्री लियोनल कर्टिस बताये जाते हैं। श्री कर्टिस इसी समय भारत आए और यहाँ के नेताओं और अधिकारियों से इस विषय में बातचीत की। श्री कर्टिस द्वैधशासन को पूर्ण उत्तरदायी सरकार के मध्यस्थ मार्ग (half way house) समझते थे, उन्होंने अपनी बातचीतों द्वारा इस नई सरकारी पद्धति के विषय में सबको सन्तुष्ट कर दिया। श्री मॉन्टेग्यू ने भारत आने से पहले ही श्री कर्टिस की योजना को मान लिया था। श्री मॉन्टेग्यू इस विचार से भारत में आये थे कि वे भारतवासियों को एक अधिक मात्रा में उत्तरदायित्व देंगे और उनका यह विश्वास था कि अधिकारी वर्ग उनके प्रयत्नों में सहयोग देगा परन्तु जब वे भारत आये तो उन्हें बड़ी निराशा हुई। नौकरशाही के मस्तिष्क में सुधार करने के विचार आए ही नहीं थे और वे यह सोचते थे कि भारत का शासन पहले की तरह ही चलता रहे। क्रोध में आकर मॉन्टेग्यू ने अपनी डायरी में लिखा, "मैं चाहता था कि मैं इस खराब नौकरशाही को यह बता सकूँ कि हम भूकम्प के किनारे बैठे हुए हैं।"[1] श्री मॉन्टेग्यू ने भारत में आने से पहिले ही अपने मन में भारतीय सरकार के भविष्य में सोच रक्खा था, परन्तु उसने भ्रमण के बाद अपने विचारों में कुछ परिवर्तन कर दिया। परन्तु जो कुछ वे भारतवासियों के लिये करना चाहते थे वे न कर सके। अन्त में इंगलैंड लौटकर उन्हें यह कह कर ही सन्तोष करना पड़ा कि उन्होंने युद्ध की कठिन परिस्थिति में भारत को छः महीने तक शान्त रक्खा और इस समय में भारतीय राजनीतिज्ञ सिवाय उनके मिलने के और कुछ नहीं सोचते रहे।[2] मॉन्टेग्यू की घोषणा से पहले श्रीमती बेसेन्ट को मद्रास प्रान्त में नजरबन्द कर दिया गया था परन्तु

१. एडविन एस० मॉन्टेग्यू : एन इण्डियन डायरी, पृष्ठ ७०।
२. वही, पृष्ठ ३८८।

घोषणा के बाद और श्री मोन्टेग्यू के भारत में आने से पहले उन्हें मुक्त कर दिया गया था। १६१७ की दिसम्बर माह की कांग्रेस अधिवेशन की सभापति श्रीमती बेसेन्ट बनीं। कांग्रेस अधिवेशन से एक महीने पहले वे और तिलक मोन्टेग्यू से दिल्ली में मिले और उन्हें अधिवेशन में शामिल होने के लिये निमन्त्रण दिया गया, श्री तिलक ने उन्हें माला पहनाई।

मई १६१८ में श्री मोन्टेग्यू इंगलैंड वापिस पहुँचे और ८ जुलाई १६१८ को मोन्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट प्रकाशित हुई और ब्रिटिश संसद के समक्ष रखी गई। उग्रगामी दल के नेताओं ने इसका कट्टर विरोध किया। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के शब्दों में रिपोर्ट का प्रकाशन युद्ध का सूचक था। श्रीमती बेसेन्ट ने अपने पत्र न्यू इण्डिया में लिखा कि मोन्टेग्यू चेम्सफोर्ड योजना न तो इंगलैंड की ओर से देने योग्य थी और न भारतीयों के स्वीकार करने योग्य थी। उसी दिन मद्रास के १५ व्यक्तियों ने एक वक्तव्य निकाला जिसमें उन्होंने लिखा कि सिद्धान्त और विस्तार दोनों में यह योजना इतनी दोषपूर्ण है कि न तो इसमें परिवर्तन और न कोई सुधार हो सकता है। श्री तिलक ने कहा कि मोन्टेग्यू योजना किसी तरह भी स्वीकार करने योग्य नहीं है।[1] इस रिपोर्ट पर विचार करने के लिए कांग्रेस ने बम्बई में एक विशेष अधिवेशन बुलाया। नरम दल के नेताओं ने इसमें भाग नहीं लेने का निश्चय किया। १६१७ की कलकत्ता कांग्रेस में भी उन्होंने भाग नहीं लिया। उस समय श्रीमती बेसेन्ट सभापति थीं। पिछले दो सालों में नरम दल के नेताओं को यह प्रतीत हो गया था कि कांग्रेस के ऊपर अब उग्रगामी दल का प्रभुत्व है और उनका उग्रगामी दल के साथ कार्य करना कठिन है। नरम दल के नेता वैधानिक ढंग से उत्तरदायी सरकार प्राप्त करना चाहते थे। वे सरकार के विरुद्ध आन्दोलन या झगड़ा नहीं करना चाहते थे, इस कारण उन्होंने मोन्टेग्यू चेम्सफोर्ड योजना को स्वीकार किया। उनका विचार था कि भारतवासी कुछ साल में ही पूर्ण उत्तरदायी सरकार के योग्य नहीं बन जायेंगे। उन्हें कुछ और समय तक ब्रिटिश सहायता और सहयोग की आवश्यकता होगी। नरम दल के नेता सुधार चाहते थे न कि क्रान्ति। वे स्वतन्त्रता चाहते थे परन्तु साथ ही अनुशासन और शान्ति भी।[2] नरम दल के नेताओं ने पहली नवम्बर १६१८ को अपना एक पृथक् सम्मेलन बुलाया। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी इसके अध्यक्ष बने। यह नरम दल का सबसे पहला सम्मेलन था। बाद में उसकी बैठक प्रत्येक वर्ष होती रही। बम्बई के अधिवेशन में ही इण्डियन नेशनल लिबरल फेडरेशन का एक राजनैतिक संगठन के रूप में बीजारोपण हुआ। मोन्टेग्यू चेम्सफोर्ड योजना का उग्रगामी दल और यूरोपियन्स एसोसियेशन ने बड़ा विरोध किया, अगर नरम दल इस योजना का समर्थन न करता तो इसको कार्यान्वित करना बड़ा कठिन था। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने लिखा है कि नरम दल वालों ने ही इस योजना को बचाया और

१. सुरेन्द्रनाथ बनर्जी : ए नेशन इन मेकिंग : पृष्ठ ३०५।
२. एन० सी० ई० अवरियाल : रिनेसेन्स इण्डिया, पृष्ठ १८४।

परेशानियों का मुकाबला किया। उन्हें इस कार्य के लिए काफी मूल्य चुकाना पड़ा। परन्तु उत्तरदायी सरकार के जल्दी से लागू करने के लिए यह आवश्यक था। उन्हें कांग्रेस से पृथक् होने का बड़ा दुःख था। उन्होंने अपने खून और पसीने से इस संस्था को बनाया था परन्तु इस समय राष्ट्रीय एकता के इस पवित्र मन्दिर में उनका रहना कठिन हो गया था। कारण स्पष्ट था। उनके और उग्रगामी दल के नेताओं के विचारों में आधारभूत भिन्नता थी। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी लिखते हैं। "कांग्रेस चाहे कितनी ही महान् संस्था हो वह ध्येय के लिए एक साधन है। उसका ध्येय स्वराज्य प्राप्ति है। हमने ध्येय के लिए साधनों का बलिदान कर दिया। भारत के राजनैतिक जीवन में नरम दल का पृथक् अस्तित्व इसी कारण हुआ।"[1]

मोन्टेग्यू चेम्सफोर्ड योजना में कुछ कमी होने पर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अपने प्रजातान्त्रिक आदर्श के कारण यह एक महत्वपूर्ण लेख्य है। सर वैलन्टाइन चिरोल ने मोन्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट को विद्रोह के पश्चात् भारत की अवस्था का सबसे प्रथम अधिकारपूर्ण निरीक्षण कहा है। इस ब्रिटिश राजपत्र में विद्रोह से पूर्व उदार राजनीतिज्ञों के सिद्धान्तों का अनुसरण किया है और इसमें लार्ड रिपन की तरह की सहानुभूतिपूर्ण भाषा प्रयोग हुई है।[2] कूपलैंड के अनुसार यह रिपोर्ट भारतीय सरकार की समस्त समस्याओं की प्रथम विस्तृत व्याख्या है। यह राजशास्त्र को एक स्थायी देन है।[3] इस रिपोर्ट पर भारतीय व्यवस्थापिका परिषद् में बोलते हुए श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा कि इस रिपोर्ट को पूरी तरह दृष्टि में रखते हुए यह मानना पड़ेगा कि यह हमारे शासकों की ओर से एक स्पष्ट उदाहरण इस बात का है कि उनके दृष्टिकोण में अब परिवर्तन होने लगा है और हमारा कर्तव्य है कि हम भी सरकार के प्रति अपना दृष्टिकोण बदलें।[4] कहने का तात्पर्य यह है कि हम भी सरकार को सहयोग दें। मोन्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट ने चार मूलभूत सिद्धान्तों को स्वीकार किया है और उन्हें कार्यान्वित करने के लिए बहुत से सुझाव और सिफारिशें रखी गईं। ये चार सिद्धान्त इस प्रकार हैं—(१) जहाँ तक सम्भव हो सके स्थानीय निकायों में पूर्ण सार्वजनिक नियन्त्रण होना चाहिये और बाहर के नियन्त्रण से अधिक से अधिक स्वतन्त्रता होनी चाहिए, (२) आरम्भ में प्रान्तों में उत्तरदायी सरकार के क्रमशः विकास के लिए कदम उठाना चाहिए। कुछ उत्तरदायित्व तो तुरन्त ही दे देना चाहिए, जैसे जैसे सुविधायें होती जाएँ हमारा ध्येय पूर्ण उत्तरदायित्व देने का है। भारतीय सरकार की ओर से प्रान्तों को वैधानिक, प्रशासकीय और वित्तीय विषयों में अधिक से अधिक स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए, जिससे भारत सरकार अपना कार्य सुचारु रूप से चला सके। (३) भारत सरकार पूर्ण रूप से ब्रिटिश संसद

१. सुरेन्द्रनाथ बनर्जी : ए नेशन इन मेकिंग, पृष्ठ ३०७।
२. एच० सी० ई० जकरिया : रिनेसेन्ट इण्डिया, पृष्ठ १०६।
३. कूपलैंड : दी इण्डियन प्रॉब्लम, भाग १, पृष्ठ ५४।
४. सुरेन्द्रनाथ बनर्जी : ए नेशन इन मेकिंग, पृष्ठ ३११।

को उत्तरदायी रहनी चाहिये और ब्रिटिश संसद को उत्तरदायी होते हुए भी महत्वपूर्ण विषयों में इसके अधिकार, प्रान्तीय परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए पूर्ण होने चाहिएँ। इसी बीच में भारतीय व्यवस्थापिका परिषद् की सदस्य संख्या बढ़ा देनी चाहिये और उसको अधिक प्रतिनिधित्व देना चाहिये। सरकार को प्रभावित करने में भी अधिक अवसर और सुविधायें देनी चाहिएँ। (४) जैसे जैसे ऊपर लिखे परिवर्तन कार्यान्वित हों उसी प्रकार ब्रिटिश संसद और भारत सचिव का भारत सरकार और प्रान्तीय सरकारों के ऊपर नियन्त्रण कम होता जाना चाहिये।'[1] मोन्टेगु और चेम्सफोर्ड योजना का ब्योरा तैयार करने के लिये कुछ विशेष समितियाँ बनाई गईं और उन्होंने अपनी रिपोर्ट पेश की। उनके आधार पर जून १९१९ में हाउस ऑफ कॉमन्स में भारतीय सरकार विधेयक रखा गया और दूसरे वाचन के बाद पार्लियामेंट के दोनों सदनों की संयुक्त प्रवर समिति के सामने भेजा गया। पार्लियामेंट के दोनों सदनों द्वारा पास होकर यह विधेयक राजमुकुट के पास भेजा गया और उन्होंने दिसम्बर २३, १९१९ को अपनी स्वीकृति दे दी। नवम्बर १९२० में चुनाव हुए और जनवरी-फरवरी १९२१ में विभिन्न धारा सभाओं ने अपना कार्य करना आरम्भ कर दिया।



१. रिपोर्ट ऑन इंडियन कॉन्स्टीट्यूशनल रिफार्म्स, पृष्ठ १२५।

अध्याय १०

# भारतीय राजनीति में मुस्लिम साम्प्रदायिकता

**मुस्लिम साम्प्रदायिकता का विकास**—भारत में अंग्रेजों का राज्य स्थापित होने से पहले मुस्लिम साम्राज्य था। मुस्लिम शासकों का अन्त करके ही अंग्रेजों ने यहाँ पर अपना साम्राज्य स्थापित किया था। इसीलिये उनमें असन्तोष फैल गया और उनकी दशा खराब हो गयी। कई कारणोंवश मुसलमानों में असन्तोष और अधिक बढ़ गया। इस समय दुनिया के मुसलमानों में कट्टरता की लहर फैल रही थी। अरब के कट्टरपंथी मुसलमानों ने १८ वीं शताब्दी के अन्त में एक सुधार आन्दोलन को प्रारम्भ किया जिसे वाहबी आन्दोलन कहते हैं। १८१८ में इब्राहीम पाशा ने इस आन्दोलन का अन्त कर दिया, परन्तु इस आन्दोलन का भारत में बड़ा प्रचार हुआ। इसका कार्य मुसलमानों की दुर्व्यवस्था में सुधार करना था। सबसे पहले निमले घराने में अरब से लौटकर आये हुए एक हाजी ने इस आन्दोलन का प्रारम्भ किया था। परन्तु भारत में इस आन्दोलन को प्रारम्भ करने वाला वास्तव में सैयद अहमद बरेलवी था। वह १८२० में मक्का से वापिस लौटा। उसने अपने प्रचार से भारत के मुसलमानों को बहुत प्रभावित किया। डब्लू० डब्लू० हन्टर वाहबी आन्दोलन की शक्ति को, भारतीय इतिहास का सबसे बड़ा धार्मिक पुनरुत्थान कहता है। वाहबी सम्प्रदाय के लोगों ने सिक्खों के विरुद्ध युद्ध किया और अन्त में १८५७ के विद्रोह में अंग्रेजों का विरोध किया। १८५७ के विद्रोह के उपरान्त मुसलमानों के विरुद्ध यह आरोप लगाया गया कि वे वाहबी आन्दोलन को हर प्रकार से सहायता दे रहे थे। कई षड्यन्त्रों में वाहबी को जबर्दस्ती फाँसा गया कि बंगाल के मुसलमानों के असन्तोष का कारण वाहबी आन्दोलन ही था। वाहबी समुदायों के लोग छोटे वर्गों से आये थे, वे आपस में समानता का प्रचार करना चाहते थे। ऐसे लाभकारी आन्दोलन का किसी भी सरकार पर अच्छा प्रभाव पड़ता परन्तु अंग्रेजी सरकार विदेशी सरकार थी। उसने इस आन्दोलन को दबाने के काफी प्रयत्न किये और जनता के साथ बड़ा क्रूर व्यवहार किया। परन्तु इस आन्दोलन का अन्त आसानी से नहीं हुआ और इसने ब्रिटिश साम्राज्य का विरोध किया। सर जॉन केई तो यहाँ तक कहता है कि १८५७ के विद्रोह के मूल कारण मुसलमान ही थे और वे सब वाहबी थे।[1] १८५७ के विद्रोह के अन्त हो जाने पर भी वाहबी लोग भारत की सीमा पर अंग्रेजों का विरोध करते रहे।

अंग्रेजी राज्य के स्थापित होने के उपरान्त भी अंग्रेजी शासन मुस्लिम

---

१. अशोक मेहता और अच्युत पटवर्धन : दी कॉम्युनल ट्रायेंगिल इन इण्डिया, पृष्ठ ६९ ।

साम्राज्य के सिद्धान्तों पर आधारित था। प्रत्येक स्थान पर मुस्लिम अधिकारी होते थे, न्यायिक मामलो मे भी मुस्लिम कानून माना जाता था। न्यायालयो की भाषा भी उर्दू या फारसी ही थी। सब स्थानो पर पुलिस भी मुसलमान ही थे। मैकाले के सुझाव पर सरकारी भाषा अंग्रेजी बना दी गई। इस निश्चय ने मुसलमानो की स्थिति मे बहुत परिवर्तन कर दिया। सब जगह शिक्षा का अन्त हो गया मस्जिदो तक मे मुस्लिम शिक्षा समाप्त हो गई। हिन्दुओ ने अंग्रेजी शिक्षा को बहुत अपनाया और प्रत्येक सरकारी दफ्तर म हिन्दू अफसरो का प्रवेश हो गया। जैसा श्री आर० एम० स्यानी ने अपने १८९६ मे कलकत्ता कांग्रेस के अध्यक्षात्मक भाषण मे बताया है हिन्दुओ ने शीघ्रता से अंग्रेजी भाषा को सीखना प्रारम्भ कर दिया। जैसे मुस्लिम काल मे उन्होने फारसी को सीखा था उसी तरह अब वे अंग्रेजी भाषा मे पारगत हो गये। अंग्रेजी भाषा को शीघ्रता के साथ ग्रहण न करने के कारण वे सब पदो से वंचित रहे। वास्तव मे सम्मान के अलावा वे सब चीज खो बैठे थे।[1] १८३५ मे लार्ड बैंटिक ने अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाया तो वह इसके परिणाम को नही जानता था। फारसी की अपेक्षा अंग्रेजी का राजकीय भाषा बन जाना भारतीय मुसलमानो के इतिहास मे एक महत्वपूर्ण घटना है।[2] डब्लू० डब्लू० हन्टर ने अपनी 'दी इण्डियन मुसलमान्स' नामक पुस्तक मे १४ जुलाई १८६९ के कलकत्ते के एक फारसी समाचार पत्र का विवरण करते हुए लिखा है कि छोटे और बड़े सब पद धीरे-धीरे मुसलमानो से छीनकर दूसरी जातियो को दिये जा रहे थे। सुन्दर बस कमिश्नर ने अपने कार्यालय मे कुछ पदो की नियुक्ति के लिये सरकारी गजट मे एक विज्ञापन दिया। इस विज्ञापन मे लिखा था कि केवल हिन्दू ही इन पदो पर नियुक्त किये जायेंगे। इस कारण सरकारी दफ्तरो मे मुसलमानो की सख्या कम हो गई और मुस्लिम जनता मे असन्तोष बढता गया। धार्मिक नेताओ के प्रभाव मे आकर उन्होने सरकारी विद्यालयो का बहिष्कार कर दिया। वे धार्मिक शिक्षा पर ही अधिक बल देते रहे और सरकारी पदो को ग्रहण करके आय बढाने की ओर भी उन्होंने ध्यान नही दिया। अंग्रेजी शिक्षा के अभाव के कारण भारतीय मुसलमान अशिक्षित रह गये और उनका उत्साह छिन्न-भिन्न हो गया और उनका अभिमान धूल मे मिल गया।[3] मुसलमानो की अवस्था बडी दयनीय हो गई और अंग्रेजी शासको ने इसका लाभ उठाकर उनमे साम्प्रदायिकता की भावना उत्पन्न की।

अंग्रेजो के विचार मे १८५७ के विद्रोह का कारण हिन्दू-मुसलमानो की एकता थी। विद्रोह के उपरान्त अंग्रेजो शासको ने इस एकता को नष्ट करने की

१. ए० सी० बनर्जी इण्डियन कान्स्टीट्यूशनल डोक्यूमेन्टस भाग २, पृष्ठ २६४-२६५।

२. क्रान्फर्ड मैनशार्ट : दी हिन्दू मुस्लिम प्रोबलम इन इण्डिया, पृष्ठ ६०।

३. अशोक मेहता और अच्युत पटवर्धन दी कोम्यूनल ट्राईंगल इन इण्डिया, पृष्ठ २१।

ठान ली। बम्बई के भूतपूर्व राज्यपाल माउन्ट स्टुअर्ट ऐलफिन्सटन ने ठीक ही कहा है, "पहले विभाजित करके फिर शासन करना यह रोम वालों का सिद्धान्त था यह हमारा सिद्धान्त भी है।" भारत में आने के पश्चात् ही अंग्रेजों ने इस सिद्धान्त का अनुसरण करना आरम्भ कर दिया। अपने को उन्होंने हिन्दू और मुसलमानों के मध्यस्थ रखा और उनके साथ एक साम्प्रदायिक त्रिकोण बनाये रखा, स्वयं जिसके आधार बिन्दु थे।[1] उन्होंने सबसे पहले सेना का नये ढंग से संगठन किया और हिन्दू और मुसलमानों के अलग-अलग रेजीमेंट बनाये। ऐसा करने में उनका उद्देश्य हिन्दू-मुसलमानों को विभाजित रखना था जिससे कि वे कभी एकता के सूत्र में न बंध सकें और अंग्रेजों के विरुद्ध न उठ सकें। १८५७ के विद्रोह के उपरान्त अंग्रेजों ने हिन्दुओं को हर तरह से प्रोत्साहन दिया और मुसलमानों को दबाया। उन्होंने जान-बूझकर मुसलमानों को सेना और सरकारी नौकरियों से वंचित रखा। १८७१ में बंगाल सरकार में २१४१ मनुष्य सरकारी नौकरी करते थे इनमें से ९२ मुसलमान, ७११ हिन्दू और १३३८ यूरोपियन्स थे। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि सरकारी नौकरियों में मुसलमानों की संख्या कितनी कम थी। सर आल्फ्रेड लायल ने लिखा है, "हम मुसलमानों को वे अधिकार नहीं दे सकते जिनसे दूसरे भारतीय वंचित रहें। सरकारी नौकरियों में हमें योग्य से योग्य व्यक्ति लेने हैं वे चाहे किसी धर्म के हों।" जब कभी भी मुसलमानों की तरफ से विशेष अधिकारों की माँग की गई तभी अंग्रेजी प्रशासकों ने कहा कि सब भारतीयों के समान उन्हें भी अधिकार दिये गये हैं और उन्हें उनसे ही लाभ उठाना चाहिये। उन्हें अधिक कुछ नहीं दिया जा सकता। लार्ड कर्जन ने स्पष्ट कह दिया था, "कुछ ऐसी चीजें हैं जो मैं नहीं कर सकता मैं आपको विशेष सुविधायें नहीं दे सकता, न मैं आपको विशेष अधिकार दे सकता हूँ।"[2]

ब्रिटिश सरकार की इस नीति में शीघ्र ही परिवर्तन हो गया। यह परिवर्तन ब्रिटिश शासन को भारत में स्थायी रखने के लिए किया गया। इस समय कांग्रेस के प्रभाव के कारण शिक्षित वर्ग में सुधारों के लिये माँग बढ़ती जा रही थी। कांग्रेस के राष्ट्रीय नेता सरकार में अधिक से अधिक अधिकार प्राप्त करने की माँग कर रहे थे। ब्रिटिश नौकरशाही ने सोचा कि राष्ट्रीयता को बढ़ने से रोकने का एक ही उपाय है कि मुसलमानों को अपने साथ रखा जाय और हिन्दू-मुसलमानों की बढ़ती हुई एकता को रोका जाय। इस नीति का आशय हिन्दू-मुसलमानों को विरोधी कैम्प में रखना था। इस सिद्धान्त (counterpoise of natives against natives) का बीजारोपण १८५९ की पंजाब सैनिक पुनः संगठन समिति की रिपोर्ट में किया गया। १८७० से उन्होंने इस नीति को धीरे-धीरे अपनाना प्रारम्भ किया। इस नीति को

---

१. अशोक मेहता और अच्युत पटवर्धन : दी कोम्यूनल ट्रायंगिल इन इण्डिया, पृष्ठ ४२।

२. गुरुमुख निहाल सिंह : लैण्डमार्क्स इन इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डेवलपमेंट, भाग १, पृष्ठ २०३-२०४।

कार्यान्वित करने में सर संयद अहमद (१८१७-१८९८) और उसके सहयोगियों ने अधिक भाग लिया। सर सैयद अहमद इस काम के लिये बड़े उपयुक्त थे। ये सब बड़े उच्च घराने के थे। उनके नाना अकबर द्वितीय के प्रधानमन्त्री थे। सर सैयद ने छोटी ही अवस्था में सरकारी नौकरी कर ली। १८५७ में विद्रोह के समय वह बिजनौर में सदर अमीन थे। विद्रोह के समय उन्होंने सरकार की बड़ी सहायता की और बहुत से अंग्रेजों की जान बचाई। जब विद्रोहियों को उनके कारनामों का पता चला तो उन्होंने उनके मकान और सम्पत्ति को दिल्ली में लूट लिया और उन्हें आर्थिक हानि पहुँचाई। १८६९ में सर सैयद इंग्लैंड गये और अपने पुत्र को वहीं कैम्ब्रिज में पढ़ने के लिये छोड़ आये। उन पर अंग्रेजी शिक्षा का बड़ा प्रभाव पड़ा और उन्होंने १८७६ में सरकारी नौकरी से अवकाश पाने पर मुस्लिम जाति में अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार करने की ठान ली। अवकाश प्राप्त करने के एक साल पहले ही उन्होंने अलीगढ़ में एक 'मोहम्डन एंग्लो ओरियन्टल कालिज' की स्थापना की। इसी कालिज से शिक्षा पाये हुये मुसलमानों ने अलीगढ़ आन्दोलन को प्रारम्भ किया। डॉ० जकरियास के अनुसार वे (सर सैयद) आधुनिक भारत के उन विशेष मुसलमानों में से थे जिन्होंने अंग्रेजी शासन का समर्थन किया।

अपने पहले दिनों में वे राष्ट्रवादी और उग्रवादी थे।[1] बाद में सरकारी नौकरी करते हुये और पेंशन लेते हुये भी उन्होंने सरकारी मशीनरी की बुराई की। वे सरकारी अधिकारियों के खराब व्यवहार की निन्दा भी करते थे। १८५८ में उन्होंने एक पुस्तक 'असबाब ऐ बगावत' लिखी जिसमें उन्होंने विद्रोह के कारण बताये। उन्होंने लिखा कि सरकार जनमत से अनभिज्ञ है। भारतीय व्यवस्थापिका परिषद् में एक भी भारतीय न होने के कारण सरकार के पास जनता की भावनायें जानने का कोई साधन नहीं था। उनके विचार में यह विद्रोह का मूल कारण था। वे वाइसराय की व्यवस्थापिका परिषद् के विषय में भारतीय लोगों के समर्थक थे। वे कहते थे कि राष्ट्र शब्द में हिन्दू और मुसलमान दोनों शामिल हैं। वे दोनों ही इस देश के निवासी हैं और एक से प्रभावों से प्रभावित होते हैं और एक से रोगों से ही पीड़ित होते हैं। वे हिन्दू मुसलमानों को सुन्दर दुलहिन की दो आँखों के समान बताते थे।[2] १८६६ में अलीगढ़ में एक भाषण में उन्होंने कहा कि देश के शासन में भारतीयों का कोई हाथ नहीं है यदि वे किसी सरकार के कार्य को उचित न समझें तो उनमें असंतोष उत्पन्न हो सकता है। ऐसे प्रगतिशील विचार रखने वाले व्यक्ति से यह आशा की जाती थी कि वे राष्ट्रीय जागृति के विकास में पूरा सहयोग देंगे। दुर्भाग्यवश श्री मोहम्मद अली जिन्ना की ही तरह १८८५ में उनके विचारों में उग्र परिवर्तन हुआ। वे एक राष्ट्रवादी न होकर मुस्लिम साम्प्रदायिकता के समर्थक हो

१. अशोक मेहता और अच्युत पटवर्धन : दि कोम्यूनल ट्राइऐंगिल इन इण्डिया, पृष्ठ ७२।

२. वही, पृष्ठ ७३।

गये वे कांग्रेस में शामिल नहीं हुये और उन्होंने कांग्रेस की मांगों का विरोध करना आरम्भ कर दिया। यहाँ तक कि उन्होंने कांग्रेस की इस मांग का विरोध किया कि भारतीय असैनिक सेवा की परीक्षा भारत और इंगलैण्ड दोनों में एक समय हो। वे अंग्रेज अधिकारियों के जाल में फंस कर कांग्रेस विरोधी आन्दोलनों में भाग लेने लगे। जब १८८७ में दिसम्बर मास में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ तो उन्होंने मुस्लिम शिक्षा सम्मेलन का अधिवेशन उसी समय बुलाया। दूसरे वर्ष उन्होंने कांग्रेस के विपरीत एक पेट्रियाटिक एसोसियेशन की स्थापना की। इसके कारण उन्हें के० सी० एस० आई० की उपाधि मिली। १८९३ में उन्होंने अपर इण्डिया मोहम्मडन डिफेन्स एसोसियेशन नामक संस्था बनाई। इन दोनों संस्थाओं का अन्त उनकी मृत्यु के साथ ही साथ हो गया।[1] अलीगढ़ कालिज के प्रथम अंग्रेज प्रिंसिपल श्री बेक के प्रभाव से सैयद अहमद के विचारों में परिवर्तन हो गया।[2] श्री बेक ने यह सुझाया कि मुसलमानों की अवस्था सुधारने के लिये मुसलमान और अंग्रेजों का सहयोग होना आवश्यक है। सरकार को सहयोग देने से ही उनकी अवस्था में सुधार हो सकता है। श्री बेक की १७ सितम्बर १८९९ में मृत्यु हो गई। लन्दन टाइम्स ने उनकी बड़ी प्रशंसा की। सर जॉन स्ट्रैची ने कहा कि दूर देश में ब्रिटिश साम्राज्य को दृढ़ बनाने वाले एक अंग्रेज की मृत्यु हो गई। वह अपना कार्य करते हुये एक सैनिक की तरह मरे। श्री बेक की मृत्यु के बाद श्री थ्योडोर मोरीसन अलीगढ़ कालिज के प्रिंसिपल बने। उन्होंने भी मुसलमानों को अंग्रेजों से मिलाये रखने की नीति अपनाई। इतना सब होते हुए भी बहुत से प्रभावशाली मुसलमान कांग्रेस में ही शामिल हुए। १८८७ के कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन में जस्टिस बदरुद्दीन तैयब जी सभापति रहे। मीर हुमायूं शाह ने अधिवेशन के लिये ५००० रुपये का दान दिया। बम्बई के प्रसिद्ध मुसलमान व्यापारी श्री अली मोहम्मद भीम जी ने कांग्रेस का प्रचार करने के लिये देश का दौरा किया। प्रसिद्ध उलमाओं ने मुसलमानों से कांग्रेस में शामिल होने की अपील की। १८९६ की कलकत्ता कांग्रेस में श्री आर० एम० सयानी कांग्रेस के सभापति बने। उन्होंने अपने अध्यक्षात्मक भाषण में कहा कि यह कहना कि मुसलमान कांग्रेस के साथ नहीं है सत्य नहीं है। शिक्षा के अभाव के कारण अधिकतर मुसलमान यह जानते ही नहीं थे कि कांग्रेस आन्दोलन है क्या ?

मुसलमानों को सरकार में पृथक् स्थान दिलाने का पहला कदम १८९२ के भारतीय परिषद् अधिनियम में उठाया गया। इस अधिनियम के अनुसार सरकार को यह अधिकार दिया गया कि वे परिषदों में बहुत से हितों का प्रतिनिधित्व कराने के लिये कुछ सदस्य मनोनीत करें। मुसलमानों को एक पृथक समुदाय के रूप में रखा गया। उस प्रतिनिधि को मुसलमान निर्वाचित नहीं करते थे परन्तु राज्यपाल ही मनोनीत करते थे। सर सैयद की मृत्यु के उपरान्त हिन्दी उर्दू को लेकर एक वाद-

---

१. एच० सी० ई० जकैरियास : रिनेसेन्ट इण्डिया, पृष्ठ १२० ।
२. वही, पृष्ठ ७४ ।

विवाद खड़ा हुआ। हिन्दुओं ने कहा कि न्यायालयों में फारसी लिपि के बजाय नागरी लिपि होनी चाहिए। मुसलमानों ने इस सुझाव की कड़ी निन्दा की। वे उर्दू भाषा की स्थिति में कोई कमी नहीं होने देना चाहते थे। मुसलमानों की ओर से संयुक्त प्रान्त में एक आन्दोलन खड़ा किया गया और अन्जुमने उर्दू नामक संस्था स्थापित की गई। अलीगढ़ कालिज के मन्त्री नवाब मोहसीन उल मुल्क इस संस्था के सभापति चुने गये। इस समय सरकार यह नहीं चाहती थी कि मुसलमानों का कोई संगठन स्थापित हो। संयुक्त प्रान्त के उपराज्यपाल स्वयं अलीगढ़ गये और उन्होंने कालिज के अधिकारियों को बताया कि सरकार नहीं चाहती कि नवाब साहब लिपि वाद-विवाद में सक्रिय भाग लें। नवाब साहब या तो कॉलिज के मन्त्री रहें या अन्जुमन के सभापति रहें। ये दोनों कार्य एक साथ नहीं कर सकते। सरकार मुस्लिम संगठनों को उसी समय उचित समझती थी जब वे सरकारी नीतियों के ध्येय की पूर्ति करें।[1] ऐसा अवसर १९०४ में आया जब लार्ड कर्जन ने बंगाल को दो प्रान्तों में विभाजित करने की योजना रखी। इस समय मुसलिम संगठन के सहयोग की बड़ी आवश्यकता पड़ी। बंग विच्छेद का जनता ने कठोर विरोध किया। लार्ड कर्जन इसको साम्प्रदायिक जामा पहना कर कार्यान्वित करना चाहते थे। लार्ड कर्जन ने ढाके में एक विशेष सभा बुलाई और नये प्रान्त को एक मुस्लिम प्रान्त बताया। नवाब सलीम उल्लाखां को जो कि पहले बंग विच्छेद के कट्टर विरोधी थे उन्होंने अपनी ओर मिला लिया। सरकार ने नवाब साहब को एक लाख पौंड बहुत कम सूद पर उधार दे दिया। बहुत से अनुभवी मुसलमान अंग्रेजों की इस चाल को समझ गये थे। नवाबजादा ख्वाजा अतिकुल्ला खाँ ने कांग्रेस के १९०६ के अधिवेशन में कहा कि यह कहना सत्य नहीं है कि पूर्वी बंगाल के मुसलमान बंग विच्छेद के पक्ष में हैं। वास्तविक बात यह है कि कुछ थोड़े से प्रभावशाली मुसलमानों ने ही अपने व्यक्तिगत हितों की पूर्ति के लिये इस योजना का समर्थन किया।[2]

मुसलमानों को पृथक् रखने का दूसरा सफल प्रयत्न १९०६ में किया गया। इसके द्वारा पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति का प्रारम्भ हुआ लार्ड मिन्टो इसके लिये उत्तरदायी हैं। उन्होंने १ अक्तूबर १९०६ को शिमला में एक मुस्लिम शिष्ट-मण्डल से भेंट की। स्वर्गीय आगा खाँ इस शिष्ट-मण्डल के नेता थे। इस शिष्ट-मण्डल ने बहुत सी अनहोनी मांगें रखी और प्रत्यक्ष रूप से पृथक्ता के सिद्धान्त का प्रचार किया। लार्ड मिन्टो ने अपनी और सरकार की ओर से तुरन्त ही उनकी अनुचित और अप्रिय मांगों को बिना समझे बूझे स्वीकार कर लिया। ये मांगें सन्देह उत्पन्न करने वाली थीं। अब सब लोगों को यह ज्ञात है कि इस शिष्ट-मण्डल को शिमला से प्रेरणा मिली थी यह गृह विभाग के अंग्रेजी अधिकारियों के मस्तिष्क

१. अशोक मेहता और अच्युत पटवर्धन दि कम्यूनल ट्राइएंगिल इन इण्डिया, पृष्ठ २३।

२. वही, पृष्ठ २७।

की उपज थी। वे हिन्दू और मुसलमानों में झगड़ा कराना चाहते थे।[1] कूपलैंड का यह कहना कि १९०६ के शिष्ट-मण्डल को किसी ने जान-बूझ कर नहीं भेजा था सत्य नहीं है। स्वयं लार्ड मिन्टो ने लार्ड मॉर्ले को लिखे गये अपने २८ मई १९०६ के पत्र में लिखा था कि कांग्रेस का आन्दोलन सरकार के प्रति भक्ति नहीं रखता। यह भविष्य के लिये एक भय है। कांग्रेस की शक्ति को कम करने के लिये वे हाल ही में काफी सोच विचार कर रहे थे। श्री मोरिसन के उपरान्त श्री आर्चबोल्ड अलीगढ़ कॉलिज के प्रिंसिपल बने। १० अगस्त १९०६ को उन्होंने अलीगढ़ कॉलिज के सेक्रेटरी नवाब मोहसिन उलमुल्क को इस आशय का पत्र लिखा कि वाइसराय के निजी सचिव कर्नल डनलप स्मिथ ने उन्हें सूचना दी है कि वाइसराय महोदय मुस्लिम शिष्ट-मण्डल से भेंट करने के लिए तैयार हैं। कर्नल स्मिथ ने सलाह दी कि वाइसराय से मिलने के लिये एक प्रार्थना पत्र भेजना चाहिये। इस विषय में श्री आर्चबोल्ड ने कुछ सुझाव भी रक्खे। पहला सुझाव यह था कि यह पत्र कुछ प्रभावशाली मुसलमानों के हस्ताक्षर सहित जाना चाहिये। दूसरे इस शिष्ट-मण्डल में सब प्रान्तों के प्रतिनिधि होने चाहियें। तीसरा सुझाव प्रार्थना पत्र के विषय के सम्बन्ध में था। प्रार्थना पत्र में सरकार के प्रति भक्ति का प्रदर्शन होना चाहिये। सरकार के उत्तरदायित्व के सुझाव की प्रशंसा होनी चाहिये। उसमें यह भी दिखाया जाना चाहिये कि यदि निर्वाचन पद्धति लागू होगी तो मुस्लिम अल्पमत को प्रतिनिधित्व नहीं मिल सकेगा। शिष्ट-मण्डल को यह सुझाव रखना चाहिये कि मुस्लिम जनमत को प्रतिनिधित्व देने के लिये धर्म के आधार पर नामजद प्रतिनिधित्व मिलना चाहिये। आर्चबोल्ड ने कहा कि इस प्रार्थना पत्र में उनके नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं होना चाहिये। सब प्रार्थनायें शिष्ट-मण्डल की ओर से ही रखी जानी चाहियें। उन्होंने कहा कि प्रार्थना पत्र की रूपरेखा भी वे स्वयं तैयार कर देंगे और अगर यह बम्बई में तैयार किया गया तो वे इसको पढ़ भी लेंगे। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि अगर एक शक्तिशाली आन्दोलन थोड़े समय में ही प्रारम्भ करना है तो शीघ्रता करनी चाहिये।[2] इस प्रकार यह विदित है कि १९०६ का मुस्लिम शिष्ट-मण्डल सरकार के प्रयत्नों का फल था। मौलाना मोहम्मद अली ने १९२३ के कोकोनाडा कांग्रेस के अध्यक्षात्मक भाषण में कहा कि यह शिष्ट-मण्डल एक सरकारी सुझाव (a command performance) था। मौलाना शिबली ने इसे साम्प्रदायिक मंच पर सबसे बड़ा प्रदर्शन कहा।

लेडी मिन्टो ने १ अक्तूबर १९०६ की अपनी डायरी में इस दिन को एक महत्वपूर्ण दिवस बताया है। किसी व्यक्ति ने उनसे कहा कि यह भारतीय इतिहास

१. सी० वाई० चिन्तामणि : इण्डियन पॉलिटिक्स सिन्स दि म्यूटिनी, पृष्ठ ६६।

२. ए० सी० बनर्जी : इण्डियन कॉन्स्टिट्यूशनल डॉक्यूमेन्ट्स भाग २, पृष्ठ २०५-२०६।

में एक नए युग (an epoch in Indian history) का प्रारम्भ करता है। शिष्ट-मण्डल के प्रार्थना-पत्र के उत्तर में लार्ड मिन्टो ने जो जवाब दिए वे बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने प्रार्थना-पत्र की इस बात को दोहराया कि भारत में प्रतिनिधान की जो भी प्रणाली लागू की जाय उसमें मुसलमानों को पृथक् प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए। उनका कहना था कि बहुत से जिलों से चुनाव में मुसलमान उम्मीदवार का जीतना कठिन है और अगर कोई मुसलमान जीत भी गया तो उसे अपने विचारों को बहुमत के आगे अर्पण करना पड़ेगा क्योंकि वह हिन्दू बहुमत के द्वारा चुना हुआ होगा जो उसकी जाति के विरुद्ध होंगे। इस प्रकार मुस्लिम जाति का ठीक प्रकार प्रतिनिधित्व नहीं हो सकेगा। उसने शिष्ट-मण्डल की इस बात पर भी जोर दिया कि मुसलमानों की स्थिति उनकी जनसंख्या पर ही आधारित न होकर उसके राजनैतिक महत्व और ब्रिटिश साम्राज्य के लिये की गईं सेवाओं के आधार पर होनी चाहिये। इस प्रकार उन्होंने मुस्लिम शिष्ट-मण्डल की इन सब मांगों का पूर्णतया समर्थन किया। उन्होंने मुस्लिम जाति को आश्वासन दिया कि उनके राजनैतिक अधिकारों और हितों को भविष्य में किए गए प्रशासकीय पुनर्गठन में समय सुरक्षित रखा जायेगा। शिष्ट-मण्डल के सम्मान में वाइसराय भवन में एक चाय पार्टी का आयोजन भी किया गया। सायंकाल में एक अधिकारी ने लेडी मिन्टो के पास एक पत्र भेजा जिसमें लिखा था, "मैं एक लाइन लिख कर भेज रहा हूँ कि आज एक बहुत महत्वपूर्ण घटना घटित हो गई है। आज राजनीतिज्ञता का एक ऐसा कार्य हो गया है जिसका प्रभाव भारत और भारतीय इतिहास पर वर्षों तक रहेगा। इस कार्य के फलस्वरूप ६ करोड़ २० लाख मनुष्यों को राजद्रोही दल में मिलने से रोका गया।"[1] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि लार्ड मिन्टो ही वास्तव में मुसलमानों को पृथक् निर्वाचन पद्धति देने के लिये उत्तरदायी है। लार्ड मॉर्ले प्रारम्भ में इस पद्धति के विरोधी थे उन्होंने १६०८ के अपने प्रेषण में इस पद्धति की बुराइयों को कम करने का प्रयत्न किया। उन्होंने कहा कि चुनाव तो सम्मिलित रूप में हो परन्तु मुसलमानों के लिये कुछ स्थान सुरक्षित रखे जा सकते हैं परन्तु भारत सरकार ने तथा विशेष रूप से गृह विभाग ने इसका कट्टर विरोध किया। मॉर्ले के सुझाव के विरुद्ध इंगलैंड तक में आन्दोलन किया गया। आगा खाँ और अमीर अली इस आन्दोलन में मुख्य भाग ले रहे थे। अन्त में लार्ड मॉर्ले को झुकना पड़ा, यदि वे ऐसा न करते तो उनका विधेयक संसद् द्वारा पास नहीं होता। अन्त में यह पृथक् निर्वाचन पद्धति १६०६ के मॉर्ले मिन्टो सुधारों में सम्मिलित कर ली गई। समझदार हिन्दुओं और मुसलमानों ने पृथक् निर्वाचन पद्धति की कड़ी आलोचना की। लाला लाजपतराय और श्री सी० वाई० चिन्तामणि ऐसे ही महानुभावों में से थे। लखनऊ में १६०८ में भाषण देते हुए नवाब सादिक अली ने कहा कि वर्ग और धर्म के आधार पर प्रतिनिधान देना मॉर्ले मिन्टो योजना की एक दुष्ट प्रवृत्ति है। मुसलमानों को यह सिखाना कि उनके

१. ए० सी० बनर्जी : इन्डियन कॉन्सटीट्यूशनल डोक्यूमेंट्स, पृष्ठ २१० ।

राजनैतिक हित हिन्दुओं के हितों से भिन्न हैं ठीक नहीं है। दोनों के हितों को विभिन्न बना देना मुसलमानों के लिए भी एक दुष्ट प्रकृति की चीज है। श्री रैम्जे मैक्डोनल्ड ने भी पृथक् निर्वाचन पद्धति की निन्दा की। यह ब्रिटिश नौकरशाही की एक चाल थी ताकि हिन्दू-मुसलमान एक न हो सकें और मॉर्ले मिन्टो सुधारों का लाभ न उठा सकें। मिन्टो की दुष्ट योजना का परिणाम भारत में अल्सटर (Ulster) सरीखा एक प्रान्त उत्पन्न करना था। एक व्यक्ति ने इसे अद्भुत पिटारा (Pandora's box) कहा है जिसके परिणाम बड़े खराब हो सकते हैं।[1]

**मुस्लिम लीग की उत्पत्ति और कार्य**—शिमला शिष्ट-मण्डल की सफलता से मुसलमानों को उत्तेजना मिली और अपने धर्म के नाम पर उन्होंने एक पृथक् राजनैतिक संस्था बनाने का निश्चय किया। १९०६ में नवाब सलीमउल्ला खाँ ने इसी उद्देश्य से ढाका में एक सम्मेलन बुलाया। ३० दिसम्बर १९०६ को अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। १९०७ में लीग के संविधान की रूप-रेखा कराची में तैयार की गई और मार्च १९०८ में लखनऊ में यह संविधान स्वीकार किया गया। दिसम्बर १९०८ में लीग का प्रथम अधिवेशन अमृतसर में हुआ। सर अली इमाम इसके सभापति थे। १९१३ तक आगा खाँ लीग के स्थायी सभापति रहे। उस वर्ष लीग के ध्येय के विषय में मतभेद होने के कारण उन्होंने इस पद से त्याग-पत्र दे दिया। मुस्लिम लीग के उद्देश्य इस प्रकार थे—(१) मुसलमानों में ब्रिटिश सरकार के प्रति राजभक्ति उत्पन्न करना। सरकार के विषय में मुस्लिम जनता के किसी भी प्रकार के भ्रम को दूर करना। (२) मुसलमानों के राजनैतिक और अन्य अधिकारों की रक्षा करना और उनकी आवश्यकताओं और भावनाओं को अच्छे शब्दों में सरकार के समक्ष रखना। (३) ऊपर लिखे हुए उद्देश्यों का पक्षपात न करते हुये मुसलमानों और दूसरी जातियों में मैत्री भाव उत्पन्न करना। मुस्लिम लीग को उच्च घराने और धनिक वर्ग के लोगों ने स्थापित किया था। उन का विचार था कि मुसलमानों के शिक्षित और मध्यम वर्गों को कांग्रेस की भयानक राजनीति से अलग रखा जाय। लीग ने मुसलमानों के विशेष अधिकारों की माँग उठाई और यह सुझाव रखा कि मुसलमानों के विशेष अधिकार ब्रिटिश सरकार को सहयोग देने से ही सुरक्षित रह सकते हैं।[2] लीग प्रारम्भ से ही एक साम्प्रदायिक संस्था रही थी, इसने मुसलमानों के राजनैतिक अधिकारों की ओर ही ध्यान दिया और राष्ट्रीय हितों की अवहेलना की। यह सरकार के प्रति राजभक्ति उत्पन्न करने वाली संस्था थी। राष्ट्रवाद और देशभक्ति की तरफ इसका ध्यान नहीं था। इसी कारण सब शिक्षित मुसलमानों ने इसका समर्थन नहीं किया। श्री जिन्ना इसकी

१. गुरमुख निहाल सिंह : लैंडमार्क्स इन इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डवलपमैंट, पृष्ठ २१६।

२. हुमायूँ कबीर : मुस्लिम पॉलिटिक्स, पृष्ठ २।

साम्प्रदायिक प्रकृति के विरुद्ध थे। नवाब सैयद मोहम्मद ने इससे कोई सम्बन्ध नही रखा। मौलाना शिबली नुमानी ने इस नीति की कड़ी निन्दा की।

अमृतसर के १६०८ के अधिवेशन मे लीग ने स्थानीय संस्थाओं मे साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति, प्रिवी कौन्सिल में एक हिन्दू और मुसलमान की नियुक्ति, सरकारी नौकरियो मे स्थान और कांग्रेस के बंग विच्छेद प्रस्ताव का विरोध आदि प्रस्ताव पास किये। १६०६ के अधिवेशन मे इन सब प्रस्तावो को दुबारा पास किया गया। १६०६-१० मे भारतीय मुसलमानो के राजनैतिक जीवन मे एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ।[1] अलीगढ कालेज में सेक्रेटरी नवाब विकार उलमुल्क और कालेज के प्रिन्सिपल श्री आर्कबोल्ड मे मतभेद होने के कारण आगा खां ने लीग का दफ्तर अलीगढ से लखनऊ बुलवा लिया। इस परिवर्तन के कारण मुस्लिम राजनीति पर अंग्रेजी प्रिन्सपलो का प्रभाव कम हो गया। मौलाना शिबली नुमानी ने लखनऊ के मुस्लिम गजट मे लीग के कार्य की आलोचना की। उसने लिखा कि 'लीग के दिखाने के लिए कुछ प्रस्ताव राष्ट्रीय हित मे पास किये परन्तु उनमे प्राकृतिक चमक न होकर दिखावटी लाली है। दिन रात लीग चिल्लाती रहती है कि मुसलमानो को हिन्दू सता रहे हैं इसीलिये उन्हे सुरक्षा चाहिये'। मौलाना शिबली ने अपने लेखो के द्वारा मुसलमानो मे राजनैतिक जागृति उत्पन्न करने का सफल प्रयत्न किया। कुछ ऐसी भी घटनायें हुई, जिन्होने मुसलमानो को राष्ट्रवाद की ओर खींचा। मुसलमानों की स्वीकृति के बिना सरकार ने १६११ मे बंग विच्छेद रद्द कर दिया, इससे उन्हे धक्का पहुँचा और वे असन्तुष्ट हो गये। नवाब सलीम उल्ला खां जो कर्जन के कहने पर बंग विच्छेद के पक्ष मे हो गये थे उन्होंने अपने को अपमानित समझा और राजनीति से अलग हो गये। लीग के कलकत्ता अधिवेशन मे उन्होने कहा कि बंग विच्छेद से मुसलमानो का कोई हित नहीं हुआ है। इस निराशा के कारण मुसलमान राष्ट्रीयता की ओर अग्रसर हो गये।[2] यूरोप और १६०८ की टर्की की घटनाओ और अंग्रेजो के इस घटना की ओर व्यवहार ने मुसलमानों को प्रभावित किया। इसी समय मुस्लिम राजनीति के मच पर कुछ ऐसे व्यक्ति आये जिन्होने मुसलमानो को राष्ट्रीयता की ओर खींचा। मौलाना मोहम्मद अली, मौलाना मजहर अलहक, सैय्यद वजीर हुसैन, मोहम्मदअली जिन्ना और हसन इमाम ने लीग को एक राष्ट्रीय संस्था बनाने का प्रयत्न किया। मौलाना मोहम्मद अली ने अंग्रेजी में कौमरेड और उर्दू मे हमदर्द दो पत्रो का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इन पत्रो द्वारा उन्होने लीग की साम्प्रदायिक नीति का खण्डन किया। डाक्टर अन्सारी टर्की को एक मेडीकल मिशन ले गये। अब्बुल कलाम आजाद ने अपने एक पत्र अलहिलाल द्वारा मुसलमानो मे राष्ट्रीयता का प्रचार किया। इन सब परिस्थितियो के कारण

१. अशोक मेहता और अच्युत पटवर्धन : दी कोम्यूनल ट्राईएंगिल इन इण्डिया, पृष्ठ २६।

२. वही, पृष्ठ ३१।

लीग की नीति में परिवर्तन अनिवार्य था। लखनऊ के १९१३ के अधिवेशन में लीग का ध्येय ब्रिटिश राजमुकुट के अन्तर्गत भारत को स्वराज्य दिलाना हो गया। मुस्लिम लीग के अगले अधिवेशन में डॉक्टर अन्सारी, मौलाना अब्दुल कलाम आजाद और हकीम अजमल खां भी शामिल हुए। अधिवेशन में हिन्दु मुसलमानों की मैत्री पर अधिक जोर दिया गया।

सन् १९१४ में युद्ध छिड़ने के बाद मुसलमानों में अधिक राजनैतिक जागृति उत्पन्न हुई। कुछ मुस्लिम नेता जर्मन और टर्किश राजदूतों से मिलने काबुल गये। वे भारत में स्वतन्त्र गणतन्त्र स्थापित करना चाहते थे। मौलाना हुसैन अहमद नदवी और मौलवी अजीज गुल को गिरफ्तार किया गया और माल्टा में नजरबन्द कर दिया गया। मौहम्मद अली और शौकत अली, मौलाना आजाद और हसरत मुहानी को भी नजरबन्द कर दिया गया। १९१५ का साल लीग के इतिहास में एक महत्व पूर्ण घटना है।[1] उस वर्ष सबसे पहली बार लीग और कांग्रेस ने अपने अधिवेशन एक ही स्थान पर और एक ही समय किये। कांग्रेस और लीग के सम्बन्ध अच्छे हो गये। इसका श्रेय कुछ हद तक श्री जिन्ना को भी है। कांग्रेस के नेता प० मदन मोहन मालवीय, महात्मा गांधी और श्रीमती सरोजनी नायडू लीग के अधिवेशन में सम्मिलित हुए और लीग के प्रस्तावों पर भाषण दिये। वे लीग के १९१६ और १९१७ के अधिवेशनों में भी सम्मिलित हुए। लीग और कांग्रेस के कई अधिवेशन एक ही स्थान पर और एक ही समय हुए। १९१५ के लीग के अधिवेशन में श्री जिन्ना के प्रस्ताव द्वारा एक समिति बनाई गई जो कांग्रेस से परामर्श करने के बाद भारत के लिये सुधारों की योजना प्रस्तुत करती। इन परामर्शों के फलस्वरूप कांग्रेस और लीग में समझौता हो गया। यह इतिहास में लखनऊ समझौता (Lucknow Pact) के नाम से प्रसिद्ध है। इस समझौते में हिन्दू-मुसलमानों के मतभेद को दूर करने का प्रयत्न किया गया और सुधारों की एक सम्मिलित योजना स्वीकार की गई। १९१६ का लखनऊ का अधिवेशन लीग का ९वां अधिवेशन था। इसके सभापति श्री जिन्ना थे। लीग का दसवां अधिवेशन १९१७ में कलकत्ते में हुआ। मौलाना मौहम्मद अली नजरबन्दी की अवस्था में इस अधिवेशन के सभापति चुने गये। उनकी अनुपस्थिति में महमूदाबाद के राजा ने सभापतित्व का पद ग्रहण किया। अपने भाषण में उन्होंने कहा, "कि देश के हित सर्वोपरि हैं, हमें इस बात पर वाद-विवाद करने की आवश्यकता नहीं है कि हम मुसलमान पहले हैं या भारतीय। वास्तव में हम दोनों ही हैं और हमारे लिए प्राथमिकता का प्रश्न कोई अर्थ नहीं रखता। लीग ने मुसलमानों में अपने देश व धर्म के लिए त्याग की भावना भरी है।"[2] महात्मा गांधी और श्रीमती नायडू ने इस अधिवेशन में अली भाइयों की मुक्ति

---

१. अशोक मेहता और अच्युत पटवर्धन : दी कोम्यूनल ट्रांगेंगिल इन इण्डिया, पृष्ठ ११।

२. वही पृष्ठ १५।

के प्रस्ताव का समर्थन किया। लीग का ग्यारहवाँ अधिवेशन दिल्ली में दिसम्बर १९१८ में हुआ। इस अधिवेशन में मुस्लिम उलमाओं ने भी भाग लिया।

प्रथम महायुद्ध के अन्त होने के समय कांग्रेस और मुस्लिम लीग में सम्पर्क बढ़ गया था। दोनों एक ही ध्येय की पूर्ति के इच्छुक थे। प्रारम्भ में दोनों दलों ने मोन्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिफार्मों का स्वागत किया। परन्तु सरकार की दमनकारी नीति और खिलाफत प्रश्न के कारण कांग्रेस को १९२० में ब्रिटिश सरकार की नीति के विरुद्ध असहयोग आन्दोलन चलाना पड़ा। मुस्लिम लीग ने इस आन्दोलन का समर्थन किया था परन्तु इसके नेताओं में इस आन्दोलन में भाग लेने की शक्ति नहीं थी। लीग के प्रमुख नेता सरकारी पदों को ग्रहण करने के कारण प्रत्यक्ष रूप से विरोध नहीं कर सकते थे। उन्होंने १९१९ के सुधारों को कार्यान्वित करने में पूरा सहयोग दिया। मुसलमानों की ओर से असहयोग आन्दोलन को केन्द्रीय खिलाफत समिति द्वारा चलाया गया। मुस्लिम लीग ने प्रत्यक्ष रूप से उसमें भाग नहीं लिया। गांधीजी ने मुसलमानों का समर्थन प्राप्त करने के लिए खिलाफत प्रश्न को असहयोग आन्दोलन का भाग बनाया। मेरठ के खिलाफत सम्मेलन में प्रथम बार गांधीजी ने सार्वजनिक मंच से असहयोग कार्य-क्रम का प्रयोग किया। मौलाना अब्दुल कलाम आजाद ने उसका समर्थन किया। गांधीजी ने असहयोग आन्दोलन का प्रचार करने के लिये देश का दौरा किया। मौलाना मोहम्मद अली, शौकत अली और अब्दुल कलाम आजाद भी उनके साथ दौरे में रहे। लाखों मुसलमान गांधी जी के अनुयायी बन गये। हिन्दू मुसलमानों की एकता जितनी उस समय हुई थी ऐसी कभी भी नहीं हुई प्रत्येक घर में मैत्री भावों के चिन्ह दिखाई पड़ते थे। कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन दिसम्बर १९२० में नागपुर में हुआ। इस अधिवेशन में श्री सी० आर० दास और लाला लाजपतराय ने भी असहयोग आन्दोलन का समर्थन किया। इस अधिवेशन में अन्तिम रूप से श्री मोहम्मद अली जिन्ना कांग्रेस से पृथक् हो गये। वे पहले से ही संवैधानिक आन्दोलन के पक्ष में थे और प्रत्यक्ष कार्य (Direct Action) के विरुद्ध थे, वे जेल जाने के पक्ष में नहीं थे।

जब टर्की के तानाशाह कमालपाशा ने खिलाफत का अन्त कर दिया तो खिलाफत प्रश्न की महत्ता ही कम हो गई और संघर्ष के लिए भारतीय मुसलमानों में शिथिलता आ गई। चौरीचौरा काण्ड के कारण गांधीजी ने अकस्मात् असहयोग आन्दोलन को समाप्त कर दिया। इन दोनों कारणों से देश की साम्प्रदायिक एकता को बड़ा धक्का पहुँचा। असहयोग आन्दोलन के स्थगित होने पर स्वराज्य दल ने कांग्रेस पर प्रभुत्व जमाया। कांग्रेस जनों ने विधान-मण्डलों में प्रवेश किया और प्रत्यक्ष नीति का अन्त हो गया। अब स्वतन्त्रता की लड़ाई तो धीमी पड़ गई और साम्प्रदायिक झगड़े बढ़ गये। ब्रिटिश सरकार ने इसका पूरा-पूरा लाभ उठाया। तबलीग और शुद्धि आन्दोलनों ने देश के राजनैतिक वातावरण में परिवर्तन कर दिया। बहुत से नगरों में हिन्दू-मुस्लिम उपद्रव हुए। एक कट्टरपंथी मुसलमान ने स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या कर डाली इससे हिन्दुओं में बड़ा रोष फैल गया और हिन्दू

मुस्लिम एकता को बड़ा धक्का पहुँचा। जब कांग्रेस ने सर्वंधानिक नीति को अपनाया तो मुस्लिम लीग भी इसके निकट आ गई। दोनों दलों ने संवैधानिक विषयों पर समझौता करना चाहा परन्तु मूल सिद्धान्तों में मतभेद होने के कारण इसमें सफलता नहीं मिली। श्री जिन्ना ने नेहरू रिपोर्ट का समर्थन नहीं किया और इसके विरुद्ध अपने १४ तथ्य (Fourteen Points) प्रस्तुत किए। कांग्रेस उन्हें स्वीकार करने में असमर्थ थी। १९३० में जब कांग्रेस ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ किया तो लीग और कांग्रेस के मार्ग भिन्न-भिन्न हो गए। सविनय अवज्ञा आन्दोलन में मुसलमानों ने भी भाग लिया। परन्तु मुस्लिम जनता ने इस आन्दोलन में अधिक भाग नहीं लिया। सीमा प्रान्त के नेता खान अब्दुल गफ्फार खां ने आन्दोलन में पूरा-पूरा सहयोग दिया। १९३२ के आस-पास मुस्लिम लीग की स्थिति बड़ी शोचनीय थी।[1] मुस्लिम कॉन्फ्रेंस नाम की संस्था उसकी विपक्षी उत्पन्न हो गई थी। लन्दन की गोलमेज परिषदों में लीग को कोई प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया। श्री जिन्ना जो लीग के प्रमुख अनुयायी समझे जाते थे, प्रथम गोलमेज सम्मेलन में आमन्त्रित किए गए परन्तु बाद के दो अधिवेशनों में वे नहीं बुलाए गए।

इस समय लीग के अलावा और अन्य मुस्लिम दल स्थापित हो गये थे। जिन्होंने मुस्लिम जनमत को प्रभावित करने का प्रयत्न किया। सर फजली हुसैन और सर मोहम्मद शफी पंजाब की राजनीति पर प्रभुत्व जमाए हुए थे। राष्ट्रीय मुसलमानों का भी एक दल था, परन्तु इसका प्रभाव अधिक नहीं था यद्यपि कई प्रमुख व्यक्ति इस दल में सम्मिलित थे। बंगाल का कृषक प्रजा दल और पंजाब का अहरार दल ऐसे अन्य दल थे जिन्होंने आर्थिक प्रश्नों के आधार पर मुसलमानों को संगठित करने का प्रयत्न किया। इन विभिन्न दलों के उत्पन्न होने के कारण लीग का प्रभाव कम हो गया। लीग का संगठन बहुत कमजोर था, इस कारण भी लीग मुस्लिम जनता को प्रभावित न कर सकी। श्री जिन्ना सक्रिय राजनीति से पृथक् हो गए और इंगलैंड में वकालत करने लगे। कुछ समय बाद ही भारतीय राजनीति में ऐसा परिवर्तन हुआ कि कुछ अंशों तक मुस्लिम लीग फिर से प्रभावशाली हो गई। सौभाग्यवश कुछ प्रमुख गैर-लीगी मुसलमान नेताओं की मृत्यु भी इसी समय हो गई। इन नेताओं की मृत्यु से लीग का रास्ता साफ हो गया। सन् १९२८ में हकीम अजमल खां की मृत्यु हो गई। कुछ समय बाद मौलाना मोहम्मद अली और डॉ० एम० ए० अन्सारी का देहान्त हो गया। सर मोहम्मद शफी और फजली हुसैन का भी देहान्त हो गया, पंजाब के नए प्रधानमन्त्री सर सिकन्दर हयात खां उनकी तरह प्रभावशाली नहीं थे, वे सरकार के संकेतों पर चलते थे और पूरी तरह से उस पर निर्भर रहते थे। अन्य मुस्लिम नेता उच्च स्तर के नहीं थे। श्री जिन्ना ने इस स्थिति का पूरा लाभ उठाया और उन्होंने इंगलैंड से वापिस आने और लीग को फिर से संगठित करने का निश्चय किया।

---

[1] इलार्ड बर्टर : मुस्लिम पॉलिटिक्स, पृष्ठ ५।

प्रान्तों में स्वायत्त शासन स्थापित होने के कारण लीग को पुन: उत्थान करने का अवसर मिल गया। साम्प्रदायिक निर्णय के कारण कांग्रेस और लीग में कुछ मतभेद था परन्तु इस मतभेद के होते हुए भी उन दोनों के सम्बन्ध अधिक अच्छे होते जा रहे थे। १६३५ के अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तों में जो चुनाव हुए उनमें लीग और कांग्रेस दोनों ने अच्छी तरह से भाग लिया। कुछ निर्वाचन क्षेत्रों में दोनों दलों ने एक दूसरे के उम्मीदवारों का समर्थन किया। चुनाव में कांग्रेस को अधिक सफलता मिली परन्तु मुस्लिम लीग को अधिक स्थानों पर हार ही हुई। जिन प्रान्तों में मुसलमानों की जनसंख्या अधिक थी उनमें लीग को कम सफलता मिली। इन प्रान्तों में अधिकतर मुस्लिम सदस्य और मुस्लिम मुख्य मन्त्री लीग के सदस्य नहीं थे। जिन प्रान्तों में हिन्दुओं की जनसंख्या अधिक थी उनमें मुस्लिम लीग को कुछ हद तक सफलता मिली। बंगाल में लीग के विपरीत फजलुलहक की कृषक प्रजा दल को अधिक सफलता मिली। सर सिकन्दर हैयात खां के यूनियनिस्ट दल ने पंजाब में लीग पर विजय पाई। राजा गजनफरअली खां ही लीग के टिकट पर सफल हो सके। उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त में कांग्रेस ने लीग को पराजित कर दिया। सिंध में भी लीग असफल रही। लीग की सबसे अधिक सफलता संयुक्त प्रान्त में हुई। लीग ने नवाब छतारी के कृषक दल को हरा दिया परन्तु यहां पर इसकी सदस्य संख्या बहुत थोड़ी थी, संयुक्त प्रान्त में जहां पर मुस्लिम लीग सबसे अधिक शक्तिशाली थी वहां पर निचले सदन में इसको ११४ प्रतिशत स्थान ही प्राप्त हुए।[1] चुनावों में सफलता प्राप्त करने के बाद कांग्रेस के समक्ष पद ग्रहण करने का प्रश्न था। पहले तो कांग्रेस ने पदों को स्वीकार नहीं किया परन्तु बाद में महाराज्यपाल के आश्वासन पर उसने पद ग्रहण करना स्वीकार कर लिया। कांग्रेस हिन्दुओं के बहुमत वाले प्रान्तों में (आसाम के अलावा) अपना कांग्रेस मन्त्री मण्डल बनाने की स्थिति में थी। ऐसी ही स्थिति उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त में थी जहां पर मुसलमानों का बहुमत था। यद्यपि मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्रों में कांग्रेस को अधिक सफलता नहीं मिली परन्तु फिर भी कुछ मुसलमान और अन्य अल्पमतों के लोग कांग्रेस टिकट पर सफल हुये। कांग्रेस ने केवल कांग्रेसी मन्त्री मण्डल बनाना ही अधिक उचित समझा। मिश्रित मन्त्री मण्डल बनाने को कांग्रेस तैयार नहीं थी। डॉ० ए० अप्पादोराई ने इस नीति को न अपनाने के कई कारण बताये हैं। मुस्लिम लीग और अन्य अल्पमतों के प्रतिनिधियों को सम्मिलित करने से मन्त्रियों का संयुक्त उत्तरदायित्व नष्ट हो जाता, इससे राष्ट्रीय एकता को धक्का पहुंचता जो स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये अत्यन्त आवश्यक थी। साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के सदस्यों को मन्त्री मण्डल में स्थान देने से उन मनुष्यों की भावनाओं को ठेस लगती जो साम्प्रदायिक भावनाओं से दूर थे। साम्प्रदायिक दलों को स्थान न देने से यह स्पष्ट हो जाता था

१. सर मोरिस ग्वायर और ए० अप्पाडोराई : स्पीचिज एण्ड डोक्यूमेंट्स ऑन दी इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशन, भाग १, भूमिका।

कि कांग्रेस साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन नहीं देना चाहती। कांग्रेस ने मुस्लिम लीग और अन्य साम्प्रदायिक दलों की चुनाव में हार के कारण यह समझा कि उसने अपनी शक्ति को भूतकाल में कम महत्व दिया था और साम्प्रदायिक नेताओं से समझौता करके जनता को ठुकराने का प्रयत्न किया था। कांग्रेस को यह प्रतीत हुआ कि अधिक प्रयत्नों से वह मुस्लिम क्षेत्रों में भी सफल हो सकती है। इस कारण कांग्रेस ने पं० जवाहर लाल के नेतृत्व में मुसलमानों में जनमत सम्पर्क आन्दोलन आरम्भ किया।[1]

मौलाना अबुल कलाम आजाद केन्द्रीय संसदीय समिति की ओर से संयुक्त प्रान्त में कांग्रेसी मन्त्री मण्डल बनाने को गये। वहाँ पर वे मुस्लिम लीग के नेता चौधरी खलीक उज्जमन और नवाब इस्माईल खाँ से मिले। इन दोनों लीगी नेताओं ने उन्हें आश्वासन दिया कि वे कांग्रेस और उसके कार्यक्रम को अपनायेंगे। मौलाना आजाद ने यह प्रकट किया कि वे दोनों को कांग्रेसी मन्त्रीमण्डल में सम्मिलित कर लेंगे। उन दोनों में से एक को मन्त्रीमण्डल में लेना उचित नहीं था, दोनों को ही सम्मिलित करना चाहिये था। कुछ दिन बाद पं० नेहरू ने उन दिनों को लिखा कि आप दोनों में से एक व्यक्ति ही मन्त्रीमण्डल में लिया जा सकता था। पं० नेहरू के निश्चय से लीगी नेता सन्तुष्ट नहीं हुए और उन्होंने मन्त्रीमण्डल में सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया। मौलाना आजाद का कहना था कि श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन के कहने पर नेहरू जी ने ऐसा निश्चय किया। पं० नेहरू का कहना था कि मुस्लिम लीग के केवल २६ सदस्य ही थे उनमें से केवल एक को ही लेना सम्भव था। मौलाना आजाद ने इस विषय में महात्मा गांधी जी से भी बातचीत की परन्तु गांधी जी ने पं० नेहरू की बात का ही समर्थन किया। इसके फलस्वरूप समस्त लीगी नेता कांग्रेस के विरुद्ध हो गये। इस घटना का भारतीय राजनीति पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। मौलाना अबुल कलाम आजाद ने अपनी आत्मकथा में पं० नेहरू के इस निश्चय पर बड़ा खेद प्रकट किया है, वे लिखते हैं, "यह सबसे अभाग्यपूर्ण घटना थी।" यदि संयुक्त प्रान्त की लीग के सहयोग को स्वीकार कर लिया जाता तो मुस्लिम लीग दल वास्तव में कांग्रेस से मिल जाता। नेहरू जी के कार्य ने संयुक्त प्रान्त में मुस्लिम लीग को जीवन दान दे दिया। भारतीय राजनीति के सब विद्यार्थी यह जानते हैं कि संयुक्त प्रान्त में ही लीग का पुनः संगठन किया गया था। श्री जिन्ना ने इस स्थिति का पूरा-पूरा लाभ उठाया और उन्होंने ऐसा आन्दोलन उठाया जिसके आधार पर भारत में पाकिस्तान बन गया।[2]

मौलाना आजाद के ऊपर लिखे वक्तव्य में कुछ सत्य अवश्य है यदि मुस्लिम

1. सर मॉरिस ग्वायर और ए० अप्पादोराई : स्पीचिस एण्ड डॉक्यूमेंट्स ऑन दी इंडियन कॉन्स्टीट्यूशन, भाग १, भूमिका।

2. मौलाना अबुल कलाम आजाद : इंडिया विन्स फ्रीडम १९५९, पृ० १६१-१६२।

लीग को संयुक्त प्रान्त के कांग्रेसी मन्त्रीमण्डल में सम्मिलित कर लिया जाता तो लीग को बाद में जहर उगलने का अवसर न मिलता। संयुक्त प्रान्त लीग का गढ़ था। वहां पर उसे सन्तुष्ट करके उसका सहयोग प्राप्त किया जा सकता था। कांग्रेसी नेताओं ने ब्रिटिश सरकार की नीति को ठीक प्रकार नहीं समझा। ब्रिटिश सरकार अधिक से अधिक समय तक भारत में अपना प्रभुत्व स्थापित रखना चाहती थी और यह 'विभाजन करके शासन' करने की नीति द्वारा ही सम्भव था, इसलिए ही ब्रिटिश सरकार ने अल्पमतों को कांग्रेस के विरुद्ध भड़काया जैसा कि साम्प्रदायिक निर्णय से स्पष्ट है। कांग्रेस से असन्तुष्ट होकर लीग ब्रिटिश सरकार के कहने पर चलने लगी और ब्रिटिश सरकार ने लीग की प्रतिवादी मांगों को स्वीकार करना आरम्भ कर दिया। दूसरी महत्वपूर्ण बात लीग के पक्ष में यह थी कि उसका नेतृत्व श्री जिन्ना कर रहे थे, जो एक सुदृढ़ व्यक्ति थे। उनको अपने निश्चय से हटाना बड़ा कठिन था। यदि स्वतन्त्रता की प्राप्ति से पहले लीग के विरोध को टाला जाता तो देश का हित ही होता। साम्प्रदायिक प्रश्न ब्रिटिश सरकार ने ही खड़ा कर रखा था। स्वतन्त्रता के बाद ये सब प्रश्न शान्तिपूर्वक हल हो सकते थे, परन्तु कौन जानता है कि लीग की जगह ब्रिटिश सरकार कुछ और मुस्लिम साम्प्रदायिक दलों को खड़ा करके अपने ध्येय की पूर्ति अवश्य कर लेती।

जब कांग्रेस ने संयुक्त प्रान्त में मिश्रित मन्त्री मण्डल बनाने से इन्कार कर दिया तो मुस्लिम लीग बहुत असन्तुष्ट हुई। पं० नेहरू के मुस्लिम जनता सम्पर्क कार्यक्रम ने आग में घी का काम किया तथा मुस्लिम लीग और भी अधिक क्रोधित हो गई। उन्होंने कांग्रेस के निश्चय को एक चेतावनी समझा और सोचा कि कांग्रेस हमारी उपेक्षा करके मुस्लिम जनता को अपने पक्ष में मिलाना चाहती है। मुस्लिम लीग ने दृढ़तापूर्वक कार्य और संगठन करना आरम्भ कर दिया। लीग ने कांग्रेस को एक हिन्दू संगठन बताना आरम्भ कर दिया। थोड़े समय बाद ही श्री जिन्ना ने अक्तूबर १९३७ के लखनऊ में लीग के अधिवेशन में कांग्रेस की कड़ी निन्दा की। उन्होंने कहा कि कांग्रेस ने पिछले दस वर्षों में मुसलमानों को असन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया है और लगातार हिन्दुओं का पक्ष लिया है। अब कांग्रेस ने छः प्रान्तों में जहां पर उसका बहुमत है अपनी सरकारें बनाई हैं। उसने अपने शब्दों, कार्यों और नीति से यह स्पष्ट कर दिया है कि वह मुसलमानों के साथ न्याय नहीं कर सकती। थोड़ा उत्तरदायित्व और शक्ति प्राप्त करते ही बहुमत जाति (हिन्दुओं) ने सिद्ध कर दिया है कि हिन्दुस्तान हिन्दुओं के लिये ही है।[1] कांग्रेस को दोषी ठहराने के लिये लीग ने कांग्रेस पर झूठे अत्याचारों का आरोप लगाया। राष्ट्रीय झण्डे का प्रयोग, वन्देमातरम् गान, मस्जिदों के सामने बाजा बजाना, गौहत्या की रोकथाम, उर्दू का प्रयोग और विद्या मन्दिर की योजना को लेकर कांग्रेस पर आरोप लगाए गए। मुस्लिम लीग की कार्यकारिणी समिति ने कराची की बैठक में श्री नियाजत अली खां को विद्या-

१. डी० पी० मिश्रा - दी हिस्ट्री आफ फ्रीडम मूवमेंट इन मध्य प्रदेश पृष्ठ ४३४।

मन्दिर योजना के विरुद्ध शिकायतों की जांच पड़ताल करने के लिये मध्य प्रदेश भेजा। उन्होंने दिसम्बर १९३८ में मध्य प्रदेश के प्रमुख नगरों का दौरा किया और मुख्य मन्त्री पं० रविशंकर शुक्ला से भी बातचीत की। नागपुर के मुस्लिम पत्र जहोजिहाद ने हिन्दुओं के विरुद्ध जहर उगलना आरम्भ कर दिया। लीग ने कांग्रेस के अत्याचारों की जांच पड़ताल करने के लिए बहुत सी समितियां स्थापित कीं और इन समितियों ने बहुत ही उत्तेजनाजनक रिपोर्ट प्रस्तुत की, इनमें से पीरपुर रिपोर्ट एक है। मुस्लिम लीग ने अप्रैल १९३८ को कलकत्ता की बैठक में एक समिति स्थापित की जिसके अध्यक्ष पीरपुर के राजा सैयद मोहम्मद मेंहदी थे। यह समिति कांग्रेसी प्रान्तों में मुसलमानों के साथ किये गए अत्याचारों और अन्यायों की जांच पड़ताल करने के लिए नियत की गई थी। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट १५ नवम्बर १९३८ को पेश की। अपनी रिपोर्ट में इसने कहा कि पिछले आम चुनाव की सफलता के बाद शक्ति के अभिमान में कांग्रेस ने बन्द दरवाजे की नीति को अपनाया और यह घोषित कर दिया कि वह किसी दल के साथ भी मिश्रित सरकार बनाने को तैयार नहीं है। उसने कहा कि मुसलमानों का यह विचार है कि बहुमत के अत्याचार से बढ़ कर और कोई अत्याचार नहीं हो सकता। कांग्रेस के व्यवहार ने यह सिद्ध कर दिया कि वे मुस्लिम लीग के साथ सहयोग नहीं करना चाहते। मुस्लिम लीग के सहयोग को प्राप्त करने के लिये बहुत से घृणित प्रस्ताव रखे गए। मुस्लिम लीग संसदीय समिति और मुस्लिम लीग दलों को भंग करने की मांग की गई। कांग्रेस ने मुस्लिम लीग के सदस्यों से कांग्रेस प्रतिज्ञापत्र (Pledge) पर हस्ताक्षर करने को कहा। रिपोर्ट में कांग्रेस के मुस्लिम जनता सम्पर्क आन्दोलन की निन्दा भी की गई। इसे एक अनहोनी बात बनाया गया।[1]

अक्तूबर १९३९ में कांग्रेस मन्त्री मण्डलों ने युद्ध प्रश्न पर त्याग पत्र दे दिये। इन त्याग पत्रों से मुस्लिम लीग को बड़ी प्रसन्नता हुई। मुस्लिम लीग ने २२ दिसम्बर १९३९ को मुक्ति दिवस (Day of Deliverance) मनाया। उस दिन एक प्रस्ताव पास किया गया जिसमें बताया गया कि कांग्रेसी मन्त्री मण्डलों ने मुस्लिम जनमत की अवहेलना, मुस्लिम संस्कृति को नष्ट करने और मुसलमानों के धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक अधिकारों में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न किया है। लीग ने इस बात पर प्रसन्नता प्रकट की कि कांग्रेसी शासन के अन्त होने के कारण *उन्हें पिछले ढाई साल के अत्याचार और अन्याय से छुटकारा मिल गया है।* लीग का कांग्रेस के ऊपर झूठा आरोप एक दिखावे मात्र के लिया था। आरोप असत्य थे और बढ़ा-चढ़ा कर बनाए गये थे।[2] श्री रेजीनेल्ड कूपलैंड ने लिखा है कि कांग्रेस सरकारों ने अल्पमतों के साथ ईमानदारी से व्यवहार किया। कांग्रेसी नेताओं ने

---

१. स्पीचिज़ एण्ड डोकूमैंट्स आन दी इंडियन कान्स्टीट्यूशन, भाग १, पृ० ४१०–४१६।

२. वही, भूमिका।

कांग्रेस की असाम्प्रदायिक प्रकृति पर अधिक बल दिया। उन्होंने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि साम्प्रदायिक तटस्थता अंग्रेजों की ही विशेषता नहीं थी।[1] कांग्रेस ने मुस्लिम लीग के आरोपों का उत्तर देने का पूरा प्रयत्न किया। सरदार वल्लभ भाई पटेल ने जो कांग्रेस संसदीय समिति के अध्यक्ष थे, घोषित किया कि उनकी सलाह पर प्रत्येक कांग्रेस प्रधान मन्त्री ने राज्यपाल से अल्पमतों के हितों की रक्षा करने के लिये हस्तक्षेप करने को कहा, यदि वह समझे कि मन्त्री मण्डल का कार्य ठीक नहीं था। सरदार पटेल ने कहा कि राज्यपालों का मत था कि इन आरोपों में कोई सत्यता नहीं है। डा० राजेन्द्र प्रसाद ने ५ अक्टूबर सन् १९३९ को जिन्ना को लिखे गये अपने पत्र में कहा कि यदि निश्चित उदाहरण दिये जायें तो कांग्रेस मुस्लिम लीग के आरोपों की जाँच का मामला संघीय न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश सर मोरिस ग्वायर के पास भेजने को तैयार है।[2] श्री जिन्ना ने इन सुझावों को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने 'मुक्ति दिवस' के विषय में दिये गये वक्तव्य में कहा कि यदि कांग्रेस लीग के आरोपों की जाँच कराना चाहती थी तो वे इसके लिये तैयार हैं परन्तु ऐसी जाँच के लिए एक शाही आयोग की नियुक्ति होनी चाहिये। इसके सदस्य सम्राट के सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश होने चाहियें और इस आयोग का अध्यक्ष प्रीवी कौंसिल का एक कानूनी लार्ड होना चाहिये।[3] श्री जिन्ना की इस माँग से स्पष्ट है कि वे जाँच के लिये उत्सुक नहीं थे। लीग के आरोप प्रचार की दृष्टि से ही रखे गये थे। लीग अपने झूठे प्रचार में सफल हुई। लीग के 'इस्लाम खतरे में' और 'नमाज पढ़ना ठीक है' नारों ने मुस्लिम जनता को प्रभावित कर दिया। कांग्रेस का मुस्लिम जनता सम्पर्क आन्दोलन विफल रहा। १९३७ से लेकर १९४२ तक मुस्लिम स्थानों के लिये ६१ उपचुनाव हुए और इनमें ४७ स्थानों में मुस्लिम लीग को सफलता मिली। कांग्रेस को केवल चार स्थान प्राप्त हुए।[4] मुस्लिम लीग ने कांग्रेस के विरुद्ध आरोप लगाकर अपने आपको सीमित नहीं रखा उसने अपना असली रूप दिखाने का भी प्रयत्न किया। श्री जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान योजना की रूपरेखा खींची।

पाकिस्तान की उत्पत्ति—मुस्लिम लीग ने कांग्रेस पर आरोप लगाकर अपने आपको सीमित नहीं रखा उसने अपना असली रूप दिखाने का प्रयत्न किया। श्री जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान योजना की रूप-रेखा खींची मुस्लिम लीग ने एक स्वतन्त्र पाकिस्तान राज्य के स्थापित करने की माँग रखी। पाकिस्तान

---

१. इण्डियन पॉलिटिक्स, भाग २, पृ० १८८।

२. स्पीचिज एण्ड डोक्यूमेंट्स ऑन दी इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशन, भाग १, पृ० ४३३।

३. वही, पृ० ४१६—४२०।

४. दी लास्ट फेज ऑफ ब्रिटिश सावरेन्टी इन इण्डिया, १९१६—१९३७, पृ० १४।

का विचार सबसे पहले सर मोहम्मद इकबाल ने दिसम्बर १९३० में मुस्लिम लीग के इलाहाबाद अधिवेशन में रखा। प्रारम्भ में डा० इकबाल एक राष्ट्रवादी थे। उनकी कविता 'सारे जहां से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा' इस बात का प्रमाण है। धीरे-धीरे वे एक साम्प्रदायिक विचारों वाले बन गये। अपने अध्यक्ष पद के भाषण में उन्होंने कहा कि भारत एक छोटा सा एशिया है, यह एक ऐसा महाद्वीप है जिसमें भिन्न जातियों, भाषाओं और धर्मों के मनुष्य रहते हैं। यहां पर यूरोपीयन प्रजातन्त्र लागू नहीं किया जा सकता। उन्होंने भारत में एक मुस्लिम भारत स्थापित करने की मांग को उचित बताया। उन्होंने कहा कि पंजाब, उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त, सिन्ध और बिलोचिस्तान को एक राज्य में परिणित कर देना चाहिये। एक उत्तर पश्चिम भारतीय मुस्लिम राज्य की स्थापना उत्तर पश्चिम भारत के मुसलमानों के लिये एक अन्तिम ध्येय है। यह स्वशासित मुस्लिम राज्य ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर या बाहर रह सकता है। उन्होंने भारत को विश्व का सबसे बड़ा मुस्लिम देश बताया इस्लाम एक सांस्कृतिक शक्ति के रूप में तभी रह सकता है जब उसको एक विशेष क्षेत्र में केन्द्रीभूत कर दिया जाय। उन्होंने कहा कि स्वतन्त्र भारत के लिये एकात्मक प्रकार की सरकार उपयोगी नहीं है। उनके अनुसार मुस्लिम राज्य भारत से पृथक् राज्य नहीं था, वे अवशिष्ट शक्तियां स्वशासित इकाइयों को सौंपना चाहते थे। वे एक केन्द्रीय संघ राज्य के पक्षपाती थे जिसकी शक्तियां कम से कम होनी चाहियें। वे प्रान्तीय सेनाओं को रखने के पक्ष में थे। परन्तु वे चाहते थे कि भारतीय समीप कांग्रेस उत्तर पश्चिम सीमा पर एक दृढ़ भारतीय सेना रखे जिसमें सब प्रान्तों और जातियों के सैनिक शामिल हों। सर इकबाल एक स्वतन्त्र सार्वभौम सत्ता वाला राज्य नहीं चाहते थे।

उनके विपरीत कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में पढ़ने वाले कुछ मुसलमान विद्यार्थियों ने एक नई योजना प्रस्तुत की। १९३३ में उनके नेता श्री रहमतअली ने पाकिस्तान की स्थापना के लिये एक योजना रखी। यह पाकिस्तान, पंजाब, बिलोचिस्तान, उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त, काश्मीर और सिन्ध को मिलाकर बनता। बंगाल व आसाम को मिलाकर वह बंगे इस्लाम बनाना चाहता था। इस योजना को उस समय कुछ सफलता नहीं मिली। अगस्त सन् १९३३ में सर मोहम्मद जफरउल्ला खां ने इस योजना को अव्यवहारिक और काल्पनिक बताया।[१] कांग्रेस से असन्तुष्ट होकर जिन्ना ने इस योजना को आगे बढ़ाया और भारत के विभाजन की मांग को पेश किया। २२ मार्च १९४० को श्री जिन्ना ने मुस्लिम लीग के लाहौर अधिवेशन में असहनीय भाषण देते हुये कहा कि मुसलमान एक अल्पमत नहीं हैं। वे प्रत्येक राष्ट्रीय परिभाषा के अनुसार एक पूर्ण राष्ट्र है उन्होंने कहा कि भारतीय समस्या एक साम्प्रदायिक समस्या नहीं है यह एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या है। यदि ब्रिटिश सरकार भारतीय महाद्वीप की जनता की शान्ति व भलाई चाहती है तो उसके लिये

१. दी लास्ट फेज आफ ब्रिटिश सोवरेन्टी इन इण्डिया, पृ० १०५।

एक मार्ग सुझा हुआ है कि भारत के मुख्य राष्ट्रों को पृथक्-पृथक् क्षेत्र सौंप दिये जायें और इन क्षेत्रों को अलग-अलग स्वतन्त्र राज्य बना देना चाहिये। श्री जिन्ना के अनुसार हिन्दू मुसलमानों की संस्कृति, सामाजिक रीति-रिवाज और साहित्य भिन्न-भिन्न हैं। वे न आपस में विवाह कर सकते हैं और न एक साथ खाना खा सकते हैं। उनकी सभ्यता भिन्न-भिन्न है जो एक दूसरे के विपरीत है। उन्होंने कहा कि भारत की कृत्रिम एकता अंग्रेजों के समय से ही आरम्भ हुई है और अंग्रेजों की सैनिक शक्ति ने ही इसे कायम रखा है। अन्त में उन्होंने कहा कि भारत के मुसलमान ऐसा संविधान स्वीकार नहीं कर सकते जिसके फलस्वरूप एक हिन्दू बहुमत वाली सरकार स्थापित हो जाय। यदि अल्पमतों की इच्छा के विरुद्ध हिन्दू मुसलमानों को एक ही प्रजातान्त्रिक पद्धति में रख दिया गया तो वास्तव में वह हिन्दू राज्य हो जायेगा। कांग्रेसी प्रजातन्त्र से इस्लाम नष्ट हो जायेगा।'[1] दूसरे दिन २३ मार्च १९४० को अखिल भारतीय मुस्लिम लीग ने एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव द्वारा जिन्ना के पाकिस्तान के सुझाव को स्वीकार कर लिया। इस प्रस्ताव के मुख्य अंश ये हैं। "अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के इस अधिवेशन का यह दृढ़ विचार है कि कोई भी संवैधानिक योजना इस देश में काम में नहीं लाई जा सकती और न मुसलमान ही उसे स्वीकार कर सकते हैं। यदि वह नीचे लिखे मूल सिद्धान्तों पर आधारित नहीं होगी—भौगोलिक दृष्टि से मिली हुई इकाइयों को विभिन्न क्षेत्रों में बांट दिया जाय और इन क्षेत्रों को इस तरह संगठित किया जाय कि जिन क्षेत्रों में मुसलमानों का बहुमत है जैसे कि भारत के उत्तर, पश्चिम और पूर्वी प्रान्त हैं उनको स्वतन्त्र राज्यों में संगठित कर देना चाहिये जिनमें इकाइयों को पूर्ण स्वतन्त्रता और सार्वभौम सत्ता प्राप्त हो।"[2]

मुस्लिम लीग के इस प्रस्ताव के पास होने के बाद देश का वातावरण ही बदल गया। सब प्रान्तों के मुसलमानों में पाकिस्तान को स्थापित करने की भावना फैल गई। साम्प्रदायिक समस्या का रूप ही बदल गया। लीग ने पृथक् निर्वाचन पद्धति और अल्पमतों के अधिकारों को सुरक्षित रखने की बात ही छोड़ दी। अब उसने देश के विभाजन की मांग रखी। इस समय कुछ ऐसी योजनायें रखी गईं जिसमें देश का विभाजन रुक जाता। ये योजनायें राज्य मण्डलात्मक सिद्धान्तों पर आधारित थीं। इनके अनुसार केन्द्र को बहुत कम शक्तियां प्रदान की गई थीं। एक योजना डा० सैयद अब्दुल लतीफ ने रखी। इसमें भारत को सांस्कृतिक क्षेत्रों में बांटने का प्रयत्न किया था। पंजाब के सर मोहम्मद शाहनवाज खां ने भारत में राज्य मण्डल नामक योजना रखी। पंजाब के मुख्य मन्त्री सर सिकन्दर हैयातखां ने भारतीय संघ शासन की योजना रखी। डा० बी० आर० अम्बेदकर ने भी एक

---

१. स्पीचिज एण्ड डॉक्यूमेंट्स आन दी इण्डियन कान्स्टीट्यूशन, भाग २, पृष्ठ ४४०-४४२।

२. वही, पृष्ठ ४४३।

योजना रखी। श्री रेजीनेल्ड कूपलैण्ड ने एक नये प्रकार की योजना रखी। उनकी योजना के अनुसार केन्द्र की शक्ति भारतीय जनता में न निहित होकर प्रान्तीय जनता में निहित होगी। प्रान्तों के प्रतिनिधि यह निश्चित करेंगे कि कौन-कौन से विषय केन्द्र को सौंप दिये जायें। केन्द्र एक प्रकार से सलाहकार व सहकारी परिषद् की तरह से कार्य करेगा। केन्द्र की शक्ति बहुत कम होगी। कूपलैण्ड ने इस प्रकार के केन्द्र को अभिकरण केन्द्र (Agency Centre) कहा, परन्तु मुस्लिम लीग ने सब प्रकार के सुझावों को मानने से इन्कार कर दिया। उसने देश के विभाजन पर ही जोर दिया और ब्रिटिश अफसरों और सरकार ने भी उसे प्रोत्साहन दिया।

पहले से ही ब्रिटिश सरकार की नीति मुसलमानों का पक्ष लेने की थी। ब्रिटिश सरकार ने ८ अगस्त १९४० के अगस्त प्रस्ताव नामक घोषणा में सबसे प्रथम बार देश के विभाजन की ओर संकेत किया। ब्रिटिश सरकार ने कहा कि यह निर्विवाद है कि ब्रिटिश सरकार भारत की भलाई एवम् शान्ति के लिए अपने वर्तमान उत्तरदायित्वों का किसी ऐसे सरकार को हस्तान्तरित करने का विचार नहीं कर सकती जिसका अधिकार भारत के राष्ट्रीय जीवन के महान् एवम् शक्तिशाली अंग प्रत्यक्ष रूप से अस्वीकार करते हों, न ही वह इन महत्वपूर्ण अंगों को बलपूर्वक किसी ऐसी सरकार के मातहत रखने में सहयोग दे सकती है। क्रिप्स योजना में देश के विभाजन के सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया गया। ब्रिटिश सरकार ने यह घोषित किया कि युद्ध के अन्त होने के तुरन्त बाद ही भारत के नए संविधान को तैयार करने के लिए एक निर्वाचित समिति स्थापित करने के लिए कार्य आरम्भ करेगी ब्रिटिश सरकार इस प्रकार बनाए गए संविधान को कार्यान्वित करने की प्रतिज्ञा करती है परन्तु ब्रिटिश भारत के प्रत्येक प्रान्त को यह अधिकार होगा कि वह इस प्रकार बनाये गये नये संविधान को स्वीकार करे या न करे। यदि वह ऐसा न करे तो उसे अपनी वर्तमान संवैधानिक स्थिति कायम रखने का अधिकार है। ब्रिटिश सरकार ऐसे प्रान्तों की जो भारतीय संघ में सम्मिलित न हों उनके लिए एक नया संविधान बनाने के लिए तैयार हो सकती है जिसके अनुसार उनकी स्थिति भारतीय संघ की तरह ही होगी। मुस्लिम लीग ने इस योजना को अस्वीकार कर दिया। १९४४ में श्री सी० राजगोपालाचार्य ने गांधी जी की पूर्ण अनुमति के बाद हिन्दू-मुसलमानों की समस्या को हल करने के लिए एक सुझाव रखा जिसमें उन्होंने पाकिस्तान बनाना स्वीकार किया। यह योजना 'सी० आर० फार्मूला' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके मुख्य उपबन्ध इस प्रकार हैं[1]। (१) मुस्लिम लीग भारतीय स्वतन्त्रता की माँग को स्वीकार करती है और अन्तरिम सरकार में सम्मिलित होने को तैयार है। (२) युद्ध की समाप्ति पर एक आयोग की नियुक्ति की जायेगी जो भारत के उत्तर-पश्चिम और पूर्व में उन मिले हुए जिलों को निश्चित करेंगे जहाँ पर

१. एम० एल० अग्रवाल : नेशनल मूवमेंट एण्ड कान्स्टीट्यूशनल डेवलपमेंट ऑफ इण्डिया, पृष्ठ ३२६।

मुसलमानों का बहुमत है। इन क्षेत्रों में भारत के विभाजन के प्रश्न पर जनमत संग्रह होगा यदि बहुमत भारत से पृथक् एक स्वतन्त्र राज्य बनाने के पक्ष में है तो ऐसे निश्चय को मान लिया जायेगा। (३) जनमत संग्रह से पहले सब दलों को अपने विचार प्रकट करने का अवसर मिलेगा। (४) यदि निश्चय विभाजन के पक्ष में हो तो दोनों राज्यों के बीच एक समझौता होगा जिसके अनुसार सुरक्षा वाणिज्य, यातायात इत्यादि को सम्मिलित तौर से सुरक्षित रखने का प्रबन्ध किया जायेगा। (५) जनसंख्या का परिवर्तन जनता की इच्छानुसार हो सकता है। इन उपबन्धों को तभी स्वीकार किया जा सकता है जब ब्रिटेन भारतीयों को पूरी शक्ति सौंप दे। (६) गांधी जी व जिन्ना इन शर्तों को स्वीकार करते हैं और कांग्रेस और मुस्लिम लीग से इन शर्तों को मनवाने का प्रयत्न करेंगे। ६ मई १९४४ को जेल से छूटने के बाद गांधी जी ने जिन्ना से इस विषय में बातचीत की और इस योजना को मानने के लिए आग्रह किया। श्री जिन्ना ने इस योजना को अस्वीकार किया। उन्होंने कहा[1] कि पाकिस्तान में वे छः प्रान्त शामिल होने चाहियें जहां पर मुसलमानों का बहुमत है। वे प्रान्त सिंध, उत्तर-पश्चिम सीमा-प्रान्त, पंजाब, बंगाल आसाम और बिलोचिस्तान हैं। वे नहीं चाहते थे कि मुसलमानों के अलावा और मनुष्य जनमत संग्रह में भाग लें। वे सुरक्षा, वाणिज्य और यातायात के संयुक्त नियन्त्रण के पक्ष में भी नहीं थे। वे पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान को जोड़ने के लिये एक रास्ता (corridor) भी चाहते थे। श्री जिन्ना ने कहा कि सी० आर० योजना के अनुसार जो पाकिस्तान होगा वह छिन्न-भिन्न ("maimed, mutilated and moth-eaten" Pakistan) होगा।

दूसरे महायुद्ध के बाद जब चुनाव हुए तो मुस्लिम लीग की बड़ी विजय हुई। ४९५ मुस्लिम स्थानों में से लीग को ४४६ स्थान मिले।[2] इससे यह प्रगट है कि पाकिस्तानी योजना मुसलमानों के दिलों में घर कर चुकी थी। ब्रिटिश सरकार ने भारतीय समस्या को हल करने के लिये फिर प्रयत्न किये और कैबिनेट मिशन को भारत भेजा। कैबिनेट मिशन ने घोषित किया कि साम्प्रदायिक समस्या को हल करने के लिए पाकिस्तान उचित उपाय नहीं है। ब्रिटिश सरकार ने मुसलमानों को खुश करने के लिए प्रान्तों के समूह बनाने की योजना रखी जो एक संयोग केन्द्र के अन्तर्गत कार्य करती। केन्द्र को बहुत कम शक्तियां सौंपी गईं। मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान के सिद्धांत को स्वीकार न करने की तो कड़ी आलोचना की परन्तु ६ जून को इस योजना को स्वीकार कर लिया। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने अपनी २६ जून की बैठक में योजना के कुछ भागों को स्वीकार कर लिया। समिति ने उस भाग को स्वीकार कर लिया जो संविधान बनाने वाली समिति से सम्बन्धित

१. आर० एन० अग्रवाल : नेशनल मुवमेंट एण्ड कान्स्टीट्यूशनल डवलपमेंट ऑफ इंडिया, पृष्ठ २४०।

२. दी लास्ट फेज ऑफ ब्रिटिश सोवरेन्टी इन इंडिया, पृष्ठ १५।

था। प्रान्तों के समूह बनाने के विषय में कांग्रेस में कुछ मतभेद रहा। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने अन्तरिम सरकार की योजना को अस्वीकार कर दिया। कैबिनेट मिशन के सदस्यों ने भारत छोड़ते समय इस बात पर प्रसन्नता प्रकट की कि अब संविधान बनाने वाली समिति का कार्य मुख्य दलों की अनुमति से चल सकेगा। उन्होंने अन्तरिम सरकार के न बनने पर खेद प्रगट किया। उन्होंने आशा प्रगट की कि कुछ समय बाद अन्तरिम सरकार को बनाने का प्रयत्न किया जाएगा। महाराज्यपाल के इस विचार से कि अन्तरिम सरकार बनाना कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया जाय जिन्ना बहुत नाराज हुए। उनका विचार था कि लार्ड वैविल ने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी थी। लीग ने अपनी २६ जुलाई की बैठक में योजना को पूर्णतया स्वीकार करने के निश्चय को वापिस ले लिया। लीग ने नाराज होकर प्रत्यक्ष कार्य के प्रस्ताव को पास किया और पाकिस्तान की प्राप्ति के लिए प्रत्यक्ष कार्य का मार्ग अपनाया। १६ अगस्त १६४६ को प्रत्यक्ष कार्य दिवस मनाना निश्चित हुआ। उस दिन कलकत्ते में हिन्दू-मुस्लिम उपद्रव हुए और सैकड़ों मनुष्य मारे गए। इसके बाद नोआखली और टिपरा में उपद्रव हुए। नोआखली के उपद्रव को रोकने के लिए गांधी जी को वहाँ जाना पड़ा था।

१० अगस्त को लार्ड वैविल ने प० जवाहरलाल नेहरू को अन्तरिम सरकार बनाने के लिये आमन्त्रित किया। २ सितम्बर १६४६ को अन्तरिम सरकार बनाई गई। मुस्लिम लीग इस सरकार में सम्मिलित नहीं हुई। १३ अक्तूबर १६४६ को लीग ने भी अन्तरिम सरकार में शामिल होना स्वीकार कर लिया। दो दिन बाद बिना शर्तों के लीग के पांच सदस्य अन्तरिम सरकार में शामिल कर लिये गये। यह अन्तरिम सरकार अगस्त १६४७ तक कार्य करती रही। इस सरकार में कांग्रेस व लीग दोनों शामिल थे किन्तु उन दोनों में मतभेद होने के कारण सरकार शांतिपूर्वक कार्य न कर सकी। मन्त्रीमण्डल की बैठक में हमेशा ही झगड़ा होता था। आपस के झगड़ों से देश का वातावरण ही खराब हो गया था। देश के विभिन्न भागों में जैसे बिहार, संयुक्त प्रान्त और पंजाब में साम्प्रदायिक दंगे होने लगे। ऐसी अवस्था को सुलझाने के लिए ब्रिटिश सरकार ने एक महत्वपूर्ण कदम उठाया। २० फरवरी १६४७ को ब्रिटिश प्रधानमन्त्री श्री क्लिमेंट एटली ने कॉमन्स सभा में एक महत्वपूर्ण घोषणा की। उसने कहा कि ब्रिटिश सरकार भारत में केन्द्रीय सरकार की शक्तियों को जून १६४८ से पूर्णतया किसी प्रकार की केन्द्रीय सरकार को सौंपेगी या कुछ क्षेत्रों की वर्तमान प्रान्तीय सरकारों को सौंपेगी या किसी अन्य ऐसे ढंग से सौंपेगी जो भारतीय जनता के सर्वश्रेष्ठ हित में हो। ३ जून १६४७ की माउण्टबेटन योजना के अनुसार अंग्रेजों ने भारत छोड़ने की तिथि १५ अगस्त १६४७ निश्चित की। इस योजना के अन्तर्गत ब्रिटिश पार्लियामेंट ने एक अधिनियम पास किया जिसके आधार पर पाकिस्तान और हिन्दुस्तान दो अधिराज्य स्थापित हुए। डाक्टर आर० आर० सेठी ने पाकिस्तान की स्थापना को एक अलौकिक घटना बताया। एक असम्भव बात सम्भव हो गई और श्री जिन्ना का स्वप्न साक्षात् हो गया। ब्रिटिश

कूटनीति के विद्यार्थियों के लिए यह एक अद्भुत बात नहीं थी। ब्रिटिश सरकार ने हर जगह एक सी ही नीति अपनाई है। आयरलैण्ड, पैलेस्टाइन, साइप्रस, सूडान इत्यादि इसके अन्य उदाहरण हैं। पाकिस्तान ब्रिटिश सरकार की 'विभाजन करके शासन' करने की नीति का अन्तिम रूप था (It was the final culmination of the British Policy of "Divide and Rule.")

---

अध्याय ११

# मोन्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार

मोन्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधारों को मोन्टफोर्ड सुधार, १९१९ का भारतीय सरकार अधिनियम या १९१९ का अधिनियम भी कहते हैं। ये सुधार तीन प्रमुख विचारों पर आधारित थे। पहले केन्द्रीय और प्रान्तीय शासन के क्षेत्रों का स्पष्टतापूर्वक सीमा विभाजन किया गया। दूसरे प्रान्तीय विषयों को दो भागों में विभाजित किया गया। अन्य सुरक्षित विषयों का शासन-प्रबन्ध पहले की तरह ही कार्यकारिणी परिषद् (Executive Council) को सौंपा गया, परन्तु हस्तान्तरित विषयों का शासन-प्रबन्ध मंत्रियों को सौंपा गया जो प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के निर्वाचित सदस्यों में से गवर्नर द्वारा चुने जाते थे वे अपने कार्यों और नीति के लिये इन सभाओं के प्रति उत्तरदायी थे। व्यवस्थापिका सभाओं की सदस्य संख्या बढ़ा दी गई और उन्हें अधिक शक्तियां दे दी गई, उनमें निर्वाचित सदस्यों की बहु संख्या को स्थान दिया गया। तीसरे यह कि केन्द्रीय सरकार में उत्तरदायित्व के तत्व का प्रारम्भ नहीं किया गया, परन्तु व्यवहार में कार्यकारिणी में भारतीय सदस्यों की संख्या तीन तक बढ़ा दी गई। केन्द्रीय व्यवस्थापिका में दो सदनों की स्थापना कर दी गई जिसका उच्च सदन केवल धनिक वर्ग के व्यक्तियों से बनाया गया, परन्तु निम्न सदन में जनता को अधिक प्रतिनिधित्व दिया गया और उसके सदस्यों को कुछ अधिक विशेषाधिकार प्रदान किये गये, जो उनके पहले समय के सदस्यों को नहीं सौंपे गये थे। केन्द्रीय बजट के कुछ भाग पर मतदान का अधिकार दे दिया। केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा को केन्द्रीय सरकार के कार्यों की आलोचना करने के बहुत से अवसर प्रदान कर दिये गये। अब हम मोन्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधारों की ब्योरेवार व्याख्या करते हैं।

**प्रान्तीय सरकार**—जैसा कि ए० बी० कीथ ने बताया है १९१९ के अधिनियम की विशेष नवीनता यह है कि इसके अनुसार ऐसे नियम बनाने की व्यवस्था की गई जिनके अनुसार विषयों को केन्द्रीय और प्रान्तीय दो भागों में विभाजित किया जा सकता था। केन्द्रीय विषय भारत सरकार के आधीन रखे गये और प्रान्तीय विषय प्रान्तीय सरकार के आधीन रखे गये। प्रान्तीय विषय सुरक्षित और हस्तान्तरित दो भागों में विभाजित किये गये। सुरक्षित विषयों का प्रबन्ध गवर्नर अपनी कौंसिल द्वारा करेगा, हस्तान्तरित विषयों का प्रबन्ध गवर्नर अपने मन्त्रियों की सलाह से करेगा। *१९१९ के अधिनियम द्वारा संयुक्त प्रान्त, पंजाब, बिहार, उड़ीसा,* मध्यप्रान्त और आसाम की सरकारों की शासन-व्यवस्था में परिवर्तन कर दिया गया। संयुक्त समिति ने यह भी सुझाव रखा कि यह स्पष्टतया बता देना चाहिये कि कौनसा कार्य गवर्नर ने कार्यकारिणी की सलाह से किया है और कौनसा कार्य मन्त्रियों के परामर्श से किया है। प्रान्तीय सरकार के दोनों भागों के कार्य घनिष्ठ

परामर्श के द्वारा ही किये जाने चाहियें। संयुक्त समिति ने यह भी सुझाव रखा कि वाद-विवाद में कार्यकारिणी के सदस्यों और मन्त्रियों को एक साथ कार्य करना चाहिये परन्तु यह आवश्यक नहीं था कि जिस नीति को वह ठीक न समझे उसके पक्ष में वह बोले या मत दे। व्यवहारिक रूप में दोनों भागों का कार्य एक दूसरे के सहयोग से होना चाहिये। वित्त के प्रश्न ने बहुत सी कठिनाइयाँ उत्पन्न की, संयुक्त रिपोर्ट और प्रवर समिति ने तय किया कि राजस्व का वार्षिक वितरण आपस में वाद-विवाद के द्वारा निश्चित होना चाहिए। मतभेद की दशा में गवर्नर को राजस्व के वितरण का अधिकार दिया गया। इस अधिनियम में यह भी व्यवस्था की गई कि यदि प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषद् सुरक्षित विषयों के लिये आवश्यक कानून पास करने से इन्कार कर दे तो गवर्नर को यह अधिकार था कि वह उस कानून को प्रमाणित कर दे कि वह उसके उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिये आवश्यक है। ऐसी अवस्था में यह प्रस्तावित कानून अधिनियम बन जायेगा। परन्तु ऐसे कार्य महाराज्यपाल द्वारा राजमुकुट की स्वीकृति के लिये रक्षित कर दिये जायेंगे और स्वीकृति मिलने से पहले संसद के दोनों सदनों के समक्ष रख दिये जाने चाहियें। आपातकालीन अवस्था में महाराज्यपाल को यह अधिकार था कि वह अधिनियम को तुरन्त अनुमति दे सके। परन्तु ऐसे अधिनियम संसद के समक्ष अवश्य ही रख दिये जाने चाहियें और राजमुकुट को यह अधिकार था कि ऐसे अधिनियम को अस्वीकार कर दे। हस्तान्तरित विषयों के सम्बन्ध में ऐसी व्यवस्था नहीं की गई थी। आपातकाल में केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा आवश्यक कानून पास कर सकती थी या महाराज्यपाल अध्यादेश जारी कर सकता था। रक्षित विषयों के सम्बन्ध में गवर्नमेंट द्वारा प्रस्तुत किये गये बजट को यदि प्रान्तीय परिषद् अस्वीकार कर दे या घटा दे तो गवर्नर को यह अधिकार था कि वह इस बजट को यह कहकर प्रमाणित कर दे कि रक्षित विषय के उत्तरदायित्व को कार्यान्वित करने के लिए यह आवश्यक है। हस्तान्तरित विषयों के सम्बन्ध में ऐसे अधिकारों की व्यवस्था नहीं की गई थी। परन्तु राज्यपाल को यह अधिकार दिया गया कि आपातकाल में वह ऐसे खर्च की अनुमति दे सकता था जो उसकी राय में प्रान्त की शान्ति और सुरक्षा के लिये या किसी विभाग के चलाने के लिए आवश्यक हो।

ऊपर लिखे प्रतिबन्धों के आधीन रहते हुए प्रान्तों में उत्तरदायी सरकार स्थापित करने का वास्तविक प्रयत्न इस १६१६ के अधिनियम में किया गया था।[1] मन्त्रियों को राज्यपाल चुनते थे और वे राज्यपाल की इच्छानुसार ही अपने पद पर रह सकते थे। वे परिषद् में कार्यकाल के लिए ही नियुक्त होते थे और उनके वेतन परिषद् की इच्छा पर भी निर्भर रहते थे। परिषद् उसके वेतन की अनुमति न देकर उसके पद को नष्ट कर सकती थी। कोई भी मन्त्री छ महीने तक परिषद् की सदस्यता ग्रहण किये बिना भी अपने पद पर रह सकता था, परन्तु छ महीने के बाद या तो

१. आर्थर बेरीडेल कीथ : ए कोन्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृष्ठ २४६।

वह परिषद् का सदस्य निर्वाचित हो जाय या फिर उसे अपने पद से हट जाना पड़ता था। राज्यपाल अपने मन्त्रियों की सलाह पर कार्य करता था। परन्तु कुछ विशेष कारणों के आधार पर वह उनकी सलाह के बिना भी कार्य कर सकता था। यदि कोई मन्त्री अपने पद से त्याग-पत्र दे दे और उसके स्थान पर दूसरे मन्त्री को नियुक्त करने में कुछ बाधा हो तो गवर्नर सम्बन्धित विषयों के स्थायी शासन के लिए कुछ प्रबन्ध कर सकता था। राज्यपाल को सरकार की सहायता के लिए परिषद् के गैर-सरकारी सदस्यों में से कुछ परिषद् सचिव नियुक्त करने का भी अधिकार था। प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदों की सदस्य संख्या बढ़ा दी गई। मद्रास में १२७, बम्बई में १११, बंगाल में १३६, संयुक्त प्रान्त में १२३, पंजाब में ९३, बिहार और उड़ीसा में १०३, मध्य प्रान्त में ७० और आसाम में ५० सदस्य कर दिए गए। सरकारी सदस्यों की संख्या २० प्रतिशत से अधिक नहीं हो सकती थी और चुने हुए सदस्य ७० प्रतिशत होने चाहिये थे। साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति मुसलमानों के लिए जारी रखी गई, भारतीय ईसाईयों, यूरोपियन्स और एंग्लो इण्डियन्स को भी उनकी जन-संख्या के आधार पर पृथक् निर्वाचन पद्धति दी गई। ईसाइयों को केवल मद्रास में स्थान दिया गया। एंग्लो इण्डियन को मद्रास और बंगाल में स्थान दिया गया। यूरोपियन्स को पंजाब, मध्य प्रान्त और आसाम के अलावा सब प्रान्तों में स्थान दिया गया। आसाम को छोड़कर सब प्रान्तों में विश्वविद्यालयों के लिए विशेष निर्वाचन क्षेत्र बनाये गए। जमींदारों और उद्योगपतियों के लिए भी ऐसी ही व्यवस्था की गई। इस तरह मद्रास में १३ स्थान विशेष निर्वाचन क्षेत्र के लिए, २० साम्प्रदायिक निर्वाचन के लिए और ६५ सामान्य निर्वाचन क्षेत्रों के लिए रखे गये। बंगाल में २१ विशेष निर्वाचन क्षेत्रों के लिए, ४६ साम्प्रदायिक निर्वाचन के लिए और ४६ सामान्य निर्वाचन क्षेत्रों के लिए रखे गए। पंजाब में ७ विशेष निर्वाचन क्षेत्रों के लिए, ४४ साम्प्रदायिक निर्वाचन के लिए, जिनमें १२ सिक्ख सम्मिलित थे और २० सामान्य निर्वाचन क्षेत्र के लिए रखे गये थे।[1] मताधिकार के लिए कुछ सिद्धान्त निर्धारित किये गए। महिलाओं को मतदान का अधिकार नहीं दिया गया। यह अधिकार प्रान्तों के ऊपर छोड़ दिया गया था, २१ वर्ष या इससे अधिक आयु वालों को मताधिकार दिया गया। विकृत-चित्त वालों को मताधिकार नहीं दिया गया। ब्रिटिश प्रजा या भारतीय रियासतों की प्रजा को ही मताधिकार मिल सकता था। मताधिकार के लिए सम्पत्ति योग्यता भी आवश्यक थी। यह सम्पत्ति योग्यता भूमिकर, म्युनिसिपल कर और आयकर पर आधारित थी। अवकाश प्राप्त या पेन्शन प्राप्त सैनिक अधिकारियों को भी मताधिकार का अधिकार दिया गया। २५ वर्ष या उससे अधिक आयु के मनुष्य ही परिषदों के सदस्य बन सकते थे। कोई भी मनुष्य जो अननुमुक्त दिवालिया हो या मुअत्तिल वकील हो या किसी अपराध में सजा भोग चुका हो या चुनाव सम्बन्धी भ्रष्टाचार के कारण कोई सजा पाया हुआ हो वह सदस्यता से

१. आर्थर बेरीडेलकीथ : ए कान्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृष्ठ १४० ।

वंचित रहेगा।

परिषदों का कार्यकाल ३ साल रखा गया। राज्यपाल किसी भी समय परिषद् को भंग कर सकता था। वह विशेष परिस्थितियों में परिषद् की अवधि एक साल के लिये बढ़ा सकता था। परिषद् के भंग होने पर नई परिषद् की बैठक छः महीने के अन्दर या भारत सचिव की अनुमति पर ६ महीने के अन्दर अवश्य बुलाई जानी चाहिये।[1] राज्यपाल को परिषद् की बैठक बुलाने का अधिकार दिया गया। परिषद् का सभापति ही उसकी बैठक को स्थगित कर सकता था। सभापति को निर्णायक मत देने का अधिकार था। पहले ४ सालों के लिए राज्यपाल स्वयं ही सभापति नियुक्त करता था और ४ साल के बाद परिषद् सभापति को चुनती थी। संयुक्त प्रान्त में श्री कीन चार साल तक गवर्नर द्वारा नियुक्त सभापति रहे। उनके बाद सर सीताराम अधिक काल तक निर्वाचित सभापति रहे। परिषदें राज्यपाल की अनुमति से सभापति को पदच्युत कर सकती थीं। परिषदों को प्रान्त की शान्ति और सुव्यवस्था के लिए कानून बनाने का अधिकार था। १९१९ के अधिनियम से पहले या बाद में प्रान्त के विषय में बनाए गए किसी कानून को वह रद्द या बदल सकती थी, नीचे लिखे विषयों के सम्बन्ध में कानून बनाने के लिए पहले ही महाराज्यपाल की स्वीकृति आवश्यक थी —(अ) नए कर लगाने के लिए, (ब) सार्वजनिक ऋण और वही शुल्क या केन्द्रीय विधान सभा द्वारा लगाये गये अन्य कर के विषयों में कानून बनाना, (स) सेना, नौसेना या हवाई सेना के विषय में कानून बनाना, (द) सरकार के दूसरे देशों के सम्बन्ध के विषय में कानून बनाना, (ई) किसी केन्द्रीय विषय या ऐसे प्रान्तीय विषय के बारे में जो केन्द्र के आधीन कर दिया गया हो कानून बनाना। परिषद् कोई भी ऐसा कानून नहीं बना सकती थी जो संसद द्वारा बनाये गये अधिनियम के ऊपर कोई प्रभाव डाले।

हर वर्ष परिषद् के समक्ष आय और व्यय का लेखा रखा जाता था और सरकार के प्रस्तावित व्यय के लिये अनुदान के रूप में माँगें रखी जाती थीं। सरकार द्वारा माँगे गए खर्चों को परिषद् स्वीकार, अस्वीकार या कम कर सकती थी। किसी भी अनुदान के लिए माँग राज्य की सिफारिश पर रखी जाती थी।[2] नीचे लिखे खर्चों के विषय में परिषद् को विचार करने का अधिकार नहीं था —(अ) केन्द्रीय सरकार के लिए अंशदान, (ब) सरकारी ऋण पर ब्याज, (स) कानून द्वारा निर्धारित व्यय, (द) उन मनुष्यों का वेतन और पेन्शन जिनकी नियुक्ति राजमुकुट या भारत सचिव की परिषद् के द्वारा या अनुमति से नियुक्त कर दिये गये हों, (ह) उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों और एडवोकेट जनरल के वेतन। राज्यपाल को यह अधिकार था कि वह यह निश्चित करे कि कौन सा खर्चा इन वर्गों में आता है। राज्यपाल उस वाद-विवाद को रोक सकता था जिसको वह समझता था कि इस वाद-विवाद से प्रान्त

---

१. १९१९ का भारत सरकार अधिनियम, अनुच्छेद ७२ ब (१) (ख)।

२. वही, अनुच्छेद ७२ ड (२) (ख)

की शान्ति या सुरक्षा भंग हो जाएगी। परिषद् की कार्यवाही को चलाने के लिए कानून बनाने की व्यवस्था भी की गई थी। सदस्यों को परिषद् में भाषण देने की स्वतन्त्रता थी। उनके भाषणों या मतों के विरुद्ध न्यायालयों में कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती थी। राज्यपाल किसी भी विधेयक को स्वीकार या अस्वीकार कर सकता था। वह किसी भी विधेयक को पुनर्विचार के लिए वापिस भेज सकता था। वह किसी भी विधेयक को सुरक्षित रख सकता था। वह नीचे लिखे विषयों में सम्बन्धित विधेयकों को सुरक्षित रख सकता था :—(अ) धर्म, (ब) विश्वविद्यालय, (स) एक सुरक्षित विषय को हस्तान्तरित बनाना, (ड) ट्राम्बे या छोटी रेलों का बनाना, (ई) भूमि कर इत्यादि। वह अपने अनुदेशों के उपकरण या केन्द्रीय विषय या दूसरे प्रान्तों से सम्बन्धित विषयों के बारे में विधेयकों को सुरक्षित रख सकता था। महाराज्यपाल की अनुमति से एक सुरक्षित विधेयक परिषद् के सामने छः महीने के अन्दर विचार करने के लिए रखा जा सकता था। छः महीने की अवधि के बाद यह विधेयक राज्यपाल के समक्ष पेश होता था या महाराज्यपाल छः महीने के अन्दर अपनी अनुमति दे सकते थे। यदि महाराज्यपाल ऐसा न करें और विधेयक को वापिस भेजें तो विधेयक रद्द समझा जायेगा। कोई भी विधेयक राज्यपाल की अनुमति के उपरान्त महाराज्यपाल की अनुमति के लिए भेजा जाता था और तभी वह कानून बन सकता था। महाराज्यपाल अनुमति देने से इन्कार भी कर सकता था या वह राज्यमुकुट की अनुमति के लिये किसी भी अधिनियम को सुरक्षित रख सकता था। यदि राजमुकुट चाहे तो उसे अस्वीकार कर सकता था।

सन् १९१९ के अधिनियम के उपबन्धों को कार्यान्वित करने के लिए बहुत से विनियमों की व्याख्या की गई थी जिनको भारत सरकार, भारत सचिव की परिषद् और संसद् के दोनों सदनों की अनुमति से बनानी थी। नीचे लिखे विषय हस्तान्तरित घोषित किये गए :—स्थानीय स्वराज्य, चिकित्सा शासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य, भारत में तीर्थ यात्रा, शिक्षा, सार्वजनिक कार्य, कृषि, मछली विभाग, सहकारी समितियाँ, उत्पादन शुल्क, धार्मिक और धर्मार्थ संस्थायें, उद्योग-धन्धे, खाद्य पदार्थों में मिलावट, पुस्तकालय, म्यूजियम, जानवरों को अत्याचार इत्यादि से बचाने के कार्य, नाटक के खेलों पर नियन्त्रण इत्यादि और कांजीहाउस इत्यादि। जिन विभागों में सामाजिक और आर्थिक विकास, राष्ट्रीय निर्माण कार्य और सामाजिक सुधार के लिए अधिक उन्नति का क्षेत्र था, वे ही विभाग भारतीय मन्त्रियों को सौंपे गए। महाराज्यपाल की परिषद् की नियन्त्रण शक्ति हस्तान्तरित विषयों के बारे में नीचे लिखी अवस्था में ही लागू हो सकती थी—(अ) केन्द्रीय विषयों के शासन की सुरक्षा के लिए, (ब) दो प्रान्तों के झगड़ों को तय करने के लिए, (स) हाई कमिश्नर के विषय में अपनी स्थिति को ठीक रखने के लिए, असैनिक सेवा और प्रान्तीय ऋण लेने के लिए। भारत सचिव की परिषद् इन विषयों में भी हस्तक्षेप कर सकती थी। इनके अतिरिक्त साम्राज्य के हितों की सुरक्षा करने के लिए और भारत सरकार का ब्रिटिश साम्राज्य में स्थान ठीक प्रकार ग्रहण कराने के लिए

भारत के सचिव की परिषद् हस्तक्षेप कर सकती थी।[1] प्रान्तों में सुरक्षित विषय नीचे लिखे थे —सिंचाई और नहर, भूमि कर शासन, अकाल सहायता, न्यायिक, खनिज पदार्थों का विकास, कारखाने, मजदूरों के झगड़ों को तय करना, श्रमिक वर्ग की भलाई, विद्युत, छोटे बन्दरगाह, जुआ खेलना, जहरों का नियन्त्रण, समाचारपत्रों, पुस्तकों और प्रेसों का नियन्त्रण, जेल, प्रान्तीय सरकारी प्रेस, भारतीय और प्रान्तीय विधान सभाओं का चुनाव, सरकारी नौकरियों का नियन्त्रण, ऋण लेना, गजेटियर अंक शास्त्र, प्राचीन लेख्य और केन्द्रीय विषयों से सम्बन्ध रखने वाले वे मामले जिनके विषय में कानून द्वारा स्थानीय सरकारों को अधिकार दिए गए हैं। यदि कहीं सन्देह होता था तो महाराज्यपाल की परिषद् यह तय करती थी कि अमुक विषय प्रान्तीय है या नहीं और यदि किसी विषय के सुरक्षित या हस्तान्तरित होने का सन्देह होता था तो राज्यपाल ही उसे तय करता था। यदि कोई मामला प्रान्तीय सरकार के दोनों (सुरक्षित व हस्तान्तरित) भागों से सम्बन्ध रखता था तो राज्यपाल का कर्तव्य था कि वे उस विषय पर दोनों के सहयोग से विचार कराये और अन्त में यह निश्चय करे कि किस विभाग में कार्य होना है। जो अधिकारी हस्तान्तरित विभागों से सम्बन्ध रखते थे उनका नियन्त्रण राज्यपाल और मन्त्री के हाथ में था। इन अधिकारियों के वेतन, पेन्शन और निन्दा सम्बन्धी विषयों के लिये राज्यपाल की व्यक्तिगत अनुमति आवश्यक थी। अखिल भारतीय असैनिक सेवकों के पदस्थान के लिए राज्यपाल की अनुमति आवश्यक थी। वित्त के सम्बन्ध में ब्यौरेवार व्यवस्था की गई थी। वित्त और विधान निर्माण के विषयों में प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदों पर कड़ा नियन्त्रण था।[2] राज्यपाल अपने मन्त्रियों के कार्यों पर कड़ा नियन्त्रण रखता था। यदि किसी मन्त्री का पद रिक्त हो जाता था तो वह विभाग किसी दूसरे मन्त्री को थोड़े समय के लिये सौंप दिया जाता था। यदि राज्यपाल किसी विभाग को अपने हाथ में ले ले तो उसे महाराज्यपाल की परिषद् को इस आपत्तकाल अवस्था के विषय में अवगत करना पड़ता था। यह आशा की जाती थी कि एक दूसरा मन्त्री इस काम को सम्भालने के लिए जल्दी से जल्दी नियुक्त होगा। भारत सरकार राज्यपाल की परिषद् को कुछ केन्द्रीय विषयों पर कार्य करने के लिए कह सकती थी। इस सम्बन्ध में हुआ खर्च केन्द्रीय कोष से दिया जाता था। यदि कोई विभाग केन्द्रीय और प्रान्तीय ध्येयों की पूर्ति करे और उनके खर्चे के विषय में दोनों में मतभेद हो तो यह मतभेद भारत सचिव की परिषद् द्वारा तय किया जाता था।

भारत सरकार—सन् १९१९ के अधिनियम में केन्द्र विधान मण्डल में दो सदनों की व्यवस्था की गई, उच्च सदन का नाम कौंसिल ऑफ स्टेट रखा गया। निचले

---

१. आर्थर बैरीडेल कीथ : ए कॉन्सटीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृष्ठ २५४।

२. वही, पृष्ठ २६९।

सदन का नाम विधान सभा था। कौंसिल ऑफ स्टेट में १६ सरकारी और छः गैर-सरकारी मनोनीत सदस्य थे और २३४ निर्वाचित सदस्य थे, जिनमें २० सामान्य, १० मुसलमान, १ सिक्ख और ३ यूरोपियन थे। मताधिकार अधिक सम्पत्ति के आधार पर रखा गया। कौंसिल का सभापति महाराज्यपाल द्वारा नियुक्त होता था और वही कौंसिल का सदस्य मनोनीत कर दिया जाता था। वह एक अनुभवी अंग्रेज होता था। केन्द्रीय विधान सभा के ५/७ सदस्य निर्वाचित होते थे। बाकी सदस्यों में से १/३ गैर-सरकारी होते थे। विधान मण्डल का सबसे पहला सभापति चार साल के लिए महाराज्यपाल द्वारा नियुक्त हुआ था। उसके बाद में सभापति का चुनाव होता था। सबसे पहले सभापति सर फ्रेडरिक व्हाइट थे। उसके बाद श्री विट्ठल भाई पटेल सबसे पहले निर्वाचित सभापति बने। पहली केन्द्रीय विधान मण्डल में १४३ सदस्य थे। २५ सरकारी अफसर, १५ गैर-सरकारी मनोनीत सदस्य और १०३ निर्वाचित सदस्य थे। निर्वाचित सदस्यों में से, ५१ सामान्य निर्वाचन क्षेत्र से, ३० मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्र से, २ सिक्खों में से, ७ जमींदारों में से, ९ यूरोपियन्स में से और ४ भारतीय वाणिज्य के प्रतिनिधि होकर आते थे। मताधिकार कुछ ही लोगों में सीमित था। महिलाओं को मताधिकार दिया गया। सन् १९३४ में १४, १५, ८९२ मतदाता थे जिनमें केवल ८१,६०२ महिलायें थीं।[1] कौंसिल का अवधिकाल पाँच वर्ष और विधान मण्डल का तीन वर्ष था। महाराज्यपाल किसी भी सदन को विघटित कर सकता था और उसकी अवधि भी बढ़ा सकता था। विघटन के बाद नये सदन की बैठक छः महीने के अन्दर या भारत सचिव की अनुमति पर ९ महीने के अन्दर होनी चाहिये।[2] सन् १९२० की विधान सभा सन् १९३४ तक कार्य करती रही। द्वितीय महायुद्ध के बीच में केन्द्रीय विधान सभा अपनी अवधि से अधिक समय तक कार्य करती रही, वह सदनों की बैठकें बुला सकता था। सभापति सदन की बैठक को स्थगित कर सकता था। वह निर्णायक मत भी दे सकता था। कोई अधिकारी विधान मण्डल में चुनाव के लिए खड़ा नहीं हो सकता था। महाराज्यपाल की कार्यकारिणी परिषद् का प्रत्येक सदस्य दोनों सदनों में से एक का सदस्य मनोनीत कर दिया जाता था। उसकी कार्यकारिणी के सदस्य दोनों सदनों की बैठकों में बैठ सकते थे, परन्तु वे उस ही सदन में मत दे सकते थे, जिस सदन के वे सदस्य होते थे। यदि एक सदन दूसरे सदन से भेजे गए किसी विधेयक को छः महीने के अन्दर स्वीकार न करे तो महाराज्यपाल अपनी इच्छानुसार दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुला सकता था।

वित्त के विषय में यह आवश्यक था कि वार्षिक आय और व्यय का ब्यौरा विधान मण्डल के समक्ष पेश होना चाहिये। सब व्यय की माँगें महाराज्यपाल की ओर से ही रखी जाती थीं। नीचे लिखे विषयों पर महाराज्यपाल की अनुमति के बिना न तो विधान सभा में मत लिया जा सकता था और न वाद-विवाद ही हो सकता

१. ए कॉन्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृष्ठ २६१।

२. १९१९ का भारत सरकार अधिनियम अनुच्छेद, ६३ द (२) (ख)।

था'[1] :—(अ) ऋणों के ब्याज, (ब) व्यय जो कानून के अनुसार तय हो चुका हो, (स) राजमुकुट या भारत सचिव की परिषद् द्वारा नियुक्त मनुष्यों के वेतन, (द) पेन्शन, चीफ कमिश्नर व ज्युडिशियल कमिश्नर के वेतन और, (ई) धार्मिक, राजनैतिक और सैनिक खर्चे, महाराज्यपाल को यह अधिकार था कि वह यह तय करे कि अमुक खर्चा इन वर्गों में आता है या नहीं। विधान मण्डल महाराज्यपाल की परिषद् की मांगों को स्वीकार, अस्वीकार और घटा सकती थी। परन्तु महाराज्यपाल यह घोषित कर सकता था कि अमुक माँग उसके कर्तव्यों को पालन करने के लिए आवश्यक है, इसका अर्थ माँग की स्वीकृति होना था। वह ब्रिटिश भारत की शान्ति और सुरक्षा के लिए आवश्यक व्यय का अधिकार दे सकता था। अगर विधान मण्डल किसी कानून को महाराज्यपाल की इच्छा के अनुसार पास न करे तो महाराज्यपाल यह प्रमाणित कर सकता था कि उस विधेयक का पास होना ब्रिटिश भारत की शान्ति सुरक्षा या हितों के लिये आवश्यक था। ऐसी अवस्था में वह विधेयक कानून बन जाता था, अगर एक सदन ने उसे स्वीकार कर लिया है या जिस सदन ने उस पर अभी तक विचार नहीं किया है वह सदन उसकी अनुमति दे दे। ऐसा न होने पर यह विधेयक महाराज्यपाल के हस्ताक्षर प्राप्त करने पर कानून बन जायेगा। ऐसा अधिनियम राजमुकुट की अनुमति प्राप्त करने से पहले संसद के दोनों सदनों के सामने पेश होता था और राजमुकुट की अनुमति प्राप्त करने पर यह लागू होता था। आपातकाल में महाराज्यपाल ऐसे अधिनियम को तुरन्त ही लागू कर सकता था। प्रान्तीय नियमों के बारे में या किसी प्रान्तीय अधिनियम में संशोधन या उसको रद्द करने के लिए या महाराज्यपाल के अधिनियम या अध्यादेश में संशोधन या उसको रद्द करने के लिए कोई विधेयक विधान मण्डल में महाराज्यपाल की पूर्व अनुमति से ही पेश हो सकता था। महाराज्यपाल किसी भी विधेयक के ऊपर होने वाले वाद-विवाद को यह प्रमाणित करके रोक सकता था कि इस वाद-विवाद से देश की शान्ति व सुरक्षा के भंग होने का डर है। १९१० के अधिनियम के द्वारा केन्द्रीय विधान-मण्डल की शक्तियाँ बढ़ा दी गईं और उसकी ऐसी अवस्था हो गई थी कि वह सरकार की खूब आलोचना कर सकती थी और भारतीय जनता की भावनाओं को सरकार के सामने रख सकती थी।[2] महाराज्यपाल की कार्यकारिणी परिषद् केन्द्रीय विधान-मण्डल की उत्तरदायी नहीं थी। कार्यकारिणी परिषद् की सदस्य संख्या पर लगा हुआ प्रतिबन्ध हटा दिया गया और कानूनी सदस्य की योग्यता में भी परिवर्तन कर दिया गया। हाईकोर्ट में दस साल का अनुभव प्राप्त वकील कार्यकारिणी परिषद् का कानूनी सदस्य नियुक्त हो सकता था। महाराज्यपाल को परिषद् सचिव नियुक्त करने का भी अधिकार था। यह आशा प्रगट की गई कि महाराज्यपाल की कार्य-

१. १९१९ का भारत सरकार अधिनियम अनुच्छेद ६७ अ (३)।

२. आर्थर बेरीडेल कीथ : ए कॉन्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृष्ठ २६३।

कारिणी परिषद् के आधे सदस्य भारतीय होंगे। नीचे लिखे विषय केन्द्रीय विधान मण्डल और कार्यकारिणी के नियन्त्रण में रखे गये—भारतीय सुरक्षा, विदेशी मामले, रेलवे, शिपिंग, बड़े बन्दरगाह, डाक विभाग, सीमा शुल्क, चलार्थ और टंकण, भारत का लोक ऋण, सेविंग बैंक वाणिज्य, व्यवसायों का विकास, अफीम, ज्योलॉजिकल सर्वे, कापी राईट, कानून फौजदारी, भारतीय भू परिमाप, जनगणना, अखिल भारतीय सेवायें, लोकसेवा आयोग इत्यादि।

**भारत सचिव की परिषद्**—भारत सचिव की परिषद् की संख्या १० और १४ से घटाकर ८ और १२ के अन्दर कर दी गई।[1] आधे सदस्यों के लिए यह अनिवार्य था कि वे भारत में १० साल तक नौकरी कर चुके हों या रह चुके हों। सदस्यों का कार्यकाल पाँच साल कर दिया गया। उन्हें १२०० पौंड सालाना वेतन दिया जाता था। भारत के मूल निवासियों को जो इंगलैंड में रहते थे ६०० पौंड वेतन अधिक मिलता था। भारत सचिव की परिषद् की बैठक महीने में कम से कम एक बार होती थी। पहले यह हफ्ते में एक बार होती थी। भारत सचिव इसके कार्य को चलाने के लिये नियम बनाते थे। परिषद् की बैठकों की कोई गणपूर्ति नहीं थी। नीचे लिखे निर्णयों के लिए परिषद् के बहुमत की अनुमति की आवश्यकता थी :—(अ) भारत के राजस्व में से किसी भाग पर खर्च करना, (ब) भारत सरकार की ओर से कोई संविदा करना, (स) अखिल भारतीय सेवाओं के लिए नियम बनाना, १९१९ के अधिनियम के आधार पर भारतीय सचिव की परिषद् की स्थिति कमजोर कर दी गई। यह एक सलाहकार समिति के रूप में ही रह गई। यह भारत सचिव के आधीन संस्था हो गई थी। १९१९ के अधिनियम के अनुसार यह तय हुआ कि भारत सचिव का वेतन ब्रिटिश संसद की ओर से दिया जायगा। अब तक यह भारतीय कोष से दिया जाता था। कीथ इसे एक महत्वपूर्ण संवैधानिक परिवर्तन कहता है। भारत सचिव की परिषद् को भारत सरकार के ऊपर नियन्त्रण को कम करने के विषय में नियम बनाने का अधिकार दिया गया। ऐसे नियम यदि वे हस्तान्तरित विषयों से सम्बन्ध रखते हों तो तुरन्त लागू किये जाते थे परन्तु संसद के दोनों सदनों के समक्ष उनका रखा जाना आवश्यक था। अगर एक सदन उनको अस्वीकार कर देता था तो वे रद्द समझे जाते थे। इनके अलावा और नियम तब तक लागू नहीं होते थे जब तक कि वे दोनों सदनों के सामने पेश हो कर स्वीकार न हो जायें।[2] जोइंट समिति ने कहा कि साधारण रूप से विधायनी या प्रशासकीय मामलों में यदि भारत सरकार और केन्द्रीय विधान मण्डल एकमत के हों तो भारत सचिव को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। संयुक्त समिति ने यह सुझाव पेश किया कि एक इस प्रकार की परम्परा स्थापित करनी चाहिए कि यदि किसी भी भारतीय विषय पर भारत सरकार और केन्द्रीय विधान मण्डल एकमत के हों

१. १९१९ के भारत सरकार अधिनियम का अनुच्छेद ३ (१)।

२. वही अनुच्छेद १९ (अ)।

अध्याय १३

# भारतीय राष्ट्रीयता का विकास (१९१९--१९३५)

१९१९ से १९४७ तक भारतीय राष्ट्रीयता का विकास स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए एक संघर्ष था। १९१६ में मुस्लिमलीग और कांग्रेस में एक समझौता हुआ जिसे लखनऊ समझौता कहते हैं। इस समझौते में भारतीय नेताओं ने साम्प्रदायिक समस्या को हल करने के लिये और संवैधानिक विकास के लिये कुछ सुझाव रखे। ब्रिटिश सरकार ने साम्प्रदायिक सुझाव को ज्यों के त्यों मान लिये परन्तु संवैधानिक सुझावों को ठुकरा दिया। प्रथम युद्ध के उपरान्त भारतवासियों को यह आशा थी कि ब्रिटिश सरकार भारत में दूसरे अधिराज्यों की भांति स्वराज्य स्थापित करेगी परन्तु ये सब आशायें निराशा में परिणित हो गईं। १९१९ के अधिनियम के अनुसार केन्द्रीय सरकार में भारतवासियों को उत्तरदायित्व और अधिकार नहीं दिये गये। केवल प्रान्तों में ही कुछ विभाग भारतवासियों को हस्तान्तरित किये गये। मोन्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधारों से भारतवासी किसी रूप में भी सन्तुष्ट नहीं हुए। परन्तु फिर भी उन्होंने इन सुधारों को कार्यान्वित करने का निश्चय किया।

**गांधी जी का भारतीय राजनीति में प्रवेश**—प्रथम महायुद्ध के उपरान्त का युग गांधी युग कहलाता है। इस काल में गांधी जी भारतीय स्वतन्त्रता संघर्ष के नेता रहे। गांधी जी ने दक्षिणी अफ्रीका में भारतवासियों की दुर्दशा देखी। उससे वे बहुत चिन्तित हुये उन्होंने उनकी अवस्था को सुधारने के प्रयत्न किए जिसमें उन्हें सफलता मिली। वे १९१४ में भारत वापिस लौट आये। उनके यहाँ वापिस आने से पहले ही भारतीय शिक्षित जनता उनके कार्यों से परिचित हो चुकी थी। प्रारम्भ में गांधी जी उदार विचारों के थे। वे गोपाल कृष्ण गोखले को अपना राजनैतिक गुरु मानते थे। ब्रिटिश साम्राज्य में उनका पूरा विश्वास था। युद्ध के समय भारतीय जनता को फौज में भर्ती करने के कार्य में गांधी जी ने ब्रिटिश सरकार को पूरा सहयोग दिया। इस प्रकार की सेवाओं के लिए उनको एक पदक भी मिला। गांधी जी ने १९१९ के सुधारों का स्वागत किया और जनता से प्रार्थना की कि वे इन को कार्यान्वित करने में सहयोग दें। अपने पत्र 'यंग इण्डिया' के ३१ दिसम्बर १९१९ के अंक में गांधी जी ने लिखा कि सुधार अधिनियम और सम्राट की घोषणा से यह स्पष्ट है कि ब्रिटिश जनता भारत के साथ न्याय करना चाहती है। उन्होंने आगे कहा कि हमारा कर्तव्य सुधारों की आलोचना करना नहीं है बल्कि उनको कार्यान्वित करना है जिससे कि वे सफल हो सकें। गांधी जी के आग्रह पर ही कांग्रेस के १९१९ के अमृतसर अधिवेशन में मोन्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधारों का कार्यान्वित करना निश्चित हुआ। कांग्रेस अधिवेशन की ओर से सुधारों को प्रदान

करने के परिश्रम के लिए मॉन्टेग्यू को धन्यवाद दिया गया।

दुर्भाग्यवश अगले नौ महीनों में स्थिति बदल गई और भारतीय राष्ट्रीय नेताओं को भारत सरकार के विरुद्ध असहयोग आन्दोलन करना पड़ा। सितम्बर १९२० में कलकत्ता के कांग्रेस अधिवेशन में गांधी जी ने सरकार के विरुद्ध असहयोग आन्दोलन करने का सुझाव रखा और १९१९ के अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित विधान मण्डलों के बहिष्कार का समर्थन किया। गांधी जी को कुछ कारणोंवश ऐसा करना पड़ा। वे सरकार की क्रूर नीति से तंग आ चुके थे और ब्रिटिश सरकार से उनका विश्वास समाप्त हो गया था। असहयोग आन्दोलन के कुछ कारण यहाँ पर दिये जाते हैं। सरकार की क्रूर नीति के कारण २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में एक उग्रगामी दल की स्थापना हुई। बंग विच्छेद के विरुद्ध किये गए अत्याचार ने उग्रगामी दल को और भड़काया। प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ में यह आन्दोलन अपनी चरम सीमा को पहुँच गया।

**रौलट अधिनियम**—इस आन्दोलन का दमन करने के लिए भारत सरकार ने भारत रक्षा नियम पास किया। यह अधिनियम युद्ध काल के लिए बनाया गया था। युद्ध समाप्त होने पर इस कानून की अवधि समाप्त हो जानी चाहिए थी परन्तु क्रान्तिकारी आन्दोलन को रोकने के लिए सरकार ने कुछ अधिक शक्ति प्राप्त करने का निश्चय किया। ऐसा करने के लिए भारत सरकार ने जस्टिस रौलट के अधिनायकत्व में एक समिति की स्थापना की। इस समिति ने अप्रैल १९१८ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। यह समिति इस निश्चय पर पहुँची कि वर्तमान फौजदारी कानून के द्वारा क्रान्तिकारियों का दमन सम्भव नहीं था। इसलिये इस समिति ने दो नये विशेष कानून बनाने की सिफारिश की जो युद्ध के उपरान्त लागू होने चाहियें। समिति के सुझावों को मानते हुए सरकार ने दो विधेयक तैयार कराये। ये रौलट विधेयक के नाम से प्रसिद्ध हुए। सारे देश में इन विधेयकों की निन्दा की गई। महात्मा गांधी ने सरकार को चेतावनी देते हुए कहा कि यदि ये विधेयक वापिस नहीं लिए गए तो विवश होकर उन्हें सत्याग्रह करना पड़ेगा। केन्द्रीय धारा सभा के भारतीय सदस्यों ने भी इन विधेयकों का कड़ा विरोध किया। इतना विरोध होने पर भी सरकार ने इन दोनों विधेयकों में से एक को कानून बना दिया।

गांधी जी ने इस रौलट अधिनियम (Rowlatt Act) के विरुद्ध सत्याग्रह करने का निश्चय किया और ऐसा करने में पहले उन्होंने देशव्यापी हड़ताल का आयोजन किया। आर० पी० मसानी रौलट अधिनियम को गांधी जी के जीवन में एक महत्वपूर्ण घटना बताता है।

**जलियाँवाला बाग की दुर्घटना**—३० मार्च १९१९ हड़ताल के लिये निश्चित की गई। बाद में हड़ताल की तिथि ६ अप्रैल कर दी गई। देहली में ३० मार्च को भी हड़ताल हुई। पुलिस और जनता के बीच झगड़ा हुआ। आठ आदमी पुलिस की गोली के शिकार हुए। इस काण्ड की सूचना मिलते ही गांधी जी देहली को रवाना हुए। परन्तु वे पलवल स्टेशन पर गिरफ्तार कर लिए गए और बम्बई को

भारतीय सदस्य थे। हंटर कमेटी ने जनरल डायर के कार्य की निन्दा की और कहा कि सेना का कर्त्तव्य माल और जान की सुरक्षा करना ही था। प्रान्त की जनता को भयभीत करना उनका कर्तव्य नहीं था। जनरल डायर के कार्य की भारत सचिव और सैनिक परिषद ने निन्दा की। विन्सटन चर्चिल ने जनरल डायर के कार्य की बड़ी निन्दा की और उसने इस कार्य को डरावनापन (frightfulness) बताया। उसने व्यंगपूर्वक कहा, 'डरावनापन ऐसी औषधी है जिसका उल्लेख ब्रिटिश औषधी संस्कार ग्रंथ में नहीं है।" परन्तु हंटर समिति का कुछ निष्कर्ष और भारत सरकार का व्यवहार निराशाजनक था। हंटर समिति की रिपोर्ट में जनरल डायर के अपराध पर कलई पोतने का प्रयत्न किया गया और उसे कम दिखाया गया। समिति की राय में डायर का कार्य निष्कपट था परन्तु उसने अपने कर्त्तव्य को गलत समझा और उस ने अनुचित निर्णय के कारण अधिक शक्ति का प्रयोग किया। भारत सरकार ने उसके अपराध की सजा उसे बहुत कम दी। उसको पदच्युत कर दिया गया। सरकार ने सर मैकाईल ओ डायर के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की। ब्रिटिश संसद ने भारतीय जनता को संतुष्ट करने के लिए कोई कार्य नहीं किया। ब्रिटिश प्रेस के लेखों और लार्ड सभा में दिये गये व्याख्यानों से भारत की जनता अधिक उत्तेजित हो गई। भारतीय यह अच्छी तरह जान गये कि ब्रिटिश सरकार को अमृतसर काण्ड का कोई पछतावा नहीं है। ब्रिटिश सरकार के व्यवहार पर गांधी जी ने अत्यन्त खेद प्रगट किया। वह सरकार जो जलियांन वाले बाग के काण्ड को छोटा अपराध समझती है उससे किसी भी अच्छे व्यवहार की आशा नहीं की जा सकती, ऐसी सरकार निश्चय ही दोषपूर्ण है। इस कारण महात्मा गांधी ने सरकार से असहयोग करने का निश्चय किया। प्रो० कीथ का कहना है कि इस समय भारतीयों के दिल में अंग्रेजों के प्रति इतनी बुरी भावनायें उत्पन्न हो गई थीं जितनी कि १८५७ के विद्रोह से लेकर अब तक कभी भी भारतीयों के दिल में उत्पन्न नहीं हुई थी। सर सुरेन्द्र नाथ बनर्जी लिखते हैं, "(जलियान वाला बाग काण्ड के विषय में) नरम दल और उग्र दल वालों में कुछ छोटी-छोटी बातों को छोड़ कर अन्य बातों में मतभेद नहीं था। पंजाब सरकार के कार्य पर सारे भारतवर्ष की जनता क्रोधित थी, इंग्लैंड में रहने वाले भारतवासी भी इस काण्ड के कारण सरकार पर क्रोधित थे। यह खेदजनक बात है कि भारत सचिव के प्रेषक में जनरल डायर की निन्दा तो की गई थी परन्तु उतनी कड़ी आलोचना नहीं की गई थी जितना घृणास्पद यह कार्य था। लार्ड सभा के वाद-विवाद ने स्थिति को और भी विषम बना दिया। समय के साथ-साथ स्मृतियां भी क्षीण पड़ती जाती हैं। परन्तु भारतवासियों के हृदय को इस काण्ड से जो आघात पहुंचा वह घाव अभी तक नहीं भरा है। पंजाब की जनता के हृदय में अभी तक भी द्वेष की ज्वाला प्रज्वलित है। दूसरे प्रान्तों में भी जनता इससे प्रभावित और दुःखी है।"[१]

खिलाफत प्रश्न—खिलाफत प्रश्न के कारण भी गांधी जी सरकार की नीति

---

१. द नेशन इन मेकिंग, पृष्ठ ३२८।

के विरुद्ध हो गये। प्रथम महायुद्ध में टर्की ने मित्र राष्ट्रों का विरोध किया, इस कारण भारतीय मुसलमानों को यह भय था कि युद्ध समाप्त होने पर टर्की के साथ दुर्व्यवहार किया जायेगा। ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने मुसलमानों को सन्तुष्ट करने के लिये यह घोषणा की कि वे टर्की से प्रतिकारवादी नीति नहीं अपनायेंगे। थ्रेस और मध्य पूर्व के क्षेत्र टर्की से नहीं छीने जायेंगे, परन्तु युद्ध के उपरान्त यह प्रगट हो गया कि ब्रिटिश सरकार अपनी प्रतिज्ञा को पूरी नहीं करेगी। मार्च १९२० में इंगलैंड के लिये एक शिष्ट-मण्डल भेजा गया जिसने ब्रिटिश सरकार से टर्की के साथ सद्व्यवहार करने की प्रार्थना की। परन्तु शिष्ट-मण्डल का प्रयत्न विफल रहा। १९२० में मित्र राष्ट्रों ने टर्की से एक सन्धि की जिसे सेवरेस सन्धि (Treaty of Sevres) कहते हैं। इस सन्धि के परिणामस्वरूप टर्की को छिन्न-भिन्न कर दिया गया। पूर्वी और पश्चिमी थ्रेस स्तम्बूल के समीप तक यूनान को दे दिये गये। स्मिरना, इसके आस पास का क्षेत्र और द्वीप भी यूनान को दे दिये गये। मध्य पूर्व के बहुत से क्षेत्र जैसे *सीरिया, पैलेस्टाईन और मैसोपोटामिया,* टर्की से छीन कर मैंन्डेट के रूप में मित्र राष्ट्रों को सौंप दिये गये। टर्की के सुल्तान की शक्ति भी बहुत कम कर दी गई। टर्की का सुल्तान मुसलमान धर्म का सबसे बड़ा खलीफा था। मित्र राष्ट्रों के इस कार्य से उसकी लौकिक शक्ति को धक्का पहुंचा। इस कार्य से भारत के मुसलमानों में असन्तोष फैल गया। मुसलमानों ने टर्की के सुल्तान से छीने गये क्षेत्रों को वापिस दिलाने और धार्मिक स्थानों पर उसका प्रभुत्व स्थापित कराने का प्रयत्न किया, गांधी जी ने *मुसलमानों के साथ सहानुभूति प्रगट की और खिलाफत प्रश्न का समर्थन* किया। पंजाब और खिलाफत प्रश्न के अन्याय को दूर कराने के लिये गांधी जी ने असहयोग आन्दोलन चलाया। कुछ समय बाद स्वराज्य प्राप्ति भी इस आन्दोलन का भाग बना दिया गया। गांधी जी ने खिलाफत प्रश्न का समर्थन किया था इसीलिए करोड़ों मुसलमान उनके अनुयायी बन गये। हिन्दू-मुसलमानों की एकता जितनी उस समय हुई थी ऐसी कभी भी नहीं हुई। प्रत्येक घर में मौलाना मोहम्मद अली और मौलाना शौकत अली के चित्र दिखाई पड़ते थे।

**कांग्रेस का विशेष अधिवेशन**—सितम्बर १९२० में कलकत्ते में विशेष कांग्रेस अधिवेशन में गांधी जी ने असहयोग आन्दोलन की योजना रखी। इस विशेष अधिवेशन के सभापति लाला लाजपतराय थे। इस अधिवेशन में असहयोग प्रस्ताव को गांधी जी ने प्रस्तुत किया। सी० आर० *दास, मालवीय जी और श्रीमती ऐनी* बेसेन्ट ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। लोकमान्य तिलक की अधिवेशन से कुछ समय पहले मृत्यु हो गई थी। गांधी जी का प्रस्ताव एक बड़े बहुमत से स्वीकार कर लिया गया।

स्वीकृत प्रस्ताव में यह साफ-साफ बताया गया कि जब तक पंजाब और खिलाफत के अन्याय दूर नहीं किये जायेंगे तब तक देश में असंतोष ही फैला रहेगा। इन अन्यायों को तभी रोका जा सकता है जब हमारे देश में स्वराज्य स्थापित कर दिया जाय। जब तक हमारे साथ किये गये अनुचित कार्य दूर न कर दिये जायें

और स्वराज्य स्थापित न कर दिया जाय, तब तक हम सरकार के साथ असहयोग करेंगे। इस प्रस्ताव द्वारा जनता से उपाधियों को छोड़ने, सरकारी दरबारों का बहिष्कार, स्कूल और कॉलिजों को छोड़ने, सरकारी न्यायालयों का बहिष्कार, मैसोपोटामिया के युद्ध में भाग न लेना, विधान-मण्डल के चुनाव के लिए उम्मीदवार न होना और विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करने का अनुरोध किया गया। जनता से स्वदेशी वस्तु प्रयोग में लाने के लिये भी कहा गया। असहयोग आन्दोलन के साथ-साथ कांग्रेस ने दूसरा कार्यक्रम भी अपनाया। सरकारी विद्यालयों की जगह पर राष्ट्रीय शिक्षा संस्थायें स्थापित की गईं। हाथ के बुने और हाथ के कते कपड़े का प्रचार किया गया। हिन्दू-मुस्लिम एकता पर बल दिया गया। छुआछूत को मिटाने के प्रयत्न किये गए। गाँधी जी ने कहा कि छुआछूत को समाप्त किये बिना स्वराज्य प्राप्त करना असम्भव है।

दिसम्बर १६२० के नागपुर के नियमित वार्षिक अधिवेशन में भी यह प्रस्ताव रखा गया, लगभग सर्वसम्मति से यह पास भी हो गया। पंडित मालवीय, श्री जिन्ना और श्रीमती बेसेन्ट ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। नागपुर के अधिवेशन में कांग्रेस के संविधान में दो महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गए। कांग्रेस का ध्येय अब स्वराज्य प्राप्ति कर दिया गया। इस समय से पहले कांग्रेस का ध्येय ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वायत्त शासन प्राप्त करना था। शान्ति प्रिय और उचित साधनों द्वारा ही स्वराज्य प्राप्त करना चाहिए यह भी इस अधिवेशन में निश्चय हुआ। इस समय से पहले संवैधानिक उपायों को ही उचित समझा गया था।

**असहयोग आन्दोलन**—असहयोग आन्दोलन का प्रस्ताव पास कराने के उपरान्त गाँधी जी कांग्रेस के मुख्य नेता हो गये। जनता वास्तव में उन्हें अपना नेता मानने लगी। इस समय के उपरान्त भारतीय राजनीति में गाँधी युग का प्रारम्भ होता है। असहयोग आन्दोलन ने भारतीय राजनीति की काया ही पलट दी। कांग्रेस ने अपीलों और प्रार्थनाओं के मार्ग को त्याग कर सरकार के साथ संघर्ष का मार्ग अपनाया। महात्मा गाँधी ने सारे देश का दौरा किया और लोगों से उपाधि त्यागने, सरकारी संस्थाओं, न्यायालयों और विधान मण्डलों का बहिष्कार करने की प्रार्थना की। महात्मा गाँधी ने अपनी स्वयं 'कैसरे हिन्द नामक उपाधि' वापिस कर दी। महात्मा गाँधी को सारे देश का समर्थन प्राप्त हुआ। सहस्रों व्यक्तियों ने अपनी उपाधियाँ त्याग दीं और सहस्रों व्यक्तियों ने न्यायालय का बहिष्कार किया। उनमें सी० आर० दास, मोतीलाल नेहरू, जवाहरलाल नेहरू, लाला लाजपतराय, विट्ठलभाई, वल्लभ-भाई पटेल और राजेन्द्र प्रसाद के नाम उल्लेखनीय हैं। हजारों मुसलमानों ने आन्दोलन में भाग लिया। उनमें मौलाना मोहम्मद अली व शौकत अली, डा० अन्सारी और अब्दुल कलाम आजाद के नाम उल्लेखनीय हैं। बिहार विद्यापीठ, काशी विद्यापीठ, जामिया मिलिया नामक राष्ट्रीय संस्थायें स्थापित की गईं। हाथ के बने और हाथ से कते कपड़े का प्रचार किया गया। शराब की दुकानों का बहिष्कार किया गया। छुआछूत को मिटाने का भी सम्भव प्रयत्न किया गया। अखिल भारतीय कांग्रेस

कमेटी ने मार्च १९२१ में एक करोड़ रुपया इकट्ठा करने का निश्चय किया और बहुत थोड़े समय में ही यह रुपया इकट्ठा हो गया, इसको 'तिलक स्वराज्य फण्ड' नाम दिया गया। ड्यूक ऑफ कैनाट नए संविधान का उद्घाटन करने भारत आए प्रत्येक स्थान पर उनके भ्रमण के विरुद्ध हड़तालें की गईं।

सरकार ने असहयोग आन्दोलन को दमन करने का तय कर लिया। कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं को पीटा गया और सभाओं को बलपूर्वक भंग किया गया। सरकार ने 'राजद्रोही सभा अधिनियम' पास किया और हजारों कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं को कैदी बना लिया। दोनों अली भाइयों के उत्तेजनापूर्ण भाषणों से जनता उत्तेजित हो गई। सरकार को इस कारण बड़ी चिन्ता हुई। इसी समय सरकार ने प्रिंस ऑफ वेल्स के भारत भ्रमण की घोषणा की। जुलाई १९२१ में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने सरकार की दमनकारी नीति के कारण प्रिंस ऑफ वेल्स के स्वागत कार्य में सम्मिलित न होने का निर्णय किया। सरकार इस नीति से क्रोधित हुई। अगस्त १९२१ के मालाबार के मोपला के साम्प्रदायिक दंगे ने स्थिति को और भी खराब कर दिया। मोपलाओं ने सैकड़ों हिन्दुओं को मौत के घाट उतार दिया। १७ सितम्बर १९२१ में अली भाइयों को गिरफ्तार कर लिया गया। कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने अली भाईयों के कार्यों का समर्थन किया, अली भाइयों की गिरफ्तारी के कारण जनता का क्रोध प्रगट करने के लिए, प्रिंस ऑफ वेल्स के आने के समय एक अखिल भारतीय हड़ताल का आयोजन किया गया। भारतीय जनता प्रिंस ऑफ वेल्स के विरुद्ध नहीं थी परन्तु वह सरकार की दमनकारी नीति के विरुद्ध रोष प्रकट कर रही थी। १७ नवम्बर १९२१ को प्रिंस ऑफ वेल्स बम्बई में पधारे। उसी दिन बम्बई में पूर्ण रूप से हड़ताल की गई और वहां पर कई स्थानों पर झगड़े भी हुए। सरकार का व्यवहार और अधिक क्रूर और कठोर हो गया। कांग्रेस और खिलाफत की स्वयं सेवक संस्थायें अवैध घोषित कर दी गईं। पुलिस ने कई स्थानों पर गोलियां चलाईं। प्रमुख कांग्रेसी नेता सी० आर० दास, मोती लाल नेहरू, लाला लाजपतराय, मौलाना आजाद आदि को गिरफ्तार कर लिया गया। पूरे देश में इस समय २५००० के लगभग गिरफ्तारियां हुईं। दिसम्बर १९२१ में प्रिंस ऑफ वेल्स कलकत्ते का भ्रमण करने वाले थे। उनके पहुँचने से पहले ही लार्ड रीडिंग जो लार्ड हार्डिंग के बाद भारत के महाराज्यपाल हुए कलकत्ते में पहुँच गए। उन्होंने कांग्रेस और सरकार के बीच समझौता कराने का प्रयत्न किया। वे यह नहीं चाहते थे कि प्रिंस ऑफ वेल्स के विरुद्ध किसी अनुचित कार्य का प्रदर्शन किया जाय। सर तेज बहादुर सप्रू और पंडित मालवीय भी समझौते के इच्छुक थे। परन्तु गांधी जी नहीं माने। उन्होंने कहा कि जब तक सरकार अली भाइयों को नहीं छोड़ देती तब तक हम समझौता नहीं कर सकते। दिन पर दिन देश की स्थिति शोचनीय होती गई। गांधी जी को छोड़कर सब प्रमुख नेता जेल में बन्द थे। १९२१ के दिसम्बर मास के अन्त में कांग्रेस का अधिवेशन अहमदाबाद में हुआ। श्री० सी० आर० दास इस अधिवेशन के सभापति चुने गए थे। परन्तु उनके जेल में होने के कारण हकीम अजमल खाँ को

सभापति बना दिया गया। कांग्रेस में इस समय बड़ी निराशा थी। कांग्रेस अधिवेशन ने सरकार के साथ संघर्ष को और भी अधिक दृढ़ बनाने का निश्चय किया। कांग्रेस ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन (civil disobedience movement) को प्रारम्भ करने का निश्चय किया। कांग्रेस की नीति में यह एक महत्वपूर्ण परिवर्तन था। इस आन्दोलन को चलाने के लिये महात्मा गांधी को पूरे अधिकार दे दिये गये।

पहली फरवरी १६२२ को महात्मा गांधी ने लार्ड रीडिंग को एक पत्र लिखा। उस पत्र में उन्होंने लिखा कि यदि सरकार अपनी क्रूर नीति को बन्द नहीं करेगी तो हम सात रोज बाद सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ कर देंगे। परन्तु ५ फरवरी १६२२ को गोरखपुर जिले के चौरी-चौरा स्थान पर उत्तेजित जनता ने २१ सिपाही और एक थानेदार को थाने में जिन्दा जला दिया। इस काण्ड का आन्दोलन पर बुरा प्रभाव पड़ा। गांधी जी इस काण्ड से इतने असन्तुष्ट हुए कि तुरन्त ही उन्होंने आन्दोलन को स्थगित करने का निश्चय किया। गांधी जी के इस कार्य से जनता में और विशेषकर मुस्लिम जनता में बड़ी निराशा हुई। कांग्रेसी नेता भी गांधी जी के कार्य से सहमत नहीं हुए। पंडित नेहरू ने अपनी आत्मकथा में गांधी जी के इस कार्य का समर्थन किया है। उसका कहना है कि सरकार इस आन्दोलन को हत्याकाण्ड द्वारा समाप्त कर देती जिससे जनता में आतंक फैल जाता और वह निरुत्साह हो जाती। मेरी राय में गांधी जी ने यह निश्चय जल्दी में किया। उन्हें कुछ समय तक और इन्तजार करना चाहिये था। जैसा उत्साह जनता में १६२१ में था ऐसा न तो कभी हुआ है और न होने की आशा है। उस समय हिन्दू मुसलमान और ईसाई सब ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध हो गये थे। यदि आन्दोलन कुछ दिन और चलता तो सरकार को उसी समय भुगतना पड़ता। भारतीय राजनीति का रूप ही बदल जाता। गांधी जी द्वारा आन्दोलन को स्थगित करना हमारे राजनैतिक विकास में एक भारी भूल थी। इस अवसर का लाभ उठाने के लिए सरकार ने दस मार्च १६२२ को गांधी जी को गिरफ्तार कर लिया। अहमदाबाद में गांधी जी के ऊपर मुकद्दमा चलाया गया। उन पर सरकार के विरुद्ध असन्तोष फैलाने का अभियोग लगाया गया था। गांधी जी ने श्री बुमफील्ड सैशन्स जज के समक्ष बयान देते हुए कहा कि सरकार की क्रूर नीति ने उनको सरकार का विरोध करने पर विवश कर दिया। उन्होंने कहा कि प्रत्येक पराधीन राष्ट्र को अपनी स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ने का अधिकार है। गांधी जी को छः साल की सजा दे दी गई। परन्तु इस अवधि के समाप्त होने से पहले ही सरकार ने स्वास्थ्य आधार पर ५ फरवरी १६२४ को गांधी जी को छोड़ दिया।

असहयोग आन्दोलन विफल रहा। यह अपने कार्य और ध्येय को पूरा न कर सका। एक वर्ष में स्वराज्य प्राप्त करने का विचार एक स्वप्न ही रह गया। भारतीयों के अधिकारों में कोई वृद्धि नहीं हुई। सरकारी अफसर पहले की ही तरह प्रभावशाली बने रहे। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि असहयोग आन्दोलन का जनता और हमारी राजनीति पर कोई प्रभाव न पड़ा हो। इस आन्दोलन के विफल

होने पर भी हमारी राजनीति इससे बहुत प्रभावित हुई और उसका विकास हुआ। इससे स्वराज्य प्राप्ति का मार्ग खुल गया। यदि यह आन्दोलन न होता तो स्वराज्य प्राप्ति मे और विलम्ब होता। इस समय से पहले कांग्रेस के कार्यों मे शिक्षित वर्ग ही अधिक मात्रा मे भाग लेता था। कांग्रेस के अधिवेशन दिसम्बर मास मे ही होते थे ताकि बडे दिन की छुट्टियो मे वकील, बैरिस्टर तथा अन्य शिक्षित व्यक्ति उसमे सम्मिलित हो सकें। गांधी जी ने कांग्रेस को एक लोक प्रिय रूप दिया। यह आम जनता की संस्था बन गई। राजनैतिक नेताओ ने अपील और प्रार्थनाओ के मार्ग को छोड दिया और वे प्रत्यक्ष रूप में सरकार से संघर्ष करने लगे। जेलो मे जाने और अत्याचारों को सहने का डर दूर हो गया। असहयोग आन्दोलन से जनता मे जागृति फैल गई और वे देश की समस्याओ को समझने लगे। असहयोग आन्दोलन के फलस्वरूप रचनात्मक कार्यों को प्रोत्साहन मिला। हाथ के बुने और कते कपडे का और स्वदेशी वस्तुओ का अधिक प्रचार हो गया। सुभाष चन्द्र बोस के शब्दो मे "खादी कांग्रेसियो की अधिकारीय वेशभूषा हो गई" कांग्रेसियो ने शराब न पीने, अछूतोद्धार और हिन्दू मुस्लिम एकता पर जोर दिया। असहयोग आन्दोलन के समय से ही ये उद्देश्य कांग्रेस के कार्यक्रम के मुख्य भाग रहे हैं। इस आन्दोलन के कारण ही हिन्दी भाषा को प्रोत्साहन मिला और यह भविष्य की राष्ट्र भाषा के रूप मे हो गई। महात्मा गांधी ने हिन्दी भाषा पर अधिक जोर दिया। अंग्रेजी भाषा का प्रभाव भी कम होने लगा। जब तक असहयोग आन्दोलन चलता रहा तब तक द्वैतनन्त्र कुछ हद तक सफल रहा। परन्तु असहयोग आन्दोलन के स्थगित होने के बाद राज्यपालो ने भारतीय मन्त्रियो की उपेक्षा करनी आरम्भ कर दी। प्रो० कूपलैंड ने असहयोग आन्दोलन की महत्ता इस प्रकार बताई है "गांधी जी ने वह कार्य किया जो तिलक भी न कर सकें। उन्होंने राष्ट्रवादी आन्दोलन को एक क्रान्तिकारी आन्दोलन मे परिणित कर दिया। उन्होंने बताया कि भारत की स्वतन्त्रता सरकार के ऊपर सवैधानिक दबाव द्वारा नही और न वाद-विवाद और न समझौते के द्वारा प्राप्त हो सकती है बल्कि शक्ति द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है, चाहे वह शक्ति अहिंसात्मक भी हो। उन्होने आन्दोलन को लोकप्रिय भी बनाया। अभी तक यह आन्दोलन नगरो के शिक्षित वर्ग तक ही सीमित था। गांधी जी के व्यक्तित्व के कारण ग्रामीण जनता भी इस आन्दोलन से प्रभावित हुई।"[1]

**स्वराज्य दल की स्थापना और कार्य**—कई कारणोंवश स्वराज्य दल स्थापित हुआ। असहयोग आन्दोलन के स्थगित होने के उपरान्त और महात्मा गांधी की गिरफ्तारी के बाद देश के समक्ष कोई राजनैतिक कार्यक्रम नहीं रहा। जनता का विचार था कि केवल रचनात्मक कार्य द्वारा ही स्वराज्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। असहयोग आन्दोलन के विफल होने के कारण जनता का विश्वास, असहयोग के

---

१. आर० आर० सेठी : दी लास्ट फेज ऑफ ब्रिटिश सॉवरन्टी इन इण्डिया १६१६-१६४७, पृष्ठ, ५-६।

साधनों से स्वतन्त्रता प्राप्त करने में असफल हो गया। प्रमुख राजनैतिक नेता जैसे सी० आर० दास, मोतीलाल नेहरू और एन० सी० केलकर, गाँधी जी के साधनों से असहमत हो गए। उनका विश्वास उन साधनों में नहीं रहा। सरकार से संघर्ष करने के वे दूसरे उपाय सोचने लगे। खिलाफत प्रश्न के कारण हुई हिन्दू-मुस्लिम एकता भी छिन्न-भिन्न हो गई। मौलाना मोहम्मद अली गाँधी जी का साथ छोड़कर साम्प्रदायिकता के चक्कर में पड़ गए। सरकार की दमनकारी नीति के कारण कुछ मनुष्यों ने विधान मण्डलों में प्रवेश करना ही एक उचित मार्ग समझा। सी० आर० दास ने अलीपुर केन्द्रीय जेल में स्वराज्य स्थापित करने का विचार अपने साथियों के समक्ष रखा। जनता में उत्तेजना फैलाने का उन्होंने एक दूसरा मार्ग बतलाया। उन्होंने कहा कि सरकार का विरोध कौंसिलों में रह कर करना चाहिए। यदि वे ऐसा नहीं करेंगे तो उदार दल के मनुष्य ही विधान मण्डलों में प्रवेश करेंगे और सरकार को सहयोग देंगे। इसको रोकने के लिए यह आवश्यक है कि कांग्रेसी विधान मण्डलों में जायें। कलकत्ता कांग्रेस ने विधान मण्डलों के बहिष्कार का प्रस्ताव पास किया था। अब वे इस प्रस्ताव को रद्द करना चाहते थे। १९२३ में चुनाव होने वाले थे इस कारण सी० आर० दास ने कांग्रेस के समक्ष चुनाव में भाग लेने का सुझाव रक्खा। उन्होंने कहा कि चुनाव में भाग लेने से कांग्रेस अपने कार्यक्रम को जनता के समक्ष भली प्रकार रख सकेगी। जेल से छूटते ही उन्होंने परिषदों में जाने की माँग का जोरों से प्रचार किया। परिषदों में जाने का ध्येय उनको भली प्रकार चलाने का नहीं था बल्कि उनको नष्ट करना था या उनमें आवश्यक सुधार करना था। दिसम्बर १९२२ में कांग्रेस का अधिवेशन गया में हुआ। सी० आर० दास इस अधिवेशन के सभापति थे। इस अधिवेशन में परिषदों में भाग लेने का प्रस्ताव रखा गया। चक्रवर्ती राजगोपालाचारी और अन्य नेताओं ने इस सुझाव का विरोध किया, काफी वाद-विवाद के बाद परिषदों में भाग लेने का प्रस्ताव रद्द कर दिया गया। तुरन्त ही दूसरे दिन मोतीलाल नेहरू ने स्वराज्य पार्टी की स्थापना की घोषणा की। सी० आर० दास और मोतीलाल नेहरू के प्रयत्नों के कारण मार्च १९२३ में इलाहाबाद में एक स्वराज्य सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन में स्वराज्य पार्टी का संविधान और कार्यक्रम निश्चित हुआ। कांग्रेस में स्पष्ट रूप से दो दल हो गए। एक परिवर्तनशील और दूसरा अपरिवर्तनशील (No-Changers)। इन दोनों दलों के संघर्ष को रोकने के लिये देहली में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन सितम्बर १९२३ में बुलाया गया। इस अधिवेशन के सभापति मौलाना आजाद थे। इसमें समझौते के रूप में एक प्रस्ताव पास किया गया। इस प्रस्ताव के द्वारा कांग्रेसियों को विधान मण्डलों में प्रवेश करने की अनुमति मिली। उनमें पहुँचकर उन्हें सदैव, एक साथ और लगातार सरकार का विरोध करना था जिससे कि सरकार का चलना असम्भव हो जाय।

स्वराज्य दल के नेता कांग्रेस की नीति में विश्वास तो रखते थे परन्तु वे शीघ्रता से स्वराज्य प्राप्त करना चाहते थे। वे असहयोग आन्दोलन से तंग आ चुके थे। इसलिए वे सरकार का विरोध परिषदों में पहुँचकर करना चाहते थे। उन्होंने

अपने चुनाव घोषणा पत्र में कहा कि भारतीयों का पहला कर्तव्य है कि वे सरकार से पूर्ण अधिकार प्राप्त करने की माँग रक्खें यदि यह माँग स्वीकार न हो तो उन्हें निरन्तर सरकार का विरोध करना चाहिये जिससे कि सरकार का चलना असम्भव हो जाय। यदि स्वराज्य दल के नेता अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करने में विफल रहे तो वे गाँधी जी के सविनय अवज्ञा आन्दोलन में सम्मिलित हो जायेंगे। १९२३ के चुनावों में स्वराज्य दल के नेताओं ने भाग लिया। चुनाव में उन्हें पूर्ण रूप से सफलता प्राप्त हुई। विरोधी दलों के उम्मीदवार बहुत कम सफल हुए। मध्य प्रदेश और बगाल के विधान मण्डलों में कांग्रेस का बहुमत रहा। संयुक्त प्रान्त और बम्बई में भी स्वराज्य दल के उम्मीदवार अधिक मात्रा में सफल हुए। केन्द्रीय विधान मण्डल में स्वराज्य दल के नेता पंडित मोतीलाल नेहरू रहे। १४५ में से ४५ स्थान स्वराज्य दल को प्राप्त हो गये। विधान मण्डल में यह सबसे बड़ा दल था। स्वराज्य दल के सदस्य विधान मण्डल में होने के कारण उसके कार्यों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। राष्ट्रवादी और स्वतन्त्र दल के सदस्यों की सहायता से स्वराज्य दल ने कई बार सरकार को हराया। स्वराज्य दल की प्रेरणा पाकर केन्द्रीय विधान मण्डल ने ८ फरवरी १९२४ को एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास किया जो इस प्रकार है : "यह विधान मण्डल महाराज्यपाल की परिषद् से सिफारिश करती है कि भारत सरकार अधिनियम को इस प्रकार संशोधित किया जाय जिससे कि भारत में स्वायत्त शासन स्थापित हो जाय। इस ध्येय की पूर्ति के लिये शीघ्र से शीघ्र एक गोलमेज परिषद के लिए प्रतिनिधियों को बुलाया जाय जो मुख्य अल्पमतों के हितों और अधिकारों की सुरक्षा का ध्यान रखते हुये भारत के लिए एक संविधान का सुझाव रखे और केन्द्रीय विधान मण्डल को विघटित करने के बाद इस संविधान को नये चुने हुए भारतीय विधान मण्डल के समक्ष रखना चाहिए। इसके उपरान्त इसे कानून बनाने के लिए ब्रिटिश संसद में समक्ष भेजा जाना चाहिए।" स्वराज्य दल को यह आशा थी कि सरकार इस प्रस्ताव को स्वीकार करेगी। जनवरी १९२४ में इगलैंड में मजदूर दल की सरकार स्थापित हो गई। श्री रामजे मैकडोनल्ड प्रधान मन्त्री बने। वे भारत के शुभचिन्तक थे और भारत के विषय में एक पुस्तक भी लिख चुके थे। इतना होते हुए भी ब्रिटिश सरकार ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। सरकार की ओर से उत्तर देते हुए सर मैलकौम हेली ने प्रतिज्ञा की कि सरकार द्वैतन्त्रवाद के कार्यों का निरीक्षण करेगी और उसकी त्रुटियों को दूर करने के लिए १९१९ के अधिनियम के अन्तर्गत कुछ सुधार करेगी। स्वराज्य दल के नेता इस उत्तर से सन्तुष्ट नहीं हुए और उन्होंने सरकार का कड़ा विरोध करने का निश्चय कर लिया। उन्होंने वित्त अनुदानों और १९२४-२५ के वित्त विधेयक को पास नहीं होने दिया। महाराज्यपाल ने पुनः विचार की अपील की परन्तु यह अपील भी अस्वीकार कर दी गई। विवश होकर महाराज्यपाल ने वित्त अनुदानों और वित्त विधेयक को प्रमाणित कर दिया। इसी प्रकार १९२५-२६ और १९२६-२७ का वित्त विधेयक रद्द कर दिया गया। महाराज्यपाल ने इन्हें भी प्रमाणित किया। कई प्रस्तावों पर सरकार की हार हुई

जैसे कि राजनैतिक बन्दियों की रिहाई और १८१८ के तीसरे कानून का निरसन आदि के विषय में भी सरकार की हार हुई। फरवरी १६२४ के प्रस्ताव का एक अच्छा परिणाम निकला। इसके फलस्वरूप सरकार को 'सुधार जाँच समिति' स्थापित करनी पड़ी। भारत सरकार के गृह सदस्य सर एलग्जेंडर मुडीमैन इसके सभापति थे। स्वराज्य दल ने इस समिति का बहिष्कार किया और पंडित मोतीलाल नेहरू ने इसका सदस्य बनना अस्वीकार कर दिया। श्री मोहम्मद अली जिन्ना और सर तेज बहादुर सप्रू ने सदस्यता स्वीकार कर ली। मुडीमैन समिति की बहुमत रिपोर्ट में द्वैतशासनवाद के सिद्धान्त को अपनाया गया और कुछ छोटे मोटे सुझाव रखे गए। अल्पमत रिपोर्ट में द्वैतशासनवाद की कड़ी आलोचना की गई। सितम्बर १६२५ में सरकार ने विधान मण्डल में एक प्रस्ताव द्वारा बहुमत रिपोर्ट को स्वीकार कराने का प्रयत्न किया। पंडित मोती लाल नेहरू ने मुडीमैन रिपोर्ट का बड़ा विरोध किया और एक संशोधन द्वारा फरवरी १६२४ के प्रस्ताव से मिलता-जुलता एक प्रस्ताव पास कराया।

मध्य प्रदेश और बंगाल को छोड़कर किसी प्रान्त में भी स्वराज्य दल अपने प्रयत्नों में पूरी तरह से सफल नहीं हुआ। राज्यपाल किसी न किसी तरह भारतीय मंत्रियों को पद पर रख सके। १६२५ में सी० आर० दास की मृत्यु के उपरान्त स्वराज्य दल कमजोर पड़ गया। पंडित मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपतराय के नेतृत्व में राष्ट्रीय दल इस निश्चय पर पहुँचा कि सरकार की प्रत्येक नीति का विरोध करने से हिन्दुओं को हानि पहुँचती है। मध्य प्रदेश और बंगाल में भी सरकार कार्य करती रही और वह फेल नहीं हुई। सी० आर० दास भी अपने अन्तिम दिनों में सरकार की प्रत्येक नीति का विरोध करने के पक्ष में नहीं रहे। इस समय स्वराज्य दल के भीतर भी फूट पैदा हो गई। कुछ सदस्य सरकार के साथ सहयोग करने के पक्ष में हो गए। १६२४ में स्वराज्य दल के सदस्यों ने स्टील प्रोटैक्शन कमेटी की सदस्यता ग्रहण की। १६२५ में पंडित मोतीलाल नेहरू ने स्कीन कमेटी की सदस्यता ग्रहण की। स्कीन कमेटी सेना का जल्दी से जल्दी भारतीयकरण करने के लिए बनाई गई थी। १६२५ में श्री वी० जे० पटेल केन्द्रीय विधान मण्डल के अध्यक्ष चुने गए। मध्य प्रदेश के स्वराज्य दल के मुख्य सदस्य श्री एस० बी० टम्बे ने राज्यपाल की कार्यकारिणी की सदस्यता ग्रहण कर ली। जो सदस्य स्वराज्य दल के सिद्धान्तों की अवहेलना करते थे उनके विरुद्ध पंडित मोतीलाल नेहरू ने अनुशासन भंग करने के कारण दल से निकालने की धमकी दी। इसका परिणाम यह हुआ कि सदस्य दल को छोड़ने लगे। इन कारणोंवश स्वराज्य दल बहुत कमजोर पड़ गया और १६२६ के चुनाव में दल को अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई।[1]

स्वराज्य दल जिस ध्येय को लेकर आगे बढ़ा था उसकी पूर्ति करना बड़ा

---

१. आर० एन० अग्रवाल : नेशनल मूवमेन्ट एण्ड कान्स्टीट्यूशनल डेवलपमेंट आफ इंडिया, पृष्ठ १४६।

कठिन था। विधान सभा में पहुंच कर सरकार को विफल बनाने की नीति असम्भव थी क्योंकि ये दो विरोधी विचार हैं। यदि सविधान का वास्तव में विरोध करना था, तो विधान मण्डलों से दूर ही रहना चाहिये था जैसा कि महात्मा गांधी का विचार था सहयोग और असहयोग साथ-साथ नहीं चल सकते थे। एच० सी० आई० जकरियास का कहना है, "स्वराज्य दल वाले एक ही साथ दो काम कराना चाहते थे। अपनी लोकप्रियता बढ़ाने के लिए उग्रवादी सिद्धान्तों का भी समर्थन करते थे और साथ ही साथ ससदीय सरकार के सिद्धान्तों पर भी विश्वास करते थे। इस कारण वे ऐसे शब्दों के हेर-फेर में पड गये जहाँ पर उन्होने सहयोग को असहयोग समझना प्रारम्भ कर दिया।"[1] ऐसा होते हुये स्वराज्य दल का कार्य और नीति व्यर्थ नहीं रही। समय के साथ-साथ राजनीति में भी परिवर्तन होता है। असहयोग आन्दोलन के स्थगित होने के बाद देश में निराशा छा गई थी। ऐसी अवस्था में देश में जागृति स्थापित रखने के लिये विधान मण्डलों में प्रवेश करना आवश्यक था। स्वराज्य दल विधान मण्डलों द्वारा सरकार का विरोध करती रही जैसा कि प्रो० नोरमन डी पामर ने लिखा है। स्वराज्य दल के प्रवेश के कारण प्रान्तीय और केन्द्रीय विधान मण्डल राष्ट्रीय प्रचार का रगमच बन गई (sounding boards for the nationalist movement)। स्वराज्य दल ने सरकारी नीति को भी प्रभावित किया। १६३० की गोलमेज परिषद् का बीजारोपण स्वराज्य दल के प्रस्ताव द्वारा हुआ था जो केन्द्रीय विधान मण्डल ने १६२४ में पास किया था। मुडीमैन समिति भी उन्ही के प्रयत्नो का फल था। स्वराज्य दल ने सविधान के सशोधन की मांग रक्खी। इस कारण सरकार को साइमन आयोग की नियुक्ति करनी पडी। स्वराज्य दल ने विधान मण्डलो के अन्दर प्रवेश कर नौकरशाही की त्रुटियों को जनता के समक्ष रक्खा और उनकी निन्दा की। स्वराज्य दल ने बहुत से सरकारी प्रस्ताव रद्द कराये जिनसे यह साफ प्रगट हो गया कि जनता सरकार की नीति से सन्तुष्ट नहीं है।[2]

**साइमन आयोग और उसकी रिपोर्ट**—१६१६ के भारतीय सरकार अधिनियम के खण्ड ८४ के अनुसार ब्रिटिश ससद का कर्तव्य था कि दस साल बाद वह एक ऐसा आयोग नियुक्त करे जो भारतीय सरकार के सुधारो या सशोधनो की योजना बनाये। ऐसा आयोग १६२६ में नियुक्त होना चाहिये था। परन्तु ब्रिटिश सरकार ने दो साल पहले ही यानी ८ नवम्बर १६२७ को इस आयोग की नियुक्ति कर दी। शीघ्रता से आयोग की नियुक्ति करने के कई कारण बताये जाते हैं। सरकार राजनैतिक दलो की सविधान के सशोधन की मांग को स्वीकार करना चाहती थी। दूसरे, ब्रिटिश सरकार को भय था कि यदि आयोग को १६२६ में नियुक्त किया जायेगा तो ब्रिटेन में मजदूर दल की सरकार बन सकती है और वह

---

१. रिनेसेन्ट इंडिया, पृष्ठ २४०।

२. आर० एन० अग्रवाल: नेशनल मूवमेन्ट एण्ड कॉन्सटीट्यूशनल डेवलपमेंट ऑफ इंडिया, पृ० १४७-१४८।

ही आयोग के सदस्यों की नियुक्ति करेगी। टोरी सरकार को भय था कि मजदूर सरकार भारतवासियों से सहानुभूति रखेगी। भारत सचिव लार्ड बर्किन हेड ने स्पष्ट रूप से कह दिया कि वे आयोग की नियुक्ति मजदूर सरकार के लिए नहीं छोड़ सकते जो कि किसी समय भी चुनाव में जीतकर शक्ति प्राप्त कर सकती है। प्रो० ए० बी० कीथ का कहना है कि जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस द्वारा संगठित युवक आन्दोलन के कारण ही ब्रिटिश सरकार को शीघ्रता से आयोग की नियुक्ति करनी पड़ी। आयोग के सदस्यों को चुनने में ब्रिटिश सरकार ने बड़ी भूल की। सरकार ने ७ मनुष्यों को आयोग का सदस्य बनाया। उदार दल के सदस्य सर जॉन साइमन आयोग के सभापति बनाए गए। ये सातों के सातों मनुष्य अंग्रेज थे, न तो भारतवासियों ने कभी इनका नाम सुना था और न इन्हें भारत का अनुभव था। आयोग में दो सदस्य हाउस ऑफ कॉमन्स के मजदूर दल के और दो अनुदार दल के थे। लार्ड सभा से भी दो अनुदार दल के सदस्य लिए गए थे। सर जॉन साइमन कॉमन्स सभा से उदार दल के सदस्य थे। कुछ लोगों का कहना है कि ब्रिटिश सरकार ब्रिटिश संसद के सदस्यों को ही आयोग का सदस्य नियुक्त कर सकती थी। परन्तु यहाँ पर हमारा कहना है कि उस समय दो भारतवासी (लार्ड सिन्हा व श्री सकलातवाला) ब्रिटिश संसद के सदस्य थे, उन्हें आयोग का सदस्य बनाया जा सकता था। टॉमसन और गैरेट ने लिखा है कि यदि सरकार एक मुस्लिम भाई को लार्ड्स् सभा का सदस्य नियुक्त कर देती तो लार्ड सिन्हा और उस मुसलमान भाई को सरलता के साथ आयोग का सदस्य बनाया जा सकता था। पूरा गोरा आयोग बनाकर सरकार ने भारत के साथ अन्याय किया। सर सी० वाई० चिन्तामणि का कहना है कि भारतीयों को आयोग से अलग रखने का कार्य अपमान जनक है। इससे प्रतीत होता है कि अंग्रेज भारतवासियों को छोटा समझते थे। सरकार के इस कार्य का समर्थन मजदूर दल ने भी किया।[1]

भारतीयों ने इस आयोग का बहिष्कार किया तो यह आश्चर्यजनक नहीं था। सब राजनैतिक दलों ने आयोग का बहिष्कार किया। केवल सर मोहम्मद सफी के अनुयायियों और मद्रास की जस्टिस पार्टी ने ही साइमन आयोग को सहयोग दिया। सर तेज बहादुर सप्रू और सर सीतास्वामी अय्यर भी इस आयोग के बहिष्कार के पक्ष में थे। केन्द्रीय विधान मण्डल ने भी आयोग का बहिष्कार किया। परन्तु प्रान्तीय विधान मण्डलों ने प्रायः आयोग को सहयोग दिया। प्रो० कीथ ने बहिष्कार को अनुचित और अकारण विरोध कार्य बताया है। उनके विचार में यह आन्दोलन दूरदर्शिता पूर्ण नहीं था। हम उनके मत से सहमत नहीं हैं। यदि वे निष्पक्ष होकर सोचते तो वे ऐसा न लिखते। जिन-जिन स्थानों पर आयोग के सदस्य गये वहीं पर उनका बहिष्कार किया गया और उनके विरोध में अनेक प्रदर्शन किये गये। ७ फरवरी १९२८ को जब आयोग के सदस्य बम्बई में उतरे तो उनके विरोध में पूर्ण

१. इण्डियन पोलीटिक्स सिन्स दी म्यूटेनी, पृष्ठ १०१।

हड़ताल मनाई गई और काले भण्डो से उनका स्वागत किया गया। 'साइमन आयोग वापिस जाये' इसके नारे लगाये गये। लाजपतराय की नेतृत्वता में एक जलूस निकाला गया। पुलिस ने उन पर लाठी चलाई जिसके कारण कुछ समय पश्चात् उन की मृत्यु हो गई, इससे जनता में बड़ा रोष फैला। टोमसन और गैरेट का कहना है कि तीन और कारणो से आयोग का विरोध और बढ़गया। इसी समय मिस मेयो की मदर इण्डिया नामक पुस्तक प्रकाशित की गई जिसमे भारतीय सामाजिक और कौटुम्बिक जीवन की निन्दा की गई। भारतीय जनता का विचार था कि इस पुस्तक के छपने मे ब्रिटिश सरकार का हाथ है। इसी समय देश में अराजकतावादी दल ने जोर पकड़ा, विशेषकर बगाल प्रान्त मे। सरदार भगत सिंह ने पंजाब में एक गोरे पुलिस अधिकारी की हत्या की और केन्द्रीय विधान मण्डल में एक बम्ब फैका, जिसमे कि कई सदस्य घायल हो गये। इस कारण सरदार भगतसिंह एक राष्ट्रीय सम्मानित व्यक्ति बन गये। "अग्रेजो के विरुद्ध भावनायें इतना जोर पकड़ गई कि सामाजिक व्यवहार और उनसे मिलना जुलना भी बन्द कर दिया। इसके कारण साइमन आयोग के बहिष्कार को प्रोत्साहन मिला।"[1] इसी समय देश भर में बहुत सी हड़तालें हुई जिनमे तीन करोड कार्य दिवस नष्ट कर दिए गए। ब्रिटिश ससद ने अप्रत्यक्ष रूप मे भारतीय प्रतिनिधियो की सहायता लेने का उस समय निश्चय किया जब जनता ने गोरे आयोग को आलोचना की, कि उसमें एक भी भारतवासी नही है। लॉर्ड इर्विन ने स्थिति को सुधारने के लिए परामर्श किया पर उसका कोई परिणाम नही निकला, अन्त मे जब सर जॉन साइमन भारत पधारे तो उन्होने केन्द्रीय विधान मण्डल के छः चुने हुए भारतीय सदस्यो को अपने साथ आयोग मे सम्मिलित कर लिया। भारतीय सदस्यो को आयोग की रिपोर्ट के समय ही रिपोर्ट देनी थी परन्तु उनकी रिपोर्ट आयोग की रिपोर्ट से अलग रखी गई। भारतीय सदस्य आयोग में केवल सहायता प्राप्त करने के लिए ही रखे गये थे। इसी तरह प्रान्तीय विधान मण्डल के सदस्यो ने भी आयोग को परामर्श दिया। टॉमसन और गैरेट का कहना है कि यदि ऐसी व्यवस्था आयोग की नियुक्ति के समय कर दी जाती तो आयोग का बहिष्कार इतना न किया जाता जितना कि इस समय किया गया था। उदार दल के नेता शायद आयोग का विरोध न करते।

साइमन आयोग के सदस्यो ने भारत का दो बार भ्रमण किया। पहली बार ३ फरवरी से ३१ मार्च १९२८ तक, और दूसरी बार ११ अक्तूबर १९२८ से १३ अप्रैल १९२९ तक। आयोग की रिपोर्ट मई १९३० में प्रकाशित की गई। आयोग ने द्वैतशासनवाद को समाप्त करने की सिफारिश की। प्रान्तीय सरकार के सारे विभाग मत्रियो को सौप दिए जाने चाहियें और मत्री विधान मण्डल को उत्तरदायी होना चाहिये। "जहाँ तक सम्भव हो प्रत्येक प्रात अपने मामलो मे पूर्ण स्वतन्त्र होना

---

१ एडवर्ड टोमसन और जी० टी० गैरेट : राईज एण्ड फुलफिलमेंट ऑफ ब्रिटिश रूल इन इण्डिया, पृ० ५६६।

चाहिये" परन्तु आयोग ने ब्रिटिश संसदीय प्रणाली को प्रांतों में लागू करना उचित नहीं समझा। राज्यपालों को मुख्य मंत्रियों की सलाह पर अन्य मंत्री नहीं नियुक्त करने थे। राज्यपाल किसी भी सदस्य को मंत्री नियुक्त कर सकते थे। यदि उन सदस्यों को विधान मण्डल का विश्वास प्राप्त हो। विधान मण्डलों की सदस्य संख्या बढ़ाने की सिफारिश भी की गई। मताधिकार को बढ़ाने का भी सुझाव रखा गया। बर्मा को भारत से विलग करने की सिफारिश की गई। केन्द्रीय विधान मण्डल में प्रान्तों का प्रतिनिधित्व जनसंख्या के आधार पर रखा गया। उच्च सदन में प्रत्येक प्रान्त के तीन सदस्य रखे जाने चाहियें। केन्द्रीय सरकार में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। आयोग ने कहा कि केन्द्रीय सरकार केन्द्रीय विधान मण्डल को उत्तरदायी नहीं होनी चाहिये। भारत की अभी ऐसी स्थिति नहीं है कि केन्द्र में उत्तरदायी सरकार स्थापित कर दी जाय। यदि ऐसा किया गया तो देश की और भी अधिक अवनति होगी। आयोग ने कुछ समय पश्चात् अखिल भारतीय संघ शासन स्थापित करने की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया। इस दिशा की ओर एक कदम उठाने की सिफारिश भी आयोग ने की। आयोग ने एक विशाल भारत की परिषद (a Council for Greater India) की स्थापना का सुझाव रखा। इस परिषद में भारत और देशी रियासतों के प्रतिनिधि रहने चाहियें। उनको सामान्य हितों के विषय में परामर्श और सलाह देने का अधिकार होना चाहिये। सामान्य हितों की सूची भी तैयार करनी चाहिए। नये अधिनियम की प्रस्तावना में यह बात निहित कर देनी चाहिए कि भारत के दोनों भागों (British India and Indian States) को परस्पर सम्पर्क में आना चाहिए। रिपोर्ट में यह भी बताया गया कि समय-समय पर जाँच की प्रथा बन्द होनी चाहिए तथा नया संविधान इतना लचीला होना चाहिए कि उसका स्वयं ही विकास होता रहे। केन्द्रीय विधान मण्डल के दोनों सदनों के सदस्य प्रांतीय धारा सभाओं द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से चुने जाने चाहिये।

साइमन आयोग रिपोर्ट से निराश जनता में और भी निराशा बढ़ गई। आयोग के कुछ सुझाव बड़े आश्चर्यजनक थे। आयोग ने भारतीयों की भावनाओं को समझने का प्रयत्न नहीं किया। आयोग ने यह नहीं बताया कि नए संविधान का ध्येय क्या होगा। आयोग ने न तो औपनिवेशिक स्वराज्य (Dominion Status) की और न उत्तरदायी सरकार की सिफारिश की। वर्तमान केन्द्रीय विधान मण्डल के चुनाव को प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष कर दिया। ऐसा करने से केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा जनमत की राय पर आधारित न होकर साम्प्रदायिक दलों की प्रतिनिधि बन जाती। भारतीय सेना को ब्रिटिश सरकार के नियन्त्रण में रखा गया और उसका खर्चा भारतीय सरकार उठाती थी। इन सब कारणों से भारतीय राजनैतिक नेताओं ने इस आयोग की रिपोर्ट की निन्दा की और अन्त में ब्रिटिश सरकार ने भी उसे पूर्णतया स्वीकार नहीं किया। सर शिवास्वामी अय्यर ने इसे व्यर्थ और रद्दी की टोकरी में डालने योग्य समझा। (it "should be placed on the scrap-heap") कुछ ब्रिटिश लेखकों ने इस रिपोर्ट की बड़ी प्रशंसा की है। पी० ई० रोबर्ट्स का कहना है

कि यह रिपोर्ट भारत के प्रमुख सरकारी लेखो मे से एक है। इस आयोग मे विभिन्न दलो के व्यक्ति होते हुए भी उन्होने सर्वसम्मति से रिपोर्ट लिखी, ऐसी रिपोर्ट सब भलाई चाहने वाले मनुष्यों को अवश्य प्रभावित करेगी।[1] ए० बैरीडल कीथ का विचार है कि रिपोर्ट को पूर्ण रूप से अस्वीकार करके भारतवासियो ने एक महान् मूर्खता का कार्य किया। यदि यह रिपोर्ट स्वीकार कर ली जाती तो ब्रिटिश सरकार इस पर अवश्य ही अमल करती और प्रान्तो मे शीघ्रता से ही उत्तरदायी सरकार स्थापित हो जाती। प्रान्तीय सरकारें केन्द्रीय सरकार पर दबाव डालती और इस दबाव के कारण केन्द्रीय सरकार से प्रभावित होकर ब्रिटिश सरकार यहाँ सघ शासन स्थापित कर देती और इस प्रकार देशी रियासतो और भारतीय राजनैतिक नेताओ मे समझौता हो जाता।[2] हम प्रो० कीथ के मत से सहमत नही है, यदि भारतीय नेता इस रिपोर्ट को स्वीकार कर लेते तो बहुत समय तक केन्द्र मे उत्तरदायी सरकार स्थापित होने का अवसर ही न आता।

**नेहरू रिपोर्ट**—भारतीय जनता साइमन आयोग का बहिष्कार करके ही सन्तुष्ट नही हुई परन्तु उसने भारतीय सवैधानिक विकास के लिए कुछ रचनात्मक सुझाव पेश किये। इगलैंड के टोरी दल के भारत सचिव लार्ड बर्किनहेड ने कई बार व्यगपूर्वक कहा था कि भारतवासी हमारी बनाई योजनाओ मे हमेशा त्रुटियाँ ही निकालते हैं परन्तु कभी भी अपनी ओर से उचित और सुव्यवस्थित माग नही रखते। नवम्बर १६२७ मे लार्ड सभा मे साइमन आयोग की नियुक्ति के विषय मे बोलते हुए उन्होने अपने आलोचको से कहा कि उनको स्वय की सरकार किस ढग की होनी चाहिये इस बात पर सुझाव भारतवासी रक्खें। लार्ड बर्किनहेड का विश्वास था कि समस्त भारतवासी एक साथ नही मिल सकते और एक मत होकर कोई भी सवैधानिक योजना नही बना सकते। राष्ट्रीय कांग्रेस ने इस चेतावनी को स्वीकार किया और १६२७ के मद्रास के अधिवेशन मे अपनी समिति को एक अखिल भारतीय सर्वदल सम्मेलन बुलाने का आदेश दिया। यह सर्वदल सम्मेलन फरवरी १६२८ मे देहली मे हुआ। २६ सस्थाओ ने इसमे भाग लिया। कुछ मूल सिद्धान्तो के उपर विचार करने के उपरान्त यह सम्मेलन स्थगित हो गया। १६ मई १६२८ को बम्बई मे डा० अन्सारी के सभापतित्व मे इसकी बैठक हुई। इस सम्मेलन ने भारत का सविधान निर्माण करने के लिए एक छोटी सी समिति बनाई। सर तेज बहादुर सप्रू, सर अली इमाम, श्री० एम० एस० एनडे, सरदार मगल सिंह, श्री शुआब कुरैशी, जी० आर० प्रधान और सुभाषचन्द्र बोस इस समिति के सदस्य थे। पडित मोतीलाल नेहरू इस समिति के सभापति चुने गये। नेहरू समिति ने अपनी रिपोर्ट १० अगस्त १६२८ को प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट पर विचार करने के लिए सर्वदल

१. हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया अन्डर दी कम्पनी एण्ड दा क्राउन, पृष्ठ ६००-६०१।

२. ए कान्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृष्ठ २६४।

सम्मेलन की बैठक अगस्त १६२८ में फिर हुई। डॉ० अन्सारी इस सम्मेलन के सभापति थे। इस बैठक में नेहरू रिपोर्ट को स्वीकार कर लिया गया। परन्तु मुसलमानों के एक बड़े भाग ने संयुक्त निर्वाचन की व्यवस्था को अस्वीकार कर दिया। भूतपूर्व कांग्रेस अध्यक्ष मौलाना मोहम्मद अली ने भी इस आधार पर नेहरू रिपोर्ट का खण्डन किया। दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में कलकत्ते में एक राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया गया। परन्तु उसमें साम्प्रदायिक प्रश्न का हल न निकल सका। १६२८ के अधिवेशन में कांग्रेस ने एक प्रस्ताव द्वारा नेहरू रिपोर्ट को स्वीकार कर लिया परन्तु अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के खुले अधिवेशन में ३१ मार्च १६२६ को नेहरू रिपोर्ट अस्वीकार कर दी गई और श्री जिन्ना के '१४ सिद्धान्त' स्वीकार कर लिए गये। इनके आधार पर ही मुस्लिम लीग कोई राजनैतिक समझौता कर सकती थी।

नेहरू रिपोर्ट भारत के संवैधानिक विकास में एक महत्वपूर्ण लेख्य है। इसमें भारत के भावी संविधान की रूपरेखा खींची गई थी। डॉ० जकरियास ने इसे एक राजनैतिक प्रतिभापूर्ण वृत्तान्त (masterly and statesmanlike report) बताया है। इस रिपोर्ट में भारत की सब संवैधानिक समस्याओं का उल्लेख किया गया है। डॉ० जकरियास कहते हैं "नेहरू रिपोर्ट ब्यौरेवार मनन करने और पढ़ने योग्य है। जिन विषयों का इस रिपोर्ट में उल्लेख है उन पर वह काफी प्रकाश डालती है। यह रिपोर्ट वास्तव में एक बुद्धिमत्ता पूर्ण लेख्य है। इसमें काल्पनिक सिद्धान्तों के विषय में जोर नहीं दिया गया है। छोटी-छोटी बातों के ऊपर जोर नहीं दिया गया है।"[1] नेहरू रिपोर्ट इस बात पर आधारित है कि भारत ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत ही रहेगा। जो संविधान नेहरू रिपोर्ट में प्रस्तावित किया गया वह इंगलैंड और अधिराज्यों के संविधानों के समान था यद्यपि भविष्य में एक संघ शासन स्थापित करने की ओर संकेत किया गया। संविधान के आधार को छोड़कर रिपोर्ट की सब सिफारिशें सर्व सम्मिति से पास हुई थीं। बहुमत ने औपनिवेशिक स्वराज्य का समर्थन किया परन्तु साथ ही में दूसरे दल जो पूर्ण स्वतन्त्रता में विश्वास करते थे उन्हें उसका प्रचार करने का पूरा अधिकार दिया गया। रिपोर्ट में ब्रिटिश भारत के लिए ही संविधान बनाने का प्रयत्न किया गया। साम्प्रदायिक समस्या को सुलझाने के लिए रिपोर्ट में संयुक्त निर्वाचन पद्धति को अपनाया गया अल्पसंख्यक वर्गों के लिए जनसंख्या के आधार पर सुरक्षित स्थान रक्खे गए। उन्हें अन्य स्थानों में चुनाव लड़ने का अधिकार भी दिया गया पंजाब और बंगाल में यह योजना लागू नहीं की गई। मुसलमानों के धार्मिक और सांस्कृतिक हितों की सुरक्षा की गई। भाषा के आधार पर ऐसे नए प्रान्तों की व्यवस्था की गई जहाँ पर मुसलमानों का बहुमत था। संविधान में १६ मूल अधिकारों को सम्मिलित करने की भी सिफारिश की गई। भारतीय संसद के लिए दो सदनों की व्यवस्था की गई, उच्च सदन (senate) की संख्या २०० रखी गई। इन सदस्यों का चुनाव प्रान्तीय परिषद् सात साल के लिए करेंगी। निचले

1. रिसेन्ट इण्डिया : पृष्ठ २११-२४२।

सदन (the House of Represenlatives) की संख्या ५०० रखी गई। ये सदस्य ५ साल के लिये वयस्क मताधिकार द्वारा चुने जायेंगे। महाराज्यपाल की नियुक्ति ब्रिटिश सरकार द्वारा होगी। महाराज्यपाल कार्यकारिणी परिषद् की सलाह से कार्य करेगा और कार्यकारिणी परिषद् सामूहिक रूप से भारतीय संसद को उत्तरदायी होगी। प्रान्तीय परिषदें पांच साल के लिये वयस्क मताधिकार के आधार पर चुनी जायेंगी। प्रान्तों के राज्यपाल ब्रिटिश राजमुकुट द्वारा नियुक्त होंगे। वे प्रान्तीय कार्यकारिणी परिषद् की सलाह से कार्य करेंगे। रिपोर्ट में सर्वोच्चतम न्यायालय, लोक सेवा आयोग और सुरक्षा समिति की व्यवस्था की गई। प्रधानमंत्री, कुछ और अन्य मंत्री और सेनापति इस समिति के सदस्य होंगे।[1]

**औपनिवेशिक स्वराज्य व पूर्ण स्वतन्त्रता पर वाद-विवाद**—नेहरू रिपोर्ट का विरोध मुस्लिम लीग ने ही नहीं किया परन्तु कांग्रेस के कुछ उग्र विचार वाले व्यक्तियों ने भी इसका विरोध किया। नवम्बर १६२८ में इन उग्र विचार वाले व्यक्तियों ने कांग्रेस के अन्दर ही एक 'इन्डिपेन्डेन्स लीग' नामक संस्था बनाई। श्री एस० श्रीनिवास आयंगर इसके सभापति थे, श्री सुभाषचन्द्र बोस और पंडित जवाहर लाल नेहरू इसके मंत्री थे। श्री एस० श्रीनिवास आयंगर १६२६ में गोहाटी के कांग्रेस अधिवेशन के सभापति चुने गये। १६२७ में कांग्रेस के मद्रास के अधिवेशन में श्री आयंगर ने पूर्ण स्वतन्त्रता के विषय में प्रस्ताव रखा कि भारतीय जनता का राजनैतिक ध्येय राष्ट्रीय स्वतन्त्रता है। साइमन आयोग की नियुक्ति ने यह साफ प्रगट कर दिया था कि इंगलैंड से कोई आशा करना बेकार था। डॉ० जकरियास का विचार था कि श्री आयंगर और पंडित मोती लाल नेहरू में एक दूसरे के लिए ईर्ष्या थी इसीलिए श्री आयंगर ने स्वतन्त्रता का प्रस्ताव रखा।[2] हम इस विचार से सहमत नहीं हैं। अगर दोनों में ईर्ष्या होती तो पंडित जवाहरलाल नेहरू अपने पिता के विरुद्ध कभी नहीं जाते और श्री आयंगर की 'इन्डिपेन्डेन्स लीग' के सक्रीय सदस्य कभी नहीं होते। वास्तव में उस समय भारत में युवक आन्दोलन का जोर था और रूस की सफलताओं से भारतीय युवक बहुत प्रभावित हुये थे। डॉ० जकरियास ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है कि ये नवयुवक ब्रिटिश साम्राज्य से पूर्णतया सम्बन्ध विच्छेद करना चाहते थे और पूर्ण स्वतन्त्रता के समर्थक थे। पंडित जवाहर लाल नेहरू कुछ समय से राष्ट्रीय कांग्रेस के महामन्त्री थे। परन्तु जब कांग्रेस समिति ने उनके पिता की रिपोर्ट (नेहरू रिपोर्ट) को स्वीकार कर लिया और औपनिवेशिक स्वराज्य के सिद्धान्त को मान लिया तो १६२८ के सितम्बर मास में उन्होंने (पं० जवाहर लाल नेहरू) अपने पद से त्याग पत्र दे दिया। १६१८ की कलकत्ता कांग्रेस के सभापति पं० मोती लाल नेहरू चुने गये और उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि वे

१. आर० आर० सेठी : दी लास्ट फेज ऑफ ब्रिटिश सोवरेन्टी इन इण्डिया १६१६–१६४७, पृष्ठ १६–२० ।

२. रिनेसेन्ट इण्डिया : पृष्ठ २५३ ।

औपनिवेशिक स्वराज्य को स्वीकार करेंगे। इस समय लार्ड बर्कनहेड के पदत्याग करने के उपरान्त लार्ड पील भारत सचिव बनाए गए। वे भी साइमन आयोग के अनुयायी थे, जब तक साइमन आयोग की रिपोर्ट प्रकाशित न हो जाय तब तक वे कोई राजनैतिक सुधार भारत में नहीं करना चाहते थे। ब्रिटिश सरकार के इस व्यवहार से भारतीय नवयुवक तंग आ चुके थे इसीलिए वे पंडित मोतीलाल नेहरू द्वारा प्रस्तावित औपनिवेशिक स्वराज्य के पक्ष में नहीं थे। इसी समय महात्मा गांधी ने फिर से राजनीति में पदार्पण किया। उनके परिश्रम के फलस्वरूप १९२८ की कलकत्ता कांग्रेस ने समझौते के रूप में एक प्रस्ताव पास किया। वह इस प्रकार है—मद्रास कांग्रेस के पूर्ण स्वतन्त्रता के प्रस्ताव को स्वीकार करते हुए भी कलकत्ता कांग्रेस ने नेहरू समिति द्वारा प्रस्तावित संविधान को भी मान लिया। कलकत्ता अधिवेशन में पास हुए प्रस्ताव में कहा गया कि राजनैतिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रीय कांग्रेस नेहरू रिपोर्ट को पूर्णतया स्वीकार करती है, यदि ब्रिटिश संसद ३१ दिसम्बर १९२९ तक या उससे पहले इसे स्वीकार कर ले। यदि ब्रिटिश संसद इसे इस तिथि तक स्वीकार नहीं करेगी या इससे पहले इसे अस्वीकार कर देगी तो कांग्रेस एक अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन का संगठन करेगी जिसके द्वारा देश में कर न देने और अन्य कार्यवाही करने की अपील करेगी। पं० जवाहरलाल नेहरू और श्री सुभाषचन्द्र बोस ने स्वतन्त्रता के समर्थन में एक संशोधन पेश किया परन्तु वह स्वीकृत न हो सका।

डा० जकरियास ने बताया है कि इस समय की कांग्रेस के हलचलों के विषय में दो बातें उल्लेखनीय हैं पहली, महात्मा गांधी का राजनीति में फिर से प्रवेश करना, दूसरे सत्याग्रह का पुनरुत्थान होना। सब भारतीय सत्याग्रह के मार्ग को भूल से गए थे। परन्तु इस अधिवेशन में फिर से सत्याग्रह मार्ग को अपनाया गया। अब से ए. महीने पहले सरदार पटेल ने सूरत जिले के बारदोली क्षेत्र में कर न चुकाने का आन्दोलन सफलतापूर्वक चलाया। इसके समक्ष सरकार को झुकना पड़ा। इस समय किसानों की आर्थिक स्थिति शोचनीय थी और देश में अशान्ति फैलने की पूरी आशंका थी किसानों की परेशानियाँ ही आगे नहीं आ गई थीं परन्तु सत्याग्रह भी एक बार फिर से प्रभावशाली प्रतीत हुआ आर्थिक अवस्था शोचनीय होने के कारण जनक्रान्ति का होना अधिक संभव हो गया।"[1] इस समय समस्त देश में औद्योगिक नगरों में प्रत्येक स्थान पर हड़तालें हो रही थीं। अखिल भारतीय कांग्रेस सभा कांग्रेस के भीतर भी उग्रगामी दल के मनुष्यों का जोर हो गया और वे उदारवादी नेताओं को बुरा भला कहने लगे। ऐसी अवस्था में साइप्रस अमीबा की तरह भारत सरकार ने मजदूर और राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचलने का अवसर ढूंढ लिया। सरकार ने ३१ मजदूर नेताओं को भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में बन्दी बना लिया और मार्च १९२९ में उन पर ब्रिटिश सम्राट के विरुद्ध षड्यन्त्र करने का आरोप

1. एच० सा० ई० जकरियास : रिनेसेन्ट इण्डिया, पृष्ठ २४६।

लगाया। बन्दियों को मेरठ जेल में रखा गया। वहाँ पर उनके विरुद्ध विशेष सेशन जज की अदालत में मुकदमा चलाया गया। यह 'मेरठ षडयंत्र' केस के नाम से प्रसिद्ध है। इन बन्दियों में कुछ साम्यवादी थे और कुछ मजदूर और अन्य नेता थे। चौ० धर्मवीर सिंह जिनका कि साम्यवाद से कोई सम्बन्ध नहीं था पहली अदालत में छोड़ दिये गये। नवम्बर १६२६ में कामिक संघ कांग्रेस का अधिवेशन नागपुर में हुआ। श्री जवाहरलाल नेहरू इस अधिवेशन के सभापति थे। इस अधिवेशन में भारत में स्वतन्त्रता स्थापित करने और रूस के नमूने की समाजवादी गणतन्त्र सरकार स्थापित करने के विषय में प्रस्ताव पास हुआ।

**लार्ड इर्विन की घोषणा**—भारत सरकार इन सब हलचलों की अवहेलना नहीं कर सकती थी। लार्ड इर्विन इस समय भारत के वाइसराय थे। साइमन आयोग की नियुक्ति में उनका भी हाथ था। भारत की हलचलों ने उन्हें भारत की असन्तुष्टता को दूर करने के लिए विवश कर दिया। सर सी० वाई० चिन्तामणि का कहना है कि लार्ड इर्विन बड़े सच्चे और भगवान का डर मानने वाले थे। लार्ड रिपन से लेकर अब तक के सब वाइसरायों में वे दयालु और सहृदय व्यक्ति थे। ब्रिटिश सरकार को भारत के विषय में प्रभावित करने और दबाने की शक्ति उनमें थी। एक अच्छी बात यह थी कि इस समय आम चुनाव के कारण मई १६२६ में लेबर सरकार ने पुनः शक्ति ग्रहण की और जून १६२६ में श्री रामजे मैकडॉनल्ड ने अपना मन्त्रिमण्डल बनाया। श्री वैजवुड बैन भारत सचिव बने। लार्ड इर्विन को लन्दन बुलाया गया और वे जून से लेकर अक्तूबर तक मजदूर मन्त्रिमण्डल और अपने अनुदार दल के मित्रों से परामर्श करते रहे। इस परामर्श के फलस्वरूप उन्होंने एक नई नीति अपनाई जो ब्रिटेन के तीनों राजनैतिक दलों को स्वीकृत थी। उन्होंने भारत लौटने पर ३१ अक्तूबर १६२६ को दीपावली के दिन एक महत्वपूर्ण घोषणा की। यह घोषणा इस प्रकार है, "ब्रिटिश सरकार की ओर से उन्हें यह कहने का अधिकार मिला है कि ब्रिटिश सरकार की राय में १६१६ की घोषणा में यह बात निहित थी कि भारतीय सर्वधानिक विकास का वास्तविक परिणाम औपनिवेशिक स्वराज्य की प्राप्ति है।" इसी समय पर जॉन साइमन और श्री रामजे मैकडॉनल्ड के बीच पत्र व्यवहार हुआ जिसके फलस्वरूप यह निश्चय हुआ कि साइमन आयोग की रिपोर्ट प्रकाशित होने के बाद एक गोल मेज सम्मेलन बुलाया जायगा जिसमें भारतीय और ब्रिटिश प्रतिनिधि सम्मिलित होंगे और वे आयोग की रिपोर्ट और नये भारतीय संविधान के विषय में अन्य प्रस्तावों पर विचार करेंगे, लार्ड इर्विन की घोषणा में यह तो बताया गया कि ब्रिटिश सरकार का ध्येय भारत में औपनिवेशिक स्वराज्य देने का है। परन्तु यह नहीं बताया कि औपनिवेशिक स्वराज्य कब स्थापित होगा। डॉ० जकरियास ने कहा कि लार्ड इर्विन और श्री बैन भारत के साथ न्याय, ईमानदारी और समानता का व्यवहार कर रहे थे।[1]

१. रिनैसेन्ट इण्डिया, पृष्ठ २४८।

सब क्षेत्रों में लार्ड इर्विन की घोषणा का स्वागत किया गया। देहली में एक विज्ञप्ति निकाली गई जिसमें देश के प्रमुख नेताओं जैसे गांधी जी, पं० मोतीलाल नेहरू, पं० जवाहरलाल नेहरू, पं० मदनमोहन मालवीय, डॉ० अन्सारी, श्रीमति बेसेन्ट, डॉ० मुंजे, सरदार पटेल, वी० एस० श्रीनिवास शास्त्री और सर तेज बहादुर सप्रू आदि ने इस घोषणा की प्रशंसा की। उन्होंने कहा कि वे ब्रिटिश सरकार के कार्य की सराहना करते हैं और भारत में औपनिवेशिक स्वराज्य का संविधान निर्माण करने में ब्रिटिश सरकार को सहायता देने के लिए तैयार हैं। इस विज्ञप्ति में उन्होंने यह कहा कि प्रस्तावित गोलमेज परिषद् में इस बात पर वाद-विवाद नहीं होना चाहिये कि भारत में औपनिवेशिक स्वराज्य कब दिया जाय, परन्तु उसमें संविधान का निर्माण किया जाना चाहिये। भारतीय नेताओं ने सरकार से अनुरोध किया कि वह कुछ ऐसा कार्य करे जिससे जनता प्रभावित हो और वह (जनता) जान जाय कि भारत में एक नये युग का आरम्भ हो गया है। उन्होंने कहा कि गोल-मेज परिषद् को सफल बनाने के लिये सब बन्दियों को छोड़ देना चाहिये और राष्ट्रीय कांग्रेस को इस परिषद् में अधिक से अधिक प्रतिनिधित्व मिलना चाहिये। इस सम्मेलन की बैठक शीघ्रता से होनी चाहिये। श्री सुभाषचन्द्र बोस और श्री श्रीनिवास आयंगर लार्ड इर्विन की घोषणा से सन्तुष्ट नहीं हुए। वे पूर्ण स्वराज्य में विश्वास रखते थे। इंगलैंड में भी कुछ प्रतिक्रियावादी नेताओं ने लार्ड इर्विन की घोषणा की निन्दा की। लार्ड बर्कनहेड, लार्ड रीडिंग और चिल्मटन चर्चिल इनमें प्रमुख थे। श्री चर्चिल के विचार में भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य देना एक अपराध था। अनुदार और उदार दल के विरोध के कारण श्री मैकडॉनल्ड की मजदूर सरकार कोई दृढ़ कदम न उठा सकी। मजदूर सरकार एक अल्प मत सरकार थी। ब्रिटिश संसद में मजदूर सरकार का पूर्ण रूप से बहुमत नहीं था। मजदूर सरकार कोई ऐसा कार्य करने को तैयार नहीं थी जिसका विरोध दूसरा दल करता। इस कारण मजदूर सरकार ने भारतीय बन्दियों को नहीं छोड़ा। भारतीय नेताओं के सुझाव पर भी कोई ध्यान नहीं दिया गया। लार्ड इर्विन की घोषणा के विषय में शंका समाधान करने का भी कोई प्रयत्न नहीं किया गया। कुछ मध्यस्थों के द्वारा लार्ड इर्विन और महात्मा गांधी के बीच २३ दिसम्बर १९२९ को एक बैठक बुलाई गई। इस बैठक में पं० मोतीलाल नेहरू, श्री जिन्ना, सप्रू और विट्ठल भाई पटेल भी उपस्थित थे। दिसम्बर १९२९ के अन्त में लाहौर में कांग्रेस का अधिवेशन होने वाला था। पं० जवाहरलाल नेहरू इस अधिवेशन के सभापति चुने गये। महात्मा गांधी का अभिप्राय था कि लार्ड इर्विन से बातचीत करके ब्रिटिश सरकार और कांग्रेस के बीच कोई समझौता किया जाना चाहिये ताकि कांग्रेस अधिवेशन में वे यह तय कर सकें कि अब कांग्रेस को कौन सी नीति अपनानी है। महात्मा गांधी ने लार्ड इर्विन से साफ-साफ पूछा कि क्या गोलमेज परिषद् भारत के लिये औपनिवेशिक स्वराज्य का संविधान बनाएगी। लार्ड इर्विन ने अपनी ३१ अक्तूबर की घोषणा को

दोहराया और कुछ अधिक कहने को तैयार नही हुए। महात्मा गांधी और पण्डित मोतीलाल नेहरू कांग्रेस के अधिवेशन मे खाली हाथ पहुंचे।

**पूर्ण स्वराज्य का निश्चय**—लार्ड इर्विन से बातचीत करने के उपरान्त महात्मा गांधी इस निश्चय पर पहुँचे कि मजदूर सरकार अपनी नीति को तब तक कार्यान्वित नही कर सकती जब तक कि वह स्वतन्त्रता देने के लिए विवश न हो जाय और वह यह न समझने लगे कि अब इसके अलावा और कोई चारा नही है। गांधी जी के विचार मे ब्रिटिश सरकार से अपनी मांग स्वीकार कराने के लिये आन्दोलन आवश्यक हो गया था। इस आन्दोलन को हिंसात्मक होने से रोकने के लिए यह आवश्यक था कि गांधी जी इसका नेतृत्व करें और अहिंसात्मक रूप से इसे चलावें। इस समय भारत में अराजकता का जोर था और गांधी जी यह नही चाहते थे कि बेकार में जनता का खून किया जाय। जब लार्ड इर्विन गांधी जी से बातचीत करने के लिये दिल्ली आ रहे थे तो उनकी रेलगाडी पर बम्ब फेंक दिया गया। परन्तु वे बच गये। गांधी जी ने इस बात को स्वीकार किया कि सविनय अवज्ञा आन्दोलन द्वारा ही देश को गड़बड़ी, अशान्ति और गुप्त अपराधों से बचाया जा सकता है। इसलिए लाहौर अधिवेशन में गांधी जी ने एक प्रस्ताव रखा जिसमें उन्होंने कहा कि नेहरू रिपोर्ट को रद्द कर दिया जाय और हमारा ध्येय पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करना है। यह प्रस्ताव पास हो गया। इस प्रस्ताव से कांग्रेस इस निश्चय पर पहुँची कि वर्तमान अवस्था में गोलमेज परिषद् में सम्मिलित होना बेकार है। कांग्रेस ने यह भी घोषणा की कि उसका ध्येय पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करना है। इस प्रस्ताव द्वारा अखिल भारतीय कांग्रेस समिति को यह अधिकार दिया गया कि वे सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ करें और इस आन्दोलन के अनुसार 'ऋण न चुकाने' की मांग भी रहेगी। असहयोग आन्दोलन के पश्चात् स्वराज्य प्राप्ति के लिये यह दूसरा आन्दोलन था। गांधी जी इस आन्दोलन के नेता बने।

**सविनय अवज्ञा आन्दोलन**—पूर्ण स्वराज्य की घोषणा करते समय लाहौर कांग्रेस के अधिवेशन ने एक अन्य प्रस्ताव द्वारा कांग्रेसी सदस्यों से भिन्न-भिन्न विधान मंडलों से त्याग पत्र देने की प्रार्थना की। पं० जवाहरलाल नेहरू जो लाहौर कांग्रेस अधिवेशन के सभापति थे उन्होंने ३१ दिसम्बर १९२९ को रात के १२ बजे रावी के किनारे स्वतन्त्रता का झण्डा फहराया, इसके पश्चात् २६ जनवरी १९३० को स्वतन्त्रता दिवस मनाने का निश्चय हुआ। स्वतन्त्रता दिवस सारे भारतवर्ष में धूमधाम से मनाया गया। उस दिन स्वतन्त्रता शपथ भी सामूहिक रूप से ली गई। इस शपथ में कहा गया कि स्वतन्त्रता प्राप्त करना भारतीय जनता का जन्म-सिद्ध अधिकार है। उन्हें अपने परिश्रम का फल प्राप्त करने और जीवन की आवश्यकताओं को प्राप्त करने का पूरा अधिकार है ताकि वे उन्नति प्राप्त कर सकें। जिस सरकार ने हमें इतनी यातनायें दी है उसके आगे झुकना एक अपराध है।[1] उस समय से प्रत्येक वर्ष

१. डा० पी० सूद : इंडियन कान्सटीट्यूशनल डेवलपमेंट एण्ड नेशनल मूवमेंट, पृष्ठ २२१।

२६ जनवरी को स्वतन्त्रता दिवस मनाया जाने लगा। २६ जनवरी १६५० को भारत में गणतन्त्र की स्थापना हुई तब से २६ जनवरी को गणतन्त्र दिवस मनाया जाने लगा। १५ अगस्त को स्वतन्त्रता दिवस मनाया जाने लगा। लाहौर कांग्रेस के आदेशानुसार सब सदस्यों न विधान मण्डलों से त्याग पत्र दे दिया और कांग्रेस कार्य-कारिणी समिति ने १६३० का आन्दोलन चलाने के लिए गांधी जी को पूरे अधिकार दे दिए। आन्दोलन प्रारम्भ करने से पहले ११ मार्च १६३० को महात्मा गांधी ने लार्ड इर्विन के पास एक पत्र भिजवाया कि यदि वे भारतीयों की मांग स्वीकार नहीं करेंगे तो गांधी जी अपने कुछ साथियों के साथ नमक कानून को तोड़कर सत्याग्रह आरम्भ करेंगे। महाराज्यपाल का उत्तर सन्तोषजनक नहीं था। इस कारण महात्मा गांधी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करने की घोषणा कर दी। गांधी जी १२ मार्च को साबरमति आश्रम से ७६ साथियों के साथ डण्डी के लिए चल पड़े। श्री सुभाषचन्द्र बोस ने गांधी जी की डण्डी यात्रा की तुलना नैपोलियन की एल्बा से वापिस आकर पैरिस की ओर जाने की यात्रा से और मुसोलिनी की रोम पर चढ़ाई से की है। यह तुलना ठीक नहीं है। समाचार पत्रों ने महात्मा गांधी की यात्रा को बड़ा महत्व दिया। जनता ने भी उसका स्वागत बड़े उत्साहपूर्वक किया। भारत सरकार ने प्रारम्भ में ही इस आन्दोलन की कोई परवाह न की। एक अंग्रेजी पत्रकार श्री ब्रेल्स फोर्ड ने इसे बच्चों की शान्ति कहा। ६ अप्रैल को राष्ट्रीय सप्ताह के प्रथम दिन गांधी जी ने नमक कानून तोड़ा। इसके आरम्भ होते ही सारे देश में नमक कानून तोड़ा जाने लगा। हजारों मनुष्यों ने गैर-कानूनी ढंग से नमक बना कर नमक कानून तोड़ा। बम्बई, बंगाल, संयुक्त प्रांत, मध्य प्रदेश और मद्रास प्रांतों में नमक कानून तोड़ा गया। जहाँ नमक कानून तोड़ना सम्भव नहीं था वहाँ और कानून तोड़े गये। कलकत्ते में अवैध घोषित साहित्य को सड़कों पर घूम-घूम कर पढ़ा गया, श्री जे० एम० सेन गुप्ता ने जो उस समय कलकत्ते के मेयर थे यह कानून तोड़ा। इस कारण उन्हें बन्दी बना लिया गया। मध्य प्रदेश में वन कानून तोड़े गए। विदेशी कपड़े और विदेशी सामान का बहिष्कार किया गया। शराब की दुकानों पर धरने दिए गए। गांधी जी की सलाह से ये दोनों कार्य महिलाओं को सौंपे गये। उन्होंने सफलतापूर्वक अपने उत्तरदायित्व को निभाया। इस आन्दोलन की विशेषता यह थी कि महिलाओं ने इसमें अधिक मात्रा में भाग लिया। शीघ्रता के साथ ही यह आन्दोलन सारे देश में फैल गया। सरकार को इससे बड़ी चिन्ता हुई और उसने कोई कठोर कदम उठाने का निर्णय कर लिया। कांग्रेसी नेताओं और कार्य-कर्ताओं को अधिक संख्या में गिरफ्तार कर लिया गया। कांग्रेस जनों को भारी जुर्माने और कठोर दण्ड दिया गया। कांग्रेस संगठन को सरकार ने अवैध घोषित कर दिया। आन्दोलन को दबाने के लिए सरकार ने आधे दर्जन के लगभग अध्यादेश जारी किए। एक अध्यादेश के अनुसार १६१० का प्रेस कानून फिर से जारी कर दिया। गया और कई अध्यादेशों के द्वारा कार्यकारिणी और पुलिस के अधिकारियों को इतनी अधिक शक्तियाँ प्रदान की गई कि न्यायालय भी उन पर नियन्त्रण नहीं कर

सकते थे। श्री सी० वाई० चिन्तामणि ने कहा है कि इन अधिकारों का उपयोग बहुत कठोरता के साथ किया गया। पुलिस ने कई स्थानों पर लाठी चार्ज किया और कई स्थानों पर गोली चलाई जिसके फलस्वरूप बहुत मनुष्य मारे गये। १६ अप्रैल को प० जवाहरलाल नेहरू को जेल भेज दिया गया। उन्होंने तुरन्त ही अपने पिता प० मोतीलाल नेहरू को कांग्रेस का सर्वेसर्वा बना दिया। ३० जून को प० मोतीलाल नेहरू गिरफ्तार कर लिए गए और उन्होंने सरदार पटेल को अपने अधिकार सौंप दिए। इस प्रकार एक के बाद एक कांग्रेस के सर्वेसर्वा नियुक्त होते गये। १८२७ के एक पुराने अध्यादेश के अन्तर्गत ५ मई १६३० को महात्मा गांधी को गिरफ्तार कर लिया गया और उन्हें पूना जेल मे रखा गया। गांधी जी की गिरफ्तारी के बाद श्री अब्बास तैयब जी ने उनका स्थान ग्रहण किया। १२ मई को उन्हें भी गिरफ्तार कर लिया गया, तुरन्त ही श्रीमती सरोजनी नायडू ने उनका स्थान ग्रहण कर लिया। उन्हे भी २१ मई को गिरफ्तार कर लिया गया। इतना होने पर भी कांग्रेस को एक के बाद एक नेता चुनने में भी कोई कठिनाई नही हुई। सरकार ने भी बड़ी क्रूर नीति से काम लिया। १० अक्तूबर को सरकार ने ६वां अध्यादेश गजट में प्रकाशित किया। इस अध्यादेश द्वारा सरकार द्वारा अवैध घोषित की गई संस्थाओं की भूमि जब्त करली गई।

जब सरकार की क्रूर नीति अपनी चरम सीमा पर थी उसी समय साइमन आयोग की रिपोर्ट प्रकाशित हुई थी। इस रिपोर्ट पर २७ मई को हस्ताक्षर किए गए। ब्रिटिश सरकार समाचार-पत्रों ने रिपोर्ट की बहुत प्रशंसा की। परन्तु भारतीय जनता इनसे प्रभावित नहीं हुई। डॉ० जकरियास ने कहा है कि इस आयोग की रिपोर्ट ने भारत की समस्याओं को समझाने का प्रयत्न नहीं किया था और न भारतवासियों के साथ कोई सहानुभूति दिखाई थी। केन्द्रीय विधान मण्डल ने जिसमे कोई भी कांग्रेस सदस्य नहीं था, इस आयोग की रिपोर्ट को पूर्णतया अस्वीकार कर दिया। सरकार ने दिखाने के लिये कहा कि यह रिपोर्ट गोलमेज परिषद् के समक्ष विचारार्थ रखी जायेगी। परन्तु यह पहले से ही प्रगट था कि यह रिपोर्ट कार्यान्वित नहीं हो पायेगी। यह इतिहास के कूड़े की टोकरी में फेंक दी जायगी।[1] महात्मा गांधी के नजरबन्द होने के कुछ सप्ताह के उपरान्त लन्दन के मुख्य मजदूर दल के समाचार पत्र 'डेली हैरेल्ड' के प्रतिनिधि ने उनसे मुलाकात की। उसने गाँधी जी से यह बात मालूम करने का प्रयत्न किया कि किन शर्तों पर गांधी जी इस आन्दोलन को समाप्त कर देंगे और किन शर्तों पर वे गोलमेज परिषद् मे सम्मिलित होने को तैयार हैं। कुछ मास पश्चात् सर तेज बहादुर सप्रू और श्री एम० आर० जेकर ने भी गांधी जी से मुलाकात करने की स्वीकृति प्राप्त की। अगस्त मास मे इन दोनों नेताओं ने महात्मा गांधी और लार्ड इर्विन से कई बार मुलाकात की। इस मुलाकात के लिए मोतीलाल और जवाहरलाल नेहरू को नैनी जेल से स्पेशल ट्रेन द्वारा पूना लाया

१. रिनेसेन्ट इण्डिया, पृष्ठ २६४।

गया और पूना की यरवदा जेल में इन सब नेताओं की बातचीत हुई। सरदार पटेल और श्रीमती सरोजनी नायडू भी वहाँ उपस्थित थे। डॉ० सप्रू और श्री जेकर के प्रयत्न करने पर भी लार्ड इर्विन और कांग्रेस के बीच समझौता न हो सका और आपस में संघर्ष चलता रहा। मोतीलाल नेहरू अस्वस्थता के कारण ८ सितम्बर को जेल से मुक्त कर दिये गये। परन्तु उनकी अवस्था में कोई सुधार नहीं हुआ और पाँच महीने बाद ही उनका स्वर्गवास हो गया। ११ अक्तूबर को प० जवाहरलाल नेहरू भी छोड़ दिए गए। परन्तु एक सप्ताह बाद ही एक आपत्तिजनक भाषण देने के कारण दो मास के लिए फिर से जेल भेज दिये गये, इसी तरह सरदार पटेल को ५ नवम्बर को रिहा कर दिया गया। परन्तु उन्हें भी दो मास बाद फिर जेल भेज दिया गया। इस समय गुजरात और संयुक्त प्रान्त में कर न देने के आन्दोलन चलाए गये इस समय कृषक वर्ग की अवस्था बड़ी शोचनीय थी। सारे संसार में वस्तुओं का मूल्य बहुत घट गया था। अराजकता का भी इस समय बड़ा जोर था।

**प्रथम गोलमेज सम्मेलन**—देश में अशान्ति होते हुए भी ब्रिटिश सरकार ने गोलमेज सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया। यह सम्मेलन लन्दन में बुलाया गया। इसका उद्घाटन १२ नवम्बर १९३० में सम्राट ने किया। ब्रिटिश प्रधान मन्त्री इसके सभापति बने। ८९ सदस्यों ने इस सम्मेलन में भाग लिया, १६ ब्रिटिश सदस्य, १६ देशी रियासतों के सदस्य थे और ५७ सदस्य ब्रिटिश भारत से थे। ब्रिटिश सदस्य ब्रिटेन के तीनों राजनैतिक दलों से लिए गए थे, भारतीय सदस्य कांग्रेस को छोड़कर सभी दलों और वर्गों से लिये गए थे। भारतीय सदस्य ब्रिटिश सरकार ने मनोनीत किए थे इसलिए वे देश के वास्तविक प्रतिनिधि नहीं थे। श्री ब्रैलस फोर्ड ने कहा है 'कि इस सम्मेलन में भारत माता का प्रतिनिधित्व नहीं था'। श्री सी० वाई० चिन्तामणि का कहना है कि भारतीय सदस्यों में बहुत से प्रतिक्रियावादी और साम्प्रदायिकवादी थे। यदि कांग्रेस इसमें सम्मिलित होती तो यह सम्मेलन अधिक सफल होता। इस सम्मेलन में सम्मिलित होने के कारण भारतवासियों को ब्रिटिश मन्त्री-मण्डल के सदस्यों से सम्पर्क में आने का अवसर प्राप्त हुआ और उन्हें यह विश्वास हो गया कि ब्रिटिश सरकार भारत की राजनैतिक उन्नति के पक्ष में है। मुसलमान प्रतिक्रियावादियों को अपने साम्प्रदायिक हितों के उपस्थित करने का भी अवसर मिला जिसका उन्होंने दुरुपयोग किया। इस सम्मेलन में देशी रियासतों का अधिक प्रभाव रहा। जब देशी रियासतों के प्रतिनिधियों ने यह सुझाव रखा कि वे भारत में एक संघ शासन स्थापित करने के पक्ष में हैं तो ब्रिटिश राजनैतिक क्षेत्रों में बड़ी हलचल मची। सम्मेलन के प्रारम्भ होते ही अपने १७ नवम्बर १९३० के भाषण में देशी रियासतों के प्रतिनिधि महाराजा बीकानेर ने घोषणा की कि वे विकास के पक्ष में हैं और भारतवासियों की सच्ची आशाओं के विरुद्ध कुछ नहीं करना चाहते। महाराजा बीकानेर ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि अखिल भारतीय संघ ही भारतीय समस्याओं का सन्तोषजनक हल है। देशी रियासतों के शासकों के व्यवहार से यह साफ प्रगट हो गया था कि अब भारत में अधिक समय तक अंग्रेजों का

टिकना सम्भव नहीं है और अधिक समय तक भारत में उनका प्रभुत्व रहना कठिन है। प्रथम गोलमेज सम्मेलन १९ जनवरी १९३१ को स्थगित कर दिया गया। उस समय ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने एक घोषणा की जिसमें उन्होंने बताया कि ब्रिटिश सरकार की राय में भारत सरकार का उत्तरदायित्व केन्द्रीय और प्रान्तीय व्यवस्थापिकों को सौंप देना चाहिए परन्तु कुछ विषय कुछ समय के लिए सुरक्षित रखे जाने चाहियें और अल्पमत की सुरक्षाओं का प्रबन्ध होना चाहिए। उन्होंने आगे कहा यदि भारतीय सेना वायसराय को सहयोग दे तो उनका सहयोग प्राप्त करने का भरसक प्रयत्न किया जायेगा। अन्त में उन्होंने आशा प्रगट की कि हमारे प्रयत्नों के फलस्वरूप भारत का स्तर ऊँचा उठ जायेगा और उत्तरदायी सरकार स्थापित कर दी जायेगी। सर तेज बहादुर सप्रू ने अपने १९ जनवरी १९३१ के भाषण में कहा कि प्रथम गोलमेज सम्मेलन के फलस्वरूप तीन बातें प्रत्यक्ष रूप से प्रगट हो गई हैं—(१) अखिल भारतीय संघ शासन स्थापित करना अत्यन्त आवश्यक है। सर सेम्युअल होर ने संघ शासन स्थापित करने के विचार को ब्रिटिश साम्राज्य के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना बताई। (२) केन्द्र में उत्तरदायित्व स्थापित होना आवश्यक है। (३) भारत की सुरक्षा के लिए भारतीय सेना ही उत्तरदायी होनी चाहिए। कुछ मतभेद होने के उपरान्त भी नीचे लिखी बातों पर सम्मेलन के सब सदस्य एक मत हो गए। पहले भारत में प्रान्तों और देशी रियासतों को मिलाकर एक अखिल भारतीय संघ स्थापित होना चाहिए। दूसरे कुछ विषयों को छोड़कर सब सरकार विधान मण्डल की उत्तरदायी होनी चाहिए। तीसरे, प्रांतों में पूर्णरूप से स्वायत्त शासन स्थापित होना चाहिए।

लन्दन में जिस दिन गोलमेज सम्मेलन स्थगित हुआ उसी दिन लार्ड इर्विन ने दिल्ली में केन्द्रीय विधान मण्डल में भाषण देते हुए महात्मा गांधी का सहयोग प्राप्त करने की प्रार्थना की। २५ जनवरी १९३१ को महात्मा गांधी बिना किसी शर्त के छोड़ दिए गए। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति को वैध घोषित कर दिया गया और इसके सब सदस्यों को छोड़ दिया गया। कांग्रेसी नेताओं के छोड़ने का ध्येय था कि वे ब्रिटिश प्रधानमन्त्री की घोषणा पर ध्यानपूर्वक विचार करें जिससे कि सरकार और राष्ट्रीय कांग्रेस के बीच समझौता हो सके। ६ फरवरी को गोलमेज सम्मेलन के सदस्य भारत लौटे। दो ही दिन के बाद सर तेज बहादुर सप्रू और श्री एम० आर० जेकर ने इलाहबाद में महात्मा गांधी से बातचीत प्रारम्भ कर दी। कुछ समय बाद श्री वी० एस० श्रीनिवास शास्त्री भी इस वार्तालाप में सम्मिलित हो गए। इन उदार दल के नेताओं ने गांधी जी को यह समझाने का प्रयत्न किया कि यदि कांग्रेस सरकार से समझौता नहीं करेगी तो वह मुसलमानों और देशी रियासतों के शासकों से मिल जायेगी और ऐसा कार्य हो जाना भारत के लिए हितकर नहीं होगा। सविनय अवज्ञा आन्दोलन भी कुछ धीमा पड़ गया था और दोनों पक्ष समझौते के इच्छुक थे। १४ फरवरी को महात्मा गांधी ने लार्ड इर्विन से भेंट करने की प्रार्थना की। तीन दिन बाद ही लार्ड इर्विन से उनकी बातचीत हुई।

यह बातचीत कई दिन तक चलती रही। बहुत से भारतीय नेता उस समय दिल्ली में उपस्थित थे और महात्मा गाँधी ने उनसे परामर्श किया। अन्त में ४ मार्च १९३१ को लार्ड इर्विन और महात्मा गाँधी ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किए जिसे दिल्ली समझौता या गांधी इर्विन समझौता कहते हैं।

**गांधी इर्विन समझौता**—डॉ० जकरियास के अनुसार गांधी इर्विन समझौते ने भारत में अशांति को रोककर कुछ समय के लिए शान्ति स्थापित कर दी। इस समझौते के अनुसार सविनय अवज्ञा आन्दोलन को स्थगित कर दिया गया। जिन राजनैतिक बन्दियों पर हिंसा का अभियोग नहीं लगाया गया था उन्हें छोड़ दिया गया। गांधी जी ने पुलिस के अत्याचारों के बारे में जाँच पड़ताल की मांग को वापिस ले लिया। कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं पर किये गए जुर्माने और जब्त सम्पत्ति वापिस कर दी गई। सरकार ने अध्यादेशों को वापिस ले लिया। भारतीय जनता को समुद्र के किनारे नमक बनाने का अधिकार मिल गया। शराब, अफीम और विदेशी सामान की दुकानों पर शान्तिपूर्वक धरना देने का अधिकार मिल गया। ब्रिटिश सामान के बहिष्कार का अन्त कर दिया गया परन्तु स्वदेशी वस्तुओं को प्रोत्साहन देने का निश्चय किया गया। सर्वैधानिक प्रश्नों के विषय में निश्चित हुआ कि गोलमेज सम्मेलन में मुख्य रूप से संघ शासन के विषय में विचार होना चाहिए। इस संघ शासन के अन्तर्गत भारतीयों को उत्तरदायित्व मिलना चाहिए। साथ ही साथ भारत की सुरक्षा, विदेशी विषयों, अल्पमतों की स्थिति और भारत की वित्त व्यवस्था के सम्बन्ध में विशेष व्यवस्था करने का निश्चय होना चाहिए। ये सब कार्य भारत के हित के लिये होने चाहियें। इस समझौते में यह निश्चय किया गया कि भारत के सर्वैधानिक सुधारों के विषय में होने वाली गोलमेज सम्मेलन में कांग्रेस प्रतिनिधियों को सम्मिलित करने का प्रयत्न किया जायेगा।[1]

देश में कुछ व्यक्तियों ने इस समझौते का विरोध किया और अधिक ने इसका समर्थन किया। श्री सुभाषचन्द्र बोस को इसमें निराशा हुई। सुरक्षित अधिकारों की धारा में पं० जवाहरलाल नेहरू को बड़ा धक्का पहुँचा। इस समझौते द्वारा गांधी जी, सरदार भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरु के मृत्यु दण्ड को कम न करा सके इसलिए भी बहुत से लोगों ने इस समझौते का विरोध किया। मार्च १९३१ को पत्रकारों के सामने महात्मा गांधी ने एक महत्वपूर्ण वक्तव्य दिया। उन्होंने कहा, "इस प्रकार के समझौते के लिए यह कहना न तो सम्भव है और न उचित है कि किस पक्ष की इसमें विजय हुई। यदि इसमें विजय हुई तो यह दोनों पक्षों की थी। कांग्रेस विजय प्राप्त करने की कभी भी इच्छुक नहीं रही।"[2] गांधी जी ने कहा कि जब हमारे शत्रु हमारी बात सुनने को तैयार हैं तो व्यर्थ में क्यों

१. पट्टाभि सीतारमैया: दी हिस्ट्री ऑफ दी इन्डियन नेशनल कांग्रेस, भाग १, पृष्ठ ४३७-४४०।

२. वही, पृष्ठ ४४३।

झगड़ा मोल लेकर कष्ट उठाये ? यदि किसी समस्या को हल करने का कोई उपाय है तो उसका उपयोग करना चाहिये । उनके विचार में इस समझौते द्वारा भारतीय समस्या को सुलझाने का मार्ग खुल गया । उन्होंने अपना व्यक्तिगत मत प्रगट करते हुए कहा कि वे इस समझौते को कार्यान्वित करने के लिये भरसक प्रयत्न करेंगे । उन्होंने दृढ़ निश्चय किया कि जो वस्तु अस्थाई है उसको हम पूर्णतया स्थाई बनायेंगे । कहने का तात्पर्य है कि कांग्रेस और सरकार के बीच हुए इस समझौते को हम स्थाई बनायेंगे । हमारा यह समझौता कांग्रेस के ध्येय की पूर्ति के लिये प्रथम सीढ़ी है (a precursor of the goal to attain which the Congress exists)। इस समझौते को कराने के लिए लार्ड इर्विन ने बहुत प्रयत्न किये । उनके प्रयत्नों की गांधी जी ने प्रशंसा की । लार्ड इर्विन ने देहली के चेम्सफोर्ड क्लब में बोलते हुए कहा कि दोनों पक्षों को इस अच्छी योजना में सहयोग से कार्य करना चाहिए । हमें ऐसी योजना का निर्माण करना चाहिए जहां पश्चिम और पूर्व मित्रतापूर्वक कार्य करें और सब विरोधों का सामना कर सकें । डॉ० जकरियास लिखते हैं, "गांधी-इर्विन समझौता दोनों पक्षों की उच्च देशभक्ति और उत्तम बुद्धि का स्मारक है ।[1]

करांची के २९ मार्च १९३१ के कांग्रेस अधिवेशन के सम्मुख यह समझौता रखा गया। इस अधिवेशन से एक सप्ताह पूर्व सरदार भगतसिंह और उनके साथियों को लाहौर के एक पुलिस अधिकारी की हत्या के आरोप में मृत्युदण्ड दे दिया गया था । भारत सरकार के इस कार्य से देश में बड़ा रोष फैल गया था । सरकार सरदार भगतसिंह इत्यादि को मृत्यु दण्ड, अधिवेशन के बाद में देना चाहती थी परन्तु गांधी जी के आग्रह पर अधिवेशन के पूर्व ही मृत्युदण्ड दिया गया, जिससे कि कांग्रेस निष्पक्ष होकर समझौते को स्वीकार या अस्वीकार कर सके । इसका अभिप्राय था कि जनता यह न समझे कि पहले तो समझौता स्वीकार करवा दिया गया और बाद में देशभक्तों को फांसी दे दी गई । डॉ० पट्टाभि सीतारमैया के विचार में सरदार भगतसिंह का नाम जनता में उतना ही अधिक लोकप्रिय था जितना कि गांधी जी का । करांची अधिवेशन में सबसे प्रथम प्रस्ताव इन क्रान्तिकारियों की त्याग, देश-प्रेम और वीरता की प्रशंसा में पास हुआ । करांची अधिवेशन ने गांधी इर्विन समझौते को स्वीकार कर लिया । यह गांधी जी के व्यक्तित्व का प्रभाव और उनकी विजय थी। सरदार वल्लभ भाई पटेल इस अधिवेशन के अध्यक्ष थे । उन्होंने कहा कि यदि कांग्रेस लार्ड इर्विन से समझौता न करती तो वह एक गलत मार्ग की ओर पग उठाती । इस अधिवेशन में गोलमेज सम्मेलन के लिए गांधी जी को कांग्रेस का प्रतिनिधि चुना गया । इसमें यह भी निश्चय किया गया कि कांग्रेस कार्य-कारिणी को अधिकार है कि वह और भी कुछ प्रतिनिधि गांधी जी की सहायता के लिए सम्मेलन में भेज सकती है । कांग्रेस अधिवेशन के कुछ समय बाद ही लार्ड इर्विन का कार्य-काल समाप्त हो गया और १८ अप्रैल १९३१ को वे बम्बई से इंगलैंड के लिए

१. रिनेसेंट इण्डिया, पृष्ठ २७४ ।

वापिस बुला लिये। उनके स्थान पर लार्ड विलिंगडन भारत के वाइसराय बने। वे बम्बई और मद्रास के राज्यपाल रह चुके थे। भारत में वाइसराय होने के समय वे कनाडा के महाराज्यपाल थे। वे लार्ड इर्विन की तरह उदार विचारों वाले नहीं थे। इस कारण कुछ विषयों पर महात्मा गांधी और लार्ड विलिंगडन के बीच इस समझौते को कार्यान्वित करने में मतभेद हो गया। दोनों पक्षों ने एक दूसरे पर आरोप लगाये और समझौते को कार्यान्वित न करने के लिए एक दूसरे को दोषी ठहराया। कुछ पत्र व्यवहार के उपरान्त लार्ड विलिंगडन और महात्मा गांधी से शिमले में भेंट हुई जिससे फलस्वरूप दोनों ने एक दूसरे के विचारों को समझने का प्रयास किया। गांधी जी ने लन्दन की गोलमेज सम्मेलन में सम्मिलित होने का निश्चय कर लिया। गोलमेज सम्मेलन में गांधी जी ही कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि रहे। भारत सरकार ने प० मदनमोहन मालवीय और श्रीमती सरोजनी नायडू को उनके व्यक्तिगत रूप में गोलमेज का सदस्य नियुक्त कर दिया।

**दूसरा गोलमेज सम्मेलन**—दूसरा गोलमेज सम्मेलन ७ सितम्बर १९३१ को लन्दन में प्रारम्भ हुआ। महात्मा गांधी १६ अगस्त को इंगलैण्ड के लिये रवाना हुए। वे वहां पर १२ सितम्बर को पहुंचे। गांधी जी प्रथम गोलमेज सम्मेलन में सम्मिलित नहीं हुए थे इसे डॉ० जकरियास ने देश के लिए हानिकारक बताया। दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भी गांधी जी ही कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि थे इसे भी डॉ० जकरियास ने उचित नहीं बताया। अकेले होने के कारण वे सम्मेलन को पूर्णरूप से प्रभावित नहीं कर सके। हम डॉ० जकरियास के मत से सहमत नहीं हैं। प्रथम सम्मेलन में सम्मिलित होने से देश को कोई लाभ नहीं होता और साईमन आयोग की सिफारिशें ही उसमें दोहरायी जातीं। दूसरे सम्मेलन में गांधी जी के कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि होने से कोई महत्वपूर्ण अन्तर नहीं पड़ा। गोलमेज के दूसरे सम्मेलन के समय इंगलैंड की राजनैतिक व्यवस्था में परिवर्तन हो गया था। कुछ आर्थिक संकटों के कारण २६ अगस्त १९३१ को मजदूर सरकार ने त्यागपत्र दे दिया और श्री रामजे मैकडोनल्ड ने एक नई सरकार बनाई जो नाम मात्र के लिए राष्ट्रीय थी परन्तु वास्तव में वह अनुदार दल की सरकार थी। कुछ ही महीनों बाद अक्तूबर मास में इंगलैंड में आम चुनाव हुए और उनके समाप्त होने तक सम्मेलन का कार्य कुछ हद तक रुका रहा। चुनाव में अनुदार दल की जीत हुई और अधिकतर उसी दल के सदस्य चुने गए। श्री वेजवुड बेन के स्थान पर सर सैम्यूअल होर भारत सचिव नियुक्त किये गए। सरकार के परिवर्तन के कारण सम्मेलन का वातावरण ही बदल गया। श्री मैकडोनल्ड सम्मेलन के सभापति रहे और लार्ड सैंकी संघ संघटन समिति के अध्यक्ष रहे, परन्तु अनुदार दल का आधिपत्य होने के कारण वे कुछ न कर सके। अंग्रेजी सदस्यों में से अधिक सदस्य भारत के हितैषी नहीं थे। सर सैम्यूअल होर बड़े ही प्रतिक्रियावादी और अनुदार विचारों वाले थे, उन्हें भारत से सहानुभूति नहीं थी। 'भारत सचिव बेन के समय से १९३० में सम्मेलन में सब सदस्य समान रूप से विचारों का आदान प्रदान करते थे। १९३१ में सर सैम्यूअल

दौर के समय में यह सम्मेलन एक शोभनीय वाद-विवाद समिति के थके हुए रूप में रह गया था जिसका कि अन्त निकट था।"[1] यह आश्चर्य की बात नहीं है कि सम्मेलन में अधिक प्रगति नहीं हो सकी। सम्मेलन में सवैधानिक समस्या को हल करने का कोई वास्तविक प्रयत्न नहीं किया गया। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के उकसाने से साम्प्रदायिक नेताओं ने अल्पमतों की समस्या पर अधिक जोर दिया। सम्मेलन साम्प्रदायिक नेताओं और अल्पमतों का एक अखाड़ा सा बन गया। गांधी जी ने विशाल राष्ट्रीय आदर्शों को मनवाने का प्रयत्न किया परन्तु उसके विपरीत साम्प्रदायिक नेताओं व राजाओं-महाराजाओं ने अपने निजी, विशेष और साम्प्रदायिक हितों का ही समर्थन किया। अल्पमत उप-समिति किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सकी। यह साम्प्रदायिक समस्या को हल नहीं कर सकी। अल्पमत वर्गों ने अंग्रेजों की सलाह से एक अल्पमत समझौता कर लिया जिसकी शर्तें देश के लिये बड़ी हानिकारक सिद्ध होतीं। भारतीय नेताओं के आपस के झगड़ों को देखकर जर्मन राष्ट्रपति अडोल्फ हिटलर ने कहा कि मैं समझता था कि भारतीय स्वराज्य के योग्य हैं परन्तु अब मुझे प्रतीत हुआ कि वे भी एशियावासियों की तरह ही हैं। गांधी जी सम्मेलन की धीमी प्रगति से तंग आ गये थे। सम्मेलन के अन्त होने के बाद अपने स्वास्थ्य सुधार के लिये गांधी जी कुछ समय के लिये इगलैंड में रहना चाहते थे परन्तु कुछ महत्वपूर्ण कार्यवश उन्होंने शीघ्र ही भारत वापिस लौटने का निश्चय किया। दूसरा गोलमेज सम्मेलन १ दिसम्बर १६३१ को समाप्त हुआ। छ दिसम्बर को महात्मा जी भारत के लिये रवाना हुए और २८ दिसम्बर को बम्बई पहुचे। मार्ग में उन्होंने मुसोलनी और फ्रांसीसी दार्शनिक रोमारोला से भेंट की। महात्मा जी इगलैंड से खाली हाथों वापिस लौटे। उन्होंने कहा, 'मैं स्वीकार करता हूँ कि मैं खाली हाथों वापिस लौटा हूँ। परन्तु मुझे प्रसन्नता है कि जिस झण्डे (कांग्रेस) का सम्मान करने मुझे भेजा गया था उसको नीचे नहीं गिराया।"

श्री जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा में दूसरी गोलमेज परिषद का वर्णन करते हुए लिखा है कि प्रत्येक सदस्य चाहे हिन्दू, मुसलमान या सिक्ख हो अपनी जातियों के लिए पद और नौकरियाँ प्राप्त करने का इच्छुक था। अवसरवादियों का बोलबाला था और विभिन्न वर्ग भूखे भेड़ियों की तरह अपने शिकार पर तुले हुए थे। स्वतन्त्रता प्राप्ति की ओर किसी भी सदस्य का ध्यान नहीं था और न आर्थिक समस्याओं को सुलझाने की ओर किसी का ध्यान था।[2]

**सविनय अविज्ञा आन्दोलन का पुनरुत्थान**—सर सी० वाई० चिन्तामणि ने पहले और दूसरे गोलमेज सम्मेलन में बड़ा अन्तर बताया है। पहले गोलमेज सम्मेलन के उपरान्त, जब कि श्री वैजवुड बेन भारत सचिव थे राजनैतिक बन्दियों को छोड़ दिया गया और सविनय अवज्ञा आन्दोलन करना बन्द कर दिया गया। दूसरे सम्मेलन

१. एच० सी० ई० जकरियास : रिनैसेन्ट इण्डिया, पृष्ठ २८१।

२. जवाहरलाल नेहरू : एन आटोबायोग्राफी, पृष्ठ २८३-२८४।

के उपरान्त जब कि सर सैम्युअल होर टोरी सरकार के भारत सचिव थे सविनय अवज्ञा आन्दोलन को फिर से प्रारम्भ कर दिया गया और सरकार ने १९३० से बढ़ कर अत्याचार करना आरम्भ कर दिया। इससे प्रतीत होता है कि ब्रिटेन का अनुदार और उदार दल की सरकार में कितना अन्तर था। गांधी जी ने लन्दन में ही यह भाँप लिया था कि सरकार के साथ संघर्ष अनिवार्य है। जिस समय गांधी जी लंदन में थे उस समय भी भारत सरकार अत्याचार कर रही थी। बंगाल में एक अध्यादेश जारी करके सरकार ने क्रान्तिकारी आन्दोलन को कुचलने का प्रयत्न किया। उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त में 'रेड शर्ट सस्था' को अवैध घोषित कर दिया गया। खान अब्दुल गफ्फार खाँ और डा० खान साहब को बन्दी बना लिया गया। संयुक्त प्रान्त में कर न देने के आन्दोलन को कुचलने का प्रयास किया गया। पंडित जवाहरलाल नेहरू गांधी जी से मिलने बम्बई जा रहे थे तो उन्हें भी बन्दी बना लिया गया। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने देश की राजनैतिक स्थिति पर विचार करने के बाद गांधी जी को सलाह दी कि वे वाइसराय से इस विषय में बातचीत करें। गांधी जी ने वाइसराय को एक तार भेजा और उसके उत्तर में लार्ड विलिंगडन ने कहा कि वे सरकार की नीति के विषय में गांधी जी से बातचीत करने को तैयार नहीं हैं। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने इस उत्तर पर विचार किया और एक प्रस्ताव द्वारा यह निश्चय किया कि यदि सरकार ने कांग्रेस की माँगों का सन्तोषजनक उत्तर न दिया तो वह सविनय अवज्ञा-आन्दोलन प्रारम्भ करने के लिये विवश हो जायेगी। सरकार ने कांग्रेस की मांगों की कोई परवाह न की और उसकी माँगों को ठुकरा दिया तथा क्रूर नीति को अपनाया। ४ जनवरी १९३२ को गांधी जी बन्दी बनाकर पूना जेल भेज दिए गए। इसी समय कांग्रेस कार्यकारिणी के सब सदस्य बन्दी बना लिये गये। सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ होने से पहले ही सरकार ने सब कांग्रेसी नेताओं को बन्दी बना लिया।

इस समय सरकार की नीति में परिवर्तन आ गया था और वह क्रूर व्यवहार और अत्याचार करने पर तुली हुई थी। १९२१–२२ और १९३० में आन्दोलनों को पहले कांग्रेस ने प्रारम्भ किया था। परन्तु इस समय सरकार ने ही दुर्व्यवहार करना आरम्भ किया। लार्ड विलिंगडन और सर सैम्युअल होर ने पहले ही निश्चय कर लिया था कि वे आन्दोलन की प्रगति से पहले ही उसे कुचल डालेंगे। सरकार ने समय से पहले ही बहुत से अध्यादेश तैयार कर लिये थे और वे तुरन्त ही लागू कर दिये गए। सर सैम्युअल होर ने स्वयं ही हाउस ऑफ कॉमन्स में इस बात को स्वीकार किया कि ये अध्यादेश अत्यन्त क्रूर और असीम कठोर थे। वे भारतीय जीवन के प्रत्येक पहलू से सम्बन्धित थे। सरकार का विचार था, कि आन्दोलन के द्वारा सरकार की नींव को उखाड़ने का प्रयत्न किया जा रहा था। इसलिये देश को अराजकता से बचाने के लिए इन अध्यादेशों को जारी करना आवश्यक था। सर सी० वाई० चिन्तामणि ने लिखा है, 'सरकार अपने कार्यों में दृढ़ थी और कांग्रेस भी झुकने को तैयार नहीं थी। कांग्रेसी होना जेल जाने के लिए निमन्त्रण था।

कांग्रेस का लगभग प्रत्येक नेता जेल मे बन्दी करके आन्दोलन से अलग कर दिया गया परन्तु फिर भी आन्दोलन समाप्त नही हुआ ।"[1] पुलिस का अत्याचार चरम सीमा को पहुँच गया। कुछ अंग्रेजो ने भी सरकार की दमनकारी और क्रूर नीति का विरोध किया। सरकार से कुछ नरम व्यवहार करने की प्रार्थना की गई। डॉ० पट्टाभि सीतारमैया ने कहा है कि कांग्रेस सगठन मे न तो कोई नेता रहा, न उसके पास धन रहा और कार्य करने के लिये उसके पास कोई स्थान भी न रहा। सरकार ने कांग्रेस समिति, आश्रम, राष्ट्रीय विद्यालय और दूसरी राष्ट्रीय सस्थाओ को अवैध घोषित कर दिया और उनके स्थानो, सामान, धन और दफ्तरो को छीन लिया गया। प्रेस पर भी प्रतिबन्ध लगा दिए गए। विवश होकर कांग्रेस कार्यकर्त्ताओ ने छोटे-छोटे पोस्टर और इश्तहार छपवाकर बटवाए। इन पर किसी प्रेस का नाम नहीं होता था। ये ही देश की सूचना जनता तक पहुँचाते थे। बहुत से समाचार पत्रो से जमानतें मागी गईं और कभी-कभी जमानतो को जब्त भी कर लिया गया। बहुत से समाचार पत्रो को अपना प्रकाशन रोकना पडा। शायद ही कोई प्रान्त बचा हो जहाँ पर पुलिस ने जनता के ऊपर लाठी चार्ज न किया हो। महिलाओ, बच्चो और युवको पर लाठी चलाई गई। बहुत से स्थानो पर पुलिस नियत कर दी गई। बहुत से क्षेत्र मे जनता पर दाण्डिक कर लगाए गये। बिहार मे चार पाँच स्थानो से ४ लाख और ७० हजार दाण्डिक कर वसूल किया गया। बहुत से स्थानो पर सामूहिक जुर्माने भी किए गए। उन जुर्मानो को जनता से बलपूर्वक वसूल किया गया। बहुत से स्थानो पर पुलिस ने गोली चलाई जिसमे बहुत से कांग्रेसी मारे गये। उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त मे पुलिस की गोली से सबसे अधिक लोग मारे गए और घायल हुए। सरकार ने अधिक से अधिक अत्याचार किये परन्तु फिर भी कांग्रेस का कार्य चलता रहा। कांग्रेस का अप्रैल सन् १६३२ का अधिवेशन दिल्ली मे हुआ। अधिवेशन चादनी चौक मे घण्टाघर के नीचे हुआ। पुलिस की निगरानी होते हुए भी ५०० प्रतिनिधि अधिवेशन के स्थान पर एकत्रित हुए। अहमदाबाद के सेठ रणछोड़दास अमृतलाल इस अधिवेशन के सभापति बने। इस अधिवेशन मे वार्षिक रिपोर्ट पेश की गई और सविनय अवज्ञा आन्दोलन के पुनरुत्थान का समर्थन किया गया। कांग्रेस का सन् १६३३ का वार्षिक अधिवेशन इन्ही अवस्थाओ मे कलकत्ते मे हुआ। श्रीमती नेलीसेन गुप्ता जो श्री जे० एम० सेन गुप्ता जी की स्त्री थी इस अधिवेशन की सभापति बनी।

**साम्प्रदायिक निर्णय—(The Communal Award)**—दूसरे गोलमेज सम्मेलन के समय ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने कहा कि यदि भारत के सारे प्रतिनिधि सहमत हो तो वे साम्प्रदायिक प्रश्न पर अपना निर्णय दे सकते है, परन्तु इसका कोई फल नही निकला और सब प्रतिनिधि ब्रिटिश प्रधान मन्त्री के मत से सहमत नहीं हुए। परन्तु फिर भी कुछ समय बाद ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने ब्रिटिश सरकार

१. इण्डियन पॉलिटिकल क्रिन्स दी म्युटेनी, पृष्ठ १८१।

की ओर से साम्प्रदायिक समस्याओं को हल करने के लिए अपना निर्णय दे ही दिया। ब्रिटिश सरकार के निर्णय को किसी रूप में भी पंच निर्णय या मध्यस्थ निर्णय नहीं कहा जा सकता, यह वास्तव में ब्रिटिश सरकार का स्वयं का ही निर्णय था, सर० सी० वाई चिन्तामणि भी इसी विचार के हैं। ब्रिटिश प्रधान मन्त्री श्री रामजे मैकडोनल्ड ने यह निर्णय ४ अगस्त १६३२ को दिया। इस निर्णय द्वारा प्रान्तीय विधान सभाओं में प्रत्येक जाति और वर्ग के प्रतिनिधित्व की संख्या बताई गई। कुछ कारणोंवश केन्द्रीय विधान मण्डल का प्रतिनिधित्व नहीं बताया गया। मुसलमानों, यूरोपियन सिक्ख, भारतीय ईसाई और एंग्लो इण्डियनों को पृथक् निर्वाचन क्षेत्र दिया गया। दलित वर्गों को पृथक् निर्वाचन वर्ग में रक्खा गया। उन को कुछ अतिरिक्त मतदान का अधिकार दिया गया और वे सामान्य निर्वाचन क्षेत्र में भी चुनाव के लिए खड़े हो सकते थे। पट्टाभि सीतारमैया ने इसे प्रति अत्यु-पकार (bounty with a vengeance) कहा है, बंगाल में ८० स्थान विशेष रूप से हरिजनों के लिये सुरक्षित रख दिए गए, जबकि बंगाल में कुछ सामान्य निर्वाचन क्षेत्रों में भी दलित वर्गों के मतदाताओं की संख्या अधिक थी। दलित वर्गों के विशेष निर्वाचन क्षेत्र केवल २० वर्ष की अवधि के लिए बने थे। इन विशेष निर्वाचन क्षेत्रों को उनकी अवधि से पहले ही समाप्त किया जा सकता था। विभिन्न धार्मिक जातियों की महिलाओं को विशेष निर्वाचन क्षेत्र निश्चित किये गए। महिलाओं को भी पृथक् निर्वाचन क्षेत्र में रख दिया गया। कुछ निर्वाचन क्षेत्र मजदूरों, उद्योगपतियों और भूमिपतियों के लिए सुरक्षित रख दिये गये, परन्तु उनके लिए पृथक् निर्वाचन पद्धति नहीं अपनाई गई। सिंध को एक पृथक् प्रान्त बनाने का निश्चय किया गया। ब्रिटिश सरकार ने अपने निर्णय में यह प्रत्यक्ष रूप से प्रगट कर दिया कि जब तक सब वर्ग व जातियाँ अपनी अनुमति इस निर्णय में परिवर्तन के लिए नहीं देंगे तब तक इस निर्णय में परिवर्तन नहीं किया जायेगा। यदि सब जातियाँ किसी परिवर्तन के लिए तैयार होंगी तो ब्रिटिश सरकार संसद से उस परिवर्तन को स्वीकार कराने की मांग करेगी।[1] सरकार के निर्णय के प्रकाशित होने के उपरान्त प्रधान मन्त्री ने निर्णय को समझाने के लिए एक वक्तव्य भी दिया। उन्होंने कहा कि सरकार संयुक्त निर्वाचन पद्धति को कितना ही उचित क्यों न समझती हो परन्तु अल्पमत वर्गों ने पृथक् निर्वाचन पद्धति को ही अधिक महत्व दिया। इस कारण सरकार विद्यमान परिस्थितियों के अनुसार ही निर्णय लेने के लिए विवश थी, इस विशेष प्रकार की प्रतिनिधित्व प्रणाली को स्वीकार करना पड़ा। आगे चलकर उन्होंने कहा कि महिलाओं को जाति के आधार पर प्रतिनिधित्व देने के सिवाय सरकार के समक्ष और कोई दूसरा मार्ग नहीं था जिसे वह अपनाती। सब जातियों की महिलाओं को उचित प्रतिनिधित्व देने का यही एक सुगम मार्ग था। अन्त में प्रधान मन्त्री ने भारतीय नेताओं से सहयोग की अपील की और कहा

१. पट्टाभि सीतारमैया: दी हिस्ट्री आफ दी इण्डियन नेशनल कांग्रेस, भाग १, पृष्ठ ६५६-६६२।

कि साम्प्रदायिक सहयोग से ही उन्नति हो सकती है।

भारत के अधिक राजनैतिक नेताओं ने साम्प्रदायिक निर्णय की कटु आलोचना की। मुख्यतया कांग्रेस के राष्ट्रवादी नेताओं ने इसकी कड़ी आलोचना की। दलित वर्गों को पृथक निर्वाचन क्षेत्रों में रखकर हिन्दू जाति की एकता को छिन्न-भिन्न करने का प्रयत्न किया गया। सर सी० वाई० चिन्तामणि के विचार में यह निर्णय बंगाल और पंजाब के हिन्दुओं के लिए बड़ा हानिकारक था। सब प्रान्तों में जहाँ पर मुसलमान अल्पमत में थे उनको अतिरिक्त स्थान दिए गए, परन्तु पंजाब और बंगाल में हिन्दुओं को अतिरिक्त स्थान नहीं दिए गये यद्यपि वे वहाँ पर अल्पमत में थे। सिक्खों को भी अधिक प्रतिनिधित्व दिया गया परन्तु मुसलमानों की अपेक्षा उन्हें कम स्थान दिए गए। आसाम के हिन्दुओं को बहुमत से अल्पमत में परिणित कर दिया गया। विश्व के इतिहास में शायद ही कहीं ऐसा हुआ हो। यूरोपियन और एंग्लो इण्डियनों को उनकी जनसंख्या की अपेक्षा अधिक प्रतिनिधित्व दिया गया। महिलाओं ने कभी भी पृथक् निर्वाचन क्षेत्रों की माँग नहीं की थी। परन्तु उन्हें भी पृथक् निर्वाचन क्षेत्रों में रख दिया गया। इस तरह भारतीय निर्वाचन मण्डल को एक दर्जन से भी अधिक वर्गों में बाँट दिया गया। ऐसी दशा में भारत में राजनैतिक एकता उत्पन्न करना कठिन था। इसके कारण ही पृथक्ता का विचार विभिन्न जातियों में जड़ जमाता गया जिसके फलस्वरूप भारत के टुकड़े हो गये और पाकिस्तान बन गया। श्री रामानन्द चटर्जी ने जो 'मॉडर्न रिव्यू' के सम्पादक थे कहा कि साम्प्रदायिक निर्णय उत्तरदायी सरकार के सिद्धान्तों का विरोधक है। डॉ० आर० आर० सेठी ने इस निर्णय को एक कुविख्यात और अपकारक निर्णय (notorious and pernicious award) बताया।[1] मेहता और पटवर्धन ने कहा है, "१६१६ में निर्वाचकगण को दस भागों में विभाजित कर दिया गया था, अब इसे १७ छोटे-छोटे असमान टुकड़ों में विभाजित कर दिया गया है। महिलाओं और भारतीय ईसाइयों की इच्छा के विरुद्ध 'पृथक् निर्वाचन पद्धति उन पर लाद दी गई है। दलित वर्गों को पृथक् निर्वाचन प्रतिनिधित्व देकर हिन्दू जाति और अधिक निर्बल कर दी गई है। धर्म पेशा और सेवा के आधार पर विभाजन किया गया है। प्रत्येक सम्भव उपाय से भारतवासियों को छिन्न-भिन्न किया गया है।"[2] लार्ड जैटलैण्ड ने कहा है कि अल्पमत वर्गों को विभिन्न विधान मण्डलों में पृथक् निर्वाचन पद्धति द्वारा प्रतिनिधित्व देना तो कुछ हद तक ठीक है परन्तु इस पद्धति के अनुसार किसी प्रान्त की बहुमत जाति को पृथक् निर्वाचन देकर सदैव के लिए उसे बहुमत में सुरक्षित रखना किसी प्रकार भी उचित नहीं है। ऐसा कभी नहीं हुआ। साईमन आयोग ने भी इस तरह के विचारों को अनुचित समझा था।

१. दी लास्ट फेज ऑफ ब्रिटिश सोवरेन्टी इन इण्डिया, १६१६—१६४७, पृष्ठ २५-२६।

२. दी कोम्यूनल ट्राइऐंगिल, पृष्ठ ७२।

डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने कहा कि बंगाल में दूसरे प्रान्तों की अपेक्षा सबसे छोटी जाति को अधिक स्थान दिये गये। परन्तु ये स्थान बहुमत जाति में न लेकर एक दूसरी अल्प जाति (हिन्दुओं) से लिए गये। पंजाब में भी सिक्खों को अधिक स्थान देने के लिए, हिन्दुओं का प्रतिनिधित्व कम किया गया। यद्यपि हिन्दू वहाँ पर अल्पमत में थे और ईमानदारी के साथ उन्हें ही अधिक प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए था। इस कारण पंजाब और बंगाल के हिन्दुओं ने इस निर्णय का बड़ा विरोध किया। पंडित मदनमोहन मालवीय ने अगस्त १६३४ में कलकत्ते में कांग्रेस राष्ट्रवादी दल में अध्यक्षात्मक भाषण देते हुए कहा कि पृथक निर्वाचन पद्धति का अर्थ "एक जाति का दूसरी जाति के ऊपर शासन होता है।......यह प्रजातन्त्र नहीं होगा। यह एक जाति का दूसरी जाति के ऊपर अत्याचार होगा। साम्प्रदायिक निर्णय द्वारा इस तानाशाही को स्थान देने का प्रयत्न किया गया है।"[1]

पूना समझौता (The Poona Pact)—दूसरे गोलमेज सम्मेलन के समय ही गांधी जी ने यह प्रत्यक्ष रूप से कह दिया था कि यदि दलित वर्गों को हिन्दू जाति से पृथक् किया गया तो वे अपने प्राणों की बाजी लगाकर उसका विरोध करेंगे। लन्दन में ११ नवम्बर १६३१ को दूसरे गोलमेज सम्मेलन की अल्पमत समिति में गांधी जी ने कहा कि दलित वर्गों को हिन्दू जाति से पृथक् करने की नीति का विरोध करने वाले यदि वे अकेले भी हों तो भी वे उसका विरोध करेंगे। ११ मार्च १६३२ को उन्होंने सर सेम्युअल होर को एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने कहा कि मैं ब्रिटिश सरकार को यह बता देना चाहता हूँ कि यदि उन्होंने दलित वर्गों के लिए पृथक् निर्वाचन पद्धति अपनाई तो वे अनशन करेंगे। १७ अगस्त १६३२ को ब्रिटिश सरकार ने साम्प्रदायिक निर्णय को प्रकाशित किया और उसके अनुसार दलित वर्गों को पृथक् निर्वाचन क्षेत्रों में स्थान दिया। ऐसा करके ब्रिटिश सरकार ने गांधी जी की परीक्षा ली। गांधी जी ने तुरन्त ही १८ अगस्त को ब्रिटिश प्रधान मन्त्री को एक पत्र लिखा और उसे अपने अनशन करने का निश्चय लिखा। गांधी जी का अनशन २० सितम्बर से प्रारम्भ होने वाला था। एक सप्ताह के भीतर ही सारे देश में हलचल मच गई। नेताओं ने गांधी जी से मुलाकात करनी चाही। अनशन प्रारम्भ न करने के लिए गांधी जी को तार, पत्र, के बिल भेजे गये। सरकारी निर्णय को बदलने का एक ही उपाय था कि सब हिन्दू मिलकर एक फैसला करें। इसके लिये एक सम्मेलन बुलाना आवश्यक था। सब नेता गांधी जी के प्राणों को बचाना चाहते थे। दलित वर्ग के नेता राव बहादुर एम० सी० राजा ने सबसे प्रथम सम्मेलन का सुझाव रक्खा। सप्रू साहब ने गांधी जी को मुक्त कराने की माँग की। पं० मालवीय जी ने तुरन्त ही एक सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया। इंगलैण्ड में एनड्र्यूज, पोलक और लैम्सबरी ने ब्रिटिश जनता का ध्यान गांधी जी के अनशन की ओर आकर्षित किया।

---

१. दी लास्ट फेज ऑफ ब्रिटिश सोवेरेन्टी इन इण्डिया, १६१६-१६४७, पृष्ठ २६।

मालवीय जी द्वारा बुलाये गये सम्मेलन की प्रथम बैठक बम्बई मे हुई। परन्तु जल्दी ही इस सम्मेलन की बैठकें पूना मे होने लगी। थोडे समय बाद डा० बी० म्रार० ग्रम्बेदकर भी इस सम्मेलन मे सम्मिलित हो गये। श्री राजगोपालाचारी, सरदार पटेल, श्री एम० ग्रार० जेकर, श्रीमति नायडू ग्रौर डा० राजेन्द्र प्रसाद भी इस सम्मेलन मे सम्मिलित हुये। काफी वाद-विवाद के बाद सब नेताग्रो ने मिलकर एक योजना तैयार की जो सबको मान्य थी। २५ सितम्बर १६३२ को गाधी जी के ग्रनशन के पाँचवें दिन यह योजना बनी थी। यह योजना 'पूना समभौते' के नाम से प्रसिद्ध है।

इस समभौते के ग्रनुसार दलित वर्गों को सामान्य निर्वाचन क्षेत्रो मे से १४८ स्थान दिये गये। साम्प्रदायिक निर्णय मे उन्हे ७१ ही स्थान मिले थे इस प्रकार उनका प्रतिनिधित्व दुगुने से भी ग्रधिक कर दिया गया। इन १४८ स्थानो मे से प्रत्येक प्रान्त को ग्रलग-ग्रलग स्थान इस प्रकार दिए गए। मद्रास को ३०, बम्बई व सिन्ध को मिलाकर १५, पंजाब को ८, बिहार ग्रौर उडिसा को १८, मध्य प्रान्त को २०, बगाल को ३० ग्रौर सयुक्त प्रात को २० स्थान दिये गए। इन १४८ स्थानो के लिए सयुक्त निर्वाचक पद्धति द्वारा सदस्यो को चुने जाने का निश्चय हुग्रा। दो प्रकार के चुनावो की व्यवस्था की गई। पहले चुनाव मे सामान्य निर्वाचन क्षेत्र के सब दलित वर्गों के मतदाता सबसे ग्रधिक मत प्राप्त करने वाले ४ सदस्यो को चुनेंगे। इनको चुनने मे दलित वर्ग के मतदाता ही मत दे सकेंगे। इस तरह चुने गये ४ व्यक्तियों मे से ग्रब केवल एक व्यक्ति चुना जायेगा जिसके लिए सामान्य निर्वाचन क्षेत्र के हिन्दू मतदाता ग्रौर दलित वर्ग के मतदाता एक साथ मत देंगे। इसी प्रकार की व्यवस्था केन्द्रीय विधान मण्डल मे भी दलित वर्गों के प्रतिनिधित्व के लिए की गई। केन्द्रीय विधान मण्डल मे सामान्य निर्वाचन क्षेत्रो मे से १८ प्रतिशत स्थान दलित वर्गों के लिए सुरक्षित रख दिये गए। इस प्रकार उन्हे ग्रपनी जनसख्या से भी ग्रधिक प्रतिनिधित्व मिला। इस समभौते मे यह भी निश्चित किया गया कि प्राथमिक चुनावो मे ४ व्यक्तियो को चुनने की व्यवस्था केवल १० साल के लिए होगी। सर्व सम्मति से इस प्रथा का ग्रन्त पहले भी किया जा सकता है।[1] पूना समभौते से हिन्दू जाति को बडी हानि हुई। इस समभौते से सबसे ग्रधिक हानि बगाल के हिन्दुग्रो को पहुँची। हिन्दुग्रों के स्थानो को कम करके पहले से ही साम्प्रदायिक निर्णय के ग्रनुसार यूरोपियनों को ग्रधिक स्थान सुरक्षित रख दिये गए थे। ग्रब पूना समभौते के ग्रनुसार हिन्दुग्रो के ३० स्थान ग्रौर कम कर दिए गए। ये ३० स्थान दलित वर्गों के लिए सुरक्षित कर दिए गये। इस प्रकार बगाल के विधान मण्डल के २५० सदस्यो मे केवल ७० स्थान ही हिन्दू जाति (Caste Hindus) को दिये गए। बगाल के भूतपूर्व राज्यपाल लार्ड जेटलैंड ने इसकी बडी ग्रालोचना की है. उन्होंने कहा कि

१. ए० सी० बनर्जी : इण्डियन कॉन्सटीट्यूशनल डोक्यूमेंट्स, भाग ३, पृष्ठ २०४—२०५।

प्रान्त की सरकार ने हिन्दुओं की संख्या को कम करके उनके साथ अनुचित व्यवहार और अन्याय किया गया। बंगाल के हिन्दू प्रान्त के बौद्धिक और राजनैतिक जीवन में सदैव क्रियाशील रहे हैं। ब्रिटिश सरकार ने २६ सितम्बर को पूना समझौते को स्वीकार कर लिया। उसी दिन शाम को सवा पाँच बजे गाँधी जी ने अपना आमरण अनशन तोड़ दिया। उस समय से ही गाँधी ने दलित उद्धार आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया और गाँव-गाँव में सुधारों का प्रयत्न किया। २५ सितम्बर को मालवीय जी की अध्यक्षता में एक सभा हुई जिसमें दलित वर्गों की भलाई और सुधार के लिए प्रस्ताव पास हुआ। इस प्रस्ताव के फलस्वरूप कुछ समय बाद श्री घनश्याम दास बिड़ला की अध्यक्षता में हरिजन सेवक संघ की नींव पड़ी।

एकता सम्मेलन—दलित वर्ग समस्या को सुलझाने के बाद ही पंडित मालवीय जी ने इलाहाबाद में एक एकता सम्मेलन बुलाया। इसमें सब जातियों के प्रतिनिधि उपस्थित थे। श्री विजयराघवाचार्य इस सम्मेलन के सभापति बने। इस सम्मेलन में बहुत से विषयों पर समझौता हो गया। इसके उपरान्त बंगाल के प्रश्न को हल करने के लिए सम्मेलन की एक समिति कलकत्ते गई। दो विषयों पर सबकी सम्मति एक हो गई। पहले केन्द्रीय विधान मण्डल में मुसलमानों को ३२ प्रतिशत प्रतिनिधित्व देने का निश्चय हुआ। दूसरे सिन्ध को एक पृथक् प्रान्त बनाने का निश्चय किया गया। इसके साथ ही साथ यह तय हुआ कि सिन्ध के हिन्दू अल्पमत को भी कुछ और सुविधायें दी जानी चाहियें। केन्द्रीय राजस्व में से सिन्ध को आर्थिक सहायता नहीं दी जानी चाहिए। दुर्भाग्यवश ये सब बातें जनता को प्रकट हो गईं। और तुरन्त ही सर सेम्युअल होर ने लन्दन में यह घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार ने केन्द्रीय विधान मण्डल में मुसलमानों को ३३⅓ प्रतिशत प्रतिनिधित्व देने का निश्चय किया है और सिन्ध को एक पृथक् प्रान्त बनाने का निश्चय किया। सिन्ध को केन्द्र से राजस्व आर्थिक सहायता देने का भी तय किया गया। हिन्दुओं को कोई सुविधा नहीं दी गई। सरकार की इस आकस्मिक घोषणा के फलस्वरूप एकता सम्मेलन भंग हो गया। सर सी० वाई० चिन्तामणि ने लिखा है "मेरे देखते कलकत्ते में बैठी हुई समिति तुरन्त भंग हो गई क्योंकि एक जाति (मुसलमानों) को उसमें कुछ लाभ नहीं होता था।" सर सेम्युअल होर की घोषणा से सरकार की चालाक नीति प्रकट हो गई। जनता सरकार की चालाकी को जान गई। सरकार हिन्दू मुसलमानों में फूट डालना चाहती थी, वह कभी नहीं चाहती थी कि हिन्दू मुसलमान एकता से कार्य करें। 'डिवाइड एण्ड रूल' ही अंग्रेजों की नीति रही है। दुःख है कि कांग्रेसी नेता उनकी चालों को जानते हुए भी उनके चंगुल में फंस गये। राष्ट्रीय कांग्रेस ने साम्प्रदायिक निर्णय का विरोध न करके देश को हानि पहुँचाई। लखनऊ समझौते की तरह यह कांग्रेस की दूसरी महान् भूल थी। कांग्रेस के व्यवहार से देश में साम्प्रदायिकता की जड़ जम गई। पंडित मालवीय, श्री एम० एस० अणे और श्री अग्निचन्द्रदत्त ही ऐसे राष्ट्रवादी नेता थे जिन्होंने साम्प्रदायिक निर्णय का कट्टर विरोध किया। निर्णय के विरुद्ध आन्दोलन करने के लिए उन्होंने

कांग्रेस राष्ट्रीयवादी दल स्थापित किया। श्री चिन्तामणि ने 'लीडर' में और श्री रामानन्द चटर्जी ने 'मोडर्न रिव्यू' में इस निर्णय की कटु आलोचना की। कांग्रेस ने इस निर्णय का विरोध इस विचार से नहीं किया कि यदि हम इसका विरोध करेंगे तो देश में साम्प्रदायिक झगड़े और भी बढ़ेंगे।

**तीसरा गोलमेज सम्मेलन**—तीसरे गोलमेज सम्मेलन की बैठक १७ नवम्बर से २४ दिसम्बर १६३२ तक लन्दन में हुई। उसमें सम्मिलित होने के लिए बहुत कम सदस्यों को आमंत्रित किया गया था। स्वतन्त्र विचार वाले व्यक्तियों को इस सम्मेलन में नहीं बुलाया गया। श्री श्रीनिवास शास्त्री जैसे अनुभवी व्यक्ति भी इस सम्मेलन में आमन्त्रित नहीं किए गए। सरकार ने अपनी हाँ में हाँ मिलाने वाले व्यक्तियों को ही सम्मेलन में आमन्त्रित किया। इगलैंड के मजदूर दल ने सम्मेलन में सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया। सम्मेलन में सुरक्षित विषयों, देशी राज्यों का संघ शासन में सम्मिलित होना और अवशिष्ट शक्तियों (residuary powers) के विषय में वार्तालाप हुआ। सर सेम्यूअल होर ने इस सम्मेलन के कार्य पर प्रकाश डालते हुए कहा कि इसमें भावी संविधान के क्षेत्र का दिग्दर्शन किया गया है और संविधान के विभिन्न भागों के कार्य निश्चित किए गए।

**सविनय अवज्ञा आन्दोलन का अन्त**—पूना समझौता होने के उपरान्त भी गांधी जी यरवदा जेल में ही रहे और उन्होंने हरिजन उद्धार पर अधिक जोर देना प्रारम्भ कर दिया। गांधी जी ने आत्म शुद्धि के लिए ८ मई १६३३ से ३ सप्ताह के लिए अनशन किया। सरकार ने उसी दिन उनको जेल से छोड़ दिया। जेल से बाहर आने पर उन्होंने कांग्रेस के स्थानापन्न अध्यक्ष से सविनय अवज्ञा आन्दोलन को छः सप्ताह के लिये स्थगित करने को कहा। उन्होंने सरकार से अध्यादेशों को वापिस लेने और राजनैतिक बन्दियों को छोड़ने की अपील की। परन्तु सरकार ने उनकी प्रार्थना को स्वीकार नहीं किया। २४ जुलाई को महात्मा जी ने स्थानापन्न अध्यक्ष से जन (mass) सविनय अवज्ञा आन्दोलन को स्थगित करने के लिए कहा। उन्होंने साबरमती आश्रम को तोड़ दिया और कैरा जिले के रास गाँव में व्यक्तिगत रूप से सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ करने की घोषणा की। इस पर सरकार ने उन्हें गिरफ्तार करके साल भर के लिये जेल भेज दिया। जेल में उन्होंने सरकार से हरिजनोद्धार कार्य करने की मांग की। परन्तु सरकार ने इसे नहीं माना। इस पर उन्होंने फिर से भूख हड़ताल आरम्भ कर दी। सरकार ने उन्हें फिर छोड़ दिया।[1] जेल से बाहर आने पर उन्होंने हरिजनोद्धार के लिये सारे देश का भ्रमण किया। उन्होंने बिहार में भूकम्प पीड़ितों के लिये भी कार्य किया। महात्मा जी ने व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा को समाप्त करने की भी सलाह दी। इस समय कांग्रेसी आन्दोलन धीमा पड़ गया था। सरकार के अत्याचार से जनता तंग आ चुकी थी। कुछ प्रमुख

१. जे० पी० सूद : इंडियन कॉन्सटीट्यूशनल डेवलपमेंट एण्ड नेशनल मूवमेंट, पृष्ठ २४३-२४४।

कांग्रेसी नेता विधान मंडल प्रवेश के पक्ष में भी होते जा रहे थे। मई १९३४ में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की पटना में तीन साल के बाद मीटिंग हुई और इस में व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन को समाप्त करने का निश्चय किया गया। कांग्रेसजनों को विधान मंडल में प्रवेश करने की अनुमति मिल गई। इस कार्य के लिये कांग्रेस ने एक संसदीय समिति स्थापित की। केन्द्रीय विधान मण्डल के चुनाव नवम्बर १९३४ में हुए। कांग्रेस के उम्मीदवारों ने इन चुनाव में भाग लिया। पंजाब को छोड़ कर हर प्रांत में उन्हें सफलता मिली। सरकार की ओर से खड़े किए गए उम्मीदवारों की बुरी तरह से हार हुई। सर सन्मुखम् चेट्टी की भी हार हुई, वे सरकार के पक्ष में थे और उसकी सहायता से केन्द्र विधान मण्डल के अध्यक्ष चुने गये थे।

**सरकारी लेख्य (The White Paper)**—ब्रिटिश सरकार ने भारतीय सवैधानिक सुधारों के लिए अपने सरकारी निश्चय को एक सरकारी लेख्य में मार्च, १९३३ में प्रकाशित किया। यह लेख्य अंग्रेजी में व्हाइट पेपर कहलाता है। इस लेख्य में भारत के नए संविधान की रूपरेखा खींची गई। भारतीय नेताओं का विश्वास था कि गोलमेज सम्मेलनों के आधार पर ही सरकारी निश्चय किये जायेंगे। लार्ड इर्विन ने जुलाई १९३० में कहा था कि गोलमेज सम्मेलन वाद-विवाद और परस्पर सम्पर्क का ही स्थान नहीं था, परन्तु वह दोनों देशों के प्रतिनिधियों की संयुक्त बैठक थी जिसके निर्णय के आधार पर ब्रिटिश संसद को सवैधानिक सुधारों के सुझाव प्रस्तुत किए जायेंगे। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। सरकारी लेख्य इतना प्रतिक्रियावादी था कि वह किसी भी प्रगतिशील दल को मान्य नहीं था। लगभग सब भारतीय नेताओं ने इसकी निन्दा की। गोलमेज सम्मेलन की समितियों की बहुत सी सिफारिशें ठुकरा दी गई। "सरकारी लेख्य में दी गई योजना ने इस देश के मनुष्यों की इच्छित भावनाओं को बुरी तरह कुचल डाला।"[1] ए० बी० कीथ जो इस लेख्य को उचित समझते हैं वे भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि यह योजना अनुदार दल के आलोचकों को प्रसन्न करने के लिये तैयार की गई थी।[2]

**संयुक्त प्रवर समिति की रिपोर्ट**—सरकार के मार्च १९३३ के व्हाइट पेपर की छानबीन करने के लिए अप्रैल १९३३ में ब्रिटिश संसद के दोनों सदनों की संयुक्त प्रवर-समिति नियुक्त की गई जिसमें १६ सदस्य थे। साक्षी के समय कुछ भारतीयों को भी इस समिति में सम्मिलित कर दिया गया। परन्तु समिति के कार्य में इन भारतीयों का कोई हाथ नहीं था। इस समिति को दो ज्ञापन-पत्र (memorandum) पेश किए गए। एक ज्ञापन-पत्र आगा खाँ की अध्यक्षता में ब्रिटिश भारतीय प्रतिनिधियों की ओर से पेश किया गया। दूसरा सर तेज बहादुर सप्रू ने अपने व्यक्तिगत रूप में पेश किया। परन्तु प्रवर समिति ने इन दोनों ज्ञापन-पत्रों के सुझावों को रद्द

१. सर सी० वाई० चिन्तामणि : इण्डियन पोलिटिक्स सिन्स दी म्यूटेनी, पृष्ठ १८४।
२. ए कॉन्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृष्ठ ३०८।

कर दिया। उन्हें 'पागल आदमियों की पुकार' कह कर ठुकरा दिया तथा व्हाइट पेपर की योजना को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया। कुछ विषयों में उसे और भी अधिक खराब कर दिया। केन्द्रीय विधान मण्डल के निचले सदन के चुनाव को प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष कर दिया, प्रवर समिति ने अपनी रिपोर्ट नवम्बर १९३४ में दी। इस रिपोर्ट की निन्दा सारे भारतवर्ष में की गई। फरवरी १९३५ में भारत सचिव ने हॉउस ऑफ कॉमन्स में एक विधेयक पेश किया जो कुछ छोटे-छोटे सुधारों के साथ पास हो गया। इसके उपरान्त यह विधेयक हॉउस ऑफ लॉर्ड्स में भेजा गया। वहाँ पर इसमें एक महत्त्वपूर्ण संशोधन कर दिया गया। केन्द्रीय विधान मण्डल के उच्च सदन का चुनाव अप्रत्यक्ष से प्रत्यक्ष कर दिया गया। ए० बी० कीथ ने कहा है कि ऐसा करना उचित नहीं था। सर ए० चैम्बरलेन ने कॉमन्स सभा में इसकी आलोचना की। उन्होंने कहा कि उच्च सदन का जनता से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होगा जब कि निचला सदन इससे वंचित रहेगा। पी० ई० रोबर्टस ने इसे एक नियम विरोध (anomaly) कहा है। यह विधेयक ४ अगस्त १९३५ को कानून बन गया और यह १९३५ का भारतीय सरकार अधिनियम कहलाया। यह अधिनियम बड़ा लम्बा और पेचीदा लेख्य था, इसमें ४५१ खण्ड और ३२३ छपे हुए पृष्ठ थे। ३ अगस्त १९३५ के 'लन्दन टाइम्स' ने इसकी बड़ी प्रशंसा की है। उसने इसे "महान् रचनात्मक कानून, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कानून जो ब्रिटिश सरकार ने इस शताब्दी में बनाया" बताया है। इसके विपरीत सर सी० वाई० चिन्तामणि ने कहा है कि यह सुधार अधिनियम "ऐसा संवैधानिक विकास है जिसकी हमें प्रशंसा नहीं करनी चाहिये"। विन्सटन चर्चिल ने कहा कि यह कानून बौनों द्वारा बनाया गया है और एक विकृति और घृणापूर्वक यादगार है।[1] (a monstrous monument of shame built by pigmies)। वी० पी० मेनन ने लिखा है कि १९३५ के अधिनियम में यन्त्र अधिक थे और मित्र कम थे।

१. वी० पी० मेनन : दी ट्रांसफर ऑफ पावर इन इण्डिया, पृष्ठ ५१।

अध्याय १४

# १६३५ का भारत सरकार अधिनियम

## १६३५ के अधिनियम की विशेषतायें

(१) प्रस्तावना का प्रभाव—प्रत्येक आधुनिक अधिनियम में एक प्रस्तावना होती है जिसमें अधिनियम का उद्देश्य और ध्येय प्रकट किया जाता है। परन्तु इस अधिनियम में प्रस्तावना नहीं रखी गई। भारतीय नेताओं ने इसकी बड़ी आलोचना की। सर सेम्यूअल होर ने ६ फरवरी १६३५ को हॉउस ऑफ कॉमन्स में भाषण देते हुए कहा कि अधिनियम में प्रस्तावना की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि सरकार इसमें नई नीति या नये विचार प्रकट नहीं कर रही थी। १६१६ के अधिनियम की प्रस्तावना में यह साफ-साफ बता दिया गया था कि ब्रिटिश शासन का भारत में क्या ध्येय है। १६२६ की लार्ड इर्विन की घोषणा ने इसे और भी अधिक स्पष्ट कर दिया था। सर होर ने कहा कि ब्रिटिश सरकार अभी भी अपनी प्रतिज्ञाओं और नीति पर दृढ़ है।

(२) संघ शासन की स्थापना—इस अधिनियम के द्वारा भारत में एक संघ शासन स्थापित करने की व्यवस्था की गई है। साइमन आयोग ने भारत में कुछ समय बाद संघ शासन स्थापित करने का विचार किया था। गोलमेज सम्मेलन में सब सदस्य भारत में संघ शासन स्थापित करने के पक्ष में थे। ब्रिटिश सरकार के १६३३ के 'व्हाइट पेपर' में संघ शासन योजना को स्वीकार कर लिया गया। संयुक्त प्रवर समिति ने भी ऐसा ही किया। प्रान्तों में स्वायत्त शासन देने के उपरान्त यह आवश्यक है कि संघ शासन भी स्थापित किया जाय क्योंकि इससे देश में एकता स्थापित रह सकेगी आर्थिक दशा के कारण भी देश में संघ शासन स्थापित करना आवश्यक था। संघ शासन के द्वारा ही देशी रियासतों को भारत की केन्द्रीय सरकार में मिलाया जा सकता था। कुछ प्रान्त ऐसे थे जिनमें मुसलमानों का बहुमत था। संघ शासन स्थापित करके ही मुसलमानों के बहुमत वाले प्रान्तों में स्वायत्त शासन स्थापित किया जा सकता था। इस कार्य से मुसलमान प्रसन्न होते क्योंकि उन्हें इन प्रान्तों में अपनी इच्छाओं के अनुसार शासन करने का अवसर मिलता। संघ शासन स्थापित करके मुसलमानों और देशी रियासतों के शासकों की सहायता से ब्रिटिश सरकार भारत में अधिक से अधिक समय तक अपना आधिपत्य रख सकती थी। संघ शासन स्थापित करने का यही मूल कारण था। इस अधिनियम के अनुसार संघ शासन स्थापित करने के लिए दो परिस्थितियाँ आवश्यक थीं। संघ शासन की घोषणा होने से पहले ब्रिटिश संसद के दोनों सदनों की ओर से सम्राट को एक प्रार्थना-पत्र भेजा जाय जिसमें संघ शासन स्थापित करने की माँग की जाय। दूसरे,

उतनी रियासतो के शासक जिनकी जनसख्या पूरी रियासतो की जनसख्या से आधी अवश्य हो, ऐसी रियासतो के प्रतिनिधि सघीय उच्च सदन मे आधे अवश्य हो, वे सब सघ शासन मे सम्मिलित होने की इच्छा प्रकट करें। इन दो अवस्थाओ के पूरा होने पर ही सघ शासन स्थापित हो सकता था।

(३) प्रातीय स्वायत्त शासन की स्थापना—१९३५ के अधिनियम के अनुसार भारतीय प्रातो मे स्वायत्त शासन स्थापित हो गया। राज्यपाल के कुछ विशेष अधिकारो को छोडकर सब प्रान्तीय विषय मन्त्रियो को सौप दिये गए। स्वायत्त शासन का विचार सबसे पहले लार्ड हार्डिंग्ज ने अपने १९११ के प्रेषण मे रखा था। मोन्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट मे प्रातो मे उत्तरदायी सरकार स्थापित करने की ओर पग उठाने की सिफारिश की गई थी। उस रिपोर्ट मे कहा गया था कि कुछ उत्तरदायित्व तो तुरन्त ही दे देना चाहिए और पूर्ण उत्तरदायित्व परिवर्तनो के साथ देते जाना चाहिए। इस रिपोर्ट के आधार पर कुछ प्रान्तीय विभाग भारतीय मन्त्रियो को हस्तान्तरित कर दिए गए। साइमन आयोग ने प्रार्थना की कि प्रत्येक प्रान्त अपने मामलो मे स्वायत्त रहेगा। सयुक्त प्रवर समिति ने ऐसा ही निश्चय किया। समिति ने अपनी रिपोर्ट मे लिखा कि व्हाइट पेपर के सब सुझावो मे से प्रान्तीय स्वायत्त शासन का ही सुझाव ऐसा था जिसको सब ओर समर्थन मिला। ससद मे वाद-विवाद होते समय कुछ सदस्य चाहते थे कि विधि और व्यवस्था (Law and Order) भारतीय मन्त्रियो को न सौंपी जाय परन्तु सर सम्यूअल होर ने कॉमन्स सभा मे साफ-साफ कह दिया कि वास्तविक उत्तरदायित्व, विधि और व्यवस्था दिए बिना, स्थापित होना असम्भव है।

(४) सघ न्यायालय—प्रत्येक सघ सरकार मे एक सघीय न्यायालय आवश्यक है। १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत भारत मे एक सघ न्यायालय स्थापित किया गया। यह न्यायालय प्रान्तो के आपसी झगडे और प्रान्तो के केन्द्र से झगडे तय करता था और सविधान की रक्षा करता था। सर सेम्यूअल होर ने १९३५ के विधेयक पर ६ फरवरी १९३५ को हाउस ऑफ कॉमन्स मे बोलते हुए कहा कि सघ शासन मे सविधान का निर्वचन करने के लिए सघ न्यायालय अत्यन्त आवश्यक है।

(५) केन्द्र मे द्वैतसत्र—इस अधिनियम के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार मे द्वैतसत्र स्थापित करने की व्यवस्था की गई। द्वैतसत्र जो १९३१ के अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तो मे असफल रहा था उसे केन्द्र मे लागू करने का प्रयत्न किया गया। केन्द्रीय विषयों को सुरक्षित और हस्तातरित दो भागो मे बाटा गया सुरक्षित विषयो का सचालन महाराज्यपाल तीन परिषदो की सलाह से करता था। हस्तान्तरित विषयो का सचालन महाराज्यपाल दस मन्त्रियो की सलाह से करता था। सुरक्षा, धार्मिक विषय, विदेशी सम्बन्ध और जन-जाति क्षेत्र सुरक्षित विषय थे। बाकी विभाग हस्तान्तरित विषय थे।

**महाराज्यपाल और राज्यपाल के विशेष अधिकार**—महाराज्यपाल को कुछ विशेष अधिकार (Special Responsibilites) दिये गए थे। देश मे शाति रखना,

देश की आर्थिक व्यवस्था को ठीक रखना, अल्पमतों और असैनिक सेवकों के अधिकारों की रक्षा करना, आर्थिक भेदभाव को दूर रखना और देशी रियासतों के अधिकारों की रक्षा करना आदि विषय महाराज्यपाल के विशेषाधिकार थे। इन विषयों में वह अपनी स्वयं की सलाह से ही कार्य करता था। लगभग इन विषयों से मिलते-जुलते ही राज्यपाल के विशेषाधिकार थे। आर्थिक व्यवस्था और आर्थिक भेदभाव राज्यपाल के विशेषाधिकार नहीं थे।

(७) देशी रियासतों से विशेष प्रकार का सम्बन्ध—अब तक महाराज्यपाल ही देशी रियासतों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखते थे। इस अधिनियम के अन्तर्गत रियासतों का सम्बन्ध ब्रिटिश सम्राट से प्रत्यक्ष कर दिया गया। इन सम्बन्धों को कायम रखने के लिए ब्रिटिश सम्राट के द्वारा एक विशेषाधिकार की नियुक्ति की गई जिसे सम्राट का प्रतिनिधि (His Majestys' Representative) कहा जाता था। सम्राट को यह अधिकार था कि वे एक ही व्यक्ति को महाराज्यपाल और अपना प्रतिनिधि नियुक्त कर सकते थे।[1]

(८) अनुदेश लेख्य (Instrument of Instructions)—इस अधिनियम के अन्तर्गत सम्राट महाराज्यपाल और राज्यपाल की नियुक्ति के समय उन्हें अनुदेश लेख्य देता था। इन अनुदेश लेख्यों की रूपरेखा भारत सचिव तैयार करके संसद के समक्ष पेश करता था इन लेख्य में स्पष्ट था कि महाराज्यपाल और राज्यपाल अपने मन्त्रियों की नियुक्ति उस व्यक्ति की सलाह से करेंगे जिसका विधान-मण्डल में स्थाई बहुमत हो लेख्यों में यह भी आदेश दिया गया था कि महाराज्यपाल और राज्यपाल अपने मन्त्रियों में संयुक्त उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न करेंगे। उन्हें यह भी आदेश था कि वे मुख्य अल्पमतों के प्रतिनिधियों को मन्त्री परिषद में स्थान दें। उन्हें अपने विशेषाधिकार और शक्तियों को प्रयोग करने के विषय में भी अनुदेश दिये गये थे। महाराज्यपाल को आदेश दिया गया था कि महाराज्यपाल देश की सुरक्षा, सेना का भारतीयकरण और भारतीय सेना को विदेश में युद्ध के लिए भेजने के विषय में अपने मन्त्रियों से सलाह करे। अनुदेश लेख्य का उलंघन करने से कोई कानूनी कार्यवाही नहीं की जा सकती थी।

(९) ब्रिटिश संसद का आधिपत्य ज्यों का त्यों—१९१९ के अधिनियम की तरह १९३५ का अधिनियम ब्रिटिश संसद द्वारा ही पास किया गया। इस समय भी ब्रिटिश संसद ने अपने अधिकार ज्यों के त्यों रखे। इस समय तक राज्यपाल और महाराज्यपालों के अनुदेश लेख्य ब्रिटिश मन्त्रीमण्डल द्वारा जारी किये जाते थे। परन्तु १९३५ के अधिनियम के अनुसार भारत सचिव का कर्तव्य था कि इन अनुदेश लेख्यों का मसौदा संसद के समक्ष प्रस्तुत किया जाय। सम्राट की परिषद् की कोई भी आज्ञा इस अधिनियम में परिवर्तन नहीं कर सकती थी जब तक कि उसका मसौदा संसद के समक्ष पेश न किया जाय और संसद के दोनों सदन सम्राट से

१. १९३५ का भारत सरकार अधिनियम, अनुच्छेद ३, (१)।

प्रार्थना न करें। यदि महाराज्यपाल या राज्यपाल किसी अध्यादेश को दूसरी बार जारी करें तो उसके विषय में भारत सचिव को सूचना दें और भारत सचिव उस अध्यादेश को संसद के दोनों सदस्यों के समक्ष रखे। भारत सचिव को महाराज्यपाल और राज्यपाल द्वारा जारी की गई सब घोषणाओं की सूचना दी जायेगी और भारत सचिव उन घोषणाओं को संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष पेश करेगा। १९३५ के अधिनियम में संसद ही संशोधन कर सकती थी। इस प्रकार ब्रिटिश संसद का आधिपत्य ज्यों का त्यों रहा।

**(१०) महाराज्यपाल की विवेक शक्तियाँ**—महाराज्यपाल को कुछ विवेक शक्तियाँ (discretionary powers) भी इस अधिनियम में प्रदान की गई हैं। इन शक्तियों को कार्यान्वित करते समय यह आवश्यक नहीं है कि वह अपने मन्त्रियों की सलाह ले। उसे कुछ ऐसी शक्तियाँ भी मिली हुई हैं जिन्हें कार्यान्वित करते समय वह अपना व्यक्तिगत निर्णय (Individual Judgement) भी ले सकता है। इस शक्ति को प्रयोग करते समय उसे अपने मन्त्रियों से सलाह लेना आवश्यक है।

**(११) संविधान के असफल होने के समय की व्यवस्था**—संविधान के असफल होने की अवस्था में महाराज्यपाल और राज्यपाल को विशेषाधिकार दिये गए हैं। यदि किसी समय महाराज्यपाल को यह प्रतीत होने लगे कि संघ सरकार को चलाना सम्भव नहीं है तो वह एक घोषणा के द्वारा संघ शासन की सब शक्तियाँ अपने हाथ में ले सकता है। इस घोषणा के विषय में उसे भारत सचिव को सूचना देनी पड़ेगी। भारत सचिव इस घोषणा को संसद के दोनों सदनों के समक्ष प्रस्तुत करेगा। यह घोषणा छः महीने तक रह सकती है। इस छः महीने की अवधि को बढ़ाया भी जा सकता है। महाराज्यपाल संघ न्यायालय की शक्तियों को अपने हाथ में नहीं ले सकता।[1] इस प्रकार की शक्तियाँ राज्यपाल को भी प्रदान की गई हैं। यदि राज्यपाल को यह प्रतीत हो कि प्रान्त की सरकार को चलाना सम्भव नहीं है तो वह एक घोषणा के द्वारा प्रांतीय शासन की सब शक्तियाँ अपने हाथ में ले सकता है। इस घोषणा की सूचना वह भारत सचिव को देगा। भारत सचिव इस घोषणा को संसद के दोनों सदस्यों के समक्ष रखेगा। यह घोषणा छः महीने तक जारी रह सकती है, यह अवधि घटाई व बढ़ाई भी जा सकती है। राज्यपाल उच्च न्यायालय (High Court) की शक्ति अपने हाथ में नहीं ले सकता।[2]

**(१२) संघीय रेलवे प्राधिकारी**—इस अधिनियम में भारतीय रेलों का नियन्त्रण और निर्माण और उसकी गतिविधियों के लिए एक संघीय रेलवे प्राधिकारी की व्यवस्था की गई है।[3] इस प्राधिकारी (Authority) के कम से कम ३/७ सदस्य महाराज्यपाल अपने विवेक से नियुक्त करेगा। वह अपने विवेक से प्राधिकारी के

१. १९३५ का भारत सरकार अधिनियम, अनुच्छेद ४५।

२. वही, अनुच्छेद ९३।

३. वही, अनुच्छेद १८१।

एक सदस्य को इसका अध्यक्ष भी चुनेगा। प्राधिकारी अपना कर्त्तव्य पालन करते समय व्यवसायिक सिद्धांतों का ध्यान रखेगा। नीति के विषय में प्राधिकारी संघ सरकार के आदेशों के अनुसार कार्य करेगा, यदि किसी समय संघ सरकार और प्राधिकारी के बीच नीति के विषय में मतभेद है तो ऐसी अवस्था में महाराज्यपाल अपनी विवेक शक्ति से इसका निर्णय करेंगे। प्राधिकारी को सलाह देने के लिए महाराज्यपाल समय-समय पर एक रेलवे दर समिति नियुक्त करेंगे। इस अधिनियम में एक रेलवे न्यायालय (Railway Tribunal) की भी व्यवस्था की गई है। इस न्यायालय में एक अध्यक्ष और दो अन्य सदस्य होंगे जिन्हें महाराज्यपाल अपनी विवेक शक्ति से नियुक्त करेगा और इन सदस्यों को रेल शासन और व्यवसाय का अनुभव होना आवश्यक है। इसका अध्यक्ष संघीय न्यायालय का एक न्यायाधीश होगा। इस न्यायाधीश की नियुक्ति महाराज्यपाल अपनी विवेक शक्ति से और भारत के मुख्य न्यायाधीश का परामर्श लेने के उपरान्त करेगा। अध्यक्ष पाँच साल के लिए नियुक्त किया जायेगा। यह अवधि पाँच साल के लिए और बढ़ाई जा सकती है। किसी कानूनी विषय पर रेलवे न्यायालय की अपील संघ न्यायालय में की जायेगी। संघ न्यायालय का फैसला आखिरी होगा।

(१३) लोक सेवा की व्यवस्था—इस अधिनियम के अन्तर्गत लोक सेवाओं के लिए भी व्यवस्था की गई। भारतीय सेना के लिए सेनापति होगा जिसकी नियुक्ति सम्राट करेंगे। सम्राट का सैनिक नियुक्तियों पर नियन्त्रण रहेगा। भारत सचिव अपने सलाहकारों की अनुमति से ऐसी व्यवस्था निश्चित करेगा जिसके द्वारा भारत के सम्राट की सेना कार्य करेगी। अधिनियम में सेना के भारतीयकरण की कोई व्यवस्था नहीं की गई। असैनिक सेवा का हर सदस्य सम्राट की इच्छानुसार ही अपने पद पर आसीन रह सकेगा। कोई भी असैनिक सेवक जो सम्राट की सेवा में अपना कार्य कर रहा है किसी ऐसे अधिकारी द्वारा अपने पद से नहीं हटाया जा सकता जो असैनिक सेवक की नियुक्ति करने वाले प्राधिकारी के आधीन है।[1] किसी भी असैनिक सेवक को पदच्युत नहीं किया जायेगा या उसके पद में कमी नहीं की जायेगी जब तक कि उसे अपने विरुद्ध लगाए गए अभियोग को समझाने का पर्याप्त अवसर न दिया जायेगा। यह शर्त उस असैनिक सेवक पर लागू नहीं की जाएगी जिसके विरुद्ध फौजदारी का अभियोग सिद्ध हो चुका है। जब एक प्राधिकारी जो एक असैनिक सेवक को पदच्युत कर सकता है या उसका पद कम कर सकता है किन्हीं कारणोंवश यह समझता है कि उस असैनिक सेवक के विरुद्ध कार्यवाही की गई कार्यवाही के विषय में पूछताछ करना उचित नहीं है तो ऐसे असैनिक सेवकों को अपने विरुद्ध लगाये गए अभियोग को समझाने का पर्याप्त अवसर नहीं दिया जायेगा। भारतीय असैनिक सेवा, भारतीय चिकित्सा सेवा और भारतीय पुलिस सेवा की नियुक्तियाँ भारत सचिव द्वारा की जायेंगी। इन सेवकों का वेतन, छुट्टियाँ, निवृत्ति

१. १९३५ का भारत सरकार अधिनियम, अनुच्छेद २४० (२)।

पेंशन (pension) और चिकित्सा के अधिकारों के नियम भारत सचिव बनायेंगे। इस अधिनियम के अन्तर्गत केन्द्र के लिए एक संघीय लोक सेवा आयोग (Federal Public Service Commission) और हर प्रान्त के लिये एक लोक सेवा आयोग की नियुक्ति की व्यवस्था की गई है। यदि दो या उससे अधिक प्रान्त चाहें तो वे सब अपने लिये एक ही आयोग की नियुक्ति कर सकते हैं एक ही आयोग सब प्रान्तों के लिये कार्य कर सकता है। यदि किसी प्रान्त का राज्यपाल प्रार्थना करे और महाराज्यपाल उसकी स्वीकृति दे दे तो संघीय लोक सेवा आयोग ही उस प्रान्त की सब या कुछ आवश्यकतायें पूरी कर सकता है।[1] संघीय लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों की नियुक्ति महाराज्यपाल अपने विवेक से करेगा। प्रान्तीय लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों की नियुक्ति राज्यपाल अपने विवेक से करेगा। प्रत्येक लोक सेवा आयोग के कम से कम आधे सदस्य ऐसे मनुष्य होने चाहियें जिन्होंने अपनी नियुक्ति के समय भारत में सम्राट की कम से कम दस वर्ष सेवा की हो। संघीय आयोग के लिए महाराज्यपाल अपनी शक्ति द्वारा और प्रान्तीय आयोग के लिए राज्यपाल अपनी विवेक शक्ति द्वारा उनके सदस्यों की संख्या, पदावधि और सेवा की शर्तें निश्चय करेंगे। अपने पद समाप्त करने पर संघीय आयोग का अध्यक्ष भारत में सम्राट की सेवा में कार्य नहीं कर सकता। प्रान्तीय आयोग का अध्यक्ष अवकाश प्राप्त करने के बाद संघीय आयोग का अध्यक्ष या सदस्य नियुक्त हो सकता है या किसी दूसरे प्रान्तीय आयोग का अध्यक्ष भी नियुक्त किया जा सकता है। परन्तु भारत में वह सम्राट के अन्तर्गत और कोई सेवा नहीं कर सकता। संघीय या प्रांतीय आयोग के अन्य सदस्य सम्राट के अन्तर्गत किसी प्रान्त में बिना राज्यपाल की स्वीकृति के कोई पद ग्रहण नहीं कर सकते। प्रान्तों के अलावा और किसी पद के लिए महाराज्यपाल की स्वीकृति लेना आवश्यक है। संघीय और प्रान्तीय आयोग किसी सेवा में नियुक्ति करने के लिए परीक्षा लेने की व्यवस्था करेंगे। भारत सचिव अपनी उन सेवाओं के लिए जिनकी नियुक्ति वह स्वयं करता है, महाराज्यपाल अपनी विवेक शक्ति से उन सेवाओं के लिए जिनका सम्बन्ध संघ शासन से है और राज्यपाल अपनी विवेक शक्ति से उन सेवाओं के लिए जिनका सम्बन्ध प्रान्तों से है नियम बनायेंगे कि कुछ विशेष विषयों में उन आयोगों से परामर्श नहीं लिया जायेगा। इन विषयों के अतिरिक्त और सब विषयों पर जैसे असैनिक सेवकों की नियुक्ति करने के ढंग, सिद्धान्तों, पदोन्नति व स्थानान्तरण और अनुशासन सम्बन्धी विषयों पर आयोग से परामर्श लिया जायेगा।

(१४) भारत सचिव की शक्तियाँ—इस अधिनियम के अन्तर्गत भारत सचिव की शक्तियों में विशेष परिवर्तन नहीं किया गया। भारत सचिव एक शक्तिशाली अधिकारी के रूप में कार्य करता रहा। भारतीय परिषद् (The Council of India) को समाप्त कर दिया गया। भारत सचिव को सहायता देने के लिए

१. १९३५ का भारत सरकार अधिनियम, अनुच्छेद २६४ (२)।

कुछ सलाहकारों की नियुक्ति का प्रबन्ध किया गया। उन्हें भारत सचिव नियुक्त करेगा। वे भारत के विषय में उसे परामर्श देंगे। सलाहकारों की संख्या तीन से कम और छः से अधिक नहीं होगी।[1]

**(१५) संविधान में संशोधन की प्रक्रिया**—संविधान में संशोधन केवल ब्रिटिश संसद ही कर सकती थी। कुछ छोटे विषयों को छोड़कर भारतीय जनता का संशोधनों में कोई हाथ नहीं था। संघीय विधान मण्डल को संघीय न्यायालय की अपील का क्षेत्र बढ़ाने का अधिकार था। छोटे-छोटे विषय जिनमें भारतीय प्रतिनिधि संशोधन के सुझाव रख सकते थे वे इस प्रकार हैं—(१) संघीय विधान मण्डल के सदनों का संगठन व आकार और सदस्यों की योग्यताओं में परिवर्तन हो सकता था। परन्तु दोनों सदनों की सदस्य संख्या के अनुपात, ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों के प्रतिनिधियों की संख्या के अनुपात में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता था (२) प्रान्तीय विधान मण्डल के सदनों की संख्या और सदस्यों की योग्यताओं, और सदनों के आकार में परिवर्तन हो सकता था। (३) ऐसा संशोधन जिसके द्वारा महिलाओं के लिए एक ऊँची शिक्षा के स्तर के बजाय लिखने पढ़ने की योग्यता हो जाय, उनके नाम बिना प्रार्थना पत्र के राय देने वालों की सूची में लिख लिए जायें। (४) सदस्यों की योग्यताओं के विषय में संशोधन। इन चार विषयों में संशोधन करने के लिए नीचे लिखी विधि अपनाई गई थी। संघीय विधान मण्डल या प्रान्तीय विधान मंडल किसी मन्त्री के सुझाव पर हर सदन में एक प्रस्ताव इनके ऊपर लिखे विषयों के बारे में पास कर सकते थे। ऐसे पास किए गए प्रस्ताव महाराज्यपाल या प्रान्तों के विषय में राज्यपाल को प्रस्तुत किये जाते थे। वह फिर उन्हें सम्राट के समक्ष रखता था, और सम्राट उस प्रस्ताव को संसद के समक्ष रखता था। अधिनियम में दिया हुआ था कि भारत सचिव इन प्रस्तावों को छः महीने के अन्दर संसद के दोनों सदनों के समक्ष रखेगा। वह यह भी बतायेगा कि इनके विषय में क्या कार्य करना चाहिये। महाराज्यपाल और राज्यपाल भारत सचिव को ऐसा प्रस्ताव भेजते समय उस पर अपना मत भी देंगे। वे यह भी बतायेंगे कि उसका किसी अल्पमत पर क्या प्रभाव पड़ता है और उस अल्पमत के क्या विचार हैं। वह यह भी बतायेगा कि उस अल्पमत के प्रतिनिधियों का बहुमत उस प्रस्ताव के पक्ष में है या नहीं। इस प्रकार के वक्तव्य और रिपोर्ट भारत सचिव संसद के समक्ष रखेगा। अपनी रिपोर्ट और वक्तव्य देते समय महाराज्यपाल या राज्यपाल अपने विवेक से कार्य करेंगे। ऊपर लिखे हुए चार छोटे-छोटे विषयों में तीसरे को छोड़कर अन्य विषयों में संघ शासन और प्रान्तीय स्वायत्त शासन स्थापित होने के दस वर्ष के भीतर कोई संशोधन नहीं हो सकेगा। महत्वपूर्ण विषयों में केवल संसद ही संशोधन कर सकती थी, संघीय क्षेत्र में सम्पूर्ण उत्तरदायित्व तब तक स्थापित नहीं हो सकता जब तक देशी रियासतें अपनी अनुमति न दें। इस प्रकार देशी रियासतें भी देश की स्वतन्त्रता में अड़चन लगा

१. १९६५ का भारत सरकार अधिनियम, अनुच्छेद २७८ (१)।

सकती थी। इस प्रकार देशी राजाओं को अभिषेध (Veto) का अधिकार मिल गया।[1]

**भारत सचिव और उसके सलाहकार**—१९३५ के अधिनियम के अनुच्छेद २७८ (८) के अनुसार प्रान्तों में स्वायत्त शासन स्थापित होने पर भारतीय परिषद् (The council of India) को समाप्त कर दिया गया। उसके स्थान पर सलाहकारों की नियुक्ति की व्यवस्था कर दी गई। भारत सचिव को अपने सलाहकार नियुक्त करने का अधिकार दिया गया। इन सलाहकारों की संख्या ३ से कम और ६ से अधिक नहीं हो सकती थी। वह अपनी इच्छानुसार ही समय-समय पर इन परामर्शदाताओं की संख्या तय कर सकता था। ये सलाहकार भारत सचिव को भारत के विषय में सलाह दे सकते थे। इन सलाहकारों में कम से कम आधे सदस्य ऐसे होने चाहियें जो कम से कम दस साल तक भारत सरकार की सेवा कर चुके हों और उन्हें भारत छोड़े हुए दो साल से अधिक नहीं होने चाहियें। प्रत्येक सलाहकार की कार्य काल की अवधि पाँच साल रखी गई। उनकी नियुक्ति दुबारा नहीं हो सकती थी। किसी सलाहकार को संसद के किसी भी सदन में बैठने या राय देने का अधिकार नहीं था। प्रत्येक सलाहकार का वेतन १३५० पौंड सालाना रखा गया। ब्रिटिश कोष से ही उनका वेतन दिया जाता था। जो सलाहकार भारत में रहते थे उनको छः सौ पौंड सालाना और अधिक मिलता था। भारत सचिव इन सलाहकारों की सलाह मानने और लेने के लिये बाध्य नहीं था। वह अपने विवेक से उनमें से कुछ की या सबकी सलाह ले सकता था, परन्तु उस सलाह को मानना अनिवार्य नहीं था। वह उनकी सलाह व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से ले सकता था। १९३५ के अधिनियम के दसवें भाग के अन्तर्गत भारत सचिव को असैनिक सेवाओं के विषय में कुछ शक्तियाँ प्रदान की गई थीं। इस अधिनियम के अनुच्छेद २६१ के अनुसार भारत सचिव अपनी इन शक्तियों को अपने सलाहकारों की अनुमति से ही प्रयोग में ला सकता था। यह उपबन्ध दो प्रकार से पूरा हो सकता था—(१) कम से कम आधे सलाहकार एक साथ बैठ कर अपनी अनुमति दे दें अथवा आपत्ति उठाने के लिये सूचना और अवसर मिलने पर सलाहकार यह कह दें कि अमुक विषय पर वाद-विवाद की कोई आवश्यकता नहीं है तो ऐसी अवस्था में यह उनकी अनुमति ही मानी जायेगी। (२) अगर कोई मनुष्य प्रान्तों में स्वायत्त शासन स्थापित होने से तुरन्त पहले ही भारतीय परिषद् का सदस्य हो तो उसे पाँच साल से कम अवधि के लिये भारत सचिव का सलाहकार नियुक्त किया जा सकता था। अनुच्छेद २८० के अनुसार भारत सचिव का वेतन और उसके विभाग का खर्चा ब्रिटिश सरकार देगी।

**भारत सचिव की शक्तियाँ**—(१) जब महाराज्यपाल और राज्यपाल किसी कार्य को अपने विवेक से या अपने व्यक्तिगत निर्णय से (in their discretion or individual judgment) करेंगे तो वे भारत सचिव की देख रेख, निर्देशन और

---

१. श्रीराम शर्मा, ए कॉन्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृष्ठ २१६।

नियन्त्रण में रहेंगे। (२) कुछ विशेष प्रशासनिक सेवाओं जैसे भारतीय प्रशासनिक सेवा, भारतीय चिकित्सा सेवा और भारतीय पुलिस में भरती करना और उनके सदस्यों के अधिकारों की रक्षा करने का अधिकार भी भारत सचिव को ही था। (३) भारत सचिव को परिषद् आदेश (Order-in-Council) को जारी करने का भी अधिकार था। राजमुकुट परिषद् की सलाह से किसी भी भारतीय कानून को स्वीकार या अस्वीकार कर सकता था। वह किसी भी कानून को पास होने से रोक सकता था। ऐसा कार्य राजमुकुट भारतीय सचिव की सलाह से करता था। (४) वित्तीय शक्तियां जैसे इगलैंड से ऋण। ऋण लेना निवृत्ति वेतन का चुकाना और ब्याज इत्यादि भी भारत सचिव के अधिकार में थीं। (५) देशी रियासतों के विषय में भारत सचिव राजमुकुट के संवैधानिक सलाहकार के रूप में कार्य करते थे। (६) भारत सचिव को कुछ आपातकाल शक्तियां भी मिली हुई थी। अन्तर्प्रान्तीय झगडों को निपटाना भी उसके ही हाथ मे था। (७) भारत सचिव को राज्यपाल और महाराज्यपाल द्वारा बनाये गये अधिनियमों की अवधि बढाना, उन्हें रद्द करना और उनमें परिवर्तन करने का अधिकार था। (८) कुछ कारणोंवश यदि भारत में संविधान को स्थगित करना पडे तो ऐसी अवस्था मे भारत सचिव के हाथ में ही पूरा नियन्त्रण रहेगा। (९) अपवर्जित क्षेत्रों (Excluded areas) के विषय में पूरे अधिकार भारत सचिव के हाथ मे ही थे। (१०) आन्तरिक गडबड या युद्ध होने के समय भी देश मे भारत सचिव का नियन्त्रण ही रहता था। (११) १९३५ के अधिनियम के अनुसार स्थापित संघ शासन में जो देशी रियासतें शामिल नहीं होना चाहती थी उनके ऊपर राजमुकुट के सलाहकार के रूप में भारत सचिव ही कार्य करता था और देशी रियासतों के लिए राजमुकुट के प्रतिनिधि के ऊपर भी उसी का नियन्त्रण था।

इस प्रकार भारत सचिव की शक्तियां बहुत अधिक थी। कुछ लेखकों ने उसकी तुलना मुगल सम्राट से की है। उसकी शक्तियाँ मुगल सम्राट की शक्तियों के समान बताई हैं। प्रान्तों और केन्द्रों में कुछ ही हद तक भारत सचिव के अधिकार कम हुए। राज्यपाल और महाराज्यपाल के ऊपर उसका पूरा नियन्त्रण रहा। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण विषय में उसकी सलाह मानी जाती थी। उसकी शक्तियों के ऊपर किसी प्रकार भी नियन्त्रण नहीं था। ब्रिटिश संसद ही उसके ऊपर नियन्त्रण रखती थी। अपने सलाहकारों की सहायता का बहाना लेकर वह भारतीय शासन में हस्तक्षेप कर सकता था। भारतीय परिषद् को समाप्त करने का कोई लाभ नहीं हुआ क्योंकि भारत सचिव के सलाहकार नियुक्त कर दिये गये। भारतीय प्रशासनिक सेवाओं पर नियन्त्रण होने के कारण भारत सचिव की शक्तियां अधिक रहीं। गोलमेज सम्मेलन के समय भारतीय प्रतिनिधियों ने केन्द्रीय सेवाओं का भारतीयकरण करने पर अधिक जोर दिया। परन्तु ब्रिटिश संसद ने उनकी बात को नहीं माना। केन्द्रीय सेवाओं का नियन्त्रण भारत सचिव के हाथ में ही रहा। श्री निवास शास्त्री और तेज बहादुर सप्रू ने इसकी कड़ी निन्दा की और कहा कि यह समस्त संविधान का सबसे अधिक प्रतिक्रियावादी और खराब अंग है, इसको अनुदार दल और शक्तिशाली भारतीय सेवाओं

को सन्तुष्ट करने के लिये रखा गया है।

**भारत के लिये उच्च आयुक्त (High Commissioner for India)**— १६३५ के अधिनियम में अनुच्छेद ३०२ के अनुसार एक उच्च आयुक्त की नियुक्ति का उपबन्ध किया गया। इस अधिकारी की नियुक्ति महाराज्यपाल अपने व्यक्तिगत निर्णय के आधार पर करता था। इस अधिकारी को भारतीय संघ शासन की ओर से वे कार्य करने पड़ते थे जिन्हें महाराज्यपाल समय-समय पर निर्धारित करता था। यह अधिकारी महाराज्यपाल की अनुमति से और निश्चित शर्तों के आधार पर किसी प्रान्त या संघ में सम्मिलित होने वाली रियासत या बर्मा के लिये वे कार्य कर सकता था जो वह भारतीय संघ शासन के लिये करता था।

**भारतीय संघ शासन (The Indian Federation)**— १६३५ के अधिनियम के अन्तर्गत भारत में संघ शासन स्थापित करने की व्यवस्था कर दी गई। इस अधिनियम के अनुसार संघ शासन स्थापित करने के लिये दो परिस्थितियां आवश्यक थीं। संघ शासन की घोषणा होने से पहले ब्रिटिश संसद के दोनों सदनों की ओर से सम्राट को एक प्रार्थना पत्र भेजा जाय जिसमें संघ शासन स्थापित करने की मांग की जाय। दूसरे, उतनी रियासतों के शासक जिनकी जनसंख्या पूरी रियासतों की जनसंख्या से आधी अवश्य हो ऐसी रियासतों के प्रतिनिधि संघीय उच्च सदन में आधे अवश्य हों, वे सब संघ शासन में सम्मिलित होने की इच्छा प्रगट करें। इन दो अवस्थाओं के पूरा होने पर ही संघ शासन स्थापित हो सकता था। देशी रियासतों को संघ शासन में शामिल होने के लिये एक अभिगमन लेख्य (Instrument of Accession) पर हस्ताक्षर करने पड़ते थे। जब ब्रिटिश सम्राट उस लेख्य को स्वीकार कर लेता था तब वह रियासत संघ में शामिल हुई समझी जाती थी इस लेख्य में रियासत का शासक यह घोषित करता कि अमुक विषयों पर ब्रिटिश सम्राट महाराज्यपाल, संघीय विधान मण्डल, संघीय न्यायालय और दूसरे संघीय अधिकारी अधिकार रखेंगे। देशी रियासतों के शासकों का कर्तव्य था कि अपनी रियासतों के भीतर अधिनियम के उपबन्धों का पालन करें तथा जो विषय के संघ शासन को सौंपते थे उनका अपनी रियासतों के भीतर ठीक प्रकार प्रबन्ध करना वहाँ के शासकों के ही हाथ में था। अभिगमन लेख्य में रियासतों के शासक यह बतायेंगे कि किन विषयों पर संघ विधान मण्डल उनकी रियासत के लिये कानून बना सकता है। वे शासक यह भी बता सकते थे कि इन कानूनों के बनाने में संघीय विधान मण्डल पर क्या प्रतिबन्ध होंगे। एक शासक एक अनुपूरक लेख्य द्वारा जो ब्रिटिश सम्राट को स्वीकृत हो अपनी रियासत के विषय और भी अधिक विषय संघ शासन को सौंप सकता था। ब्रिटिश सम्राट किसी ऐसे अभिगमन लेख्य को स्वीकार नहीं करता था जिसकी शर्तें संघ शासन की योजना के विरुद्ध हों। संघ शासन स्थापित होने के उपरान्त यदि किसी रियासत का शासक संघ में, सम्मिलित होने की प्रार्थना करे तो वह प्रार्थना पत्र महाराज्यपाल द्वारा ब्रिटिश सम्राट को भेजा जायगा। संघ शासन के स्थापित होने के बीस साल बाद ऐसी प्रार्थना महाराज्यपाल तब तक ब्रिटिश सम्राट

को नहीं भेजेगा जब तक संघीय विधान मण्डल के दोनों सदन महाराज्यपाल से यह आवेदन न करें कि ब्रिटिश सम्राट अमुक रियासत को संघ शासन में सम्मिलित कर लें।

संघीय कार्यपालिका (The Federal Executive)—१९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत महाराज्यपाल को संघ शासन का मुखिया (Executive Head) बनाया गया। देसी राज्यों से सम्बन्ध रखने के लिये राजमुकुट की ओर से एक राजमुकुट के प्रतिनिधि की नियुक्ति का उपबन्ध किया गया। सम्राट को यह अधिकार था कि वे एक ही व्यक्ति को महाराज्यपाल और अपना प्रतिनिधि नियुक्त कर सकते थे। इस अधिनियम के अन्तर्गत द्वैतशासन को केन्द्र में लागू कर दिया गया जब कि वह प्रान्तों में विफल हो चुका था। केन्द्रीय सरकार के विषयों को दो भागों में बांट दिया गया (१) सुरक्षित भाग और (२) हस्तान्तरित भाग। सुरक्षित विषयों का शासन महाराज्यपाल के हाथ में था। रक्षा, धार्मिक विषय, अन्तर्राष्ट्रीय विषय और जनजाति क्षेत्र सुरक्षित विषय थे। इनका शासन महाराज्यपाल अपने विवेक से चलाता था। इन विषयों के लिए महाराज्यपाल भारत सचिव का और अन्त में ब्रिटिश संसद का उत्तरदायी था। इन विषयों का शासन भली प्रकार चलाने के लिये महाराज्यपाल को परिषद् (Councillors) नियुक्त करने का अधिकार था। इनकी संख्या तीन से अधिक नहीं हो सकती थी ये परिषद् महाराज्यपाल को उत्तरदायी थे, न कि संघीय विधान मण्डल को। ये परिषद् संघीय विधान मण्डल के दोनों सदनों के पदेन सदस्य होते थे। परन्तु उन्हें मत देने का अधिकार नहीं था। महाराज्यपाल अपने वित्तीय उत्तरदायित्वों के सम्बन्ध में सलाह लेने के लिये एक वित्तीय सलाहकार (Financial Adviser) नियुक्त कर सकता था।

यह व्यवस्था की गई कि अन्य सब विभागों का शासन महाराज्यपाल मन्त्री परिषद् की सलाह और सहायता से चलायेगा। मन्त्री परिषद् के सदस्यों की संख्या दस से अधिक नहीं हो सकती थी। जिन विभागों का शासन महाराज्यपाल मन्त्री परिषद् की सलाह से चलाता था उन्हें हस्तान्तरित विषय (Transferred Subject) कहते थे। इन विभागों के संचालन में भी महाराज्यपाल अपनी विशेष शक्तियों और उत्तरदायित्व का प्रयोग कर सकता था। मन्त्रियों को महाराज्यपाल चुनता था। महाराज्यपाल की इच्छानुसार ही मन्त्री अपने पद पर रह सकते थे। एक मन्त्री के लिये किसी भी सदन की सदस्यता अनिवार्य थी, मनोनयन के समय यदि एक मन्त्री विधानमण्डल के किसी भी सदन का सदस्य न हो तो छः महीने के भीतर ही किसी भी सदन का सदस्य अवश्य निर्वाचित हो जाना चाहिये था यदि ऐसा न हो सके तो वह मन्त्री छः महीने के बाद अपने पद पर नहीं रह सकता था। अपने स्वविवेक से महाराज्यपाल किसी भी मन्त्री को पदच्युत कर सकता था। वह मन्त्री परिषद् की बैठकों का सभापतित्व भी कर सकता था। उसका कर्त्तव्य था कि अल्पमत वर्गों के प्रतिनिधियों और संघ शासन में सम्मिलित होने वाले देसी राज्यों के प्रतिनिधियों को मन्त्री परिषद् में स्थान दें। किसी भी मन्त्री का वेतन उसके कार्यकाल में घटाया

या बढ़ाया नहीं जा सकता था। मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों को मनोनीत करते समय वह अपने अनुदेश लेख्य के अनुसार कार्य करता था। उनके अनुदेश लेख्य में यह लिखा हुआ था कि वह मन्त्रियों को मनोनीत करने में उस मनुष्य की सलाह लेगा जो उसके विचार में विधान मण्डल का बहुमत प्राप्त कर सकता हो। सामूहिक रूप में मन्त्रीगण विधान मण्डल के उत्तरदायी थे। उनका कर्तव्य था कि वह अपने मन्त्रियों में संयुक्त उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न करे। जिस विषय पर महाराज्यपाल अपने स्वविवेक से कार्य कर सकता था उस पर मन्त्रियों को सलाह देने का कोई अधिकार नहीं था।

**महाराज्यपाल के विशेष उत्तरदायित्व (Special Responsibilities of the Governor-General)**—१९३५ के अधिनियम के अनुच्छेद १२ में इनका उल्लेख है। महाराज्यपाल को विशेष उत्तरदायित्व देकर मन्त्रियों के अधिकार सीमित कर दिये गये। केन्द्र में भारतीयों को सौंपा गया उत्तरदायित्व वास्तविक नहीं था। महाराज्यपाल के विशेष उत्तरदायित्व इस प्रकार है। (१) भारत या उसके किसी भाग की शान्ति को भयंकर खतरे से बचाना। (२) संघ सरकार की वित्तीय स्थिरता और साख (Credit) को सुरक्षा करना। इस ध्येय की पूर्ति के लिए महाराज्यपाल एक वित्तीय सलाहकार नियुक्त कर सकता था जो महाराज्यपाल की इच्छानुसार ही अपने पद पर रह सकता था। यह अधिकारी संघ सरकार को किसी वित्तीय विषय पर भी सलाह दे सकता था। (३) अल्पसंख्यकों के उचित हितों की रक्षा करना। (४) सार्वजनिक सेवा के सदस्यों और उनके आश्रितों के उचित हितों की रक्षा करना। (५) कार्यकारिणी के कार्य द्वारा ऐसे कानूनों को रोकना जो भेद-भाव उत्पन्न करते है। (६) ब्रिटेन या बर्मा में बने हुए सामान के विरुद्ध भेदभाव या दण्डिक कार्य को रोकना। (७) देशी राज्यों के अधिकारों और देशी राज्यों के शासकों के अधिकारों और गौरव की रक्षा करना। (८) महाराज्यपाल का यह कर्तव्य था कि वह अपने व्यक्तिगत निश्चय या स्वविवेक को कार्य में लाने के लिये किसी और विषय के लिये ऐसा कार्य न करें जिससे उसकी व्यक्तिगत निश्चय या स्वविवेक की शक्तियाँ सीमित हो जाएँ। महाराज्यपाल अपने विशेष उत्तरदायित्व को कार्य में लाने के समय अपने व्यक्तिगत निश्चय से कार्य करेगा।

**महाराज्यपाल की शक्तियाँ (Powers of the Governor-General)**—१९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत महाराज्यपाल को बहुत सी शक्तियाँ प्रदान की गई है। वे इस प्रकार है :—

**विधायिनी शक्तियाँ**—(१) महाराज्यपाल को विधान मण्डल के विश्रान्ति (recess) के समय अध्यादेश जारी करने का अधिकार था यदि किसी समय जब संघीय विधान मण्डल की बैठक न हो रही हो महाराज्यपाल को यह विश्वास हो जाय कि तुरन्त कार्य करने के लिये परिस्थितियाँ विद्यमान हैं तो वह अध्यादेश लागू कर सकता है। ऐसा अध्यादेश विधान मण्डल की दुबारा बैठक होने के छः सप्ताह बाद तक चलेगा, यदि दोनों सदनों ने प्रस्तावों द्वारा इसको अस्वीकार न कर दिया हो।

(२) महाराज्यपाल कुछ विषयों के सम्बन्ध में अध्यादेश लागू कर सकता था। महाराज्यपाल अपने स्वविवेक और व्यक्तिगत निश्चय के आधार पर किसी समय अपने कर्त्तव्यों को तुरन्त और ठीक प्रकार कार्यान्वित करने के लिये अध्यादेश लागू कर सकता था। ऐसा अध्यादेश छः महीने तक लागू रह सकता था परन्तु इसकी अवधि इतने समय ही के लिये और बढ़ाई जा सकती थी। ब्रिटिश सम्राट् ऐसे अध्यादेशों को अस्वीकार कर सकता था। महाराज्यपाल ऐसे अध्यादेशों को किसी समय भी वापिस ले सकता था। यदि ऐसे अध्यादेश की अवधि बढ़ाई गई है तो उसकी सूचना भारत सचिव को दी जायेगी।

(३) महाराज्यपाल को अपने अधिनियम (Governor-General's Act) जारी करने का अधिकार था। यदि किसी समय महाराज्यपाल यह आवश्यक समझे कि इसके कर्त्तव्यों के उचित पालन के लिये किसी कानून की आवश्यकता है तो वह विधान मण्डल के दोनों सदनों को सन्देश द्वारा उन परिस्थितियों को बता सकता है जो उसके मत में इस कानून को बनाने के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं यह अपने सन्देश के साथ साथ इस आशय के विधेयक का प्रारूप भी भेज सकता था। एक महीने के बीतने पर वह उस विधेयक को अपने अधिनियम के रूप में परिणत कर सकता था। वह उस विधेयक में अपनी इच्छानुसार संशोधन कर सकता था। ऐसे हर अधिनियम की सूचना भारत सचिव को दी जानी थी।

वित्तीय शक्तियाँ—महाराज्यपाल की सिफारिश के बिना अनुदान के लिये कोई माँग नहीं रक्खी जा सकती। यदि विधान मण्डल ने किसी माँग को कम या अस्वीकार कर दिया हो तो भी महाराज्यपाल अपने विशेष उत्तरदायित्वों के आधार पर उसे पुनः स्थापित कर सकता था। उसकी अनुमति के बिना कोई भी विधेयक जो कर लगाता हो या संघीय राजस्व का खर्चा बढ़ाता हो या ऋण लेने का अधिकार देता हो, विधान मण्डल में पेश नहीं किया जा सकता था। वह ऐसे खर्चे के मदों का भी प्रबन्ध करता था जिस पर विधान मण्डल में मत न लिये जावें (non-votable heads of expenditure)। ऐसा व्यय समस्त वार्षिक व्यय का ८५% होता था।[1]

प्रशासकीय शक्तियाँ—(१) १९३५ के अधिनियम के अनुच्छेद ४५ में संविधान के विफल होने की दशा में किस प्रकार की व्यवस्था की जाय इसका भी उपबन्ध था। यदि किसी समय महाराज्यपाल को यह विश्वास हो जाय कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है कि जिसके कारण संघ सरकार का चलाना सम्भव न हो तो वह एक घोषणा के द्वारा संघ की समस्त या कुछ शक्तियाँ अपने हाथ में ले सकता है। ऐसी घोषणा की सूचना भारत सचिव को तुरन्त दी जायेगी और भारत सचिव उस घोषणा को ब्रिटिश संसद के दोनों सदनों के समक्ष रक्खेगा। ऐसी घोषणा छः महीने तक ही लागू रह सकती है परन्तु यदि इस घोषणा को स्वीकार करने के पक्ष

१. एन० एन० बटर्जी : मॉडर्न कॉन्स्टीट्यूशन्स, पृष्ठ ५१-५४।

में दोनों सदनों में एक प्रस्ताव पास हो जाय तो इस घोषणा की अवधि १२ महीने के लिये और बढ़ जायेगी। यदि कोई घोषणा लगातार ३ वर्ष तक लागू रही है तो उसकी अवधि समाप्त समझी जायेगी। परन्तु संघीय न्यायालय की शक्तियाँ वह किसी रूप में भी अपने हाथ में नहीं ले सकता।

(२) जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, महाराज्यपाल को १९३५ के अधिनियम के अनुच्छेद १२ के अन्तर्गत कुछ विशेष उत्तरदायित्व मिले हुए थे। यह उत्तरदायित्व देश की शान्ति, वित्त अवस्था, अल्पमत, सार्वजनिक सेवाएँ, व्यापार जाति भेदभाव, देशी राज्य इत्यादि से सम्बन्ध रखते थे। ऐसे विषयों में महाराज्यपाल मन्त्रियों और विधान मण्डल की सलाह मानने के लिए बाध्य नहीं था।

(३) महाराज्यपाल को सुरक्षित विभागों के विषय में पूरे अधिकार थे। सुरक्षा विदेशी मामले, धार्मिक विषय और जन-जाति क्षेत्रों का प्रशासन सम्पूर्ण रूप से उसके हाथ में थे। इन विभागों के लिए वह संसद और भारत सचिव के प्रति उत्तरदायी था। हस्तांतरित विषयों का शासन मन्त्रियों की सलाह से चलाया जाता था। परन्तु इस क्षेत्र में भी कुछ विषयों के सम्बन्ध में वह अपने स्वयं के उत्तरदायित्व पर कार्य कर सकता था।

(४) उसकी स्वविवेकीय शक्तियाँ—महाराज्यपाल के पास बहुत-सी स्वविवेकीय शक्तियाँ थीं। पदों की नियुक्तियाँ आदि भी उसकी स्वविवेकीय शक्तियाँ थीं। स्वविवेकीय शक्ति को कार्य रूप में लाने के लिये मन्त्रियों से परामर्श करना आवश्यक नहीं था। इसके विपरीत व्यक्तिगत निश्चय के विषयों में उसे मन्त्रियों से परामर्श करना आवश्यक था।

महाधिवक्ता (The Advocate-General)—१९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत एक महाधिवक्ता की नियुक्ति की भी व्यवस्था की गई, उसे महाराज्यपाल नियुक्त करता था। यह अधिकारी संघ सरकार को कानूनी विषयों पर सलाह देता था। महाराज्यपाल इसे कुछ और कानूनी कार्य भी सौंप सकता था। वह अपने कार्य को करने के लिए ब्रिटिश भारत के सब न्यायालयों में उपस्थित हो सकता था। संघ में सम्मिलित हुए देशी राज्यों के न्यायालयों में वह उसी हालत में उपस्थित हो सकता था जब कि कोई संघीय विषय पर मुकदमा चल रहा हो।

संघीय विधान मण्डल (The Federal Legislature)—निम्नलिखित को मिलाकर संघीय विधान मण्डल बनता था। (१) ब्रिटिश सम्राट्, जिसका प्रतिनिधित्व महाराज्यपाल करता था। (२) राज्य परिषद् (The Council of State) और संघीय सभा (The House of Assembly or the Federal Assembly)। राज्य परिषद् की सदस्य संख्या २६० थी जिनमें से १५६ ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि होने थे और देशी राज्यों के प्रतिनिधि १०४ से अधिक नहीं हो सकते थे। ब्रिटिश भारत के १५६ प्रतिनिधियों में से १५० स्थान साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति के अनुसार चुने जाने थे। अन्य ६ महाराज्यपाल के स्वविवेक से मनोनीत किये जाने थे। १५० निर्वाचित सदस्यों में ७५ सामान्य स्थानों, ४६ मुसलमान, ४ सिक्ख,

६ अनुसूचित जातियों, ६ महिलाओं, १ एंग्लो-इण्डियनों, ७ यूरोपियनों और २ भारतीय ईसाइयों में से होते थे। ब्रिटिश भारत के सदस्य प्रान्तों के निर्वाचन क्षेत्रों से प्रत्यक्ष रूप से चुने जाते थे। एंग्लो-इण्डियनों, यूरोपियनों और भारतीय ईसाइयों के प्रतिनिधि उनके प्रान्तीय परिषदों और धारा सभाओं के प्रतिनिधियों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से चुने जाते थे। देशी राज्यों के सदस्य उनके शासकों द्वारा मनोनीत किये जाते थे। देशी राज्यों के सदस्यों की संख्या राज्यों के महत्त्व, क्षेत्रफल और जनसंख्या के आधार पर तय की गई थी, हैदराबाद के पांच स्थान और मैसूर काश्मीर ग्वालियर और बड़ौदा जिनको २१ तोपों की सलामी का अधिकार था प्रत्येक के तीन-तीन सदस्य होते थे। छोटे-छोटे राज्यों के बहुत से समूह बना रखे थे और प्रत्येक समूह से प्रत्येक राज्य को बारी-बारी से प्रतिनिधित्व मिलता था। राज्य परिषद् एक स्थाई निकाय थी इसका विघटन नहीं होता था। इसके एक तिहाई सदस्य हर तीसरे साल अवकाश प्राप्त कर लेते थे। संघीय सभा निचला सदन थी। इसकी सदस्य संख्या ३७५ थी, २५० सदस्य ब्रिटिश भारत के थे और देशी राज्यों के सदस्य १२५ से अधिक नहीं हो सकते थे। निचले सदन की अवधि-काल पांच साल होता था। यदि उसे पहले विघटन न कर दिया जाय। निचले सदन की वर्ष में एक बैठक अवश्य होनी चाहिये थी। महाराज्यपाल अपने स्वविवेक से इसकी बैठक बुला सकता था, इसका सत्रावसान और विघटन कर सकता था। ब्रिटिश भारत के २५० प्रतिनिधियों में से १०५ साधारण स्थानों, ६ सिक्खों, चार एंग्लो-इण्डियनों, ८ यूरोपियनों, ८ भारतीय ईसाइयों, ८२ मुसलमानों, ११ व्यवसाय, १० श्रमिक वर्गों ७ भूमिपतियों और ९ महिलाओं में से होते थे।[1] इस प्रकार इनकी सदस्य संख्या २५० हुई, १०५ सामान्य स्थानों में से, १९ स्थान अनुसूचित जातियों के लिये सुरक्षित रखे गये थे। इन १९ सदस्यों का चुनाव पूना समझौते के आधार पर होता था। ब्रिटिश भारत के सदस्य प्रान्तीय विधान सभाओं के सदस्यों द्वारा अप्रत्यक्ष चुनाव द्वारा चुने जाते थे। देशी राज्यों के सदस्य शासक स्वयं मनोनीत करते थे।

राज्य परिषद् और संघीय सभा अपने सदस्यों में से सभापति चुनते थे। प्रत्येक सदन के लिये एक उपसभापति भी चुना जाता था। सभापति व उपसभापति के लिए यह अनिवार्य था कि वह उस सभा या परिषद् के सदस्य हों। इन सभापतियों को उनके पद से तभी हटाया जा सकता था जबकि परिषद् या सभा उनके विरुद्ध वर्तमान सदस्यों के बहुमत से प्रस्ताव पास करदे।[2] सभापति को निर्णायक मत देने का भी अधिकार था। इन्हें वेतन भी मिलता था जो संघीय अधिनियम द्वारा निर्धारित होता था। प्रत्येक सदन की सम्पूर्ण सदस्य संख्या का १/६ गणपूर्ति थी। कोई मनुष्य ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि के रूप में संघीय विधान मण्डल

१. १९३५ का भारतीय सरकार अधिनियम, अनुसूचि १, संघीय सभा के सदस्यों का वितरण, पृष्ठ २११।

२. वही, अनुच्छेद २२ (२)।

में तभी बट सकता था जब कि वह ब्रिटिश प्रजा हो या किसी ऐसे देशी राज्य का शासक हो या ऐसी देशी राज्य की प्रजा हो जो संघ शासन में सम्मिलित हो चुका हो। ब्रिटिश भारत के सदस्यों पर यह प्रतिबन्ध था कि वे राज्य परिषद् के सदस्य तभी बन सकते थे जबकि उनकी आयु ३० वर्ष से कम न हो और वे संघीय सभा के सदस्य तभी हो सकते थे जबकि उनकी आयु २५ से कम न हो। वह मनुष्य ही देशी राज्य का प्रतिनिधि हो सकता था जो ब्रिटिश प्रजा हो या ऐसे राज्य का शासक या प्रजा हो जो संघ में सम्मिलित हो चुके हो उनके ऊपर भी यह प्रतिबन्ध था कि राज्य परिषद् के सदस्य होने के लिए कम से कम ३० वर्ष की आयु हो और संघीय सभा की सदस्यता के लिए कम से कम २५ वर्ष की आयु हो। देशी राज्य का वह शासक जिसके हाथ में राज्य की बागडोर हो उसके लिए यह प्रतिबन्ध लागू नहीं था। संघीय विधान मण्डल के दोनों सदनों के सदस्यों के लिये कुछ अनर्हतायें और कुछ विशेषाधिकार भी थे।

**संघीय विधान मण्डल की शक्तियां (Powers of the Federal Legislature)**—संघीय विधान मण्डल की शक्तियाँ संविधान के पांचवें भाग में दी हुई हैं। यहाँ पर हम ब्योरेवार उनका उल्लेख करेंगे :—

(१) **विधायनी शक्तियां**—संघीय विधान मण्डल की विधायनी शक्तियाँ इस प्रकार है—(अ) संघीय विधान मण्डल को संघ सूची के विषयों पर कानून बनाने का पूरा अधिकार है। (ब) संघीय विधान मण्डल और प्रान्तीय विधान मण्डल समवर्ती सूची में दिये गए विषयों पर कानून बना सकते हैं यदि संघीय कानून और प्रान्तीय कानून में मतभेद हो तो संघीय कानून ही मान्य होगा। (स) संघीय विधान मण्डल उन क्षेत्रों के लिए जो प्रान्त नहीं थे, प्रान्तीय सूची में दिये गए विषयों पर भी कानून बना सकती थी। (द) संघीय विधान मण्डल संघ में सम्मलित देशी राज्यों के विषय में, उनके प्रवेश लेखों के अनुसार कानून बना सकती थी। यदि राज्य कानून में और संघीय कानून में मतभेद हो तो संघीय कानून मान्य होगा। (इ) आपातकाल में जब देश की सुरक्षा को किसी युद्ध या आन्तरिक झगड़े के कारण कोई खतरा हो तो संघीय विधान मण्डल महाराज्यपाल की अनुमति से किसी प्रान्त के लिए प्रांतीय सूची में दिए गए विषयों पर भी कानून बना सकती है यदि संघीय विधान मण्डल ऐसे कानून को अनुमति न दे तो वे छ महीने तक ही लागू रहेंगे।[1] (ई) दो या दो से अधिक प्रान्तों की प्रार्थना पर संघीय विधान मण्डल उन प्रान्तों के लिये प्रान्तीय विषयों के बारे में भी कानून बना सकता है। परन्तु प्रान्तीय विधान मण्डलों को इस प्रकार बनाये गए कानूनों को रद्द या संशोधन करने का भी अधिकार होगा।[2] महाराज्यपाल अपने स्वविवेक से संघीय विधान मण्डल को किसी ऐसे विषय पर कानून बनाने का अधिकार दे सकता था जो विषय किसी भी सूची में दिये हुए नहीं होते थे। यह संघीय विधान मण्डल की

१. १९३५ का अधिनियम, अनुच्छेद १०२। २. वही, अनुच्छेद १०३।

अवशिष्ट शक्तियाँ होती थीं।[1] (ग) संघीय विधान मण्डल भारत की सेना के अनुशासन को कायम रखने के लिए कानून बना सकता था। (घ) महाराज्यपाल की अनुमति लेकर संघीय विधान मण्डल अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों को कार्यान्वित करने के लिए कानून बना सकता था। १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत संघीय विधान मण्डल की विधायनी शक्तियों के ऊपर बहुत से प्रतिबन्ध लगे हुए थे। कुछ विषयों के ऊपर तो उसे कानून बनाने का बिल्कुल अधिकार नहीं था। कुछ विषयों में उसे पहले ही महाराज्यपाल की अनुमति लेनी पड़ती थी। भेदभाव पूर्ण कानून बनाने का उसे कोई अधिकार नहीं था। महाराज्यपाल की प्रमाणन पत्र शक्तियों, अभिषेध अधिकार और विशेष उत्तरदायित्वों ने भी संघीय विधान मण्डल की शक्तियों को सीमित कर दिया था।[2]

(२) राष्ट्रीय नीति के निर्माण का अधिकार—संघीय मंत्री परिषद् संघीय विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी था। संघीय विधान मण्डल का आर्थिक बिल पर भी अधिकार था। इन दोनों शक्तियों के आधार पर संघीय विधान मण्डल राष्ट्रीय नीति के निर्माण में सहयोग दे सकता था। परन्तु इन शक्तियों में वास्तविकता बहुत कम थी। इन विषयों में संघीय विधान मण्डल के अधिकार बहुत सीमित थे।

(३) वित्तीय शक्तियाँ—संघीय सभा, वित्त विषय पर कुछ नियंत्रण रखती थी और वह इन विषयों पर मत भी दे सकती थी परन्तु ये शक्तियाँ सीमित थीं। महाराज्यपाल पर सब की वित्तीय स्थिरता और साख बनाये रखने का उत्तरदायित्व था। वह एक वित्तीय सलाहकार भी नियुक्त कर सकता था। बजट के अधिक भाग पर मतदान नहीं हो सकता था। महाराज्यपाल संघीय विधान मण्डल द्वारा प्रस्तुत वित्तीय मांगों को घटा बढ़ा या रद्द कर सकता था।

(४) शासन के ऊपर नियंत्रण—संघीय विधान मण्डल शासन पर भी नियंत्रण रखता था। सदस्य प्रश्न पूछ सकते थे और मंत्रि-मण्डल के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर सकते थे। सदस्य स्थगन प्रस्ताव भी पेश कर सकते थे। इन सब बातों द्वारा शासन को प्रभावित करने का अवसर मिलता था।

(५) विशेष शक्तियाँ—भारत सरकार में संघीय विधान मण्डल को विशेष शक्तियाँ मिली हुई थीं। महाराज्यपाल की अनुमति से ऐसे सदन से वह प्रान्तों के लिये भी कानून बना सकती थी। महाराज्यपाल के स्वविवेक के आधार पर उसको अनुच्छेद १०४ के अन्तर्गत अवशिष्ट शक्तियाँ (residuary powers) मिली हुई थीं।

कानून बनाने की प्रक्रिया—१९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत गैर-वित्त विधेयक संघीय विधान मण्डल के किसी भी सदन में प्रस्तुत किये जा सकते थे। यदि कोई विधेयक दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत हो जाय तो वह पारित समझ लिया

१. १९३५ का भारत सरकार अधिनियम, अनुच्छेद १०४।
२. एस० एम० बाकरी : इण्डियन कांस्टीट्यूशन, पृष्ठ ८०-८१।

जाता था। किसी विधेयक का सदन के सत्रावसान के साथ ही अन्त नहीं होता था। इन तीन दशाओं में महाराज्यपाल सदनों की संयुक्त बैठक बुला सकता था। (अ) यदि किसी विधेयक को एक सदन ने पास कर दिया हो और दूसरे सदन ने उसे रद्द कर दिया हो (ब) किसी संशोधन के विषय में दोनों सदनों में मतभेद हो (स) यदि कोई विधेयक एक सदन में तो पारित हो गया हो और दूसरे सदन ने छ महीने से अधिक समय तक उस विधेयक के सम्बन्ध में कोई कार्यवाही न की हो। यदि महाराज्यपाल को यह प्रतीत हो कि कोई विधेयक वित्त से सम्बन्ध रखता है या किसी ऐसे विषय से सम्बन्ध रखता है जो उसके स्वविवेक में और व्यक्तिगत निर्णय के अन्तर्गत आता है तो वह दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुला सकता था। संयुक्त बैठक में कोई भी विधेयक तभी पारित समझा जाता था। जब दोनों सदनों के उपस्थित सदस्यों के बहुमत से पास हो जाय।[1] दोनों सदनों से पारित होने के उपरान्त कोई भी विधेयक महाराज्यपाल के समक्ष भेजा जाता था। महाराज्यपाल को अधिकार था कि वह (अ) उस विधेयक को स्वीकार कर दे (ब) या उसे अस्वीकार कर दे (स) या उसे राजमुकुट के विचार के लिए सुरक्षित कर दे (द) या उस विधेयक को दोनों सदनों के समक्ष पुन विचार के लिए भेज दे। वह इन चार बातों में से कोई निर्णय कर सकता था। महाराज्यपाल के स्वीकृत विधेयक को भी राजमुकुट अस्वीकार कर सकता था। महाराज्यपाल दोनों सदनों को सम्बोधित कर सकता था। उसके परिषद् और मन्त्री दोनों सदनों में बोल सकते थे परन्तु अपना मत उसी सदन में दे सकते थे जिसके कि वह सदस्य होते थे।

बजट को तैयार करने का कार्य भी महाराज्यपाल के हाथ में था। वह ही वित्तीय वर्ष के लिए आय और व्यय का वार्षिक विवरण दोनों सदनों के समक्ष प्रस्तुत करवाता था। व्यय विवरण में प्रभृत (charged) और प्रस्थापित व्यय का पृथक्-पृथक् उल्लेख होता था। प्रभृत व्यय में नीचे लिखित मदें सम्मिलित थी — (१) महाराज्यपाल का वेतन और भत्ते, उसके कार्यालय का व्यय (२) ऋण (३) मन्त्रियों, परिषदों, वित्त सलाहकार, महाधिवक्ता, मुख्य आयुक्त इत्यादि के वेतन और भत्ते (४) संघीय न्यायालय के जजों का वेतन, भत्ते और निवृत्ति वेतन और उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के निवृत्ति वेतन (५) सुरक्षित विभागों का व्यय (६) देशी राज्यों के लिए राजमुकुट द्वारा किया गया व्यय (७) किसी भी प्रान्त के अपवर्जित क्षेत्रों के लिए किया गया व्यय (८) किसी डिग्री या न्यायालय के पंच निर्णय को चुकाने के लिए व्यय (९) संघीय विधान मण्डल द्वारा स्वीकृत व्यय। प्रभृत व्यय के ऊपर संघीय विधान मण्डल में मत नहीं लिए जाते थे। यह व्यय करना सरकार के लिए अनिवार्य था, इस व्यय के लिए संघीय विधान मण्डल की अनुमति नहीं ली जाती थी। प्रस्थापित व्यय पर संघीय विधान मण्डल के दोनों सदनों को मत देने का अधिकार था ऐसे व्यय के लिये कोई माँग महाराज्यपाल

१. १९३५ के अधिनियम का अनुच्छेद ३१ (४)।

की सिफारिश के बिना प्रस्तुत नहीं की जा सकती थी। प्रस्थापित व्यय मांगों के रूप में पहले संघीय सभा और उसके उपरान्त राज्य परिषद् में रखा जाता था। कोई भी विधेयक जो कर को लगाने या बढ़ाने के विषय में हो, या ऋण लेने या किसी वित्त कानून को संशोधन करने या किसी व्यय को प्रभृत घोषित करने के लिए होता था। वह महाराज्यपाल की बिना सिफारिश के सभा में प्रस्तुत नहीं हो सकता था इस प्रकार के विधेयक निचले सदन में ही महाराज्यपाल की सिफारिश से पेश होते थे। ये राज्य सभा में प्रस्तुत नहीं किये जा सकते थे। कोई भी सदन *अनुदान की किसी मांग को स्वीकृत, अस्वीकृत या कम कर सकता था।* संघीय सभा ने जब किसी मांग को अस्वीकार कर दिया हो तो वह मांग राज्य परिषद् के समक्ष प्रस्तुत नहीं होती थी जब तक कि महाराज्यपाल इस आशय का आदेश न दे। जब किसी मांग को संघीय सभा ने कम कर दिया हो वह कम की हुई मांग ही राज्य परिषद् के सम्मुख पेश होती थी, यदि महाराज्यपाल ने इसके विपरीत आदेश न दे दिया हो। यदि किसी मांग के विषय में दोनों सदनों में मतभेद है तो महाराज्यपाल दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुला सकते थे। दोनों सदनों के उपस्थित सदस्यों के बहुमत से निर्णय होता था। यदि सदनों ने किसी मांग को अस्वीकार या कम कर दिया हो तो महाराज्यपाल अपने विशेष उत्तरदायित्वों के आधार पर उस मांग को *बहाल कर सकता था। १६३५ के अधिनियम के अन्तर्गत* दोनों सदनों को वित्तीय विषय में बराबर अधिकार थे। ऐसा बहुत कम देशों में पाया जाता है।

**१६३५ के अधिनियम के असंघीय लक्षण** (Unfederal Features of the 1935 Act)—(१) प्रत्येक संघीय संविधान में एक प्रस्तावना होती है जिसमें अधिनियम का उद्देश्य और ध्येय प्रकट किया जाता है। प्रस्तावना में यह भी बताया जाता है कि संविधान किसने बनाया और किस उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनाया गया है। अमेरिका और भारत के संघीय संविधानों में प्रस्तावना दी गई है परन्तु १६३५ के अधिनियम में इस संघीय सिद्धान्त का पालन नहीं किया गया था। प्रस्तावना न देने का मुख्य कारण यह था कि ब्रिटिश सरकार वास्तव में भारत को स्वायत्त शासन नहीं देना चाहती थी।

(२) साधारणतया संसार में सब संघीय संविधान, संविधान सभा द्वारा बनाये गये हैं। अमेरिका का संविधान फिलेडेलफिया सम्मेलन द्वारा सन् १७८७ ई० में तैयार किया गया। इसी प्रकार १६४६ का भारतीय संविधान दिल्ली में संविधान सभा द्वारा बनाया गया था। परन्तु १६३५ के अधिनियम को बनाने के लिए कोई संविधान सभा नहीं बुलाई गई। ब्रिटिश संसद ने इस अधिनियम को पास कर दिया। भारतीय जनता के विचारों को जानने लिए लन्दन में तीन गोलमेज परिषदों की बैठकें बुलाई गईं जिनमें ब्रिटिश सरकार द्वारा मनोनीत भारतीय सदस्य उपस्थित थे। परन्तु अधिनियम के बनाने में उनके विचारों की अवहेलना की गई।

(३) प्रत्येक संघीय संविधान में एक संघीय न्यायालय होता है, यह न्यायालय संघीय सरकार और राज्य सरकारों के झगड़े निबटाता है और संघीय संविधान की

रक्षा और निर्वचन करता है। यह देश का सर्वोच्च न्यायालय होता है। १६३५ के अधिनियम के अन्तर्गत भी एक संघीय न्यायालय की व्यवस्था की गई परन्तु उसके अधिकार सीमित रखे गये, उसको भारत के सर्वोच्च न्यायालय का रूप नहीं दिया गया। सघ न्यायालय की अपीलें लन्दन में प्रीवी कौंसिल की न्यायिक समिति के समक्ष जाती रहीं यह बात संघीय सिद्धान्त के विपरीत थी।

(४) प्रत्येक संघीय संविधान में नागरिक के मूल अधिकारों का विवरण होता है। अमेरिका के संविधान में आरम्भ में ऐसे अधिकारों का उल्लेख नहीं था। परन्तु कुछ ही वर्षों में संशोधनो द्वारा ऐसे अधिकारों की व्यवस्था कर दी गई। भारत के नये संविधान में नागरिक के मूल अधिकारो पर विशद ज़ोर दिया गया है। परन्तु १६३५ के अधिनियम के अन्तर्गत नागरिक के मूल अधिकारों का कोई उल्लेख नहीं किया गया।

(५) प्रत्येक सघ सरकार में विधान मण्डल के दो सदन होते हैं। निचला सदन जन-संख्या के आधार पर चुना जाता है, परन्तु १६३५ के अधिनियम में इस सिद्धान्त की अवहेलना की गई। देशी राज्यों की जनसंख्या २३% थी परन्तु उन्हें ३३% प्रतिनिधित्व दिया गया। प्रत्येक सघ सरकार में निचले सदन का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से होता है परन्तु १६३५ के अधिनियम के अन्तर्गत निचले सदन का चुनाव अप्रत्यक्ष रूप से रखा गया। प्रत्येक सघ सरकार में इकाई या राज्यों के प्रतिनिधि द्वितीय सदन में समान संख्या में आते है। आस्ट्रेलिया, स्वीट्ज़रलैंड और अमेरिका में ऐसी ही व्यवस्था है। परन्तु १६३५ के अधिनियम के अन्तर्गत जो द्वितीय सदन स्थापित किया गया उसमें सब राज्यो व प्रान्तों के प्रतिनिधि समान संख्या में नहीं थे। देशी राज्यो की संख्या अधिक होने के कारण समान प्रतिनिधित्व देना सम्भव नहीं था। साधारणतया प्रत्येक सघ सरकार में उच्च सदन का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से होता है परन्तु १६३५ के अधिनियम के अन्तर्गत उच्च सदन का चुनाव प्रत्यक्ष रखा गया।

(६) प्रत्येक सघ शासन के स्थापित होने के पूर्व उसमें शामिल होने वाले राज्यों या इकाइयों की स्वीकृति आवश्यक होती है परन्तु १६३५ के अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित होने वाली सघ सरकार में इस सिद्धान्त की अवहेलना की गई। सघ शासन में शामिल होने वाली देशी राज्यों की अनुमति प्राप्त करने की व्यवस्था की गई परन्तु ब्रिटिश भारत के प्रान्तों की अनुमति प्राप्त करने के लिये किसी तरह की व्यवस्था नहीं की गई। उन्हें अपने आप सघ में शामिल कर लिया गया।

(७) प्रत्येक सघ शासन में केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारें लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों के आधार पर सगठित की जाती हैं। अमेरिका, कनाडा एवं आस्ट्रेलिया के सघ शासनों में यही व्यवस्था की गई है। परन्तु १६३५ के अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तों में तो लोकतान्त्रिक सरकारें स्थापित की गई परन्तु देशी राज्यों में निरकुश (autocratic) सरकारों को ही बना रहने दिया गया। देशी राज्यों में प्रजातान्त्रिक सरकारों के स्थापित होने की व्यवस्था नहीं की गई। १६३५ के अधिनियम के

अन्तर्गत देश मे प्रजातन्त्र एवं राजतन्त्र का सम्मिश्रण ही बना रहा। श्री लीज स्मिथ ने ठीक ही कहा है, "भारत का संघ अपने ही प्रकार का था, ऐसी व्यवस्था कहीं पर नहीं पाई जाती। संघ के एक भाग की सरकार तो ममदात्मक सिद्धान्तो पर बनी हुई होगी और दूसरे भाग की सरकार पूर्वी निरकुशता पर आधारित थी।"

(८) हर एक संघ शासन मे इकाइयो के अधिकार समान रखे जाते हैं। विश्व के समस्त संघ शासनो मे इस सिद्धान्त को अपनाया गया है। १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत ब्रिटिश भारत के प्रान्तो के अधिकार तो समान थे। परन्तु देशी राज्यो को यह अधिकार था कि वे संघ शासन को अपनी इच्छानुसार विषय सौंपें। कुछ देशी राज्य संघ सरकार को अधिक अधिकार सौंप सकते थे एवं अन्य कुछ कम यह देशी राज्यो के शासकों की इच्छा पर ही निर्भर था।

(९) संघ शासन मे इकाइयो को संघ मे पृथक् होने का अधिकार नहीं होता। एक बार संघ शासन मे सम्मिलित होने के पश्चात् कोई इकाई या राज्य संघ शासन मे पृथक् नहीं हो सकता। संघ शासन मे सम्बन्ध-विच्छेद (Secession) वर्जित है। अमेरिका मे दक्षिण राज्यो ने संघ को छोड़ने का प्रयत्न किया था जिसे संघ सरकार ने युद्ध के द्वारा समाप्त कर दिया। इस तरह यह सिद्धान्त दृढ बन गया कि कोई राज्य संघ शासन मे पृथक् नहीं हो सकता। १९३५ के संविधान मे सम्बन्ध-विच्छेद के सम्बन्ध मे कोई उपबन्ध नहीं था परन्तु सर सेम्यूअल होर ने संसद मे यह कहा था कि कोई देशी राज्य संघ शासन मे सम्मिलित होने के बाद उससे पृथक् नहीं हो सकता।

(१०) प्रत्येक संघ संविधान जनता के प्रतिनिधियो द्वारा निर्मित किया जाता है, जनता ही एक विशेष पद्धति द्वारा इसमे संशोधन कर सकती है। परन्तु १९३५ के संविधान मे इन बातो का अभाव था। भारतीय जनता को १९३५ के संविधान मे परिवर्तन करने का अधिकार नहीं था। १९३५ के संविधान मे संशोधन ब्रिटिश संसद द्वारा ही सम्भव था।

(११) संघ शासन मे केन्द्रीय सरकार को कुछ अधिकार प्राप्त रहते है। वह केन्द्रीय विषयो पर पूरा नियन्त्रण रखती है, इसी प्रकार प्रान्तीय सरकारें प्रान्तीय विषयो पर नियन्त्रण रखती हैं। केन्द्रीय सरकार प्रान्तों मे एवं प्रान्तीय सरकारें केन्द्र के विषयो मे हस्तक्षेप नहीं कर सकतीं। परन्तु १९३५ के अधिनियम मे इस सिद्धान्त की अवहेलना की गई है इसके अन्तर्गत प्रान्तीय सरकारो को प्रान्तीय विषयों पर पूरा अधिकार नहीं था। राज्यपाल एवं महाराज्यपाल के अधिकारो एवं विशेष उत्तरदायित्वों ने प्रान्तीय सरकारो की शक्तियो को सीमित कर रखा था। इसी तरह केन्द्रीय सरकार को केन्द्रीय विषयो पर पूर्ण अधिकार नहीं थे, कुछ विषयो के लिये महाराज्यपाल ही उत्तरदायी थे एवं केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत आने वाले विषयों पर भी महाराज्यपाल के विशेषाधिकार थे।

(१२) संघ शासन मे केन्द्र एवं प्रान्तीय सरकारें देश से बाहर की शक्ति से सम्बन्ध नहीं रखतीं। परन्तु १९३५ के संविधान मे देशी राज्यो को अपनी

आन्तरिक राज्यसत्ता रखने का अधिकार था और वे ब्रिटिश सरकार से सन्धि-विषयक सम्बन्धों को ज्यों का त्यों बनाये रख सकते थे। यह बात संघ संविधान के प्रतिकूल थी।

(१३) देशी राज्यों की प्रजा पर संघ शासन का प्रत्यक्ष अधिकार नहीं था, संघ शासन देशी राज्यों में अपने अधिकारों का प्रयोग वहां के शासकों द्वारा ही कर सकता था। यह बात संघवाद के सिद्धान्त के विरुद्ध थी।

(१४) के १९३५ संविधान में संघीय विधान मण्डल के लिये प्रान्तों से प्रतिनिधियों को चुने जाने की व्यवस्था की गई थी लेकिन देशी राज्यों के प्रतिनिधि शासकों द्वारा संघीय विधान मण्डल के लिए मनोनीत किए जाते थे। यह भी संघीय सिद्धान्त के विरुद्ध ही था।

**१९३५ के संघ शासन का आलोचनात्मक विश्लेषण**—(१) १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित संघ शासन की कुछ क्षेत्रों में प्रशंसा की गई है। ३ अगस्त १९३५ में 'लन्दन टाइम्स' ने इसकी बड़ी प्रशंसा की है। उसने इसे "महान् रचनात्मक कानून, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कानून जो ब्रिटिश सरकार ने इस शताब्दी में बनाया" बताया है। सर सुलतान अहमद खां ने भी इसकी प्रशंसा की है। उन्होंने इसे १९१९ के अधिनियम से अधिक महत्त्वपूर्ण बतलाया है, दो हजार वर्षों में यह प्रथम अवसर था जबकि १९३५ के अधिनियम के द्वारा केन्द्र सरकार में उत्तरदायित्व एवं प्रान्तों में पूर्ण स्वायत्त शासन स्थापित हुआ। उनके शब्दों में यह एक महान् सफलता (noble achievement) थी, इसके विपरीत भारतवासियों ने १९३५ के संविधान की कड़ी आलोचना की है। श्री जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है कि संघ सरकार का ढांचा ऐसा बनाया गया जिसके द्वारा वास्तविक विकास असम्भव था। भारतीय जनता के प्रतिनिधि न तो शासन में हस्तक्षेप और न ही परिवर्तन कर सकते थे। ब्रिटिश संसद को ही ये अधिकार थे। संघीय ढांचा प्रतिक्रियावादी तो था परन्तु इसमें विकास की कोई सम्भावना नहीं थी। इस अधिनियम के द्वारा ब्रिटिश सरकार का देशी शासकों, भूमिपतियों और प्रतिक्रियावादी वर्गों से गठबन्धन हो गया। इस अधिनियम ने पृथक् निर्वाचन पद्धति को अपनाया और ब्रिटिश व्यापार, व्यवसाय और बैंकिंग की स्थिति को दृढ़ बनाया। भारतीय वित्त, सेना और विदेशी विषयों पर ब्रिटिश सरकार का पूर्ण नियन्त्रण रहा। महाराज्यपाल की शक्तियां और बढ़ा दी गई।[1] सर सी० वाई० चिन्तामणि ने कहा कि यह सुधार अधिनियम "ऐसा संवैधानिक विकास है जिसकी हमें प्रशंसा नहीं करनी चाहिये।" सर सप्रू ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि इस अधिनियम के बहुत कम समर्थक हैं। किसी भी भारतीय राजनैतिक दल ने इसे स्वीकार नहीं किया था। संयुक्त प्रवर समिति के भारतीय सदस्यों का छोटी छोटी मांगों को भी ठुकरा दिया गया था। कॉमन्स सभा ने १९३५ के विधेयक में कुछ ऐसे संशोधन किये जिनके फलस्वरूप संघ

1. जवाहरलाल नेहरू : दी डिस्कवरी ऑफ इण्डिया, पृष्ठ ४३६-४३७।

संविधान के बहुत से उपलब्धों का महत्त्व जाता रहा।[1] संयुक्त प्रवर समिति की रिपोर्ट पर विचार करते हुए केन्द्रीय विधान मण्डल में कांग्रेस दल की ओर से कहा गया कि नये सुधारों द्वारा भारत की जनता को कोई वास्तविक शक्ति नहीं प्रदान की जा रही थी बल्कि इनको स्वीकार करने से भारत की आर्थिक एवं राजनैतिक उन्नति रुक जायेगी। श्री मोहम्मद अली जिन्ना ने इस विषय पर बोलते हुए कहा कि अखिल भारतीय संघ शासन मूलतः ही त्रुटिपूर्ण है एवं भारतीय जनता को पूर्णतया अस्वीकार है। कांग्रेस दल के नेता श्री भूलाभाई जे० देसाई ने ८ फरवरी १९३५ को केन्द्रीय विधान मण्डल में बोलते हुए कहा कि हर सरकार के लिये पांच विषय आवश्यक हैं परन्तु इस अधिनियम के अन्तर्गत इन पांचों विषयों में भारतीय जनता को वंचित रखा गया। यथार्थ में इस अधिनियम के द्वारा भारतीयों को कुछ भी नहीं दिया गया था।[2] श्री जिन्ना ने संघीय योजना को पूर्णतया अस्वाभाविक एवं बनावटी बताया। उनके अनुसार इसमें समस्त आवश्यक तत्त्वों का सर्वथा अभाव था एवं यह देश के सामयिक हितों पर एक कुठाराघात था। बाबू राजेन्द्र प्रसाद ने १९३४ के बम्बई कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में कहा कि यह संघीय संविधान संसार में निराला ही है, इसके अन्तर्गत भारत के एक-तिहाई भाग के देशी राज्यों के शासकों द्वारा मनोनीत सदस्य भारत के दो तिहाई भाग के चुने हुए सदस्यों के विकासवादी विचारों का विरोध करेंगे।[3] इस तरह भारत के एक-तिहाई भाग में पूर्ण निरंकुशता व्याप्त रहेगी एवं यह शेष दो तिहाई भाग के लोकप्रिय भावनाओं को नष्ट करने का प्रयास करेगी। कांग्रेस ने लखनऊ के १९३६ के अधिवेशन में एक प्रस्ताव द्वारा घोषित किया कि १९३५ का संविधान भारतीय जनता की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व नहीं करता बल्कि उसका ध्येय भारतीयों का शोषण करना एवं उन पर सदैव के लिये अपना आधिपत्य जमाये रखना है।[4] श्री क्लीमेंट एटली (भूतपूर्व ब्रिटिश प्रधान मन्त्री) ने ६ फरवरी १९३५ को १९३५ के विधेयक पर कॉमन्स सभा में बोलते हुए कहा कि इस विधेयक का सारांश अविश्वास है एवं यह अवरोधों से परिपूर्ण है। इसमें भारतीय जनता के हितों की पूर्णतया अवहेलना की गई है। संघीय विधान मण्डल को अनुदार हितों, जमींदारों एवं उद्योगपतियों के प्रतिनिधित्व से भर दिया गया है। विधेयक को देखने से हमें यह प्रतीत होता है कि ब्रिटिश सरकार भारत को पूंजीपतियों एवं विशेषाधिकृत वर्गों से शासित करना चाहती है। यह एक पक्षीय साझेदारी है (It is a one sided partnership)। इस विधेयक की प्रवृत्ति भारतीय जनता के विपरीत है। यह रॉबिन्सन-क्रूसो का जहाज है एवं यह पूर्णतया असमानता पर आधारित है।[5]

---

१. सर ग्वायर [illegible] : दी इण्डियन फेडरेशन, १९३७, पृष्ठ ३४७।
२. ए० सी० बनर्जी : इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशनल डाक्यूमेंट्स, भाग ३, पृष्ठ २२७।
३. वही, पृष्ठ २१८।
४. वही, पृष्ठ २२४।
५. वही, पृष्ठ २५७-२५६।

(२) १९३५ के संविधान मे महाराज्यपाल को अत्यधिक शक्तियाँ प्रदान की गई थी । यदि वह अपने समस्त कर्तव्यो, अधिकारो एवं उत्तरदायित्वो का पूर्ण उपयोग करता तो उसमे विशिष्ट व्यक्ति (Superman) की शक्ति होनी चाहिये थी । लार्ड जेटलैंड का मत है कि नये संविधान के अनुसार महाराज्यपाल पर इतना अधिक बोझ लाद दिया गया है जो कि एक व्यक्ति की शक्ति के सर्वथा परे है । लार्ड रन्कलर ने बहुत ही सुन्दर शब्दो म कहा है कि "अपने कार्यो को सम्पन्न बनाने के लिए महाराज्यपाल को लार्ड कर्जन जैसी महानता, लायड जार्ज जैसी बहुमुखी प्रतिभा (versatility), जोसफ चेम्बरलेन जैसी दृढ़ता एवं स्वर्गीय लार्ड ऐलीवन्क जैसी सराहनीय दक्षता आवश्यक है" ।[1] सर शफात अहमद खा ने लिखा है कि महाराज्यपाल को सुरक्षित विभागो एवं उसके विशेष उत्तरदायित्वो के सबंध म इतनी अधिक प्रभावशाली वित्तीय और विधानीय शक्तियाँ प्राप्त है कि भारतवर्ष को उपयुक्त समय म औपनिवेशिक स्तर प्राप्त करना अत्यन्त कठिन हो जायगा ।[2] श्रीनिवास शास्त्री ने महाराज्यपाल की शक्तियों की तुलना निरकुशता (autocracy) से की है । केन्द्रीय विधान मण्डल मे ८ फरवरी १९३५ को भाषण करते हुए श्री भूलाभाई जे० देसाई ने कहा कि *महाराज्यपाल अपनी स्वविवेकीय शक्तियो, विशेष उत्तरदायित्व* विशेषाधिकार (Veto), व्यक्तिगत विधि निर्माण की शक्ति के कारण, भारत की गद्दी पर स्वय आसीन होकर एक पूर्ण तानाशाह बन जायेगा ।[3] बाबू राजेन्द्र प्रसाद ने कहा है कि शायद ही कोई कार्य ऐसा होगा जिसे महाराज्यपाल न कर सके । उसके विशेष उत्तरदायित्व सारे विभागों पर लागू होते हैं । विभेदीकरण की शक्ति एवं विधि निर्माण के अधिकारो को प्राप्त करके वह एक वास्तविक तानाशाह बन जाता है ।[4]

(३) साइमन आयोग, सरकारी लेख्य (The White Paper) एवं सयुक्त प्रवर समिति की रिपोर्ट मे यह स्पष्ट किया गया था कि द्वैतत्र समस्त प्रान्तो मे असफल रहा । ऐसी अवस्था म इस पद्धति को केन्द्र मे लागू करने की बात बड़ी आश्चर्यजनक थी इसका एक ही कारण हमारी समझ मे आता है कि ब्रिटिश सरकार अधिक से अधिक समय तक भारत म अपना आधिपत्य जमाये रखना चाहती थी एवं यह द्वैतत्र के द्वारा ही सम्भव था ।

(४) सुरक्षा विभाग महाराज्यपाल के आधीन रखा गया था । सेना पर भारतीयों को किसी तरह के अधिकार नही प्राप्त थे । यह १९३५ के संविधान मे एक भारी न्यूनता थी । सेना के शीघ्र ही भारतीयकरण की कोई व्यवस्था नहीं थी ।

---

१. एच० एम० बनर्जी : आर्डन कान्स्टीट्यूशनम्, पृष्ठ ७१-७६ ।

२. दी इण्डियन फेडरेशन, पृष्ठ ३१८ ।

३. ए० सी० बनर्जी : इण्डियन कान्स्टीट्यूशनल डाक्यूमेन्ट्स, भाग ३, पृष्ठ २२७ ।

४. वही, पृष्ठ २२९ ।

ए. बी. कीथ ने ठीक ही कहा है "सुरक्षा विभाग पर अधिकार के बिना उत्तरदायित्व सारहीन है।"

(४) १९३५ के संविधान में कोई प्रस्तावना नहीं रखी गई थी। प्रस्तावना न देने का प्रधान कारण यह था कि ब्रिटिश सरकार वास्तव में भारत को स्वायत्त शासन नहीं देना चाहती थी। सर सेम्यूअल होर ने ६ फरवरी १९३५ को कॉमन्स सभा में भाषण करते हुए कहा कि अधिनियम में प्रस्तावना की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि सरकार नई नीति पर नये विचार प्रगट नहीं कर रही थी। भारत सचिव के इस वक्तव्य से भारतीय जनता को सन्तोष नहीं हो सका। श्री क्लीमेंट इटली ने प्रस्तावना न रखने का घोर विरोध किया। उन्होंने कहा कि बिना प्रस्तावना के संसद में विधेयक प्रस्तुत करना एक महान् भूल का सूचक था। प्रस्तावना न रखने का तात्पर्य भारतीय जनमत की अवहेलना करना था।

(६) १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत संविधान के विकास के लिए किसी तरह की सम्भावना नहीं थी। बाबू राजेन्द्र प्रसाद ने बम्बई के १९३४ के कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में कहा था कि संविधान में संविधान के स्वतः विकास के लिए किसी तरह का उपबन्ध नहीं था। प्रत्येक विषय ब्रिटिश संसद की स्वेच्छा एवं प्रसाद पर ही निर्भर था। आत्म-निर्णय के सिद्धान्त को अपनाये जाने का कोई उल्लेख नहीं था। संघ शासन स्थापित करने के लिए अनेकों शर्तों का पूर्ण होना आवश्यक था तथा अन्त में ब्रिटिश संसद में इसके पक्ष में दुबारा मतदान परमावश्यक था। श्री क्लीमेंट एटली ने भी इस बात को स्वीकार किया कि इस संविधान में विकास का लेशमात्र भी बीजारोपण नहीं था। यह एक अस्थायी संविधान है एवं इसमें अस्थायी संविधान के समस्त अवगुण पाये जाते थे। इसमें स्थाई संविधान के समस्त गुणों का पूर्ण अभाव था। उन्होंने यह आशा प्रगट की कि ब्रिटिश सरकार को भारतीयों को स्वतन्त्रता प्रदान करने की निश्चित तिथि घोषित कर देना चाहिए।[1]

(७) १९३५ का संविधान परित्राणों (Safeguards) एवं विशेष उत्तरदायित्वों से परिपूर्ण था। सम्भवतः ऐसा कोई भी विभाग नहीं था जिस पर इन अधिकारों का प्रभाव न पड़ता हो। श्री जिन्ना ने संयुक्त प्रवर समिति की रिपोर्ट के विरुद्ध एक प्रस्ताव प्रेषित करते हुए केन्द्रीय विधान मण्डल में कहा कि विशेष अधिकारों के फलस्वरूप कार्यपालिका एवं विधान मण्डल का उत्तरदायित्व निष्फल हो जाता है। श्री भूलाभाई देसाई ने कहा कि इस संविधान के द्वारा न तो हमारा सुरक्षा से, न विदेशी विषयों से एवं न ही मुद्रा से कोई सम्बन्ध है महाराज्यपाल की विशेष शक्तियों के फलस्वरूप केन्द्र में कोई वास्तविक शक्ति रह ही नहीं जाती। श्री जिन्ना ने ठीक ही कहा है "यहाँ ९८ प्रतिशत परित्राण है और २ प्रतिशत

---

१. ए० बी० बनर्जी : इण्डियन कान्स्टीट्यूशनल डोक्यूमेंट्स भाग ३, पृष्ठ २१७-२३८।
२. वही, पृष्ठ २५९-२६०।

उत्तरदायित्व है।"[1] परित्राण के विषय पर केन्द्रीय सभा में बोलते हुए श्री जिन्ना ने व्यंगपूर्वक कहा,[2] 'परित्राणों के विषय में क्या स्थिति है ? रिजर्व बैंक, चलार्थ (Currency), विनिमय—कुछ नहीं कर सकते। रेलवे बोर्ड—कुछ नहीं कर सकते, बुरी तरह बन्धन प्रस्त। रह क्या गया है ? राजकोषीय स्वयसत्ता अभिसमय। अब और क्या रहा ? सुरक्षा, विदेशी विषय सुरक्षित हैं ? वित्त—यह पहले से ही बुरी तरह बन्धन ग्रस्त है। हमारे बजट और इससे सम्बन्धित छोटे विषयों की क्या व्यवस्था है। महाराज्यपाल के विशेष उत्तरदायित्व, उसकी वित्तीय शक्तियाँ, विधि निर्माण में हस्तक्षेप और उसकी असाधारण शक्तियों के होते हुए हमारे पास रह ही क्या जाता है। महाराज्यपाल के पास यह सब शक्तियाँ होते हुए संघीय विधान मण्डल को वास्तव में क्या कार्य रहेगा ?" बाबू राजेन्द्र प्रसाद ने १९३४ में बम्बई कांग्रेस के अध्यक्ष पद के भाषण में कहा कि जिस शासन में सुरक्षा, विदेशी विषय और धार्मिक विभाग जनता के नियन्त्रण में नहीं होंगे उसे हम उत्तरदायी शासन या पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं कह सकते। जो विभाग मन्त्रियों को सौंपे गये हैं उनके संचालन में भी महाराज्यपाल मन्त्रियों की सलाह से कार्य नहीं करेगा यदि ऐसा करने में महाराज्यपाल के सुरक्षित विभागों, विशेष उत्तरदायित्व या स्वविवेकीय शक्तियों में हस्तक्षेप होता हो। इसी भाषण में उन्होंने महाराज्यपाल के सातों विशेष उत्तरदायित्वों का स्पष्टन किया।[3] सर शफात अहमद ने भी इसी प्रकार लिखा है। सुरक्षा और विदेशी विषय सुरक्षित रखे गये हैं और ब्रिटिश राजमुकुट में सार्वभौम सत्ता के क्षेत्र (in the sphere of paramountcy) में ऐसे अधिकार हैं जिनकी कोई सीमा नहीं है। इन विभागों में ऊपर देश का सम्मान, गौरव अस्तित्व निर्भर है। इन अधिकारों के बिना देश एक असहाय दर्शक की भांति है जिस पर चाहे जब आक्रमण हो सकता है और देश के विषय में उन वार्तालापों का, जिनके कारण देश का भाग्य बन या बिगड़ सकता है, परन्तु उन मनुष्य के हाथ में होगा जो हमारी संसद को उत्तरदायी नहीं होंगे। सुरक्षित विभागों के विषय में संघीय विधान मण्डल में कुछ वाद-विवाद हो सकता है परन्तु मुख्य उत्तरदायित्व महाराज्यपाल का ही रहेगा। कुछ विभाग मन्त्रियों को सौंपे गये हैं परन्तु वे परिमाणों और अन्य दूसरे ढंगों में इस तरह जकड़े हुए हैं कि एक मन्त्री अपने विभाग में स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य नहीं कर सकता और न कोई ऐसी नीति अपना सकता है जिसके द्वारा राष्ट्रीय योग्यता और शक्ति का स्वतन्त्रतापूर्वक विकास हो सके। पग-पग पर मन्त्रियों को रोका जा सकता है और उनके कार्य में अड़चनें डाली जा सकती हैं और उनकी अच्छी से अच्छी योजनायें एक जिद्दी परिषद या वित्तीय सलाहकार (सिद्धान्त व

---

१. ए० सी० बनर्जी : इण्डियन कान्स्टीट्यूशनल डाक्यूमेंटस भाग ३, पृष्ठ २३१।

२. वही, पृष्ठ २३०।

३. वही, पृष्ठ २३३-३८।

अभिमान से भिन्न) द्वारा ठुकरायी जा सकती थी। सरकार के प्रत्येक विभाग को महाराज्यपाल का विशेष उत्तरदायित्व प्रभावित करेगा और कोई भी विषय इस उत्तरदायित्व से दूर नहीं रहेगा।[1] आगे चलकर उन्होंने कहा कि ये परित्राण कुछ मनुष्यों की राय से देश की बढ़ती हुई राष्ट्रीयता पर बन्धन का कार्य करेंगे। इन परित्राणों की मात्रा इतनी अधिक है कि अधिनियम में ये प्रत्यक्ष प्रगट होती हैं और इनका प्रभाव अत्यन्त अधिक होगा।

(८) १९३५ के संविधान में संघीय विधान मण्डल के निचले सदन के लिये अप्रत्यक्ष चुनाव की व्यवस्था की गई है। यह लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों के विरुद्ध है। ऐसी अवस्था में निचला सदन जनता का वास्तविक प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। इस पद्धति के द्वारा भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन रहेगी और वर्गों और साम्प्रदायिक हितों के आधार पर सदस्य चुन जायेंगे। राष्ट्रीय विचार वालों को कोई स्थान नहीं मिलेगा।

(९) इस अधिनियम के अन्तर्गत संघीय विधान मण्डल के दोनों सदनों को समान अधिकार दिए गए हैं। यह भी प्रजातान्त्रिक सिद्धान्त के विरुद्ध है और इसके कारण गतिरोध की सम्भावना रहेगी। सच्ची संसदीय सरकार में निचला सदन ही प्रभावशाली होता है और सरकार उसी की उत्तरदायी होती है। १९३५ के अधिनियम में उच्च सदन को शक्तियाँ अधिक रखी गई हैं। श्री क्लीमेंट एटली ने ठीक ही कहा था कि हम भारत में ब्रिटिश हाउस ऑफ लार्ड्स से भी अधिक प्रभावशाली उच्च सदन बना रहे हैं इसका संगठन उससे अधिक प्रतिक्रियावादी होगा।

(१०) साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व और सुरक्षित स्थानों के कारण संघीय विधान मण्डल का रूप ही बदल जायेगा। सदस्यगण ऐसी अवस्था में सहयोग से कार्य नहीं कर सकेंगे और वे भिन्न-भिन्न वर्गों में बँट जायेंगे। ऐसी अवस्था में देश में लोकतन्त्रीय संस्थाओं का विकास सम्भव नहीं है। सर शफात अहमद लिखते हैं, 'संघीय विधान मण्डल का संगठन ऐसा अजीब है और इसकी प्रक्रिया ऐसे ढंग से बनाई गई है कि यह स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य नहीं कर सकती। इसमें वास्तविक एकता का अभाव रहेगा। इसमें सामान्य भक्ति और राष्ट्रीय दृढ़ता की चेतना का अभाव रहेगा। यह ऐसे विभागों में बट जायेगी जो विनाशकारी और सिद्धान्त रहित होंगे, इन विभागों में न तो नेतृत्व होगा और न साथ-साथ कार्य करने की भावना होगी। इस संघीय विधान मण्डल में युद्ध से पहले के आस्ट्रिया, हंगरी की संघीय संसद के विशेष लक्षण विद्यमान थे। इसको राष्ट्रीय धारा सभा नहीं कह सकते। इसको भारतीय देशी राज्यों और प्रान्तों का राष्ट्रमण्डल या एक छोटी सी लीग ऑफ नेशन्स कह सकते हैं।'[2]

(११) संघीय विधान मण्डल की विधायनी शक्तियों पर कड़े प्रतिबन्ध

१. सर शफात अहमद खां : दी इण्डियन फेडरेशन, पृष्ठ ३५७-३५८।

२. वही, पृष्ठ ३५८।

लगाए गए थे। महाराज्यपाल की अनुमति के बिना कुछ विषयो के प्रस्ताव विधान मण्डल मे पेश नही किये जा सकते थे। कुछ अन्य विषयो पर जैसे भेद-भाव के कानून आदि पर किसी दशा मे भी विधान मण्डल कानून नही बना सकता थी। महाराज्यपाल को विधेयकों के बारे मे अवरोध शक्ति प्राप्त थी। वह सविधान मण्डल की उपेक्षा करके स्वय कानून भी बना सकता था और अध्यादेश भी जारी कर सकता था।[1]

(१२) वित्तीय विषयो मे सघीय विधान मण्डलो की स्थिति और खराब थी। सघीय बजट पर उसका नियन्त्रण बहुत सीमित था। बजट के अधिक भाग पर उसको मत प्रगट करने का अधिकार नही था। बाबू राजेन्द्र प्रसाद ने कहा था कि जब हम वित्त के प्रश्न पर विचार करते हैं तो हमें १९३५ के सुधारो का खोखलापन प्रतीत होता है। यह अनुमान लगाया गया है कि केन्द्रीय राजस्व का ८०% खर्च सेना, ऋण, पेंशन, भत्ते इत्यादि पर व्यय होगा जिस पर विधान मण्डल मत नहीं दे सकती थी। शेष २० प्रतिशत खर्च पर जो मन्त्री के अधीन था उस पर उच्च सदन भी अपना मत दे सकता था और यदि यह सदन चाहे तो इसे दोनो सदनो की सयुक्त बैठक के समक्ष अन्तिम निर्णय के लिये रख सकता था। यदि महाराज्यपाल चाहता तो अपने विशेष उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए किसी कम मांग को बढा सकता था और विधान मण्डल को इस पर मत देने का अधिकार नहीं था। इस तरह बाबू राजेन्द्र प्रसाद के शब्दो में केन्द्र मे सार्वजनिक राजस्व के ऊपर मन्त्रियो का नियन्त्रण नाम-मात्र का था।

(१३) १९३५ के सविधान के अनुसार मन्त्रियो का असैनिक सेवा पर नियन्त्रण सीमित था। वे भारत सचिव के ही उत्तरदायी थे और महाराज्यपाल उनके हितो की रक्षा करता था। यह उसका विशेष उत्तरदायित्व था। बाबू राजेन्द्र प्रसाद ने ठीक ही कहा है कि हम अपने मकान के स्वामी होते हुए भी उनके सेवको के ऊपर कोई नियन्त्रण नहीं रखेंगे यद्यपि उनके ऊँचे वेतन, पेंशन छुट्टी और पदोन्नति हमे देनी होगी। इन असैनिक सेवको को अपने मन्त्रियो की नीति निश्चय और आदेशो को ठुकराने का भी अवसर मिलेगा। वे यदि चाहे तो गतिरोध भी उत्पन्न कर सकते थे जिसके फलस्वरूप भारतीय मन्त्रियो को अयोग्य प्रमाणित किया जा सके और यह कहने का अवसर मिले कि भारतीयो को शक्तियां देना एक भूल थी।[2]

(१) देशी राज्य उन विषयों मे जिनका सघ शासन से कोई सम्बन्ध नही था, सार्वभौम सत्ता की परम्पराओ और कानून के अनुसार कार्य करेंगे। ब्रिटिश भारत की जनता देशी राज्यो मे स्वायत्त शासन स्थापित करने के लिए असफल आन्दोलनो का दर्दनाक दृश्य देखेगी, परन्तु वह इस विषय मे कुछ भी कार्य करने के लिए असमर्थ होगी। सविधान मे विधान मण्डलो को देशी राज्यो की स्थिति मे

१. ए० सी० बनर्जी : इण्डियन कान्स्टीट्यूशनल डाक्यूमेंट्स, भाग ३, पृष्ठ २३७।

२. वही, पृ० ३३६।

परिवर्तन या संशोधन करने का अधिकार नहीं दिया था।[1]

(१५) केन्द्र में संघ शासन स्थापित होने के लिये देशी राज्यों की अनुमति आवश्यक थी। यदि निश्चित संख्या में देशी राज्य संघ शासन में सम्मिलित न हों तो यह स्थापित नहीं हो सकता। इसलिए केन्द्र में उत्तरदायी सरकार स्थापित करने के लिए देशी शासकों की अनुमति आवश्यक थी। यह १९३५ के अधिनियम की एक मुख्य त्रुटि थी, देशी राज्यों को भारत के संवैधानिक विकास पर अवरोध शक्ति प्रयोग करने का अधिकार था।

**प्रान्तीय कार्यपालिका**—१९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तों में स्वायत्त शासन स्थापित किया गया। सब प्रान्तीय विभाग मन्त्रियों को सौंप दिए गए परन्तु राज्यपाल को दिये गए अधिकारों और विशेष उत्तरदायित्वों ने स्वायत्त शासन के महत्व को कम कर दिया। इस अधिनियम के अन्तर्गत के ११ राज्यपाल प्रान्त स्थापित हुए। बर्मा को भारत से पृथक् कर दिया गया, सिन्ध और उड़ीसा दो नये प्रान्त बना दिये गए। राज्यपाल के ११ प्रान्त इस प्रकार थे—मद्रास, बम्बई, सिन्ध, पंजाब, बंगाल, बिहार, उड़ीसा, आसाम, संयुक्त प्रान्त, मध्य प्रान्त व बरार और उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त। प्रान्तों में भी केन्द्र की तरह कार्यपालिका स्थापित की गई। प्रान्तों की कार्यपालिका शक्ति का, राजमुकुट की ओर से राज्यपाल प्रयोग करता था। राज्यपाल की नियुक्ति राजमुकुट के द्वारा होती थी और वह महाराज्यपाल के प्रति उत्तरदायी था। वह अपना कार्य एक मन्त्री परिषद् की सलाह और सहायता से करता था। इसके अतिरिक्त उसकी कुछ विशेष शक्तियाँ और उत्तरदायित्व भी थे। अपना कार्य चलाने के लिए उसको कुछ अनुदेश लेख्य भी दिये जाते थे। राज्यपाल प्रान्त की साख और वित्तीय स्थिरता को सुरक्षित रखने के लिए उत्तरदायी नहीं था। ब्रिटेन और बर्मा से आये हुए माल के विरुद्ध भेद-भाव को रोकना उसके हाथ में नहीं था। प्रान्तों में सुरक्षित विभाग भी नहीं थे जिनकी देखभाल उसको करनी पड़ती। यदि प्रांत में आतंक की पूर्ण स्थिति हो जिसके कारण प्रांत की शान्ति भंग होने का भय हो तो अनुच्छेद ५७ के अनुसार राज्यपाल अपने स्वविवेक से कार्य कर सकता था।

**राज्यपाल के विशेष उत्तरदायित्व**—उसे निम्नलिखित विशेष उत्तरदायित्व प्राप्त थे। (१) प्रांत या उसके किसी भाग की शान्ति को भयंकर खतरे से बचाना। (२) अल्पमतों के उचित हितों की रक्षा करना। (३) सार्वजनिक सेवा के सदस्यों और उनके आश्रितों के उचित हितों की रक्षा करना। (४) किसी प्रकार के व्यवसायिक भेद भाव को रोकना। (५) अंशतः अपवर्जित क्षेत्रों में सुशासन और शान्ति को सुरक्षित रखना। (६) देशी राज्यों के अधिकार और देशी राज्यों के शासकों के अधिकार और गौरव को सुरक्षित रखना। (७) महाराज्यपाल के स्वविवेक में दिये गये आदेश और निर्देशों को कार्यान्वित करने हुए सुरक्षित रखना।

१. गुरमुख निहाल सिंह : दी इण्डियन फैडेरेशन, पृ० ३५७।

इन सात विशेष उत्तरदायित्वों के अलावा राज्यपाल को कुछ विशेष उत्तरदायित्व भी मिले हुए थे। मध्य प्रान्त और बरार के राज्यपाल का यह विशेष उत्तरदायित्व था कि वह देखे कि प्रान्त के राजस्व का उचित भाग बरार की भलाई पर खर्च होता है या नहीं। उन प्रान्तों में जहां कोई अपवर्जित क्षेत्र हो या राज्यपाल, महाराज्यपाल के अभिकर्त्ता के रूप में कार्य करे तो ऐसी स्थिति में भी राज्यपाल को विशेष उत्तरदायित्व मिले हुए थे। सिन्ध के राज्यपाल को लायड बैरिज (सिन्ध नदी का बाँध) और नहर योजना के अच्छे प्रशासन को सुरक्षित रखने का विशेष उत्तरदायित्व भी मिला हुआ था। अपने विशेष उत्तरदायित्वों को कार्यान्वित करने के लिए राज्यपाल को अपने व्यक्तिगत निर्णय के आधार पर कार्य करने का अधिकार था।

**प्रान्तों की मन्त्री परिषद्**—प्रान्तीय मन्त्रियों को राज्यपाल चुनता था। वे राज्यपाल के प्रसाद के अनुसार ही अपने पद पर रह सकते थे। राज्यपाल अपने स्वविवेक में अपने मंत्री परिषद् की बैठकों का सभापतित्व कर सकता था। एक मंत्री यदि विधान मण्डल का सदस्य नहीं होता था तो ६ महीने के भीतर ही उसे विधान मण्डल का सदस्य निर्वाचित होना पड़ता था। मन्त्रियों के वेतन प्रान्तीय विधान मण्डल ही नियत करती थी। उनके कार्यकाल में उनके वेतन में परिवर्तन नहीं हो सकता था। मंत्री परिषद् राज्यपाल को उन विषयों में सहायता और सलाह देती थी जो उसके स्वविवेक या व्यक्तिगत निर्णय में नहीं आते थे। यदि किसी विषय पर वाद-विवाद हो कि अमुक विषय राज्यपाल के स्वविवेक या व्यक्तिगत निर्णय के अन्तर्गत आता है या नहीं तो इसका निर्णय वह अपने स्वविवेक से करता था और वही अन्तिम निर्णय माना जाता था। किसी न्यायालय को यह अधिकार नहीं था कि वह पूछे कि अमुक मंत्री ने राज्यपाल को सलाह दी है या नहीं या किसी प्रकार की सलाह दी है या नहीं। मन्त्रियों को चुनना, बुलाना और पदच्युत करना और उनके वेतन निश्चित करने के कार्य सह-स्वविवेक द्वारा करता था। राज्यपाल के स्वविवेक और व्यक्तिगत निर्णय के प्रयोग के विषय में मन्त्री सवैधानिक सलाह नहीं दे सकते थे। जब राज्यपाल अपने स्वविवेक में कार्य करता था तो वह मन्त्रियों की सलाह लेने के लिये बाध्य नहीं था। व्यक्तिगत निर्णय के आधार पर कार्य करते हुए वह मन्त्रियों की सलाह ले सकता था परन्तु उसे मानने के लिए बाध्य नहीं था। राज्यपाल को सरकार का कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिए मन्त्रियों में कार्य विभाजित करने का अधिकार था। राज्यपाल अपने स्वविवेक में ऐसे नियम बना सकता था कि गुप्त वार्ता विभाग के आतंकवादी कार्यों के विषय में सूचना और अभिलेखों को किस प्रकार गुप्त रखा जाय। इन नियमों में यह भी दिया हुआ था कि मन्त्री और सचिव राज्यपाल को वह सब सूचना दें जिसका सम्बन्ध उसके किसी विशेष उत्तरदायित्व से हो। राज्यपाल को राजमुकुट की ओर से कुछ अनुदेश लेख्य भी दिए गए जो मन्त्रियों के चुनने इत्यादि के विषय में थे। राज्यपाल मन्त्री उस व्यक्ति की सलाह से चुनता था, जो उसकी राय में विधान मण्डल के स्थाई बहुमत को अपने पक्ष में रखता हो, उस मनुष्य को मुख्य मन्त्री नियुक्त

किया जाता था और अन्य मंत्री उसकी सलाह से चुने जाते थे। राज्यपाल का यह भी कर्तव्य था कि वह मन्त्री परिषद् में जहाँ तक सम्भव हो सके महत्वपूर्ण अल्पमत वर्गों के सदस्यों को भी स्थान दे। मंत्री परिषद् को सामूहिक रूप से विधान मण्डल का विश्वास प्राप्त होना चाहिए। राज्यपाल का कर्तव्य था कि वह मन्त्रियों में संयुक्त उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न करे। अनुदेश लेख्य में यह भी लिखा हुआ था कि राज्यपाल सरकार के कार्य का बटवारा करते समय इस बात की व्यवस्था करे कि यदि कोई मन्त्री प्रान्त के वित्त के विषय में कोई सुझाव रखे तो वित्त मन्त्री से परामर्श अवश्य किया जाय। यदि वित्त विभाग के अलावा और किसी विभाग में किसी मांग के पुनः विनियोग के विषय में वित्त मन्त्री से मतभेद हो तो यह सुझाव, मन्त्री परिषद् के समक्ष रखा जाना चाहिए। राज्यपाल ऐसे नियम भी बना सकता है कि यदि किसी अल्पमत वर्ग से कोई प्रार्थना पत्र आवे तो उस पर तुरन्त ध्यान दिया जाये। राज्यपाल आतंकवादी कार्यों को रोकने के लिए एक सरकारी अधिकारी को कुछ समय के लिए मन्त्री नियुक्त कर सकता था, जो उसी के कहने पर कार्य करता।

राज्यपाल की शक्तियां : (१) कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियां—उसे इस प्रकार की कई शक्तियां प्राप्त है—(अ) विशेष उत्तरदायित्व, इनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं कि प्रान्त की शान्ति, अल्पमतों के हितों की रक्षा, सार्वजनिक सेवा के सदस्यों के उचित हितों की रक्षा, किसी प्रकार के व्यावसायिक भेदभाव को रोकने अंशतः अपवर्जित क्षेत्रों के सुशासन और शान्ति को सुरक्षित रखना, देशी राज्यों और उनके शासकों के अधिकारों को सुरक्षित रखना, महाराज्यपाल के स्वविवेक से दिए गए आदेश और निर्देशों को कार्यान्वित करते हुए सुरक्षित रखना, इत्यादि उसके विशेष उत्तरदायित्व है। इन विशेष उत्तरदायित्वों को निभाने के लिए वह कार्यकारिणी सम्बन्धी कोई भी कदम उठा सकता है। वह अपने मन्त्रियों और सचिवों से कह सकता है, कि यदि कोई विषय उसके विशेष उत्तरदायित्वों से सम्बन्ध रखता हो वे उसे उसके समक्ष रखें। (ब) स्वविवेकीय शक्तियां, पूर्णतया अपवर्जित क्षेत्रों का शासन वह अपने स्वविवेक से चलायेगा। सरकार के विफल हो जाने पर वह अपने स्वविवेक से कार्य करेगा, कुछ विधायनी विषयों में भी वह अपने स्वविवेक से कार्य करेगा। जिस समय वह अपने स्वविवेक से कार्य करेगा उस समय संवैधानिक रूप से मन्त्री उसे सलाह नहीं दे सकते। (स) १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत विधि और व्यवस्था भी मन्त्रियों को सौंप दिए गए। परन्तु पुलिस के हितों की रक्षा के लिए कुछ संवैधानिक उपबन्ध रखे गए। राज्यपाल की अनुमति लिए बिना पुलिस अधिनियमों या पुलिस नियमों में संशोधन या निरसन नहीं किया जा सकता था। आतंकवादी कार्यों को रोकने के लिए गुप्त विभाग के कार्य की सूचना और अभिलेख राज्यपाल की अनुमति के बिना बाहर के व्यक्तियों को नहीं दिखाई जायेंगी। आतंकवादी कार्य जो प्रान्त की सरकार या शान्ति को नष्ट करना चाहें रोकने के लिए राज्यपाल एक विशेष व्यवस्था कर सकता था। (द) जब प्रान्त की सरकार विफल हो जाय और

उसको चलाना सम्भव न हो तो राज्यपाल यह घोषणा कर सकता था कि वह अपना कार्य स्वविवेक से करेगा और प्रान्त की शक्तियां अपने हाथ में ले लेगा।[1] इस प्रकार की घोषणा की सूचना तुरन्त ही भारत सचिव को दी जायेगी और यह छ महीने तक ही लागू रह सकती है, इसकी अवधि बढ़ाई जा सकती है परन्तु किसी दशा में भी यह तीन साल से अधिक नहीं रह सकती। राज्यपाल अपनी घोषणा को अपनी किसी दूसरी घोषणा द्वारा संशोधन या रद्द कर सकता है। यदि राज्यपाल प्रान्तीय विधान मण्डल के बजाय स्वयं कोई कानून बनाए तो वह घोषणा के समाप्त होने के दो साल बाद तक चलेगा। प्रान्तीय विधान मण्डल ऐसे कानून को रद्द या दुबारा कार्यान्वित कर सकता था। राज्यपाल इस प्रकार की घोषणा महाराज्यपाल की अनुमति के बिना जारी नहीं कर सकता था।

(२) **विधायनी शक्तियां**—राज्यपाल को कुछ विधायनी शक्तियां भी प्राप्त थी। वह अपने स्वविवेक से विधान मण्डल द्वारा पास हुए किसी विधेयक पर हस्ताक्षर कर दे, या हस्ताक्षर करने से मना कर दे, ऐसी दशा में मन्त्रियों को संवैधानिक अधिकार नहीं था कि वे उसे सलाह दें। राज्यपाल को अपने विशेष उत्तरदायित्वों को निभाने के लिये अपने अधिनियम (Governor's Act) बनाने का अधिकार था। ऐसे अधिनियमों के लिए मन्त्री या विधान मण्डल उत्तरदायी नहीं होते थे। ऐसे अधिनियमों को बनाने की विधि इस प्रकार थी—राज्यपाल इस आशय को विधेयक विधान मण्डल के सम्मुख पेश करता था और इसके साथ एक सन्देश भेजता था कि एक महीने के भीतर इस विधेयक का अधिनियम बन जाना आवश्यक है। इस अधिनियम के लिए विधान मण्डल की अनुमति आवश्यक नहीं थी। राज्यपाल दो प्रकार के अध्यादेश भी जारी कर सकता था पहले प्रकार का अध्यादेश मन्त्रियों की सलाह से और दूसरे प्रकार का अपने स्वयं के उत्तरदायित्व के आधार पर। यदि प्रान्तीय विधान मण्डल की बैठक न हो रही हो और मन्त्री राज्यपाल से यह कहें कि कोई आपात स्थिति है और प्रान्त के अनुशासन के लिये अध्यादेश जारी करना आवश्यक है तो वह राज्यपाल को इस प्रकार की सलाह दे सकते थे। इस अध्यादेश के लिए मन्त्री ही उत्तरदायी होते थे। ऐसे अध्यादेश प्रान्तीय विधान मण्डल की अगली बैठक के छः सप्ताह बाद चलते थे। वह अपनी स्वविवेक शक्ति और व्यक्तिगत निर्णय के आधार पर स्वयं अध्यादेश जारी कर सकता था। पहली बार वे छ: महीने के लिये जारी होते थे। इनकी अवधि छ महीने के लिए फिर बढ़ाई जा सकती थी। वह विधान मण्डल में किसी विधेयक के विषय में कोई ऐसी कार्यवाही को रोक सकता था जो उसके विशेष उत्तरदायित्वों को प्रभावित करती हो। किसी भी विधेयक पर दी हुई अनुमति को वह राज्यपाल के नाम से वापिस ले सकता था। किसी भी विधेयक को वह महाराज्यपाल के विचार के लिए सुरक्षित रख सकता था।

(३) **वित्त सम्बन्धी शक्तियां**—महाराज्यपाल की सिफारिश के बिना अनुदान

---

१. १९३५ के अधिनियम का अनुच्छेद ९३।

के लिए माँग विधान मण्डल में प्रस्तुत नहीं हो सकती थी। विधान मण्डल द्वारा रद्द की हुई किसी माँग को वह बहाल कर सकता था।

**प्रान्तीय विधान मण्डल**—१९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत प्रत्येक प्रान्त में एक विधान मण्डल होता था जो राजमुकुट और सदनों को मिलाकर बनता था। राज्यपाल राजमुकुट का प्रतिनिधित्व करता था। बंगाल, बिहार, आसाम, संयुक्त प्रान्त, मद्रास और बम्बई में प्रान्तों में विधान मण्डल के दो सदन होते थे, अन्य प्रान्तों में एक सदन होता था। जिन प्रान्तों में दो सदन होते थे उनमें निचले सदन को विधान सभा और उच्च सदन को विधान परिषद् कहते थे। जिन प्रान्तों में एक ही सदन था उसे विधान सभा कहते थे। इस अधिनियम के अनुसार विधान मण्डलों में सरकारी सदस्यों को स्थान नहीं दिया गया। विधान मण्डलों में लगभग सभी सदस्य चुने हुए होते थे। केवल उच्च सदन में राज्यपाल द्वारा कुछ सदस्य मनोनीत होते थे। प्रत्येक प्रान्त के विधान परिषद् की सदस्य संख्या भिन्न-भिन्न थी। बंगाल की संख्या ६५ थी जो सबसे अधिक थी, आसाम की संख्या २१ थी जो सबसे कम थी। प्रान्तीय विधान मण्डल भिन्न-भिन्न ढंग से बनती थी, कुछ सदस्य मनोनीत होते थे, मनोनीत सदस्यों की संख्या मद्रास में १० थी जो सबसे अधिक थी। बिहार, आसाम और बम्बई में ३ मनोनीत सदस्य होते थे। परिषदों में कुछ सदस्य साधारण मुस्लिम, यूरोपियन और भारतीय ईसाई क्षेत्रों से चुने जाते थे। बंगाल में २७ और बिहार में १२ सदस्य विधान सभाओं से चुने जाते थे।[1] अन्य जिन प्रान्तों में दो विधान सभायें थी जैसे मद्रास, बम्बई संयुक्त प्रान्त और आसाम में विधान सभायें, विधान परिषदों के लिये सदस्य नहीं चुनती थी सब सदस्य प्रत्यक्ष रूप से जाते थे। साम्प्रदायिक निर्णय से विधान परिषदों के संगठन का कोई उल्लेख नहीं था। परन्तु उनको संगठित करते समय साम्प्रदायिक निर्णय को ही आधार बनाया गया। विधान सभाओं के सब सदस्य निर्वाचित होते थे। प्रान्तीय विधान सभाओं के सदस्यों की संख्या इस प्रकार थी।[2] मद्रास २१५ बम्बई १७५, बंगाल २५०, संयुक्त प्रान्त २२८, पंजाब १७५, बिहार १५२, मध्य प्रान्त और बरार ११२, आसाम १०८, उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त ५०, उड़ीसा ६० और सिन्ध ६०। विधान सभा के सदस्यों का चुनाव साम्प्रदायिक निर्णय और पूना समझौते के आधार पर होता था। इन सबका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं।

विधान सभाओं का अवधि काल पाँच वर्ष होगा यदि वे इससे पहले विघटित न कर दिये जाएँ। विधान परिषदें स्थाई निकाय थीं। परन्तु उनके ⅓ सदस्य प्रत्येक तीसरे वर्ष अवकाश प्राप्त करते थे। प्रत्येक प्रान्त के विधान मण्डल की वर्ष में कम से कम एक बैठक अवश्य होनी चाहिए थी। राज्यपाल अपने स्वविवेक से विधान

१. १९३५ का अधिनियम अनुसूची ५, प्रान्तीय विधान परिषदों के स्थानों की सूची, पृष्ठ ३३७।

२. वही, प्रान्तीय विधान सभा के सदस्यों की सूची, पृष्ठ ३३६।

मण्डल के सदनों की बैठक बुला सकते थे, उनका सत्रावसान कर सकते थे और विधान सभाओं को विघटित कर सकते थे। राज्यपाल अपने स्वविवेक से विधान सभा या विधान परिषद् या दोनों सदनों की संयुक्त बैठक को सम्बोधित कर सकते थे। वे एक या दोनों सदनों को किसी विधेयक के विषय में संदेश भेज सकते थे और सदनों का यह कर्त्तव्य था कि जल्दी से जल्दी वे उस सन्देश पर विचार करें। प्रत्येक मन्त्री और महाधिवक्ता को दोनों सदनों में बोलने का अधिकार था। परन्तु वे अपना उसी सदन में मत दे सकते थे जिसके कि वे सदस्य होते थे। प्रत्येक विधान सभा अपने सदस्यों में से एक अध्यक्ष और एक उपाध्यक्ष चुन सकते थे। इसी तरह प्रत्येक विधान परिषद् एक सभापति और एक उपसभापति चुनती थी। सभापति और उपसभापति को निर्णायक मत देने का अधिकार था। उनके वेतन विधान मण्डलों के अधिनियमों द्वारा निश्चित होते थे। प्रान्तीय विधान सभा की गणपूर्ति पूरी सदस्य संख्या की ⅙ होती थी और विधान परिषदों की गणपूर्ति १० होती थी एक मनुष्य परिषद् या विधान सभा की सदस्यता के अयोग्य ठहरा दिया जायेगा यदि (१) वह भारत में राजमुकुट के आधीन लाभ का कोई पद ग्रहण करता हो (२) या विकार मस्तिष्क वाला हो (३) यदि वह अभियोगग्रस्त दिवालिया हो (४) यदि वह चुनावों के विषय में भ्रष्टाचार के सम्बन्ध में दोषी ठहरा दिया गया हो। यदि उसे आजीवन कारावास हो गया हो या दो साल से अधिक का कारावास हो चुका हो और छूटने के उपरान्त पांच साल पूरे नहीं हुए हों। कोई ऐसा मनुष्य जो आजन्म कारावास की सजा भुगत रहा हो या किसी अपराधिक जुर्म में सजा पा रहा हो, विधान मण्डल के किसी सदन का सदस्य नहीं बन सकता। विधान मण्डल के सदस्यों को विधान मण्डल के भीतर व्याख्यान देने की पूरी स्वतन्त्रता थी और वहाँ पर दिए गए भाषण और मत के विषय में उनके विरुद्ध न्यायालयों में मुकद्दमा नहीं चलाया जा सकता था और विधान मण्डल की आज्ञा से हुए प्रकाशन के विषय में उन पर मुकद्दमा नहीं चल सकता था। सदस्यों के वेतन और भत्ते विधान मण्डल के अधिनियम द्वारा निश्चय होते थे।

**प्रान्तीय विधान मण्डलों की शक्तियां : (१) विधायनी शक्तियां**—एक विधेयक तभी पारित समझा जाता था जब वह दोनों सदनों द्वारा पारित हो जाय। इसके बाद उसे राज्यपाल की अनुमति के लिए भेजा जाता था। उसकी अनुमति प्राप्त करने के उपरान्त यह सरकारी गजट में प्रकाशित होता था। यदि किसी विधेयक के विषय में दोनों सदनों में मतभेद हो और यह भेद १२ महीने के अन्दर तय न किया जा सके तो राज्यपाल दोनों सदनों का एक संयुक्त सत्र बुला सकता था। संयुक्त बैठक में विधेयक बहुमत से पारित हो जाता था। विधेयक किसी भी सदन में प्रस्तुत किये जा सकते थे परन्तु वित्त विधेयक सबसे निचले सदन में ही प्रस्तुत किये जा सकते थे। उच्च सदन पुनरीक्षण का ही कार्य करते थे। राज्यपाल विधान मण्डल से पास किये गये विधेयक पर हस्ताक्षर कर सकता था, हस्ताक्षर करने को मना कर सकता था या उन्हें विधान मण्डल में पुनः विचार के लिए सुरक्षित रख

सकता था, वह किसी विधेयक के ऊपर वाद-विवाद को रोक सकता था यदि वह वाद-विवाद उसके विशेष उत्तरदायित्वों को प्रभावित करता हो। राजमुकुट किसी भी विधेयक को रद्द कर सकता था।

(२) वित्तीय शक्तियां—वित्त विधेयक निचले सदन में ही प्रस्तुत किये जा सकते थे। वे राज्यपाल की सिफारिश पर अनुदानों की मांग के रूप में विधान सभा के समक्ष प्रस्तुत किए जाते थे। विधान सभा उन मांगों को स्वीकार कर सकती थी, उन्हें कम कर सकती थी या अस्वीकार कर सकती थी। यदि किसी व्यय की मांग को विधान सभा ने अस्वीकार किया हो तो राज्यपाल उसे इस आधार पर बहाल कर सकता था कि यह उसके विशेष उत्तरदायित्व को प्रभावित करती है। वार्षिक आय और व्यय का ब्योरा जिसे बजट कहते थे राज्यपाल विधान मण्डल के समक्ष प्रस्तुत करता था। इस ब्योरे में दो प्रकार के व्यय का उल्लेख होता था। (१) भारित व्यय (२) प्रस्तावित व्यय। भारित व्यय में राज्यपाल के वेतन और भत्ते, मन्त्रियों और महाधिवक्ता के वेतन और भत्ते, उच्च न्यायालय के जजों के वेतन और भत्ते, अपवर्जित क्षेत्रों के शासन का खर्च, ऋण, निक्षेप-निधि इत्यादि होते थे। भारित व्यय की मांगें विधान सभा के मत के लिए नहीं रखी जाती थीं, राज्यपाल के वेतन और भत्ते, तथा उसके कार्यालय के व्यय को छोड़कर अन्य भारित व्यय की मदों पर वाद-विवाद हो सकता था। राज्यपाल किसी व्यय की मद को इस आधार पर रख सकता था कि यह उसके विशेष उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए आवश्यक है परन्तु यह शक्ति तभी प्रयोग में लाई जा सकती थी जब उस मांग को रखा गया हो और विधान मण्डल ने उसे अस्वीकार या कम कर दिया हो। प्रस्तावित व्यय पर विधान सभा में वाद-विवाद होता था और उस पर मत भी लिये जाते थे।

(३) कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियां—मन्त्रिगण विधान मण्डल को उत्तरदायी होते थे। यदि वे विधान मण्डल का विश्वास खो दें तो उन्हें अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ता था। सदस्यों को मन्त्रियों से प्रश्न पूछने का अधिकार था। विधान मण्डल प्रान्तीय शासन पर खुले आम वाद-विवाद कर सकती थी और कमेटी या कमीशन नियुक्त करके उसकी जांच पड़ताल भी कर सकती थी।

**प्रान्तीय स्वायत्त शासन का आलोचनात्मक विश्लेषण**—(१) संयुक्त समदीय प्रवर समिति ने स्वायत्त शासन की बड़ी प्रशंसा की है। उन्होंने इसे १९१९ के अधिनियम की अपेक्षा एक मूल परिवर्तन (fundamental departure) बताया है। उसकी राय में सरकारी श्वेत पत्र के सब सुझावों में से स्वायत्त शासन ही ऐसा है जिसको सब ओर से समर्थन प्राप्त हुआ था। इसके द्वारा केन्द्रीय सरकार के हस्तक्षेप से बचकर प्रान्तों को स्वाधीनता-पूर्वक अपना शासन चलाने का अवसर मिला था। श्री मोहम्मद अली जिन्ना इसे प्रगतिशील कदम बताते हैं। इसके द्वारा अधिक संख्या में मनुष्यों को मताधिकार प्राप्त हो गया। प्रान्तीय विधान मण्डल निर्वाचित सदस्यों द्वारा संगठित होने लगी। प्रान्तीय मन्त्री परिषद् विधान मण्डलों के प्रति

उत्तरदायी थे। ये सब लक्षण प्रगतिशील थे। सर शफात अहमद ने लिखा है कि स्वायत्त शासन के द्वारा प्रान्तों मे रचनात्मक कार्य के लिये महान् अवसर था। भारत के इतिहास में सबसे पहली बार मुख्य मन्त्री ऐसे विशाल क्षेत्रो वाले प्रान्तो की बागडोर सम्भालेगा जिनका क्षेत्रफल और जनसंख्या ब्रिटेन से भी अधिक होगी। भारतीय जनता मे अधिकार, मताधिकार और राजनैतिक शिक्षा के द्वारा एक सामाजिक क्रान्ति उत्पन्न होगी जिसका अनुमान बहुत कम मनुष्य लगा सकते थे।[1] परन्तु अधिकाश भारतवासियों ने इस योजना की निन्दा ही की। श्री भोला भाई देसाई ने इसको एक मजाक (mockery) कहा और इसकी तुलना एक सफेद हाथी से की जिसके ऊपर २० करोड़ रुपया व्यय होगा। प्रान्तीय सरकारो के अधिकार इतने सीमित कर दिये गये कि स्वायत्त शासन का अस्तित्व ही जाता रहा। हम प्रान्तो की सरकारो को वास्तव मे उत्तरदायी सरकार नही कह सकते थे।

(२) प्रान्तीय स्वायत्त शासन की सबसे आपत्तिजनक बात राज्यपाल के विशेषाधिकार थे। उनके विशेष उत्तरदायित्व, स्वविवेक और व्यक्तिगत निर्णय की शक्तियों और पुलिस सम्बन्धी अधिकारों ने उसे शासन का वास्तविक मुखिया बना दिया। सर शफात अहमद ने कहा है कि वह अधिराज्यो के राज्यपाल की सवैधानिक स्थिति मे न होकर अपने विशेषाधिकारों के कारण प्रान्तीय सरकार का प्रभावशाली मुख्य हो जायेगा। मन्त्री का छोटे से छोटा कार्य भी इस आधार पर रद्द किया जा सकता था कि वह राज्यपाल के विशेष उत्तरदायित्वों मे हस्तक्षेप करता है। बाबू राजेन्द्र प्रसाद के शब्दो मे यह अन्तत या मन्त्रियो का शासन न होकर अधिकतर राज्यपाल का ही स्वायत्त शासन होगा।[1] १९३५ अधिनियम के अन्तर्गत सबसे पहली बार राज्यपालो को अध्यादेश जारी करने और राज्यपालो को अधिनियम बनाने का अधिकार मिला। सैद्धान्तिक रूप मे मन्त्रीगण अपने विभागो के लिए उत्तरदायी होगे परन्तु राज्यपालो की शक्तियाँ इतनी अधिक हैं कि एक साधारण योग्यता का मन्त्री एक दृढ राज्यपाल के समक्ष असहाय होगा। नाममात्र के लिए तो विभाग मन्त्रियो के हाथो मे होगे परन्तु वास्तव मे दूसरे प्रभाव और शक्तियाँ ही उसे चलायेंगी।[2] श्री के० टी० शाह के अनुसार राज्यपाल की स्वविवेकीय शक्तियो के कारण कार्यपालिका का सबसे महत्वपूर्ण भाग मन्त्रियों के अधिकार से छीन लिया गया है। राज्यपाल की विशेष शक्तियों के कारण प्रान्त मे कभी भी ऐसी सवैधानिक परम्परा स्थापित नही हो सकती जिसके अनुसार राज्यपाल वास्तव मे कार्यपालिका का सवैधानिक प्रधान रहे। यह सोचना कि राज्यपाल थोडे समय बाद इगलैंड के सम्राट की भाँति सवैधानिक प्रधान हो जायेगा असम्भव है। प्रान्त के शासन मे राज्यपाल की वास्तविक स्थिति यदि प्रभावशाली नही है तो अधिक

१. दी इंडियन फैडरेशन, पृष्ठ ३६५।

२. ए० सी० बनर्जी : इन्डियन कॉन्स्टीट्यूशनल डोक्यूमेंट्स भाग ३, पृष्ठ २३४।

३. सर शफात अहमद खा - दी इन्डियन फैडरेशन, पृष्ठ १५६।

महत्वपूर्ण अवश्य है। (''''''the actual position of the Governor in the administration of the province will be overwhelmingly important, if not dominating )[1]

(३) १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तीय विधान मण्डलों की शक्तियाँ सीमित थीं। उन्हें कानून बनाने का पूर्ण अधिकार नहीं था। राज्यपाल के विशेषाधिकारों ने विधान मण्डल की शक्तियों को सीमित कर रखा था। विधान मण्डलों को भारित व्यय पर मत देने का अधिकार नहीं था। बड़े-बड़े प्रान्तों में भारित व्यय प्रान्त की आय का ⅔ हो जाता था। इस कारण प्रान्तीय सरकार की शक्ति शून्य सी प्रतीत होती थी। के० टी० शाह ने कहा है कि "भारतवासियों को रोटी के बजाय पत्थर मिले"।[2]

(४) साम्प्रदायिक व प्रतिनिधित्व की पद्धति ने प्रान्तीय विधान मण्डल का रूप ही बदल दिया। ऐसी अवस्था में प्रान्तीय विधान मण्डल एकता और संयुक्त भावना के साथ कार्य नहीं कर सकती थी। यह साम्प्रदायिक और स्वार्थपूर्ण आधारों पर बनी हुई थी। सदस्यों को १७ भागों में बाँट रखा था। वे १७ भाग इस प्रकार थे—(१) साधारण स्थान, (२) अनुसूचित जातियों के लिए सुरक्षित साधारण स्थान, (३) पिछड़े हुए क्षेत्रों और जन-जातियों के लिए स्थान, (४) सिक्ख स्थान, (५) मुस्लिम स्थान, (६) एंग्लो-इंडियनों के लिये स्थान, (७) यूरोपियन्स के लिए स्थान, (८) भारतीय ईसाइयों के लिये स्थान, (९) वाणिज्य और व्यवसाय वालों के लिये स्थान, (१०) विश्वविद्यालयों के स्थान, (११) मजदूरों के लिए स्थान, (१२) महिलाओं के लिए साधारण स्थान, (१३) सिक्ख महिलाओं के लिए स्थान, (१४) मुस्लिम महिलाओं के लिए स्थान, (१५) एंग्लो-इंडियन महिलाओं के लिए स्थान, (१६) भारतीय ईसाई महिलाओं के लिए स्थान। इस दशा में लोकतन्त्रीय संस्थाओं का विकास असम्भव था।

(५) कई प्रान्तों में द्वितीय सदन स्थापित करने की व्यवस्था की गई थी। प्रान्तों में द्वितीय सदन स्थापित करना आवश्यक नहीं था। साधारणतया द्वितीय सदन प्रतिक्रियावादी होते हैं और विकासवादी सामाजिक कानूनों को पारित करना नहीं चाहते उनके कारण प्रान्तों के ऊपर अनावश्यक बोझ पड़ता है। श्री जिन्ना ने भी द्वितीय सदन का विरोध किया। बंगाल, बिहार, आसाम, मद्रास, और बम्बई में द्वितीय सदन की कोई आवश्यकता नहीं थी।

(६) असैनिक सेवाओं को भारत सचिव के नियन्त्रण में रखकर भारतीय मन्त्रियों की स्थिति को कमजोर बनाने का प्रयत्न किया गया। श्री भोलाभाई देसाई ने ठीक कहा है कि मन्त्रीगण के समक्ष कठिन समस्या उपस्थित की गई थी। एक ओर तो राक्षस या तो दूसरी ओर गहरा समुद्र, एक ओर राज्यपाल की विशेष

१. प्रोविंशियल ऑटोनमी, पृष्ठ १०१।

२. वही, पृष्ठ २७४।

शक्तियां और दूसरी ओर महान् असैनिक सेवायें। असैनिक सेवायें सैद्धान्तिक रूप में मन्त्रियों के आधीन थी परन्तु उन्हें अप्रत्यक्ष शक्तियां प्राप्त थी। मन्त्रीगण सुरक्षित सेवाओं और प्रभावशाली राज्यपाल के बीच फंसे हुए थे। सर शफात अहमद ने ठीक ही कहा है कि असैनिक सेवाओं के ऊपर नियन्त्रण के बिना वास्तविक प्रान्तीय स्वायत्त शासन सम्भव नहीं है। असैनिक सेवकों के ऊपर मन्त्रियों के नियन्त्रण के अभाव के कारण मन्त्रियों और विभागों के अध्यक्षों के मध्य अप्रसन्नता एवं सन्देह उत्पन्न होंगे और प्रशासकीय यन्त्र में अवरोध की सम्भावना है।[1]

(७) आलोचकों का यह मत है कि प्रान्तीय स्वायत्त शासन को इस सीमा तक सीमित कर दिया गया है कि इसे द्वैतशासन (Dyarchy) से विलग करना कठिन है। संघ शासन एवं इकाइयों के मध्य शक्ति वितरण के कारण प्रान्तों को लाभ हुआ है। जो भारत की कठिन समस्याओं को सुलझाने के लिए नए अधिनियम की एक अधिक रचनात्मक एवं महत्वपूर्ण देन है किन्तु आलोचकों का मत है कि इस सुधार को पूर्ण रूप प्राप्त न हो सका क्योंकि इसमें समवर्ती विषयों का भी अनुचित समावेश कर लिया गया जिसके फलस्वरूप प्रान्तीय स्वायत्त शासन विकृत हो गया[2] (......provincial autonomy has emerged battered and mutilated)

(८) १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तों की वित्तीय दशा सन्तोषजनक नहीं थी। नैमियर रिपोर्ट (Niemeyer Report) के अनुसार प्रान्तों को आयकर का आधा भाग ही दिया गया जबकि उन्हें तीन चौथाई प्राप्त होना चाहिए था। इससे प्रान्तों की दशा दयनीय हो गई एवं उन्हें सहायता हेतु, सबका मुंह ताकना पड़ा। (The Provinces are now left with the begger's bowl and have to beg for alms from door to door) इस तरह उनका दिवालिया होना अवश्यम्भावी था।[3]

**१९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत शक्ति वितरण**—१९३५ का संविधान संघीय संविधान था। प्रत्येक संघीय संविधान की तरह इसमें भी शक्ति वितरण की व्यवस्था की गई है। इस संविधान में तीन सूचियां हैं। संघ सूची में संघ सरकार की शक्तियों का उल्लेख है। प्रान्तीय सूची में प्रान्तीय सरकारों के क्षेत्र में आने वाले विषयों का उल्लेख है। इस संविधान में एक समवर्ती सूची का भी समावेश था जिसमें वह विषय दिए गए थे जिनके सम्बन्ध में संघ सरकार एवं प्रान्तीय सरकारें दोनों विधि निर्माण कर सकती थीं यदि संघीय एवं प्रान्तीय कानूनों में मतभेद हो जाय तो संघीय कानून को प्रधानता दी जायेगी। समवर्ती सूची के विषय में ऐसा प्रान्तीय कानून जो महाराज्यपाल के विचार के लिए या सम्राट की अनुमति के लिए सुरक्षित रखा गया हो तथा महाराज्यपाल या सम्राट की अनुमति प्राप्त हो गई हो तो वह पहले संघीय कानून के विपरीत होने पर भी मान्य होगा।[4] आपात काल में महाराज्यपाल एक घोषणा

---

१. डी : इण्डियन फैडरेशन, पृष्ठ ३५० । २. वही, पृष्ठ ३५६ ।
३. वही, पृष्ठ ३६० ।
४. १९३५ के अधिनियम का अनुच्छेद १०७ (२)

द्वारा संघीय विधान मण्डल के प्रान्तीय सूची में दिए विषयों पर विधि निर्माण का अधिकार दे सकता है। महाराज्यपाल ऐसी घोषणा अपनी स्वविवेकीय शक्ति के अनुसार करेगा। यह आपातकालीन स्थिति तीन कारणों से उत्पन्न हो सकती है।(१) जब भारत की सुरक्षा को भय हो (२) जब युद्ध की सम्भावना हो (३) जब आन्तरिक झगड़े हों। इस विषय में कोई विधेयक महाराज्यपाल की अपने स्वविवेकीय शक्ति के आधार पर दी गई अनुमति के बिना प्रस्तुत नहीं किया जा सकता था। आपातकालीन घोषणा को बाद में की गई घोषणा द्वारा रद्द भी किया जा सकता था। ऐसी घोषणा की सूचना भारत सचिव को शीघ्र ही देनी चाहिए जिसे वह ब्रिटिश संसद के दोनों सदनों के समक्ष प्रस्तुत करेगा। आपातकालीन घोषणा की अवधि ६ माह बाद समाप्त हो जाती थी यदि ब्रिटिश संसद के दोनों सदनों ने इस अवधि के समाप्त होने से पूर्व इस घोषणा को स्वीकार न कर लिया हो। एक ऐसा कानून जिसे संघीय विधान मण्डल ने आपातकालीन घोषणा के फलस्वरूप लागू किया है घोषणा की अवधि के अन्त होने के ६ माह बाद तक लागू रहेगा।[1] यदि दो या दो से अधिक प्रान्त संघीय विधान मण्डल से प्रान्तीय सूची में दिये गए विषयों के ऊपर विधि निर्माण की प्रार्थना करें तो संघीय विधान मण्डल उन प्रान्तों के लिए विधि निर्माण कर सकती है।[2] १९३५ के संविधान में अवशिष्ट शक्तियों (Residuary Powers) का भी उल्लेख किया गया है। महाराज्यपाल को यह अधिकार दिया गया है कि वह सार्वजनिक सूचना द्वारा संघीय विधान मण्डल या प्रान्तीय विधान मण्डल को ऐसे विषय पर कानून बनाने का अधिकार दे जो विषय किसी भी सूची में दिया हुआ नहीं है।[3] महाराज्यपाल इस शक्ति का प्रयोग अपने स्वविवेक से करेंगे। संघीय विधान मण्डल प्रवेश लेख के अनुसार ही किसी ऐसे देशी राज्य के विषय में कानून बना सकती है। जो संघ शासन में सम्मिलित हो गया हो।[4] शक्ति वितरण के लिए विषय सूचियाँ सातवीं अनुसूची में दी हुई है। संघ सूची में ५९ विषय रखे गए हैं, प्रान्तीय सूची में ५४ विषय रखे गए हैं एवं समवर्ती सूची में ३६ विषय रखे गए हैं। ये विषय इस प्रकार हैं।

संघ सूची—

(१) सुरक्षा

(२) विदेशी मामले

(३) धार्मिक मामले

(४) चलार्थ इत्यादि

(५) सार्वजनिक कर्ज़

(६) डाक एवं तार

१. १९३५ के अधिनियम का अनुच्छेद १०२ (४)।

२. वही, अनुच्छेद १०३।

३. वही, अनुच्छेद १०४।

४. वही, अनुच्छेद १०१।

(७) संघीय सार्वजनिक सेवायें एवं आयोग
(८) जनमत गणना
(९) संघीय रेलें
(१०) बनारस एवं अलीगढ़ विश्वविद्यालय
(११) विदेशी व्यापार
(१२) नमक
(१३) आय कर
(१४) देशीयकरण
(१५) बीमा विधि
(१६) बड़े-बड़े बन्दरगाह
(१७) बैंकिंग
(१८) कृषि के अतिरिक्त अन्य कर
(१९) उत्तराधिकार शुल्क
(२०) वृद्धि शुल्क
(२१) श्रम नियन्त्रण
(२२) खदानों का नियन्त्रण

प्रान्तीय सूची—
(१) विधि एवं व्यवस्था
(२) न्यायिक प्रशासन
(३) कारावास
(४) प्रान्तीय सार्वजनिक ऋण
(५) प्रान्तीय सार्वजनिक सेवाये एव आयोग
(६) प्रान्त के सार्वजनिक कार्य
(७) पुस्तकालय
(८) स्थानीय सरकारें
(९) सार्वजनिक स्वास्थ्य एव सफाई
(१०) यातायात
(११) सिंचाई
(१२) कृषि
(१३) वन
(१४) प्रान्तीय व्यापार एवं वाणिज्य
(१५) बेरोजगारी एव निर्धन सेवा
(१६) भूमि राजस्व
(१७) कृषि आयकर
(१८) कृषि भूमि उत्तराधिकार शुल्क
(१९) खनिज कर

(२०) वृत्ति कर
(२१) आमोद-प्रमोद कर
(२२) चुंगी आदि
(२३) पथ कर

समवर्ती सूची—
(१) फौजदारी कानून
(२) फौजदारी प्रक्रिया
(३) साक्षी एवं शपथ
(४) विवाह एवं विवाह-विच्छेद
(५) वसीयत
(६) संविदा
(७) विवाचन
(८) पशु अत्याचार को रोकना
(९) कानूनी एवं चिकित्सा सम्बन्धी पेशे
(१०) समाचार पत्र, पुस्तकें एवं छापाखाने
(११) जहरीली एवं खतरनाक औषधियाँ
(१२) कारखाने
(१३) श्रमिक कल्याण
(१४) बेरोजगारी बीमा
(१५) श्रमिक संघ, व्यावसायिक एवं श्रमिक झगड़े
(१६) विद्युत
(१७) चित्रपट प्रदर्शन

संघीय न्यायालय (The Federal Court)—संघ संविधान के लिए एक संघ न्यायालय आवश्यक होता है। समस्त संघ देशों में हम संघ न्यायालय पाते हैं। संघ परस्पर विरोधी हितों का समझौता होता है। संघ न्यायालय का यह कर्तव्य है कि वह संघ सरकार एवं इकाइयों के मध्य होने वाले झगड़ों का निर्णय करे। इस तरह यह संविधान के संरक्षक का कार्य करता है। यह न्यायालय संविधान का निर्वचन भी करता है, यह भी आशा की जाती है कि इस प्रकार का न्यायालय पूर्णतया स्वतन्त्र हो, क्योंकि तभी यह अपने कर्तव्य का निष्पक्षता से पालन कर सकता है। इस संघीय सिद्धान्त को मानकर १९३५ के संविधान में एक संघीय न्यायालय की व्यवस्था की गई। स्वयं सर सेम्युअल होर ने यह स्वीकार किया था कि संविधान के निर्वचन के लिए संघीय न्यायालय अवश्य ही होना चाहिए।

न्यायालय की रचना और न्यायाधीशों की नियुक्ति—संघ न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश एवं ६ अन्य न्यायाधीश नियुक्त किए जाने की व्यवस्था की गई है। संघीय न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या बढ़ाई भी जा सकती थी यदि संघीय

विधान मण्डल महाराज्पाल के द्वारा सम्राट से इस आशय की प्रार्थना करें। प्रत्येक न्यायाधीश की नियुक्ति सम्राट द्वारा होनी थी। न्यायाधीशों का कार्यकाल ६५ वर्ष था। न्यायाधीश अपना पद त्याग भी कर सकते थे। कोई भी न्यायाधीश व्यवहार हीनता, मस्तिष्क दौर्बल्य एवं पंगु होने के कारण पदच्युत भी किया जा सकता था यदि प्रीवी कौंसिल की न्यायिक समिति सम्राट के आवेदन पर उपर्युक्त लिखे हुए किसी भी एक आधार पर पृथक् किये जाने की सलाह दे। संघीय न्यायालय के न्यायाधीश नियुक्त किये जाने हेतु निम्नलिखित योग्यतायें आवश्यक थी—(अ) ब्रिटिश भारत या संघ में सम्मिलित देशी राज्य के उच्च न्यायालय में कम से कम पाँच वर्ष के लिए न्यायाधीश रह चुका हो, या (ब) इंगलैंड या उत्तरी आयरलैंड का कम से कम दस वर्ष तक बैरिस्टर रहा हो या स्काटलैंड की फैकल्टी ऑफ एडवोकेट्स का कम से कम दस वर्ष तक सदस्य रहा हो (स) ब्रिटिश भारत या संघ में सम्मिलित देशी राज्य के उच्च न्यायालय में कम से कम दस वर्ष तक वकालत कर चुका हो। मुख्य न्यायाधीश के नियुक्त होने के हेतु यह आवश्यक था कि ऐसा व्यक्ति नियुक्त होते समय १५ वर्षों से बैरिस्टर या फैकल्टी ऑफ एडवोकेट्स का सदस्य या एक वकील रहा हो। सम्राट की परिषद् के द्वारा निश्चित किया गया वेतन, एवं भत्ता न्यायाधीशों को उपलब्ध था। उनके वेतन कार्यकाल में कम नहीं किए जा सकते थे। संघ न्यायालय का मुख्य कार्यालय दिल्ली में रखा गया था। मुख्य न्यायाधीश महाराज्यपाल की अनुमति से किसी अन्य स्थान को भी संघ न्यायालय की बैठक हेतु चुन सकता था।

**संघ न्यायालय का क्षेत्राधिकार**—संघ न्यायालय को तीन तरह के अधिकार प्राप्त थे —(१) प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार, (२) ब्रिटिश भारत के उच्च न्यायालयों की अपीलों की सुनवायी, (३) संघ में सम्मिलित देशी राज्यों के उच्च न्यायालयों के अपीलों की सुनवायी। संघ या प्रान्तों के मध्य या संघ या ऐसे देशी राज्यों के मध्य जो संघ में सम्मिलित हो गये हों, कानूनी अधिकारों के सम्बन्ध में जो विवाद उत्पन्न होते थे प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आवेंगे। यदि प्रान्तीय उच्च न्यायालय यह प्रमाणित करें कि कोई विवाद किसी ऐसे कानून से सम्बन्धित है, जिसमें अधिनियम के निर्वाचन का प्रश्न आता है तो वह विवाद अपील के रूप में प्रान्तीय उच्च न्यायालय से संघीय न्यायालय में प्रस्तुत किया जा सकता था। यदि किसी विवाद का निर्णय अनुचित ढंग से किया गया हो संघ में सम्मिलित देशी राज्यों के उच्च न्यायालय से ऐसे विवाद विशेष विवाद के रूप में संघीय न्यायालय के सम्मुख अपील के रूप में प्रस्तुत किए जा सकते थे। संघ में सम्मिलित देशी राज्यों के उच्च न्यायालय से संघीय न्यायालय के सम्मुख विवाद को अपील के रूप में जाने के लिए निम्नलिखित कोटि में से किसी एक के अन्तर्गत आना चाहिए—(१) जो अधिनियम के निर्वचन से सम्बन्धित हो। (२) जो सम्बन्धी राज्य में संघीय अधिकारों से सम्बन्धित हों। (३) जो विषय ऐसी संविदा से उत्पन्न हो जिनका सम्बन्ध १९३५ के अधिनियम के छटवें भाग से हो और जो किसी ऐसे संविदा के अन्तर्गत आता हो

जिसका सम्बन्ध उस राज्य में संघीय विधान मण्डल के किसी कानून के प्रशासन से हो। संघीय विधान मण्डल संघ न्यायालय के अपील के क्षेत्र को विस्तृत कर सकता था। संघीय विधान मण्डल विधि निर्माण द्वारा प्रान्तीय उच्च न्यायालय के बिना प्रमाणित किए हुए ही दीवानी विवादों को संघीय न्यायालय के सामने अपील के रूप में लाए जा सकने की व्यवस्था कर सकता था यदि वे निम्नलिखित आवश्यकताओं की पूर्ति करते हों। (अ) ऐसे विवाद जिनके विषय का मूल्य ५०,००० रुपयों से कम न हो या ऐसी राशि जो संघीय विधान मण्डल निर्धारित करे पर वह भी १५,००० रुपयों से कम न हो। (ब) जिन विवादों के लिए संघीय न्यायालय विशेष रूप से अपील के लिए अनुमति प्रदान करें।[1]

संघीय न्यायालय के द्वारा तय किए विवाद भी निम्नलिखित ढंग से अपील के रूप में प्रीवी कौंसिल की न्यायिक समिति के समक्ष भी जा सकते थे—(अ) ऐसे विवाद जिनका निर्णय संघ न्यायालय ने अपने प्रारम्भिक क्षेत्र के अन्तर्गत किया है, बिना संघ न्यायालय की अनुमति प्राप्त किए ही अपील के रूप में प्रीवी कौंसिल की न्यायिक समिति के समक्ष लाए जा सकते हैं। अपील में लाए जाने वाले विषय निम्नलिखित स्तर के होने चाहियें। (१) जो अधिनियम के निर्वचन से सम्बन्धित हों। (२) जो विषय राज्य के प्रवेश लेख्य के द्वारा प्रदत्त संघ को विधायनीय या कार्यकारिणी अधिकार से सम्बन्धित हों। (३) जो विषय ऐसी संविदा से उत्पन्न होते हों जिनका सम्बन्ध १९३५ के अधिनियम के छटवें भाग से हो और जो किसी ऐसी संविदा के अन्तर्गत आता हो जिसका सम्बन्ध उस राज्य में संघीय विधान मण्डल के किसी कानून के प्रशासन से हो। (ब) अन्य विषयों में संघीय न्यायालय या प्रीवी कौंसिल की न्यायिक समिति की अनुमति से संघ न्यायालय के निर्णयों की अपील प्रीवी कौंसिल की न्यायिक समिति के समक्ष लाई जा सकती थी।[2]

परामर्श सम्बन्धी क्षेत्राधिकार—१९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत महाराज्यपाल को संघीय न्यायालय से परामर्श करने का अधिकार था। यदि किसी समय महाराज्यपाल को ऐसा प्रतीत हो कि किसी ऐसे कानून का प्रश्न उत्पन्न हो गया है या होने वाला है जो सार्वजनिक महत्व का हो एवं जिस पर संघ न्यायालय की राय लेना आवश्यक हो तो वह अपने स्वविवेक से ऐसे प्रश्नों को न्यायालय के विचार हेतु भेज सकता था एवं न्यायालय उनकी सुनवाई के बाद समुचित रिपोर्ट महाराज्यपाल के समक्ष प्रस्तुत करती थी। ऐसी रिपोर्ट न्यायालय अपनी खुली अदालत में विचार करने के पश्चात् उपस्थित न्यायाधीशों के बहुमत की अनुमति से दिए गए मत के आधार पर ही प्रस्तुत कर सकती थी। किसी न्यायाधीश को भिन्न मत प्रदान कर सकने का अधिकार था।[3]

---

१. १९३५ के अधिनियम का अनुच्छेद २०६। २. वही, अनुच्छेद २०८।
३. वही, अनुच्छेद २१३।

अध्याय १५

# राष्ट्रीय और संवैधानिक विकास (१९३५-१९४७)

१९३५ के सुधार जब १९३७ में कार्यान्वित किये जाने लगे तो उनके रास्ते में बहुत सी कठिनाइयां आईं। इन सुधारों को इतनी अधिक कठिनाइयां सहनी पड़ीं जितनी कि १९१९ के सुधारों को भी नहीं सहनी पड़ी थीं।[1] सब राजनैतिक दलों ने, विशेषकर १९३५ के अधिनियम के संघीय भाग का विरोध किया। रक्षा और विदेशी विभाग भारतीयों को नहीं सौंपे गए और महाराज्यपाल को अधिक शक्तियां प्रदान की गईं इससे जनता असन्तुष्ट थी। कांग्रेस दल का विचार था कि एक संविधान सभा द्वारा बनाया गया संविधान ही भारतीय राजनैतिक समस्या को सुलझा सकता है। वे गोलमेज परिषदों के कार्यों से तंग आ चुके थे। इन परिषदों में जो प्रतिनिधि बुलाये गये थे वे वास्तव में तो जनता के प्रतिनिधि नहीं थे। आरम्भ में तो देशी राज्यों के शासकों ने संघ व्यवस्था का स्वागत किया परन्तु जब प्रवेश लेख्य को अंतिम रूप से तैयार करने का प्रश्न उठा तो उनमें मतभेद होने लगा। नवानगर के जाम साहब ने ११ मार्च १९४० में अपने भाषण में बताया कि नरेन्द्र मण्डल की स्थाई समिति ने इस पर निराशा प्रकट की[2] कि संघ शासन के विषय में उनके बहुत से सुझाव अस्वीकार कर दिये गये थे। द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होने के कारण भारत की राजनैतिक स्थिति में भारी परिवर्तन हो गया और ब्रिटिश सरकार ने संघ शासन को स्थापित करने का विचार छोड़ दिया। ११ सितम्बर १९३९ को केन्द्रीय विधान मण्डल के दोनों सदनों के समक्ष बोलते हुए लार्ड लिनलिथगो ने कहा कि अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के खराब होने के कारण उन्होंने संघ शासन को स्थापित करने की तैयारियों को स्थगित कर दिया है। १८ अक्तूबर १९३९ की घोषणा में लार्ड लिनलिथगो ने बताया कि युद्ध के समाप्त होने पर ही १९३५ के अधिनियम में परिवर्तन हो सकता है और कहा गया कि ये परिवर्तन जनता की इच्छाओं को जानकर ही किये जायेंगे।[3] इस प्रकार संघ योजना को स्थगित कर दिया गया और केन्द्रीय विधान मण्डल १९१९ के अधिनियम के अनुसार ही कार्य करता रहा और १९४६ तक केन्द्रीय सरकार में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किए गए।

**नये चुनावों में कांग्रेस की सफलता**—१९३५ के अधिनियम द्वारा स्थापित प्रान्तीय स्वायत्त शासन १९३७ में कार्यान्वित किया गया। दिसम्बर १९३६ के

१. सर मौरिस ग्वायर और ए० अप्पादोराई : स्पीचिज एण्ड डोक्यूमेंटस ऑन दी इंडियन कान्सटीट्यूशन, १९२१-१९४७, भाग १, भूमिका।

२. वही, भाग २, पृष्ठ ७५७।

३. वही, भाग २, पृष्ठ ४९९।

फैजपुर अधिवेशन में कांग्रेस ने नये संविधान को अन्त करने का निश्चय किया था। अपने चुनाव घोषणा पत्र में कांग्रेस ने बताया कि कांग्रेसियों को विधान मण्डल में भेजने का अभिप्राय संविधान को अन्त करने का है। फरवरी १९३७ ई० तक प्रान्तीय विधान मण्डलों के चुनाव समाप्त हो गये, कांग्रेस ने चुनाव में भी भली प्रकार भाग लिया। उसे चुनाव में काफी सफलता मिली। साधारण चुनाव क्षेत्रों में कांग्रेस के ७५ प्रतिशत सदस्य चुने गये। मद्रास, संयुक्त प्रान्त, बिहार, मध्य प्रान्त और उड़ीसा में कांग्रेस को पूर्ण रूप से बहुमत प्राप्त हुआ। बम्बई में लगभग आधे स्थान कांग्रेस को प्राप्त हुये। उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त और आसाम में कांग्रेस को ½ स्थान प्राप्त हुये फिर भी कांग्रेस सबसे बड़ा दल था। पंजाब व बंगाल में कांग्रेस की स्थिति कमजोर थी। सबसे अधिक प्रतिशत स्थान कांग्रेस को मद्रास, बिहार और मध्य प्रान्त में प्राप्त हुये। मध्य प्रान्त विधान मण्डल के ११२ स्थानों में से कांग्रेस को ७० स्थान प्राप्त हुये। ६२ प्रतिशत मतदाताओं ने ही मतदान किया। चुनाव समाप्त होने के बाद भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की ओर से दिल्ली में १७ मार्च १९३७ को एक राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाई गई। इस सम्मेलन के समक्ष बोलते हुये सरदार पटेल ने कहा कि हमारे कार्य का प्रथम पग पूरा हो गया है अब हमें स्वराज्य की प्राप्ति के लिये शीघ्रता से पग उठाना चाहिये। प्रान्तीय विधान मण्डलों के कांग्रेसी सदस्य ही इस सम्मेलन में सम्मिलित हुये थे। समस्त सदस्यों ने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त करने की शपथ ली।

**पद ग्रहण करने का प्रश्न**—इस समय कांग्रेस के समक्ष यह समस्या थी कि वे प्रान्तीय विधान मण्डलों में पद ग्रहण करें या न करें। कुछ वाद-विवाद के बाद कांग्रेस ने निश्चय किया कि यदि राज्यपाल यह आश्वासन दें कि समस्त संवैधानिक मामलों में वे मन्त्रियों की सलाह से कार्य करेंगे और अपनी स्वविवेकीय शक्तियों का प्रयोग नहीं करेंगे तो वह प्रान्तों में पद ग्रहण कर सकती है और अपने मन्त्रिमण्डल बना सकती है। राज्यपालों ने यह आश्वासन देने से इन्कार कर दिया। ऐसा करने से रक्षा कवचों का अस्तित्व ही नष्ट हो जाता। इस पर कांग्रेस ने मन्त्रिमण्डल बनाने और पद ग्रहण करने से इन्कार कर दिया। ऐसी अवस्था में राज्यपालों ने कांग्रेस के बहुमत वाले प्रान्तों में अल्पमतों के अन्तरिम मन्त्रिमण्डल बनाये। अन्य प्रान्तों में मिश्रित मन्त्रिमण्डल कार्य करने लगे। १ अप्रैल १९३७ को जब नया संविधान कार्यान्वित किया गया तो डा० राघवेन्द्रराव ने अन्य तीन मन्त्रियों के साथ अपना मन्त्रिमण्डल बनाया। संयुक्त प्रान्त में नवाब छतारी मुख्य मन्त्री बने। अन्तरिम मन्त्रिमण्डलों को विधान मण्डलों का बहुमत प्राप्त नहीं था। इस कारण कांग्रेस ने उन्हें अवैध बताया। सर तेज बहादुर सप्रू ने सर आइवर जैनिंग्स की राय देते हुये कहा कि अल्पमतों के मन्त्रिमण्डलों का उदाहरण हमें इंगलैंड में भी मिलता है। परन्तु वे भूल गये कि इंगलैंड में अल्पमतों के मन्त्रिमण्डलों को संसद का बहुमत प्राप्त था। पंडित जवाहर लाल नेहरू पद ग्रहण करने के विरुद्ध थे। गांधी जी के दबाव डालने पर ही कांग्रेस ने पद ग्रहण करना स्वीकार किया था। परन्तु राज्यपालों के आश्वासन

देने पर कांग्रेस ने पद ग्रहण नहीं किया। गांधी जी और लार्ड लिनलिथगो के बीच इस विषय में बातचीत प्रारम्भ हुई। गांधी जी ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि वे संविधान का तनिक भी उल्लंघन नहीं करना चाहते। उन्होंने कहा कि वे कांग्रेसी मन्त्रियों और राज्यपालों के बीच इस प्रकार का समझौता चाहते हैं कि यदि मन्त्री संविधान में दी गई शक्तियों के अनुसार ही कार्य करें तो राज्यपाल अपनी विशेष शक्तियों की आड़ लेकर हस्तक्षेप न करेंगे। गांधी जी के इस वक्तव्य के कारण समझौते की आशा दीखने लगी। लार्ड लिनलिथगो ने सार्वजनिक रूप से अपने विचार प्रगट करते हुये कहा कि एक राज्यपाल को प्रान्त के दैनिक शासन में हस्तक्षेप करने की स्वतन्त्रता नहीं है। उन्होंने आगे चलकर यह भी कहा कि साधारण अवस्था में राज्यपालों और मन्त्रियों के बीच संघर्ष नहीं होना चाहिये।

**पद ग्रहण करने का निश्चय**—कांग्रेस की कार्यकारिणी की ७ जुलाई को वर्धा में बैठक हुई और उसमें यह निश्चय किया गया कि यद्यपि महाराज्यपाल का वक्तव्य पूर्णतया सन्तोषजनक नहीं है फिर भी यह स्पष्ट है कि राज्यपालों को अपनी विशेष शक्तियों का प्रयोग करना आसान नहीं होगा। इसके फलस्वरूप जुलाई १९३७ में हिन्दुओं के बहुमत वाले प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बने। मार्च १९३८ में कांग्रेस ने आसाम में भी एक मिश्रित मन्त्रिमण्डल बनाया। बंगाल और सिन्ध में कांग्रेस सदस्य अल्पमत में थे इसलिए वे मन्त्रिमण्डल में शामिल नहीं हुये। बंगाल में फजलुलहक मुख्य मन्त्री बने। वे कांग्रेस के प्रभाव में थे। सिंध में अलाबख्श का मन्त्रिमण्डल कांग्रेस दल की सहायता पर ही आधारित था। कुछ समय पश्चात् उत्तर सीमा प्रांत में भी कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल स्थापित हो गया, इस प्रकार आठ प्रान्तों में कांग्रेस मन्त्रिमण्डल कार्य करने लगे। पंजाब में यूनियनिस्ट दल का मन्त्रीमण्डल बना, इस दल में अधिकतर सदस्य मुसलमान थे और कुछ थोड़े से सदस्य हिंदू और सिक्ख भी थे। संयुक्त प्रान्त में मुस्लिम लीग के सदस्यों ने कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल में शामिल होने की इच्छा प्रकट की परन्तु कांग्रेस ने मिश्रित मन्त्रिमण्डल बनाने से इन्कार कर दिया। यदि मुस्लिम लीग के सदस्य अपना अस्तित्व समाप्त करके कांग्रेस दल के अनुशासन में रहते तो कांग्रेस उन्हें अपने मन्त्रिमण्डल में शामिल कर लेती परन्तु मुस्लिम लीग ने इस बात को स्वीकार नहीं किया। श्री नेहरू मुस्लिम लीग के सदस्यों को कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल में शामिल करना नहीं चाहते थे। यदि मन्त्रिमण्डलों में लीग के सदस्य शामिल हो जाते तो ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा संभव नहीं था क्योंकि शायद समय पर वे कांग्रेस का साथ न देकर सरकार का साथ देते।[1] कांग्रेस के दृष्टिकोण से लीग बड़ी असन्तुष्ट थी और उसने कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के विरुद्ध संगीन आरोप लगाने का निश्चय कर लिया। मुस्लिम लीग के आन्दोलन का परिणाम पीरपुर रिपोर्ट थी जिसमें कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल के ऊपर आरोप लगाया गया था कि उन्होंने मुसलमानों के साथ अत्याचार किये हैं। मध्य प्रान्त में १४ जुलाई

१. जवाहरलाल नेहरू : दी डिस्कवरी आफ इण्डिया, पृष्ठ ४४०।

को राघवेन्द्रराव मन्त्रिमण्डल ने त्यागपत्र दिया और उसी दिन डा० एन० बी० खरे ने कांग्रेस मन्त्रिमण्डल बनाया। उनके मन्त्रिमण्डल में छः अन्य मन्त्री थे, इन छः में पंडित रविशंकर शुक्ल शिक्षा मन्त्री थे और प० द्वारका प्रसाद मिश्रा स्थानीय शासन विभाग के मन्त्री थे।

**राज्यपालों के कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों से सम्बन्ध**—लार्ड लिनलिथगो के आश्वासन के फलस्वरूप यह आशा की जाती थी कि राज्यपाल मंत्रियों के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। कुछ हद तक यह आशा सत्य प्रमाणित हुई परन्तु कुछ राज्यपालों ने इसे पूर्णतया नहीं माना। उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त में राज्यपाल ने विधान मण्डल द्वारा पारित एक विधेयक को अनुमति नहीं दी। मध्यप्रान्त में राज्यपाल ने अपनी स्व-विवेकीय शक्ति के आधार पर कुछ मंत्रियों को पदच्युत कर दिया। यह कार्य खरे काड के नाम से प्रसिद्ध है। जनवरी १९३८ के प्रारम्भ में डा० एन० बी० खरे और महाकौशल के मंत्रियों के बीच मतभेद प्रारम्भ हो गया। महाकौशल के मन्त्रियों की यह धारणा थी कि डा० खरे असैनिक सेवा और राज्यपाल के हाथ की कठपुतली बन गये हैं। सरदार पटेल ने आपस में मेल जोल कराने का प्रयत्न किया। मौलाना आजाद, जमनालाल बजाज और सरदार पटेल मई १९३८ में समझौता कराने के लिए पचमढ़ी गए परन्तु वे अपने प्रयत्न में असफल रहे। जुलाई १९३८ में नागपुर वापिस आकर डा० खरे ने अपने दो साथियों के साथ मन्त्रिमण्डल से त्याग पत्र दे दिया। महाकौशल के मन्त्रियों ने कांग्रेस संसदीय बोर्ड की अनुमति के बिना त्यागपत्र देने से इन्कार कर दिया। इसके फलस्वरूप राज्यपाल ने उन्हें पदच्युत कर दिया और डा० खरे को दूसरा मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए आमन्त्रित किया। डा० खरे ने तुरन्त ही २१ जुलाई को नया मन्त्रिमण्डल बनाया। कांग्रेस कार्यकारिणी ने २१ जुलाई से २३ जुलाई तक वर्धा में अपनी बैठक की और डा० खरे के कार्य को अनुचित ठहराया। उनके विचार में डा० खरे कांग्रेस में उसके उत्तरदायित्व के पद को ग्रहण करने के योग्य नहीं थे। डा० खरे व उनके मन्त्रिमण्डल को त्याग पत्र दे देना पड़ा। कांग्रेस विधान मण्डलीय दल ने पण्डित रविशंकर शुक्ल को अपना नेता चुना और २९ जुलाई को उन्होंने अपना मन्त्रिमण्डल बनाया। पण्डित द्वारका प्रसाद मिश्र भी इस मन्त्रिमण्डल में शामिल थे। इस घटना का ऐतिहासिक महत्व यह है कि इस घटना ने कांग्रेस संगठन के (जो कि स्वतन्त्रता संग्राम में अग्रगण्य थी) अनुशासन और दृढ़ता में आधिपत्य को स्थापित कर दिया।[1]

बिहार और संयुक्त प्रांत में राजनैतिक बन्दियों की छूट के विषय पर राज्यपालों और मन्त्रिमण्डलों में मतभेद हो गया। अपने विशेष उत्तरदायित्वों के आधार पर राज्यपालों ने बंदियों की छूट का विरोध किया। इस विषय में राज्यपालों ने महाराज्यपाल से ही परामर्श की। अंग्रेज अधिकारियों को भय था कि राजनैतिक

१. डी० पी० मिश्र : दी हिस्ट्री आफ नाटेस मूवमेंट इन मध्य प्रदेश, पृष्ठ ४११।

बन्दियों की छूट के कारण प्रान्तों की विधि और व्यवस्था बिगड़ जायेगी। राज्यपालों के हस्तक्षेप के विरोध में बिहार और संयुक्त प्रान्त के मन्त्रिमण्डलों ने त्याग पत्र दे दिए। यह कार्य उन्होंने कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के परामर्श से किया। इस वाद-विवाद के कारण दोनों पक्षों में कुछ पत्र-व्यवहार हुआ और अन्त में राजनैतिक बन्दियों को छोड़ने की स्वीकृति दे दी गई। सरकार की प्रतिष्ठा को कायम रखने के लिए यह निश्चय हुआ कि बन्दियों को धीरे-धीरे छोड़ना चाहिए। पंजाब के राज्यपाल ने राजनैतिक बन्दियों को छोड़ने की स्वीकृति नहीं दी परन्तु वहां के मुख्य मन्त्री सर सिकन्दर हैयात खां ने इस विषय में कोई कदम नहीं उठाया। मध्य प्रान्त में स्थानीय शासन के सुधार के विषय पर मन्त्री व राज्यपाल में मतभेद हो गया। प्रारम्भ में राज्यपाल ने स्थानीय स्वराज्य योजना को सरकारी प्रेस में छपवाने पर आपत्ति प्रगट की परन्तु प्रमुख मन्त्री के आग्रह करने पर छपने की अनुमति दे दी। कुछ समय बाद यह योजना विचार के लिए मन्त्रिमण्डल के समक्ष आई। राज्यपाल ने अपने असैनिक सेवकों द्वारा इस योजना पर यह टिप्पणी लिखवा दी कि यह योजना कार्य रूप से परिणित की जानी सम्भव नहीं है। इसी बीच प्रमुख मन्त्री ने प्रो० बेरीडेल कीथ की अनुमति ले ली थी जिन्होंने इस योजना की बहुत प्रशंसा की थी। जब राज्यपाल को कीथ के विचारों का पता चला तो उसने तुरन्त ही प्रमुख मन्त्री के सुझावों को मान लिया।

इन ऊपर लिखी बातों को छोड़कर यह कहा जा सकता है कि राज्यपालों ने कांग्रेस प्रान्तों में संवैधानिक ढंग से ही कार्य किया। बम्बई के राज्यपाल सर रौजर लुम्बली ने प्रान्तीय स्वायत्त शासन के अन्तर्गत राज्यपाल का स्थान बताते हुए कहा कि राज्यपाल को ईमानदारी से कार्य करना चाहिए था, उन्हें राजनीति में तटस्थ नीति अपनानी चाहिए, उनका व्यवहार पक्षपात रहित होना चाहिए।[1] महात्मा गांधी ने भी राज्यपालों के कार्यों को उचित बताया। राज्यपालों एवं मन्त्रियों के सम्बन्ध बहुत अच्छे रहे। जब १६३६ में मध्य प्रान्त के कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल ने त्याग-पत्र दिया तो वहाँ के राज्यपाल सर फ्रेंसिस विले को वास्तविक खेद था। त्यागपत्र के बाद भी सर विले ने मन्त्रिमण्डल के कुछ सदस्यों से सम्पर्क रखे। वे प० रविशंकर शुक्ल एवं प० द्वारका प्रसाद मिश्र से जो उन दिनों सिवनी जेल में थे, पत्र व्यवहार करते रहे।[2] जब सर विले संयुक्त प्रान्त के राज्यपाल हो गये तो उन्होंने अपने सम्बन्ध विच्छेद नहीं किये। असैनिक सेवकों ने भी मन्त्रियों को साधारणतया सहयोग दिया। मन्त्रियों एवं असैनिक सेवकों ने एक साथ सहयोग करने की भावना उत्पन्न करली थी। स्वायत्त शासन के कार्यकाल में कई परम्पराओं की नींव पड़ी। राज्यपाल ने साधारणतया बहुमत दल के नेता को ही मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए

१. आर० एन० अग्रवाल नेशनल मूवमेंट एण्ड कान्स्टीट्यूशनल डेवलपमेंट आफ इण्डिया, पृष्ठ २११।

२. दी हिस्ट्री आफ फ्रीडम मूवमेंट इन मध्य प्रदेश, पृष्ठ ४४४।

आमन्त्रित किया। मन्त्रिमण्डल तभी तक कायम रहे जब तक कि उन्हें विधानमण्डल का विश्वास प्राप्त था। मन्त्रियों ने सामूहिक उत्तरदायित्व के आधार पर कार्य किया। जब आसाम मन्त्रिमण्डल की एक महत्त्वपूर्ण विषय पर हार हो गई तो उसने त्यागपत्र दे दिया। सब प्रान्तों में मुख्य मन्त्रियों ने अल्पमत वर्गों को प्रतिनिधित्व देने का प्रयत्न किया। इस पर भी उड़ीसा मन्त्रिमण्डल में किसी मुस्लिम सदस्य को स्थान नहीं मिल सका। वहाँ पर कोई ऐसा कांग्रेसी मुसलमान नहीं था जो मन्त्री पद के योग्य होता। राज्यपाल ने इस विषय में हस्तक्षेप करने से इन्कार कर दिया। प्रत्येक प्रान्त में राज्यपालों ने मन्त्रिमण्डलों का सभापतित्व ग्रहण किया। यह संसदीय सरकार की प्रणाली के विरुद्ध था।[1] कांग्रेस मन्त्रियों ने इस प्रथा को ठीक नहीं समझा। उन्होंने मुख्य मन्त्री के निवास स्थान पर अनौपचारिक बैठकें करना प्रारम्भ कर दिया जिनमें सभी महत्त्वपूर्ण निश्चय कर लिये जाते थे। साधारण और दैनिक विषयों पर ही मन्त्रिमण्डलों में विचार होता था। गैर-कांग्रेस प्रान्तों में मुख्य मन्त्रियों ने राज्यपालों की उपस्थिति का बुरा नहीं माना। सरकारी कार्य का वितरण राज्यपालों के हाथों में था परन्तु साधारणतया यह कार्य मुख्य मन्त्रियों द्वारा ही किया गया। मुख्य मन्त्री ही यह निश्चय करते थे कि अमुक मन्त्री को क्या विभाग सौंपा जाए।

**प्रान्तीय स्वायत्त शासन का व्यावहारिक रूप**—कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने दो वर्ष से अधिक तक स्वायत्त शासन को सफलतापूर्वक चलाने का प्रयत्न किया। महाराज्यपाल के आश्वासन के फलस्वरूप राज्यपालों ने साधारणतया प्रान्तीय मन्त्रियों के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं किया। प्रान्तीय विधान मण्डलों ने बहुत से कानून पास किए और लगभग सभी को राज्यपालों की अनुमति मिल गई। केवल चार विधेयकों को अस्वीकार किया गया। प्रो० कूपलैंड ने कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों की बड़ी प्रशंसा की। कांग्रेस मन्त्रियों ने योग्यता, कुशलता, उत्तरदायित्व और जनता की इच्छा को दृष्टि में रखते हुए कार्य किया। विधानमण्डलों ने अपना कार्य कुशलतापूर्वक किया। उनकी त्रुटि केवल यही थी कि बहुत से अनावश्यक और व्यर्थ के प्रश्न पूछे जाते थे। उनके विचार में मन्त्रियों का कार्य इतना अच्छा था कि कांग्रेस को उनकी सफलता के ऊपर गर्वित होना चाहिए। कांग्रेसी नेताओं ने यह दिखा दिया था कि वे कार्य में भी कुशल थे और बातचीत में भी। वे शासन भी कर सकते थे और आन्दोलन भी कर सकते थे। *उनमें और उनके अनुयायियों में सामाजिक सुधार के लिए प्रेरणा थी।* लगभग सभी मन्त्रिमण्डलों ने रचनात्मक कार्यों में रुचि दिखाई। सभी कांग्रेसी प्रान्तों में प्रारम्भिक शिक्षा, मद्य-निषेध, काश्तकारों के कानूनों, कृषि ऋण, ग्राम सुधार व्यवसायिक झगड़े, ग्रामोद्योग, हरिजन उद्धार आदि सभी समस्याओं को हल करने का प्रयत्न किया गया। बम्बई मन्त्रिमण्डल ने उन मनुष्यों की भूमि वापस लौटा

---

१. आर० एन० अग्रवाल : नेशनल मूवमेंट एण्ड कान्स्टिट्यूशनल डवलपमेंट ऑफ इंडिया, पृष्ठ २७०।

दी जो कि अंग्रेज सरकार ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन के समय जब्त कर ली थी। मद्रास विधान मण्डल ने जनरल नील की मूर्ति को एक मुख्य स्थान से हटा देने का प्रयत्न किया। मध्य प्रान्त में शिक्षा की विद्या मन्दिर योजना को कार्यान्वित किया गया। इस योजना को चलाने वाले उस समय के शिक्षा मंत्री पंडित रविशंकर शुक्ल थे। प्रान्त की निरक्षता को दूर करने के लिये ही यह योजना बनाई गई थी। यह बड़ी व्यापक सिद्ध हुई और १६३६ तक ६३ विद्या मन्दिर स्थापित हुए जिनमें ढाई हजार विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे।

लार्ड लिनलिथगो ने भी प्रान्तीय स्वायत्त शासन के कार्य से सन्तोष प्रगट किया। कलकत्ते में असोशियेटिड चेम्बर्स ऑफ कॉमर्स की वार्षिक बैठक में बोलते हुए कहा कि मन्त्रियों और राज्यपालों के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण थे और प्रान्तीय स्वायत्त शासन का महान् प्रयोग एक महत्वपूर्ण सफलता थी। १७ अक्तूबर १६३६ के अपने वक्तव्य में लार्ड लिनलिथगो ने कहा' कि पिछले ढाई वर्षों से प्रान्त अपना शासन स्वयं चला रहे हैं। किसी को इस बात में शंका नहीं होनी चाहिये कि कठिनाइयों के होते हुए भी उन्होंने अपना कार्य महान् सफलता के साथ किया है। जो भी शासन सत्ताधारी राजनीतिक दल उन प्रान्तों में थे वे सभी गत ढाई वर्षों के अन्तर्गत किये अपने जनकल्याण सम्बन्धी उल्लेखनीय कार्यों पर संतोष प्रगट कर सकते हैं। (Whatever the political party in power in those Provinces, all can look with satisfaction on a distinguished record of public achievement during the last two and a half years.) त्रुटियाँ होते हुये भी स्वायत्त शासन लाभकारी सिद्ध हुआ। काँग्रेसी मन्त्रियों को शासन कार्य का अनुभव हुआ और उन्हें जनता के सम्पर्क में आने का अवसर प्राप्त हुआ। जनता में पुलिस और गुप्त विभाग का भय कम हो गया। उनमें आत्मसम्मान की भावना उत्पन्न हो गई।[2] ग्रामीण जनता यह बात अनुभव करने लगी कि उनका भी कुछ अस्तित्व है और उन की उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्रो० कूपलैंड ने भी इस बात का स्वीकार किया कि काँग्रेस भारतीय राजनीति में एक रचनात्मक शक्ति बन गई है। इसने यह दिखा दिया है कि अपने संगठन और अनुशासन के आधार पर कुछ लाभ के कार्य कर सकती है। प्रो० कूपलैंड ने काँग्रेस कार्यकारिणी समिति के प्रान्तीय मन्त्रिमण्डलों के ऊपर नियंत्रण की आलोचना की और कहा कि यह स्वायत्त शासन और उत्तरदायी संसदीय सरकार के ऊपर आघात था। हम इस विचार से सहमत नहीं हैं। प्रान्तों में सामान्य नीति अपनाने के लिए, देश की दृढ़ता को कायम रखने के लिए और सब प्रान्तों को स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए तैयार करने के हेतु कार्यकारिणी समिति का नियंत्रण आवश्यक था।

---

१. ए० सी० बनर्जी इण्डियन कान्स्टीट्यूशनल डोक्यूमैंट्स भाग २, पृ० ३७४।

२. जवाहरलाल नेहरू : दी डिस्कवरी आफ इण्डिया, पृष्ठ ४४१।

कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन के बाद १९३६ में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। सबसे प्रथम बार कांग्रेस अधिवेशन नगर में न होकर फैजपुर ग्राम में दिसम्बर १९३६ में हुआ। पं० जवाहरलाल नेहरू ने इस वर्ष पहले वर्ष की भांति सभापति का पद ग्रहण किया और ग्राम सुधार पर बल दिया। अगला अधिवेशन फरवरी १९३८ में हरिपुरा ग्राम में हुआ। श्री सुभाषचन्द्र बोस इस अधिवेशन के सभापति थे। इस अधिवेशन में श्री जवाहरलाल के सभापतित्व में एक राष्ट्रीय योजना समिति बनाई गई। श्री बोस ने कहा कि मैं अपने कार्यकाल में सब योजना के अप्रजातांत्रिक व देश विरोधी तत्वों का विरोध करूंगा। कांग्रेस का अगला अधिवेशन त्रिपुरी ग्राम में हुआ जो नर्मदा नदी के किनारे पर जबलपुर से ७ मील दूर है। कांग्रेस का यह अधिवेशन मध्यप्रांत में १९ वर्ष बाद हुआ था। अधिवेशन से पहले सभापति पद के लिये कांग्रेस में आपस में बड़ा संघर्ष हुआ था। गांधी जी की इच्छा के विरुद्ध श्री सुभाषचन्द्र बोस दुबारा सभापति चुन लिए गये। परन्तु बीमारी के कारण वे त्रिपुरी में कांग्रेस के खुले अधिवेशन का सभापतित्व न कर सके। मौलाना आजाद ने सभापति का पद ग्रहण किया। श्री बोस उग्र विचार वाले थे और कांग्रेस का बहुमत उनके साथ नहीं था। वे सविनय अवज्ञा आन्दोलन को तुरन्त ही प्रारम्भ करना चाहते थे। गांधी जी के असहयोग के कारण वे अपनी कार्यकारिणी समिति न बना सके और अन्त में उन्हें कांग्रेस के सभापति पद से त्याग पत्र देना पड़ा। कांग्रेस से असन्तुष्ट होकर श्री बोस ने फारवर्ड ब्लाक नामक एक नया दल बनाया।

कांग्रेस के त्रिपुरी अधिवेशन के बाद से स्थिति गम्भीर होने लगी एवं विश्व-युद्ध के बादल मंडराने लगे। १९३९ में सितम्बर के प्रारम्भ में जब हिटलर की सेना ने पोलैंड में आक्रमणकारी दृष्टिकोण अपनाया तब से युद्ध की आशंका तीव्र हो गई। ३ सितम्बर १९३९ को द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ। युद्ध के प्रारम्भ होने से पहिले ही चेम्बरलेन की सरकार ने भारत में साम्राज्यवादी नीति के आधार पर कार्यवाही आरम्भ कर दी। अगस्त में केन्द्रीय विधान मण्डल को बिना सूचित किये ही सरकार ने सिंगापुर, मिस्र, अदन में साम्राज्यवाद की रक्षा हेतु भारतीय सेनायें भेज दीं। ब्रिटिश संसद ने ऐसे आपातकालीन कानून पास किये जिससे भारत की बची हुई स्वतन्त्रता का भी अपहरण हो गया और महाराज्यपाल को ऐसे अधिकार प्राप्त हुए जिनके आधार पर वे बिना प्रान्तीय सरकारों के परामर्श के ही प्रांतों में कार्यवाही कर सकते थे। अन्त में ब्रिटिश सरकार के आदेश पर भारतीय जनता की अनुमति प्राप्त किये बिना ही महाराज्यपाल ने भारत को मित्रराष्ट्रों की ओर से युद्धकारी देश घोषित कर दिया। भारतीय नेताओं ने पहले से ही फासीवाद नीति एवं सिद्धान्तों का विरोध किया था। भारतवासियों ने ब्रिटिश सरकार की जर्मनी एवं इटली को प्रसन्न करने वाली नीति का विरोध किया था। एवं युद्ध प्रारम्भ होने के समय उनकी सहानुभूति मित्र राष्ट्रों की ओर थी। भारतीय कांग्रेस केवल यह चाहती थी कि भारत ही यह निश्चय करे कि उसे कौन-सी नीति अपनानी चाहिये। भारतीय जनता यह नहीं चाहती थी कि बाहरी सरकार का निश्चय उन पर थोप

दिया जाय एवं भारतीय साधनों का युद्ध के लिए प्रयोग किया जाय। जब ब्रिटिश सरकार ने भारतीय सेना को बिना भारतीय जनता की अनुमति के बाहर भेजा एवं आपातकालीन कानूनों को ग्रहण किया तब कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने यह निश्चित किया कि केन्द्रीय विधान मण्डल के कांग्रेसी सदस्यों को अगले अधिवेशन में भाग नहीं लेना चाहिए। कार्यकारिणी समिति ने प्रान्तीय सरकारों को भी आदेश दिया कि वे युद्ध की तैयारियों में ब्रिटिश सरकार की सहायता न करें। स्थिति को सुधारने के लिये महाराज्यपाल ने गांधी जी को परामर्श के लिए शिमला में आमन्त्रित किया। युद्ध प्रारम्भ होने के एक दिन बाद गांधी जी शिमला के लिए रवाना हुए एवं लार्ड लिनलिथगो से युद्ध के सम्बन्ध में वार्ता की। गांधी जी ने कांग्रेस की ओर से कुछ भी कहने से इन्कार कर दिया।

कांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक ८ सितम्बर १९३९ को वर्धा में हुई जो पाच दिन तक चलती रही। अन्त में समिति ने एक ऐतिहासिक वक्तव्य दिया जिसमें कार्यकारिणी समिति ने नाजी जर्मनी की पोलैंड पर आक्रमण करने की नीति की कटु निन्दा की। वक्तव्य में आगे चलकर यह कहा गया कि युद्ध एवं शान्ति का प्रश्न भारतीय जनता को स्वयं तय करना चाहिए एवं कोई बाहरी शक्ति भारत पर अपना निश्चय नहीं लाद सकती। भारत ऐसे युद्ध में सम्मिलित नहीं होना चाहता था जो स्वतन्त्रता के नाम पर लड़ा जा रहा हो एवं वह स्वयं स्वतन्त्रता से वंचित रखा गया हो। फलतः कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने ब्रिटिश सरकार से युद्ध नीति का स्पष्टीकरण मांगा। कार्यकारिणी समिति ने कहा "यदि युद्ध का अभिप्राय साम्राज्यवादी क्षेत्रों, उपनिवेशों, निहित हितों एवं विशेषाधिकारों की रक्षा करना है तो भारतवर्ष का उससे कोई सम्बन्ध सम्भव नहीं हो सकता। यदि युद्ध प्रजातन्त्र या प्रजातन्त्र पर आधारित विश्व व्यवस्था के लिए लड़ा जा रहा हो तो भारतवर्ष उसमें विशेष रुचि लेगा ...... यदि इंगलैंड प्रजातन्त्र की स्थापना एवं उसके विकास के लिये युद्ध करता हो तो सर्वप्रथम उसे अपने समस्त उपनिवेशों का अन्त करना चाहिये एवं भारत में पूर्णतया प्रजातन्त्र स्थापित करना चाहिए। साथ ही भारतीय जनता को यह अधिकार प्रदान किया जाना चाहिये कि वह आत्म निर्णय के अधिकार के आधार पर बाहरी हस्तक्षेप के बिना एक संविधान समिति द्वारा स्वयं अपना संविधान बनावे एवं अपनी नीति का स्वयं संचालन करे। एक स्वतन्त्र प्रजातान्त्रिक भारत प्रसन्नता से आक्रमणों को रोकने के लिए एवं आर्थिक प्रश्नों पर समस्त स्वतन्त्र देशों से सहयोग करेगा।"[1] अन्त में कार्यकारिणी समिति ने कहा कि वे एक देश की दूसरे देश पर विजय या लदी हुई शांति नहीं चाहते, वे समस्त देशों में वास्तविक प्रजातन्त्र की विजय देखना चाहते हैं।

ब्रिटिश सरकार ने कार्यकारिणी के वक्तव्य पर कोई ध्यान नहीं दिया। अपने २६ सितम्बर के वक्तव्य में भारत सचिव लार्ड जैटलैंड ने कहा कि कार्यकारिणी

---

1. ए० सी० बनर्जी इण्डियन कान्स्टीट्यूशनल डाक्यूमेंट्स भाग ३, पृष्ठ २६५-२६६।

समिति का प्रस्ताव समय के अनुकूल नहीं था एवं इससे इंगलैंड को असुविधा होगी। महाराज्यपाल ने इस स्थिति को सुधारने के लिए काफी प्रयत्न किया। उन्होंने ५२ भारतीय नेताओं से परामर्श किया जिसमें सब वर्गों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे। परामर्श करने के पश्चात् १७ अक्टूबर १९३९ को महाराज्यपाल ने दिल्ली में घोषणा की। इस घोषणा में विभिन्न वर्गों की विभिन्न माँगों का उल्लेख किया गया, इस वक्तव्य में उन्होंने तीन बातों पर प्रकाश डालना चाहा—(१) युद्ध के ध्येय (२) भारतीय संवैधानिक विकास का भविष्य (३) भारतीय जनता का युद्ध में सहयोग। ब्रिटिश सरकार युद्ध के ध्येयों को ठीक से नहीं बता सकी। उन्होंने केवल ब्रिटिश प्रधान मन्त्री के शब्दों को ही दुहराया। उन्होंने कहा कि संघ योजना को स्थगित कर दिया गया है परन्तु इस समय भी वे संघ योजना को अधिक ठीक समझते हैं। भारत में ब्रिटिश सरकार के ध्येयों को बतलाते हुए उन्होंने भूतपूर्व महाराज्यपालों के शब्दों को दुहराया एवं ब्रिटिश राजमुकुट द्वारा दिये गये आदेशों लेख्यों का उल्लेख करते हुए कहा कि ब्रिटिश सरकार चाहती है कि भारत अधिराज्यों में अपना उचित स्थान प्राप्त करे। १९३५ के अधिनियम के पुन: निरीक्षण के विषय में बोलते हुये उन्होंने कहा कि इस विषय में ब्रिटिश सरकार युद्ध की समाप्ति पर भिन्न-भिन्न वर्गों, दलों एवं हितों से परामर्श करने के लिए तैयार है। इस वक्तव्य में अल्पमतों को यह आश्वासन दिया गया कि उनके विचारों पर पूरा ध्यान दिया जायेगा। भारतीयों का युद्ध में सहयोग लेने के लिये उन्होंने एक परामर्श समिति (consultative group) स्थापित करने की घोषणा की। उन्होंने कहा कि इस समिति में समस्त प्रमुख राजनैतिक दलों को प्रतिनिधित्व दिया जायेगा। वे इस बैठक का सभापतित्व करेंगे एवं वे ही इसकी बैठकें बुलायेंगे। इस घोषणा पत्र पर विचार करने के लिये २२-२३ अक्टूबर को कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की बैठक हुई। समिति ने महाराज्यपाल के वक्तव्य को पूर्णतया असन्तोषजनक बताया एवं कहा कि इससे देश में असन्तोष व्याप्त हो जायेगा। समिति ने कहा "ऐसी अवस्था में समिति इंगलैंड को किसी प्रकार की सहायता नहीं दे सकती। ऐसी सहायता देने का अर्थ साम्राज्यवादी नीति का समर्थन होगा जिसका अन्त करने के लिये कांग्रेस ने सदैव प्रयत्न किया है। इस दिशा में समिति का पहला कदम यह होगा कि वह कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों से त्याग पत्र देने के लिये कहे।"[1] समिति ने इस बात पर खेद प्रकट किया कि सरकार ने अपनी यथार्थ धारणा को गुप्त रखने के लिये भारतीय दलों के आपसी मतभेदों का व्यापक प्रचार किया।

महाराज्यपाल के १७ अक्टूबर १९३९ के वक्तव्य के विषय में संसद में वादविवाद के मध्य में ब्रिटिश सरकार ने यह बात प्रकट की कि कुछ शर्तों पर वे भारतीय जनता को एक उत्तरदायी ढंग से युद्ध के चलाने में सम्मिलित कर सकते

१. ए० सी० बनर्जी : इण्डियन कॉन्स्टिट्यूशनल डाक्यूमेंट्स, भाग ३, पृष्ठ ३६२।

थे। ब्रिटिश सरकार इस ध्येय की पूर्ति के लिए महाराज्यपाल की कार्यकारिणी की सदस्य संख्या कुछ समय के लिए बढाने को तैयार थी परन्तु जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं कि कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने अपने २२ अक्टूबर १९३९ के प्रस्ताव मे इन सब सुझावो को ठुकरा दिया। फिर भी महाराज्यपाल ने भारतीय राजनैतिक नेताओ से सम्बन्ध जारी रखे। प्रथम नवम्बर को उन्होने गांधी जी, बाबू राजेन्द्र प्रसाद एव श्री एम० ए० जिन्ना से बातचीत की जिसके दौरान मे उन्होने कार्यकारिणी की सदस्य संख्या बढाने एव परामर्श समिति के सम्बन्ध मे बातचीत की। तीसरी नवम्बर को कांग्रेसाध्यक्ष बाबू राजेन्द्र प्रसाद ने महाराज्यपाल को एक पत्र लिखा कि वर्तमान सकट प्रधानतया राजनैतिक है एव साम्प्रदायिक समस्या से कोई सम्बन्ध नही है। उन्होने इस बात पर खेद प्रगट किया कि ब्रिटिश सरकार साम्प्रदायिक प्रश्न को लेकर स्वतन्त्रता के प्रश्न को पीछे ढकेल देना चाहती है। ५ नवम्बर १९३९ के अपने वक्तव्य मे महाराज्यपाल ने खेद प्रगट किया कि भारतीय कांग्रेस ब्रिटिश सरकार के सुझावो पर कार्य करने को तैयार न थी। महाराज्यपाल एव कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के नेताओ के मध्य जो पत्र व्यवहार हुआ है उसे देखकर यह प्रतीत होता है कि यह वार्तालाप १९०६ के मिन्टो मुस्लिम वार्तालाप की भांति था। इन वार्तालापो मे १९०६ की तरह मुस्लिम भावनाओ को सन्तुष्ट करने एव कांग्रेस के प्रभावो को दबाने की चेष्टा प्रतीत होती थी।[1] कांग्रेस एव ब्रिटिश सरकार के मध्य समझौता न होने के कारण कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलो ने त्याग पत्र दे दिया। मध्य प्रात के कांग्रेसी मन्त्रि मण्डल ने ८ नवम्बर १९३९ को त्याग पत्र दिया एव १० नवम्बर को राज्यपाल ने उसे स्वीकार कर लिया। समस्त कांग्रेस मन्त्रि मण्डलो के त्याग पत्र देने के पश्चात् एक गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गई। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की बैठक वर्धा मे १८ दिसम्बर से लेकर २२ दिसम्बर १९३९ तक हुई जिसमे यह निश्चय हुआ कि देश को स्वतन्त्रता के लिये तैयार करने हेतु २६ जनवरी १९४० का स्वतन्त्रता दिवस बडे पवित्र ढग से मनाया जाना चाहिए। समिति ने समस्त कांग्रेस जनो को उस दिन एक विशेष शपथ ग्रहण करने का आदेश दिया। १९४० मे कांग्रेस का अगला अधिवेशन जो ५३ वां अधिवेशन था वह बिहार के रामगढ ग्राम मे सम्पन्न हुआ। मौलाना अब्दुल कलाम आजाद इस अधिवेशन के सभापति थे। रामगढ मे गांधी जी ने यह स्पष्ट कर दिया कि देश सविनय अवज्ञा आन्दोलन के लिए सामूहिक रूप से तैयार नही था। कांग्रेस ने अपने एक प्रस्ताव द्वारा इस विषय पर निश्चय करना गांधी जी पर ही छोड दिया।

१९४० मे भी महाराज्यपाल ने राजनैतिक नेताओ से सम्पर्क जारी रखा। फरवरी के माह मे उन्होने गांधी जी से पुन वार्तालाप किया, उन्होने श्री जिन्ना से भी भेंट की पर उसका कोई निष्कर्ष नही निकला। कांग्रेस मन्त्रिमण्डलो के त्यागपत्र देने पर राज्यपालो ने १९३५ के अधिनियम के ९३वें अनुच्छेद के अन्तर्गत घोषित

१. दि हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम मूवमेंट इन मध्य प्रदेश, पृष्ठ ४४२।

किया कि इन प्रान्तों में संविधानों को कार्यान्वित करना सम्भव नहीं था। इन प्रान्तों की विधान सभायें विघटित कर दी गईं एवं राज्यपालों ने प्रान्तीय शासन अपने हाथों में ग्रहण कर लिए। सिन्ध, पंजाब एवं बंगाल में गैर-कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल कार्य करते रहे। ऐसी परिस्थिति में भी ब्रिटिश सरकार ने राजनैतिक स्थिति को सुधारने के प्रयत्न जारी रखे। भारतीय जनता के असन्तोष को दूर करने के लिए भरसक प्रयत्न किये गये। पिछले कुछ वर्षों में १९३५ के अधिनियम में प्रस्तावना के अभाव के कारण भारतीय जनता में कुछ ऐसी भावना उत्पन्न हो गई थी कि ब्रिटिश सरकार भारतवासियों को औपनिवेशिक स्वराज्य नहीं देना चाहती। श्री चर्चिल के संसदीय भाषणों ने इस भ्रम को और भी दृढ़ बना दिया था। इसलिए लार्ड लिनलिथगो ने १० जनवरी १९४० को बम्बई में ओरियण्ट क्लब के समक्ष भाषण देते हुए कहा कि ब्रिटिश सरकार का ध्येय भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य देने का है एवं यह औपनिवेशिक स्वराज्य वेस्ट मिनिस्टर के स्टेट्यूट की भाँति होगा। भारत सचिव श्री एल० एस० एमरी ने ब्रिटिश संसद में ऐलान किया कि भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज्य देने का प्रश्न अब वाद-विवाद के क्षेत्र से बाहर जा चुका है परन्तु भारतीय कांग्रेस इस प्रकार की घोषणा से सन्तुष्ट नहीं हुई, ऐसी घोषणाओं से सरकार की वास्तविक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आता था। कांग्रेस का सहयोग प्राप्त करने के हेतु ब्रिटिश सरकार को एक और कदम उठाना पड़ा।

✓ **अगस्त प्रस्ताव (the August Offer)**—८ अगस्त १९४० को महाराज्यपाल लार्ड लिनलिथगो ने ब्रिटिश सरकार की अनुमति से एक घोषणा की[1] जिसमें उन्होंने कहा कि ब्रिटिश सरकार भारतीयों के आपस के मतभेदों के कारण महाराज्यपाल की कार्यकारिणी परिषद् का विकास स्थगित नहीं कर सकती। एवं न ही वह ऐसी समिति की स्थापना को स्थगित कर सकते हैं जो युद्ध कार्य में भारतीयों की ओर से केन्द्रीय सरकार को सहयोग प्रदान कर सकें। इसलिए ब्रिटिश सरकार ने यह निश्चय किया है कि कुछ भारतीय प्रतिनिधियों को महाराज्यपाल की कार्यकारिणी परिषद् में सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित करना चाहिए। ब्रिटिश सरकार ने महाराज्यपाल को यह अधिकार दिया कि वह एक युद्ध सलाहकारी परिषद् स्थापित करें। इस परिषद् की बैठक नियमित अन्तर से होगी जिसमें ब्रिटिश भारत एवं देशी राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित होंगे। महाराज्यपाल ने आगे कहा कि कुछ क्षेत्रों में ब्रिटिश सरकार की भारत के संवैधानिक भविष्य के सम्बन्ध में धारणाओं के प्रति सन्देह प्रगट किया जा रहा है साथ ही कुछ लोगों को इसमें भी सन्देह है कि संवैधानिक परिवर्तन होते समय राजनैतिक या धार्मिक अल्पमतों को सन्तोषजनक रक्षा कवच प्रदान किये जायेंगे या नहीं। अपने घोषणा पत्र में महाराज्यपाल ने इन दोनों स्थितियों पर ब्रिटिश सरकार की नीतियों को स्पष्ट किया। अल्पमतों के

[1] ग्वायर और ए० अप्पादोराई : स्पीचिज एण्ड डाक्यूमेंट्स आन दी इ० ए० सी० १९२१–४७, भाग २, पृष्ठ ५०४–५०५।

विषय मे उन्होने कहा कि जब कभी भी १६३५ के अधिनियम का पुनः निरीक्षण किया जायेगा उस समय अल्पमतो के विचारो को पूर्णरीति से महत्व दिया जायेगा। उन्होंने कहा कि यह निर्विवाद है कि ब्रिटिश सरकार भारत की भलाई एव शाति के लिए अपने वर्तमान उत्तरदायित्वो को किसी ऐसी सरकार को हस्तातरित करने का विचार नही कर सकती जिसका प्राधिकार भारत के राष्ट्रीय जीवन के महान् एव शक्तिशाली अग प्रत्यक्ष रूप से अस्वीकार करते हो, न ही वह इन महत्वपूर्ण अगों को बलपूर्वक किसी ऐसी सरकार के मातहत रखने मे सहयोग दे सकती है। इस वक्तव्य से प्रथम बार यह सकेत हुआ कि ब्रिटिश सरकार अन्त मे भारत का विभाजन करना चाहती है।

भारत के सवैधानिक भविष्य के विषय मे लार्ड लिनलिथगो ने कहा कि भारत मे इस बात पर बड़ा जोर दिया जा रहा है कि नये सविधान को बनाने का उत्तरदायित्व स्वय भारतीयो पर होना चाहिये और यह भारतीय जीवन के सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक ढाचे पर आधारित होना चाहिए। ब्रिटिश सरकार इस विचार से सहमत है और इसे वह अधिक से अधिक वास्तविक रूप देना चाहती है। इस पर एक प्रतिबन्ध है कि ब्रिटिश सरकार के भारत के साथ लम्बे सम्बन्धो के आधार पर जो कर्तव्य हैं वह उनको उचित ढग से पूरा करना चाहती है और इस उत्तरदायित्व की वह अवहेलना नही करना चाहती। महाराज्यपाल ने कहा कि युद्ध के समय मे मूल सवैधानिक परिवर्तन नही हो सकते परन्तु ब्रिटिश सरकार ने उसे (महाराज्यपाल को) यह घोषित करने का अधिकार दिया है कि वे युद्ध के समाप्त होने के बाद जल्दी ही अत्यन्त प्रसन्नता के साथ एक ऐसी सस्था स्थापित करेंगे जो भारत के नये सविधान को तैयार करे और जिसमे भारत के राष्ट्रीय जीवन के प्रमुख वर्गों का प्रतिनिधित्व हो। ब्रिटिश सरकार का प्रयत्न रहेगा कि सब सम्बन्धित विषयों पर शीघ्र से शीघ्र निश्चय किये जायें। उसे प्रसन्नता होगी यदि इस बीच मे भारतीय प्रतिनिधि युद्ध के उपरान्त बनने वाली सस्था के सगठन व कार्य के विषय मे और सविधान के सिद्धान्तो और रूप रेखा के विषय मे कोई समझौता कर लें। अन्त मे लार्ड लिनलिथगो ने यह आशा प्रगट की कि सब दल व जाति भारत के युद्ध के प्रयत्नो मे सहयोग देंगी और इस तरह मेल से कार्य करके ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल मे भारत की स्वतन्त्र और सामान्य साझेदारी की प्राप्ति के लिए मार्ग खोल देंगी।

डा० आर० आर० सेठी ने अगस्त प्रस्ताव को एक महत्वपूर्ण घोषणा बताया। उनके विचार मे यह घोषणा वर्तमान अवस्था मे एक महत्वपूर्ण सुधार थी इसके द्वारा ब्रिटिश सरकार ने यह स्वीकार कर लिया कि भारतवासियो का अपने भविष्य के सविधान की रूपरेखा तैयार करना प्राकृतिक और पुस्तानुगत अधिकार है उसने भारत के लिये औपनिवेशिक स्वराज्य की माग को भी स्पष्ट शब्दो मे स्वीकार करने का वचन दिया परन्तु राष्ट्रीय कांग्रेस ने इस अगस्त प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया क्योकि इस प्रस्ताव मे कांग्रेस के ध्येयो और उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती थी। गांधी जी ने कहा कि इसके द्वारा, ब्रिटिश शासको और राष्ट्रीय भारत के सम्बन्ध और भी

खराब हो जायेंगे। मुस्लिम लीग की कार्यकारिणी समिति ने प्रसन्नता प्रगट की कि ब्रिटिश सरकार उनकी सम्मति के बिना भारत के लिये कोई संविधान नहीं बनायेगी फिर भी मुस्लिम लीग ने न तो प्रस्ताव को स्वीकार किया और न अस्वीकार किया, उसने कहा कि भारत के विभाजन के द्वारा ही भारत के भविष्य के संविधान के बारे में कोई निर्णय हो सकेगा उदार दल के नेताओं ने ब्रिटिश सरकार से औपनिवेशिक स्वराज्य स्थापित करने के लिए एक तिथि निश्चित की। उन्होंने कहा कि महाराज्यपाल की कार्यकारिणी परिषद् में भारतीय सदस्यों का बहुमत होना चाहिये। भारत सचिव श्री एल० एस० एमरी ने कहा कि संवैधानिक संकट का मूल कारण भारत के विभिन्न वर्गों का मतभेद है यह सत्य नहीं है कि ब्रिटिश सरकार स्वतन्त्रता नहीं देना चाहती और कांग्रेस उसकी इच्छुक है।[1] वास्तव में अगस्त प्रस्ताव कोई महत्वपूर्ण योजना नहीं थी इसमें केवल कुछ भारतवासियों को महाराज्यपाल की कार्यकारिणी परिषद् का सदस्य मनोनीत करने का सुझाव था। इस प्रस्ताव से एक परिवर्तन तो अवश्य होता परन्तु यह परिवर्तन महाराज्यपाल की परिषद् के संगठन में न होकर उसके सदस्यगणों का परिवर्तन था। भारतीयों का अपने संविधान को तैयार करने का अधिकार तो मान लिया गया परन्तु साथ में ही अल्पमतों के अधिकारों पर जोर देकर ब्रिटिश सरकार ने अगस्त प्रस्ताव का महत्व बहुत कम कर दिया। राष्ट्रीय नेताओं को यह दीखने लगा कि अल्पमतों की आड़ लेकर ब्रिटिश सरकार भारत के संवैधानिक विकास को रोकना चाहती है। ऐसी परिस्थिति में विभिन्न वर्ग कभी समझौता नहीं कर सकते। इस प्रस्ताव के द्वारा अल्पमतों को आमन्त्रित किया गया था कि वे अपनी अधिक से अधिक मांगों पर डटे रहें क्योंकि ब्रिटिश सरकार उनको बलपूर्वक किसी सरकार के अन्तर्गत नहीं रखना चाहती थी।[2] इस प्रकार अल्पमतों को भारत के संवैधानिक विकास पर अवरोध अधिकार लगाने का अवसर दिया गया।

जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं कि कांग्रेस ने अगस्त प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। इसके फलस्वरूप कांग्रेस और सरकार में संघर्ष अनिवार्य था। पिछले कुछ महीनों से सरकार ने कांग्रेस जनों को किसी न किसी बहाने बन्दी बनाना आरम्भ कर दिया था। ऐसी परिस्थिति में कांग्रेस ने गांधी जी को देश का नेतृत्व करने के लिये आमन्त्रित किया। गांधी जी ने कहा कि युद्ध के समय वे ब्रिटिश सरकार को परेशान करना नहीं चाहते। उन्होंने कहा कि सविनय अवज्ञा आन्दोलन सामूहिक रूप से आरम्भ करने का तो प्रश्न ही नहीं है, केवल व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन ही किया जा सकता है, इस प्रकार का सत्याग्रह आन्दोलन १७ अक्तूबर १९४० को भाषण की स्वतन्त्रता और युद्ध के विरुद्ध प्रचार के विषयों को

1. आर० आर० सेठी : दी लास्ट फेज ऑफ ब्रिटिश सोवरेन्टी इन इण्डिया १९१९-१९४७, पृष्ठ ३१।

2. डी० पी० मिश्रा: दी हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम मूवमेंट इन मध्य-प्रदेश, पृष्ठ ४२१।

लेकर ही प्रारम्भ किया। गांधी जी ने कहा कि हमारे समक्ष प्रमुख प्रश्न यह है कि हम स्वतन्त्रतापूर्वक अपने विचारों को प्रगट कर सकें और भाषण दे सकें। कांग्रेस यह अधिकार सब मनुष्यों को दिलाना चाहती है और इस कार्य के लिए पूर्णतया अहिंसा का मार्ग ही अपनाना चाहती है। व्यक्तिगत सत्याग्रह सब जगह शान्तिपूर्वक चलाया गया। प्रत्येक प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी ने व्यक्तिगत सत्याग्रहियों के नाम गांधी जी की स्वीकृति के लिए भेजे। गांधी जी ने आचार्य विनोबा भावे को आन्दोलन प्रारम्भ करने के लिए प्रथम व्यक्तिगत सत्याग्रही चुना। १७ अक्तूबर को वर्धा के समीप पौनार में विनोबा भावे ने एक सभा में भाषण दिया और जनता से युद्ध में सहायता न देने की मांग की। कुछ समय बाद वे बन्दी बना लिए गये और उन्हें तीन महीने की सजा मिली। इसके उपरान्त और बहुत से सत्याग्रही बन्दी बना लिए गए। ३१ अक्तूबर को पंडित जवाहर लाल नेहरू को भी बन्दी बना लिया गया। मध्यप्रान्त में नवम्बर १९४१ में प० रविशंकर शुक्ला, प० डी० पी० मिश्रा, सेठ गोविंद दास इत्यादि बन्दी बना लिए गए। आन्दोलन के प्रारम्भ होने के छः महीने के भीतर ही लगभग ३० हजार व्यक्ति बन्दी बना लिए गये। इनमें कांग्रेस के बहुमत वाले प्रान्तों के भूतपूर्व मुख्य मन्त्री भी थे। २९ भूतपूर्व मन्त्री और प्रान्तीय विधान मण्डलों के २९० सदस्य शामिल थे।[1]

भारतीय जनता को सन्तुष्ट करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने एक कदम बढ़ाया, २२ जुलाई १९४१ को महाराज्यपाल की कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों की संख्या ७ से बढ़कर १२ कर दी गई। नई परिषद् में भारतीय सदस्यों की संख्या आठ थी। ३ जुलाई १९४२ को सदस्य संख्या १२ से बढ़कर १५ कर दी गई। जिनमें ११ भारतवासी, एक यूरोपियन और तीन यूरोपियन अधिकारी (सेनापति को मिलाकर) थे। जुलाई १९४१ में महाराज्यपाल ने एक राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद् स्थापित करने का निश्चय कर लिया। इसमें ३० सदस्य थे परन्तु सरकार की इस नीति से कांग्रेस अपने ध्येय से नहीं हटी। १९४१ में एक और घटना हुई जिसके कारण भारत और इंगलैंड के सम्बन्ध और भी खराब हो गए। १४ अगस्त १९४१ को अटलांटिक घोषणा पत्र घोषित किया गया जिसमें प्रत्येक देश के मनुष्यों को अपनी इच्छा के अनुसार सरकार चुनने का अधिकार दिया गया अटलांटिक घोषणा के कारण विश्व के पराधीन देशों में आशा की लहर फैल गई परन्तु ९ सितम्बर १९४१ को कॉमन्स सभा में दिये गये ब्रिटिश प्रधान मन्त्री चर्चिल के भाषण ने इस आशा पर पानी फेर दिया। उसने कहा कि यह घोषणा पत्र भारत पर लागू नहीं होगा। भारत का भविष्य ब्रिटिश सरकार द्वारा समय-समय पर दिये गये वक्तव्य के आधार पर निश्चित होगा।

**युद्ध के फलस्वरूप विश्व की गम्भीर स्थिति**—१९४१ में युद्ध की स्थिति खराब ही होती गई। यूरोप में मित्र राष्ट्रों पर भी संकट आ पड़ा। जब चर्चिल ने

१. दी हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम मूवमेंट इन मध्य प्रदेश, पृष्ठ ४१३।

युद्ध सचालन स्वयं सम्भाला तो उन्होंने स्थिति को सुधारने का भरसक प्रयत्न किया। ७ दिसम्बर को जापान ने बिना चेतावनी के पर्ल हारबर पर आक्रमण कर दिया। चौबीस घन्टे के अन्दर ही जापान ने थाईलैंड पर अधिकार पा लिया एवं जापानी सेना ब्रिटिश मलाया में उतरी। दो अंग्रेजी जहाज 'रिपल्स' एव 'प्रिंस ऑफ वेल्स' डुबा दिये गये। युद्ध भारत के समीप भी पहुँच चुका था। ऐसी स्थिति में भारत के प्रतिष्ठित नेताओं को कैद में रखना समय के प्रतिकूल था। ३ दिसम्बर को भारत सरकार ने एक विज्ञप्ति द्वारा घोषित किया कि सविनय अवज्ञा आन्दोलन में भाग लेने के कारण जो मनुष्य बन्दी बना लिये गये हैं उनको रिहा कर दिया जायेगा। दूसरे दिन ही कांग्रेसी नेता जैसे जवाहर लाल नेहरू एव मौलाना आजाद मुक्त कर दिये गये। युद्ध की गम्भीर दशा का विवेचन करते हुए पं० द्वारका प्रसाद मिश्र ने लिखा है "यदि १९३९ का यूरोप का जर्मन आक्रमण तीव्र था तो जापानियों की दक्षिण पूर्व एशिया में दिसम्बर १९४१ के युद्ध की प्रगति चीन सागर में उत्पन्न होने वाली एक बड़ी आँधी के समान कही जा सकती है।"[1] कुछ ही घन्टों में सिंगापुर धराशायी हो गया, रंगून पर बम बरसाये गये, ऊपरी बर्मा पर आक्रमण किया गया, जापानी सेना बंगाल की खाड़ी पर आक्रमण करने वाली थी। जापानी बम कोकोनाडा के करीब भारत के पूर्वी किनारे पर पड़े, विजगापट्टम, ट्रिन्कोमेलकी एव कोलम्बो पर भी बम पड़ा। मलाया एव बर्मा से शरणार्थी हजारों की संख्या में भारत आने लगे। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने २३ दिसम्बर को बरदोली में एक बैठक की जिसमें भारतवासियों से धैर्य रखने को कहा गया। ऐसे समय में गांधी जी ने कांग्रेस का नेतृत्व छोड़ना उचित नहीं समझा।

क्रिप्स मिशन— १५ फरवरी १९४२ को सिंगापुर के पतन के बाद बंगाल की खाड़ी के ऊपर आक्रमण का भय हो गया। जब ७ मार्च को रंगून का पतन हुआ तो यह स्पष्ट हो गया कि जल्दी ही जापानी सेना बंगाल और मद्रास पर अपना अधिकार जमा लेगी। रंगून के पतन के चार दिन बाद ही (११ मार्च को) श्री चर्चिल ने युद्ध मन्त्रिमण्डल की ओर से भारत में क्रिप्स मिशन भेजने की घोषणा की। श्री एल० एस० एमरी ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है कि क्रिप्स मिशन युद्ध में अंग्रेजों की खराब स्थिति के कारण नहीं भेजा गया था। परन्तु यह तो ब्रिटिश सरकार ने अपनी पुरानी नीति के अनुसार भेजा था। श्री एमरी का यह वक्तव्य पक्षपात रहित नहीं है। श्री चर्चिल की ११ मार्च १९४२ की घोषणा से ही यह स्पष्ट है कि श्री एमरी की बात में कोई सार नहीं है। श्री चर्चिल ने कहा कि जापानी आक्रमण के कारण भारतीय स्थिति में एक संकट पैदा हो गया है जिसके कारण हम यह उचित समझते हैं कि आक्रमण से भारत की भूमि को बचाने के लिये हम सब दलों को एकत्रित करना चाहते हैं, उन्होंने कहा कि अगस्त १९४० में ब्रिटिश सरकार ने भारत में अपनी नीति का उल्लेख किया था। इस समय ब्रिटिश सरकार

---

[1] दी हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम मूवमेंट इन मध्य प्रदेश, पृष्ठ ४५६।

भारत के सब वर्गों, जातियों और धर्मों को यह बताना चाहती है कि ब्रिटिश सरकार की नीति स्पष्ट रूप से क्या है। उन्होंने कहा कि अपनी नीति को खुले शब्दों में घोषित करने से पहले वे यह जानना चाहते हैं कि भारत के मनुष्य उसे स्वीकार करेंगे या नहीं। इस आशय से वे युद्ध मन्त्रिमण्डल के एक सदस्य को भारत भेजना चाहते हैं जो भारतीय नेताओं से परामर्श करेंगे और यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि भारतीय इन सुझावों से सहमत है या नहीं। श्री चर्चिल ने इन नए सुझावों को भारतीय समस्या का 'उचित और अन्तिम' हल बताया। सर स्टेफर्ड क्रिप्स जो लार्ड प्रिवी सील और कॉमन्स सभा के नेता थे, इस कार्य के लिए भारत भेजे गए। सर स्टेफर्ड क्रिप्स २३ मार्च को नई दिल्ली पहुँचे और भारतीय नेताओं से परामर्श करना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने ब्रिटिश सरकार का प्रारूप घोषणा पत्र ३० मार्च १९४२ को भारत में प्रकाशित किया।[1] इसके प्रारम्भ में यह कहा गया कि ब्रिटिश सरकार यह सोचकर कि भारतीय जनता को ब्रिटिश सरकार की प्रतिज्ञाओं से कुछ सन्देह प्रतीत होता है अपनी नीति को स्पष्ट और यथार्थ शब्दों में बता देना चाहती है कि शीघ्र से शीघ्र वह भारत को स्वराज्य देना चाहती है। ब्रिटिश सरकार भारत में एक ऐसा संघ स्थापित करना चाहती है जो ब्रिटिश राजमुकुट के आधीन रहेगा परन्तु वह हर प्रकार से इंगलैंड और अन्य अधिराज्यों के समान होगा और किसी रूप से भी आन्तरिक व विदेशीय विषयों में ब्रिटेन के आधीन नहीं होगा।

इस घोषणा पत्र की विशेषतायें इस प्रकार हैं—(१) ब्रिटिश सरकार ने यह घोषित किया कि युद्ध के अन्त होने के तुरन्त बाद ही वह भारत के नए संविधान को तैयार करने के लिए एक निर्वाचित समिति स्थापित करने के लिए कार्यवाही करेगी। (२) इस संविधान सभा में देशी राज्यों के सम्मिलित होने की भी व्यवस्था की जायगी। (३) ब्रिटिश सरकार इस प्रकार बनाये गए संविधान को कार्यान्वित करने की प्रतिज्ञा करती है परन्तु ब्रिटिश भारत के प्रत्येक प्रान्त को यह अधिकार होगा कि वह इस प्रकार बनाये गए संविधान को स्वीकार करे या न करे, यदि वह ऐसा न करे तो उसे अपनी वर्तमान संवैधानिक स्थिति कायम रखने का अधिकार है। ब्रिटिश सरकार ऐसे प्रान्तों को जो भारतीय संघ में शामिल न हों उनके लिए एक नया संविधान बनाने के लिए तैयार हो सकती है जिसके अनुसार उनकी स्थिति भारतीय संघ की तरह ही होगी। ब्रिटिश सरकार भारत के लिए संविधान तैयार करने वाली निकाय के साथ एक संधि करेगी। इस संधि में जातीय और धार्मिक अल्पमतों की सुरक्षा के लिए उपबन्ध रखे जायेंगे परन्तु यह संधि भविष्य में भारतीय संघ के ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के दूसरे देशों के साथ सम्बन्धों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगायेगी। कोई देशी राज्य संविधान को स्वीकार करे या न करे उनके साथ नयी संधि की व्यवस्था करनी पड़ेगी। (४) संविधान तैयार करने

१. सर मौरिस ग्वायर और ए० अप्पादोराई : स्पीचिज एण्ड डाक्यूमेंट्स ऑन दी इण्डियन कॉन्स्टीटयूशन १९२१-१९४७ भाग २, पृष्ठ ५२०-५२१।

वाली समिति का संगठन इस प्रकार होगा। युद्ध समाप्ति पर प्रांतीय चुनावों के फल मालूम हो जायेंगे तो प्रान्तीय विधान मण्डलों के निचले सदन की समस्त सदस्य संख्या केवल निर्वाचकगण (electoral college) बनायेंगी। ये निर्वाचकगण अनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर संविधान सभा को निर्वाचित करेंगी। इस संविधान तैयार करने वाली समिति में निर्वाचकगण की संख्या के $\frac{1}{10}$ सदस्य होंगे। देशी राज्यों को भी जनसंख्या के आधार पर अपने प्रतिनिधि नियुक्त करने का अधिकार होगा। (५) ब्रिटिश सरकार ने तय किया कि युद्ध की समाप्ति तक भारत की सुरक्षा का उत्तरदायित्व और निरीक्षण ब्रिटिश सरकार पर रहना चाहिये परन्तु भारत सरकार को भारतीय जनता के सहयोग से युद्ध का संचालन करने के लिए देश के सैनिक, नैतिक और भौतिक साधनों का प्रयोग करने का अधिकार होगा। ब्रिटिश सरकार भारतीय जनता के प्रमुख वर्गों के नेताओं को इस ध्येय की पूर्ति के लिए सरकार में स्थान देने को तैयार है। इस प्रकार इस घोषणा के द्वारा एक अन्तरिम सरकार बनाने की व्यवस्था की गई जिसमें भारतीय नेता सम्मिलित हो सकते थे। इस प्रारूप घोषणा पत्र का अधिक स्पष्टीकरण सर स्टेफर्ड क्रिप्स ने ३० मार्च १९४२ के आकाशवाणी केन्द्र से किया। उसने कहा कि देशी राज्य संविधान तैयार करने में तो सम्मिलित होंगे परन्तु संविधान को स्वीकार करना उनके लिए अनिवार्य नहीं है। अपने इस भाषण में सर स्टेफर्ड क्रिप्स ने अल्पमतों के अधिकारों पर अधिक जोर दिया। एक समाजवादी नेता होते हुए भी उन्होंने एल० एस० एमरी के विचारों के ही राग अलापे। उन्होंने कहा कि भारत में कुछ ऐसे मनुष्य हैं जो भारत को विभाजित करके उसके दो, तीन या उससे भी अधिक देश बनाना चाहते हैं। उन्होंने कहा कि सब प्रान्तों को संविधान के बनाने में सहयोग देने का अवसर मिलेगा। संविधान तैयार होने पर प्रान्तों की इच्छा पर ही यह निर्भर रहेगा कि वह उसे स्वीकार करे। उन्होंने कहा कि सुरक्षा विभाग युद्ध मंत्रिमण्डल के ही आधीन न रहना चाहिए यद्यपि भारत सरकार को इस कार्य में सहयोग देने का अवसर मिलेगा, इसलिए सेनापति महाराज्यपाल की परिषद् का सदस्य रहेगा। अन्त में उन्होंने कहा कि ब्रिटिश सरकार ने एक भारतीय प्रतिनिधि को युद्ध मन्त्रीमण्डल और संयुक्त राष्ट्र की पैसेफिक परिषद् में लेना निश्चित किया है उन्होंने कहा कि हमारे सुझाव तथ्यपूर्ण और निश्चित है।

क्रिप्स मिशन के सुझावों पर विचार करने के लिए २ अप्रैल १९४२ को कांग्रेस कार्य-कारिणी की समिति की बैठक हुई और उसमें एक प्रस्ताव पास किया गया। प्रस्ताव में कहा गया[1] कि कांग्रेस युद्ध में हाथ बटाने के लिए तैयार है परन्तु यह इसी शर्त पर हाथ बटायेगी कि भारत को स्वतन्त्रता दे दी जाय। स्वतन्त्र भारत ही देश की रक्षा कर सकता है कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने कहा कि युद्ध मन्त्रिमण्डल

१. सर मौरिस ग्वायर और ए० अप्पादोराई : स्पीचिज एण्ड डॉक्यूमेंटस ऑन दी इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशन १९२०–१९४७ भाग २ पृष्ठ ५२४–५२६।

के सुभाव भविष्य से अधिक सम्बन्ध रखते हैं। समिति यह स्वीकार करती है कि भारतीयों का आत्मनिर्णय का अधिकार सैद्धांतिक रूप से मान लिया गया है परन्तु उसे खेद है कि इसे ऐसा तोडा मरोडा गया है और कुछ ऐसे प्रतिबन्ध लगाये गये हैं जो एक स्वतन्त्र और सयुक्त राष्ट्रीय सरकार और एक प्रजातान्त्रिक राज्य की स्थापना मे रुकावट है। सविधान बनाने वाली समिति मे ऐसे अगो (देशी राज्यो) को प्रतिनिधित्व दिया गया है जो वास्तव मे जनता के प्रतिनिधि नही हैं। इस तरह से जनता के आत्मनिर्णय की अवहेलना की गई है। यहा पर समिति का सकेत उन देशी राज्यो के प्रतिनिधियों से है जो जनता द्वारा निर्वाचित न होकर उनके शासको द्वारा मनोनीत किये जायेंगे। समिति ने कहा कि देशी राज्यों की ६ करोड़ जनता की पूर्णरूप से अवहेलना करना और उनके साथ शासकों की सम्पत्ति जैसा व्यवहार करना आत्मनिर्णय और प्रजातन्त्र के सिद्धातों के विरुद्ध है। देशी राज्यो की जनता का सविधान के बनाने मे कोई हाथ नही होगा। ऐसे देशी राज्य भारतीय स्वतन्त्रता के मार्ग मे रोड़ा अटका सकते हैं। प्रान्तो को भारतीय सघ से पृथक् रहने की अनुमति देना यहा एकता को नष्ट करना था। इसके कारण प्रान्तो को भारतीय सघ मे शामिल होते समय कठिनाइया उत्पन्न करने का अवसर मिलेगा। समिति ने यह भी स्वीकार किया कि किसी क्षेत्र को उसकी इच्छा के बिना सघ मे सम्मिलित नही किया जायेगा। सघ मे शामिल होने वाली इकाइयो को पूर्णतया आन्तरिक स्वतन्त्रता मिलेगी। यद्यपि केन्द्रीय सरकार दृढ़ रखी जायेगी। यदि युद्ध मन्त्रिमण्डल की विभाजन करने की नीति को स्वीकार कर लिया जाय तो प्रतिक्रियावादी और अनुदार दलों को प्रोत्साहन मिलेगा। समिति ने कहा कि भारत के भविष्य के विषय मे जो सुभाव हैं उन पर ध्यानपूर्वक विचार करना चाहिये परन्तु देश की शोचनीय परिस्थिति मे वर्तमान का अधिक महत्व है और भविष्य के सुभाव तभी तक महत्वपूर्ण है जब तक वे वर्तमान को प्रभावित करें। इस विषय मे युद्ध मन्त्रिमण्डल के सुभाव अस्पष्ट हैं, सरकार के वर्तमान सगठन मे कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नही किये गए हैं। सुरक्षा विभाग ब्रिटिश नियत्रण मे ही रहेगा। सुरक्षा एक महत्वपूर्ण विषय है। युद्धकाल मे इसका महत्व और अधिक है और इसका प्रभाव जीवन के प्रत्येक अग और शासन पर पड़ता है। भारत की सुरक्षा को भारतीयो को न सौंपना उत्तरदायित्व का गला घोटना है। सुरक्षा पर नियन्त्रण के बिना सरकार अपना कार्य ठीक प्रकार नही कर सकती। बातचीत के बीच काग्रेस अध्यक्ष मौलाना अब्बुल कलाम आजाद ने इस बात पर जोर दिया था कि अन्तरिम राष्ट्रीय सरकार एक मन्त्रिमण्डलीय सरकार होनी चाहिए जिसको पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो। अन्तरिम सरकार महाराज्यपाल परिषद् का ही एक रूप नही होना चाहिए।[1] परन्तु सर स्टेफर्ड क्रिप्स ने इस बात को नही माना। बिना महत्वपूर्ण सवैधानिक परिवर्तनों के ऐसा करना सम्भव नहीं

---

१. सर मौरिस ग्वायर और ए० अप्पादोराई : स्पीचिज एण्ड डॉक्यूमेंट्स ऑन दी इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशन, १६२१–१६४७, भाग २, पृष्ठ ५३५।

है। यदि परम्परा के आधार पर विभिन्न राजनैतिक दलों के प्रतिनिधि मन्त्रिमण्डल में लिए गए तो वह बहुमत की तानाशाही होगी।[1]

२ अप्रैल १९४२ को अपनी बैठक में मुस्लिम लीग ने भी क्रिप्स सुझावों को अस्वीकार कर दिया। उसने इस बात पर प्रसन्नता प्रगट की कि सरकारी घोषणा में पाकिस्तान की सम्भावना को स्वीकार किया गया है परन्तु उसने खेद प्रगट किया कि क्रिप्स योजना में संशोधन करने की व्यवस्था नहीं रखी गई है। समिति ने संविधान समिति के लिए एक ही निर्वाचकगण रखने का विरोध किया उसने कहा कि इसका चुनाव पृथक् निर्वाचन पद्धति द्वारा होना चाहिए, तभी मुसलमानों के वास्तविक प्रतिनिधि उसमें प्रवेश पा सकते हैं। समिति ने इस बात का भी विरोध किया कि संविधान सभा के सब महत्वपूर्ण निश्चय बहुमत से होंगे। मुसलमानों का इन निश्चयों में कोई हाथ न होगा क्योंकि इनकी सदस्य संख्या केवल २५% होगी।[2] श्री जिन्ना ने १८ अप्रैल को पत्रकारों से बातचीत करते हुए कहा कि लीग ने क्रिप्स योजना को इसलिए अस्वीकार किया है क्योंकि इसने स्पष्ट शब्दों में पाकिस्तान की माँग को नहीं माना है और मुसलमानों के आत्मनिर्णय के अधिकार की अवहेलना की है, उन्होंने अन्तरिम सरकार के विषय में कांग्रेस की माँग की भी निन्दा की। यदि मुख्य राजनैतिक दलों के प्रतिनिधि मन्त्रिमण्डल में ले लिए जायें और महाराज्यपाल और भारत सचिव को हस्तक्षेप का अधिकार न रहे (जैसा कि कांग्रेस चाहती है) तो ऐसी अवस्था में भारत कांग्रेस के बहुमत पर ही निर्भर रहेगी। इस प्रकार बनाया गया मन्त्रिमण्डल एक फासीवादी महान् परिषद् बन जायेगा। मुसलमान और अन्य अल्पसंख्यकों को कांग्रेस की दया दृष्टि पर ही निर्भर रहना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में भविष्य के संविधान पर विचार करना निरर्थक है। ब्यौरा और विस्तार के सिवाय महत्वपूर्ण विषयों पर विचार करने के लिए कुछ रह ही नहीं जायेगा। अन्य छोटे-छोटे राजनैतिक दलों ने भी किसी न किसी आधार पर क्रिप्स योजना को अस्वीकार कर दिया।

यह मानना पड़ेगा कि क्रिप्स योजना में अगस्त प्रस्ताव की अपेक्षा कुछ अधिक सुधार किए गए थे। इसकी भाषा अधिक स्पष्ट थी। इस घोषणा में सरकार ने कुछ हद तक अपने अधिकारों को कम करने की व्यवस्था की थी। सर स्टेफर्ड क्रिप्स ने पत्रकारों से बातचीत करते हुए यह मान लिया कि सरकारी घोषणा में यह बात मानी गई है कि भारत स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद दूसरे देशों से अपनी इच्छानुसार सम्बन्ध रख सकता है, यदि वह चाहे तो ब्रिटिश राज्यमण्डल को भी छोड़ सकता है। योजना में यह स्वीकार किया गया कि नए संविधान को तैयार करना भारतवासियों के ही हाथ में है क्रिप्स योजना में एक संविधान सभा की माँग को स्वीकार कर

---

१. स्पीचेज एण्ड डाक्यूमेंट्स ऑन दी इण्डियन कांस्टीट्यूशन १९२१–१९४७ भाग २, पृष्ठ ५३० ।

२. वही, पृष्ठ ५०७ ।

लिया गया। युद्ध समाप्त होने पर यह सभा भारत के लिए संविधान तैयार करेगी। अन्तरिम सरकार के लिए भी इस योजना में कुछ सुधार किए गए। इस प्रारूप घोषणा में इतने सुधार होते हुए भी कुछ मूल त्रुटियाँ थी जिसके कारण सभी दलों ने इसे अस्वीकार कर दिया। भारतीय जनता और समाचार पत्रो ने भी इन सुझावों की आलोचना की। २४ अप्रैल १६४२ के अंक में 'नेशनल हैरेल्ड' ने कहा कि क्रिप्स मिशन अमेरिका के दबाव देने पर ही भेजा गया था। यह ससार की जनता को सन्तुष्ट करने के लिए एक बनावटी दिखावा था। भारतवासियों के ऊपर ही दोषारोपण करना चाहते थे कि उन्होंने ही इसे विफल बना दिया। २६ अप्रैल १६४२ के 'हरिजन' अंक में गांधी जी ने लिखा कि यह क्रिप्स योजना इतनी हास्यपूर्ण है कि इसे कोई भी स्वीकार नही कर सकता। गांधी जी ने इस योजना की तुलना एक ऐसे चैक से की है जिस पर बाद की तिथि पडी हुई है और यह ऐसे बैंक का चैक है जो फेल होने वाला है (It is "a post-dated cheque on a Bank that was obviously failing")। पण्डित पन्त ने कहा कि सर क्रिप्स एमरी के पद चिन्हो पर ही चल रहे हैं। २२ अप्रैल १६४२ के 'दी हिन्दुस्तान टाइम्स' में श्री आसफ अली ने एक वक्तव्य में कहा कि अन्तरिम सरकार के लिए क्रिप्स का सुझाव केवल नमक लगी हुई खाई थी। सर स्टेफर्ड क्रिप्स के भाषण का उत्तर देते हुए श्री जवाहर लाल नेहरू (जो उनके परम मित्र थे) ने कहा कि यह अत्यन्त खेदजनक है कि क्रिप्स जैसे मनुष्य भी एक शैतान का पक्ष ले सकते हैं।[1] डा० पट्टाभि सीतारमैया ने क्रिप्स योजना पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि ये सुझाव अगस्त प्रस्ताव का सस्ता आकर्षक सुधार (a cheap but attractive bromine enlargement of the August Offer) था। उन्होंने इसकी तुलना "मरा हुआ बच्चा पैदा" होने से की है। क्रिप्स ने २० रोज तक इसमें बनावटी प्राण डालने की व्यर्थ कोशिश की।[2] प्रो० हैरेल्ड लॉस्की ने कहा कि क्रिप्स का मिशन कुछ देर में भेजा गया था कुछ ऐसा प्रतीत होता था जैसे कि क्रिप्स मिशन जापान के आक्रमण को रोकने के लिए था न कि भारतीयो की मांगो को स्वीकार करने के लिए। उन्होंने यह भी कहा कि मिशन ने अपना कार्य भाग दौड में शीघ्रता से किया। डा० ए० के० घोषाल ने संविधान सभा के सगठन की निन्दा की—कि वह साम्प्रदायिकता पर आधारित है। डा० आर० आर० सेठी का कहना है कि क्रिप्स योजना में भारतीय राजनैतिक नेताओं को खुश करने की सुगन्ध आती थी। क्रिप्स युद्ध कार्यों में समस्त जनता के सहयोग के अधिक इच्छुक थे। वे भारतीय समस्या को सुलझाने के लिए वास्तव में अधिक प्रयत्नशील नहीं थे।[3] इस वाक्य में कुछ सत्य अवश्य है।

---

१. आर० कूपलैंड इण्डियन पॉलिटिक्स १६३६-१६४२, पृष्ठ २८८।

२. दी हिस्ट्री आफ दी इण्डियन नेशनल काग्रेस भाग २ पृष्ठ ३०७।

३. दी लास्ट फेज ऑफ ब्रिटिश सोवरेन्टी इन इण्डिया १६१६-१६४७, पृष्ठ ४३-४४।

इस घोषणा और क्रिप्स के भाषणों में अल्पमतों के हितों पर अधिक जोर देने से यह स्पष्ट था कि ब्रिटिश सरकार ने अपनी 'विभाजन करके शासन करने की' नीति को नहीं त्यागा। भारत के भविष्य की योजना तो अधिक ध्यानपूर्वक तैयार की गई थी परन्तु वर्तमान सरकारी व्यवस्था में कोई मूल परिवर्तन करने का प्रयत्न नहीं किया गया था। प्रांतों और देशी राज्यों को पृथक् रहने की स्वीकृति देकर योजना के महत्व को कम कर दिया गया था। इसका परिणाम प्रति क्रियावादी वर्गों को प्रोत्साहन देना था। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने ठीक ही लिखा है "इस योजना के पीछे ब्रिटिश सरकार की भारत को विभाजित करने वाली और प्रत्येक ऐसे वर्ग को प्रोत्साहन देने वाली सैकड़ों वर्ष पुरानी नीति थी जो राष्ट्रीय विकास और स्वतन्त्रता में बाधक थी।"[1] क्रिप्स योजना को अत्यन्त कठोर बनाकर बड़ी भूल की गई थी। सर स्टेफर्ड क्रिप्स ने धैर्य से कार्य नहीं किया और शीघ्रतापूर्वक इसे वापिस लेकर बुद्धिमानी का कार्य नहीं किया। क्रिप्स २३ मार्च को दिल्ली पहुंचे और १२ अप्रैल को वापिस चले गये। इससे यह प्रगट है कि शायद ब्रिटिश सरकार यह सोचती थी कि अधिक समय तक भारत में रहने पर क्रिप्स भारतीय नेताओं को कुछ और अधिकार न सौंप दें। पण्डित द्वारका प्रसाद मिश्र का मत है कि क्रिप्स योजना के विफल होने का कारण ब्रिटिश सरकार की साम्राज्यवादी नीति भी थी। श्री चर्चिल ने १० नवम्बर १९४२ को कहा था कि वे सम्राट के प्रथम मन्त्री इसलिए नहीं बने कि वे ब्रिटिश साम्राज्य को समाप्त करा दें। उन्होंने एक भाषण में यह भी कहा था कि कांग्रेस भारतीय जनता का केवल १% का प्रतिनिधित्व करती है इन वाक्यों से उनकी साम्राज्यवादी प्रवृत्ति प्रगट होती है।

क्रिप्स के वापिस जाने के कुछ ही समय बाद इलाहाबाद में कांग्रेस कार्यकारिणी की एक बैठक हुई। इस समिति ने एक प्रस्ताव द्वारा घोषित किया कि ब्रिटिश सरकार के सुझावों से यह प्रगट है कि ब्रिटिश सरकार साम्राज्यवादी सरकार की भांति कार्य करना चाहती है और भारत में अपने आधिपत्य को समाप्त नहीं करना चाहती। कांग्रेस किसी ऐसी योजना पर विचार नहीं करना चाहती जिसके अनुसार कुछ हद तक भी ब्रिटिश अधिकार भारत में रहें। यह भारत के हित, ब्रिटिश सुरक्षा और विश्व शांति के हित में है कि ब्रिटेन भारत से अपना आधिपत्य हटा ले। इस समिति के विचारार्थ महात्मा गांधी का एक सुझाव था जो अधिक रूप से प्रतिक्रियावादी था। गांधी जी इस निश्चय पर पहुँचे थे कि ब्रिटिश नीति और मलाया, सिंगापुर व बर्मा में जापानी विजय को देखकर यही उचित है कि ब्रिटिश सरकार जल्दी से जल्दी अपना आधिपत्य समाप्त कर दे। २२ अप्रैल १९४२ के होरेस अलेक्जेन्डर को लिखे गये अपने पत्र में उन्होंने लिखा कि उनके विचार में अंग्रेजों को शान्तिपूर्वक ढंग से भारत छोड़ जाना चाहिए। सिंगापुर, मलाया और बर्मा की तरह भय मोल नहीं लेना चाहिये। २४ मई १९४२ के 'हरिजन' पत्र में उन्होंने लिखा कि अंग्रेजों के रहते

[1] दी डिस्कवरी ऑफ इण्डिया, पृष्ठ ४५४।

हुए साम्प्रदायिक झगड़े समाप्त नहीं हो सकते । हम लोगों में आपस में कोई समझौता नहीं हो सकता । उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिख दिया कि जब तक ब्रिटिश सत्ता भारत से पूर्णतया नहीं हटाई जायेगी तब तक देश में वास्तविक एकता नहीं हो सकती ।

**अगस्त १६४२ का आन्दोलन**—इस आन्दोलन को अगस्त की क्रांति या 'भारत छोड़ो आन्दोलन' भी कहते हैं। क्रिप्स मिशन के विफल होने के कारण देश में असन्तोष फैल गया था । मई से लेकर जुलाई और अगस्त के बीच देश में अशांति फैल गई थी । कार्यकारिणी के इलाहाबाद के प्रस्ताव ने यह संकेत कर दिया था कि कांग्रेस और सरकार में एक युद्ध होने वाला है। हरिजन' में गांधी जी के लेखों से भी कुछ ऐसा ही प्रतीत होता था । कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की एक बैठक १४ जुलाई १६४२ को वर्धा में हुई। इस बैठक में समिति ने असन्तोष और बेचैनी प्रगट की कि ब्रिटेन के विरुद्ध रोष बढ़ता जा रहा है और जापानी सेना की सफलता पर जनता में सन्तता फैल रही है । समिति ने देश की शोचनीय दशा पर खेद प्रगट किया और आशा प्रगट की कि कांग्रेस को जनता के राजनैतिक अधिकार और स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिये गांधी जी के नेतृत्व में संघर्ष करना पड़ेगा । समिति ने अंतिम निश्चय अखिल भारतीय कांग्रेस समिति पर छोड़ दिया जिसकी बैठक ७ अगस्त १६४२ को होनी निश्चित हुई। कांग्रेसी नेता और सरकार दोनों यह जानते थे कि बहुत जल्दी संघर्ष होने वाला है । १४ जुलाई की बैठक के बाद गांधी जी ने पत्रकारों से कहा कि हमारा संघर्ष 'खुला विद्रोह' होगा । अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की बैठक ७ अगस्त १६४२ को ग्वालिया टैंक मैदान बम्बई में हुई इसमें २५० सदस्य उपस्थित थे । समय की महत्ता को देखते हुए विश्व के प्रत्येक कोने से पत्रकार आये हुए थे । मौलाना आजाद ने बैठक का सभापतित्व किया । श्री जवाहरलाल नेहरू ने 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव प्रेषित किया । इसके विषय में बोलते हुए उन्होंने कहा या तो कांग्रेस भारत को स्वतन्त्र करा देगी या वह स्वयं ही नष्ट हो जायेगी, हमारा यह युद्ध अंतिम युद्ध है । आठ तारीख की रात को 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव अधिक बहुमत से पास हो गया । प्रस्ताव पास होने के बाद गांधी जी ने जोरदार शब्दों में कहा कि इस समय से प्रत्येक भारतवासी को अपने आपको स्वतन्त्र समझना चाहिए । वे स्वतन्त्रता की मांग में कोई समझौता करने को तैयार नहीं थे । उन्होंने पूर्ण स्वतन्त्रता पर ही जोर दिया । अन्त में उन्होंने कहा कि "हम या तो विजयी हो जायेंगे या नष्ट ही हो जायेंगे ।"

सरकार ने प्रस्ताव पास होते ही अपनी दमनकारी नीति को आरम्भ कर दिया । सरकार ने आन्दोलन प्रारम्भ होने की प्रतीक्षा नहीं की। ६ अगस्त के सवेरे ही कांग्रेस के प्रमुख नेता जैसे महात्मा गांधी, मौलाना आजाद, सरदार पटेल, जवाहर लाल नेहरू, सरोजनी नायडू इत्यादि को बन्दी बना लिया गया और उन्हें स्पेशल ट्रेन द्वारा पूना ले जाया गया । भारत के सब प्रांतों में गिरफ्तारी की गई और हजारों स्थानों में जनता के ऊपर गोली चलाई गई । सैकड़ों आदमी मारे गए । सरकार ने अत्याचार करने में कोई कसर न उठा रखी । १६ अगस्त १६४२ को

नागपंचमी के दिन चन्दा जिले के चिमूर ग्राम और वर्धा जिले के अष्टी ग्राम में जो अत्याचार हुए वे बड़े हृदय विदारक थे। विश्व के इतिहास में अत्याचार का दूसरा उदाहरण नहीं मिलता। सेना ने ऐसे पाशविक अत्याचार किए कि वे 'मनुष्य जाति के लिए शर्म का विषय हैं' भारत सरकार के गृह सचिव श्री आर० टोटनहैम ने एक ("Report on Congress Responsibility for the Disturbances") विज्ञप्ति में कहा कि सब झगड़ों की जड़ कांग्रेस है। जब गांधी जी ने जेल में सरकार के अत्याचारों की सूचना समाचार पत्रों में पढ़ी तो वे बहुत दुखी हुए और १० फरवरी १९४३ को २१ रोज के लिए अनशन प्रारम्भ कर दिया। अनशन के छः दिन बाद महाराज्यपाल की परिषद् के ३ सदस्यों एच० पी० मोदी, एन० आर० सरकार और एम० एस० अणे ने सरकार की क्रूर नीति के विरुद्ध त्यागपत्र दे दिया। १८ जून १९४३ को लार्ड वैविल की नियुक्ति महाराज्यपाल के पद पर हुई। जनरल ऑकिनलैक भारत के सेनापति बने। लार्ड लिनलिथगो के कार्यकाल की समाप्ति को सुनकर जनता में प्रसन्नता छा गई। जिस समय लार्ड लिनलिथगो देश में महाराज्यपाल के पद पर आसीन हुए तो देश को उनसे बहुत आशायें थी परन्तु बाद में उनकी क्रूर नीति के कारण जनता की आशाओं पर पानी फिर गया। २२ फरवरी १९४४ को कस्तूरबा का देहान्त हो गया। लार्ड वैविल ने गांधी जी को सहानुभूति का पत्र भेजा। ६ मई को अस्वस्थ होने के कारण गांधी जी को जेल से छोड़ दिया गया। इस समय युद्ध की स्थिति सुधर गई थी और युद्ध का अन्त भी दिखाई पड़ने लगा था।

यहाँ पर यह कहना उचित होगा कि १९४१ में श्री सुभाष चन्द्र बोस देश से लापता हो गये और २१ अक्तूबर १९४३ को आजाद हिन्द सेना और सरकार बनाई। उनके नेतृत्व में आजाद हिन्द फौज इम्फाल और कोहिमा तक आ गई थी परन्तु रसद की कमी के कारण इसे वापिस लौटना पड़ा और इसकी पराजय हो गई। श्री बोस के कार्यों ने भारतवासियों को बड़ा प्रभावित किया और देश में वे 'नेता जी' के नाम से विख्यात हो गये। सितम्बर १९४४ में गांधी जी ने साम्प्रदायिक समस्या को हल करने के लिये श्री जिन्ना से बातचीत करनी प्रारम्भ की। इस दिशा में श्री राजगोपालाचार्य ने मार्च १९४४ में एक फारमूला निकाला, इस फार० मूले के अनुसार भारत और मुस्लिम स्वतन्त्र राज्य की जनता अपनी स्वेच्छा से देश परिवर्तन कर सकती है परन्तु जिन्ना ने कहा कि महात्मा गांधी को दो राष्ट्रीय सिद्धांत और पाकिस्तान की माँग को स्वीकार करना चाहिए तभी कोई निर्णय हो सकता है। श्री भूला भाई देसाई ने जो केन्द्रीय विधान मण्डल में कांग्रेस दल के नेता थे मुस्लिम लीग के मुख्य लीग सचिव श्री लियाकत अली खान से बातचीत की और केन्द्र में अन्तरिम सरकार के संगठन के विषय में उनके समक्ष कुछ सुझाव रखे इन्हें देसाई-लियाकत फारमूला कहते हैं। ये सुझाव गांधी जी की सलाह से ही रखे गये थे। कांग्रेस ने ही देसाई के सुझावों को अन्त में अस्वीकार कर दिया इस पर देसाई को बड़ा खेद हुआ। वे बाद में महाराज्यपाल की परिषद् के कांग्रेसी

सदस्यों के नेता भी न हो सके और न केन्द्रीय विधान मण्डल का टिकट मिला। इस का भी उन्हें बड़ा दुःख हुआ। थोड़े दिनों बाद ही उनकी मृत्यु हो गई। मौलाना आजाद ने देसाई के साथ हुए अन्याय के लिये गांधी जी और कांग्रेसी नेताओं को दोषी ठहराया है। अगस्त आन्दोलन के विषय में हम यह कह देना उचित समझते हैं कि यह आन्दोलन व्यर्थ था और क्रिप्स योजना प्रस्तुत करने के उपरान्त इसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। कांग्रेस क्रिप्स योजना को अस्वीकार करने में ठीक थी परन्तु उसे संघर्ष प्रारम्भ करने का निश्चय नहीं करना चाहिये था। यह आन्दोलन क्रीमियन युद्ध की तरह व्यर्थ था। क्रिप्स ने प्रत्यक्ष रूप से कह दिया था कि युद्ध के बाद भारत को स्वतन्त्रता दे दी जायेगी और भारत ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल को भी छोड़ सकता है। जहाँ तक देश के विभाजन का सम्बन्ध है, सो कांग्रेसी नेताओं ने अन्त में उसे स्वीकार कर ही लिया। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि युद्ध के प्रारम्भ में तो भारतीय साम्यवादी दल ने युद्ध को साम्राज्यवादी युद्ध बताकर उसकी आलोचना की क्योंकि उस समय रूस व जर्मनी आपस में मेल कर चुके थे। परन्तु बाद में जब रूस और जर्मनी में युद्ध छिड़ गया और रूस ने मित्र राष्ट्रों से गठ-बन्धन कर लिया तो साम्यवादी दल ने युद्ध को 'जनता का युद्ध' कहा और भारत में सरकार के युद्ध प्रयत्नों में पूरा सहयोग दिया। श्री एम० एन० राय ने भी जिनका साम्यवादी दल से झगड़ा हो गया था युद्ध में सरकार की सहायता की। इससे स्पष्ट है कि साम्यवादी दल की नीति राष्ट्रीय हित पर आधारित न होकर रूस और अन्य साम्यवादी देशों से प्रेरणा लेती है।

**वैविल योजना**—ब्रिटिश सरकार ने भारतीय समस्या को सुलझाने के लिये अपने प्रयत्न जारी रखे। सरकार ने लार्ड वैविल को इंगलैंड बुलाया और उससे बातचीत करने के बाद भारतीय समस्या को सुलझाने के लिए कुछ सुझाव रखे। ये सुझाव वैविल योजना के नाम से विख्यात हैं। इन सुझावों को भारत सचिव श्री एल० एस० एमरी ने कॉमन्स सभा में १४ जून १९४५ को बताया।[1] उसी दिन महाराज्यपाल ने भी आकाशवाणी द्वारा भारतीय जनता के समक्ष इन प्रस्तावों को रखा। ब्रिटिश सरकार ने कहा कि उन्हें यह बात मालूम है कि भारतीय संवैधानिक समस्या का अभी तक कोई हल नहीं हो सका है और अभी पहली जैसी ही स्थिति है। इस घोषणा में यह कहा गया कि मार्च १९४२ की क्रिप्स योजना को बिना किसी परि-वर्तन के अभी भी स्वीकार की जा सकती है। सरकार की अभी भी यही नीति है। सरकार ने राजनैतिक गतिरोध को सुलझाने की इच्छा प्रगट की। इस विषय में उन्होंने कुछ नये सुझाव रखे। ब्रिटिश सरकार युद्ध समाप्त होने से पहले भी कुछ कदम बढ़ाने को तैयार है यदि भारत के मुख्य राजनैतिक दल उसके सुझावों को स्वीकार कर लें और जापान के विरुद्ध अन्त तक युद्ध करने के लिये तैयार रहें। इस

१. स्पीचिज एण्ड डॉक्यूमेंट्स ऑन दी इण्डियन कान्स्टीट्यूशन १९२१-१९४७, भाग २, पृष्ठ ५५७-५६०।

ध्येय की पूर्ति के लिये वे महाराज्यपाल की कार्यकारिणी परिषद् के संगठन में महत्वपूर्ण परिवर्तन करने को तैयार हैं। ये परिवर्तन इस प्रकार किये जायेंगे—महाराज्यपाल की कार्यकारिणी परिषद् फिर से संगठित की जायेगी। भविष्य में महाराज्यपाल केन्द्रीय और प्रान्तीय भारतीय राजनैतिक नेताओं में से कुछ सदस्य अपनी कार्यकारिणी परिषद् के लिये चुनेंगे और अन्त में राजमुकुट उन्हें मनोनीत करेगा। ऐसे सदस्य इस अनुपात में चुने जायेंगे कि मुख्य जातियों को उचित प्रतिनिधित्व मिले। दलित वर्गों के अलावा हिन्दुओं और मुसलमानों का प्रतिनिधित्व समान होगा। इस ध्येय की पूर्ति के लिये महाराज्यपाल मुख्य भारतीय राजनीतिज्ञों का एक सम्मेलन बुलायेंगे। वे सम्मेलन के सदस्यों से नामों की सूची मांगेंगे और इस सूची में से वे अपनी कार्यकारिणी परिषद् के लिये सदस्य चुनेंगे जिनके नाम वे राजमुकुट के पास भेजेंगे। इन सदस्यों से यह आशा की जायेगी कि वे जापान के विरुद्ध युद्ध में अन्त तक सरकार की सहायता करेंगे। महाराज्यपाल और सेनापति को छोड़कर सब सदस्य भारतवासी होंगे। सेनापति युद्ध सदस्य की भांति कार्य करेंगे। जब तक भारत की सुरक्षा ब्रिटिश सरकार का कार्य है तब तक यह व्यवस्था रखना अत्यन्त आवश्यक है। इन सुझावों द्वारा देशी राज्य राजमुकुट के साथ अपने सम्बन्धों को प्रभावित नहीं कर सकते। ब्रिटिश सरकार ने यह आशा प्रगट की कि केन्द्र में भारतीय नेताओं का सहयोग प्राप्त करने के बाद, उन प्रान्तों में भी उत्तरदायी सरकार स्थापित हो जायेगी जिनमें १९३५ के अधिनियम में ९३ अनुच्छेद के अन्तर्गत राज्यपालों का शासन चल रहा है। ये वे प्रान्त थे जिनमें कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने १९३९ में त्यागपत्र दे दिये थे। सरकार ने यह भी सुझाव रखा कि विदेशी विभाग को एक भारतीय सदस्य के आधीन रखा जायेगा।

१७ जून १९४५ को गांधी जी ने महाराज्यपाल के पास एक तार भेजा जिसमें उन्होंने लिखा कि मुसलमानों और उच्च वर्ग के हिन्दुओं (Caste Hindus) को सामान्य प्रतिनिधित्व देना विश्वव्यापी सिद्धान्तों के विरुद्ध था। इन सुझावों पर विचार करने के लिये महाराज्यपाल ने शिमले में एक सम्मेलन आमन्त्रित किया। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के सदस्य भी जेल से छोड़ दिये गये थे। लार्ड वैविल ने प्रान्तीय और केन्द्रीय नेताओं को निमंत्रण भेजे। महात्मा गांधी और श्री जिन्ना को भी आमन्त्रित किया गया। सम्मेलन की प्रथम बैठक २७ जून १९४५ को हुई। लगभग एक महीने तक वार्ता चलती रही। कार्यकारिणी परिषद् के संगठन के विषय में मुख्य दलों में मतभेद होने के कारण सम्मेलन विफल रहा। शिमला सम्मेलन के विषय में दिये गये १६ जुलाई १९४५ के अपने वक्तव्य में श्री जिन्ना ने कहा कि वैविल योजना केवल एक जाल मात्र थी। उसे स्वीकार करके हम अपने मौत पत्र पर हस्ताक्षर कर देते। प्रस्तावित कार्यकारिणी परिषद् में मुस्लिम लीग की सदस्य संख्या एक तिहाई होती। मुसलमानों के ५ सदस्य कार्यकारिणी परिषद् में लिये जाते थे परन्तु मुस्लिम लीग अपनी इच्छानुसार इन सदस्यों को नहीं चुन सकती थी। अन्त में हमने वैविल योजना इसलिये अस्वीकार की क्योंकि लार्ड वैविल पंजाब के

मुसलमानो का प्रतिनिधित्व करने के लिये मलिक खिजरहयात खा को मनोनीत करना चाहते थे जो मुस्लिम लीग के सदस्य नही थे। यदि हम वैविल योजना को स्वीकार कर लेते तो मुस्लिम लीग समाप्त हो जाती। कांग्रेस अध्यक्ष मौलाना आजाद ने इस सम्मेलन के विफल होने के लिए लीग को उत्तरदायी ठहराया। मौलाना आजाद शिमला परिषद् को भारतीय राजनैतिक इतिहास मे एक लोहे की दीवार (Breakwater) कहते थे। जिसके द्वारा रुकावट पैदा हो गई। प्रथम बार बातचीतें राजनैतिक आधार पर असफल नही हुई परन्तु साम्प्रदायिक प्रश्न पर मतभेद होने के कारण असफल हुई।[1] शिमला सम्मेलन की विफलता पर प्रकाश डालते हुए लार्ड वैविल ने कहा कि उन्हे बडा खेद है कि वे ही उसकी विफलता के लिये उत्तरदायी हैं। किसी राजनैतिक दल को इसके लिये उत्तरदायी नही ठहराया जा सकता। कांग्रेस अध्यक्ष ने लार्ड वैविल से अनुरोध किया कि लीग के बिना सहयोग भी उन्हे अगला कदम उठाना चाहिये परन्तु उन्होने ऐसा करने से इन्कार कर दिया, यद्यपि उन्होने पहले इस प्रकार का आश्वासन दिया था।

१४ अगस्त १६४५ की रात को जापान के साथ युद्ध समाप्त हो गया। कुछ महीनो के बाद इगलैंड मे आम चुनाव हुए और मजदूर सरकार की विजय हुई। श्री क्लिमेंट एटली प्रधानमत्री नियुक्त हुए। वे पहले से ही भारत के साथ सहानुभूति रखते थे। साईमन आयोग के सदस्य की हैसियत से उन्होने भारतीय मांगो का समर्थन किया था। नई मजदूर सरकार १० जुलाई १६४५ को बनी। तुरन्त ही उसने भारत के पुराने हितैषी लार्ड पैथिक लारेन्स को भारत सचिव नियुक्त किया। कुछ समय बाद लार्ड वैविल को बातचीत के लिये इगलैंड बुलाया गया। केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान मण्डलो के चुनावो की घोषणा कर दी गई। ये चुनाव १६४५ के अन्त और १६४६ के प्रारम्भ मे हुए। भारत लौटने पर लार्ड वैविल ने १६ सितम्बर १६४५ को एक घोषणा मे कहा कि ब्रिटिश सरकार शीघ्रता से सविधान तैयार करने वाली सभा की बैठक बुलाना चाहती है। इस बीच मे उन्हे अधिकार दिया गया है कि वे प्रान्तीय विधान मण्डलो के प्रतिनिधियो से बातचीत करके यह मालूम करें कि १६४२ की घोषणा उन्हे स्वीकार है या नही और वे उसमे क्या परिवर्तन करना चाहते हैं। उसी दिन श्री क्लिमेंट एटली ने घोषित किया कि ब्रिटिश सरकार अब भी १६४२ की क्रिप्स योजना को स्वीकार करती है और उसी के आधार पर कार्य कर रही है।

कैबिनेट मिशन योजना—१६ फरवरी १६४६ को नये भारत सचिव लार्ड पैथिक लारेन्स ने लार्ड सभा मे घोषित किया कि ब्रिटिश सरकार ने भारत के सवैधानिक गतिरोध के सुलझाने के लिये मत्रिमण्डल के सदस्यों का एक विशेष मिशन भारत मे भेजने के लिये निश्चित किया है। यह मिशन लार्ड वैविल को इस कार्य मे सहायता देगा। लार्ड पैथिक लारेन्स सर स्टेफर्ड क्रिप्स और श्री ए० वी०

१. इण्डियन क्रिप्स फ्रीडम, पृष्ठ ११० ।

एलेग्जेण्डर इस मिशन के सदस्य थे। ये तीनों व्यक्ति ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के सदस्य थे। सर स्टेफर्ड क्रिप्स बोर्ड ऑफ ट्रेड के अध्यक्ष थे और श्री एलेग्जेंण्डर एडमिरलटी के प्रथम लार्ड थे। यह मिशन २४ मार्च को नई दिल्ली पहुँचा और तुरन्त ही भारतीय नेताओं से परामर्श आरम्भ कर दिया। परन्तु कांग्रेस और लीग में मूलत. संवैधानिक विषयों पर समझौता न हो सका। मिशन इस निश्चय पर पहुँचा कि भारतीय नेता स्वयं कोई निर्णय नहीं कर सकते इसलिए उन्होंने भारतीय समस्या को सुलझाने के लिये अपनी योजना रखी। यह योजना महाराज्यपाल और कैबिनेट मिशन की ओर से १६ मई १९४६ को घोषित की गई। इस घोषणा[1] के प्रारम्भ में कैबिनेट मिशन ने श्री एटली के १५ मार्च के वक्तव्य को दोहराया जिसमें उन्होंने कहा था कि भारत अपनी इच्छानुसार ही ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल में रह सकता है ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल और साम्राज्य बलपूर्वक सहयोग पर आधारित नहीं है। राष्ट्र मण्डल स्वतन्त्र राज्यों की स्वतन्त्र संस्था है। कैबिनेट मिशन ने कहा कि मुस्लिम लीग को छोड़कर भारत के सब लोग भारत की एकता चाहते हैं। उन्होंने मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की योजना को अनुचित बताया। उनके विचार में पाकिस्तान द्वारा साम्प्रदायिक समस्या का हल नहीं निकल सकता। प्रशासकीय, भौगोलिक, आर्थिक और सेना के आधारों पर पाकिस्तान की माग अनुचित है। उन्होंने इस बात को भी स्वीकार किया कि मुस्लिम लीग को सन्तुष्ट करना आवश्यक है। भारतीय समस्या को सुलझाने के लिये कैबिनेट मिशन ने नीचे लिखे सुझाव रखे—(१) ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों को मिलाकर एक भारतीय संघ (Union of India) स्थापित होना चाहिये। इसके अन्तर्गत तीन विषय विदेशी विषय, सुरक्षा और याता-यात होने चाहियें। इन विषयों के लिये भारतीय संघ को राजस्व एकत्रित करने का अधिकार भी होना चाहिए। (२) संघ के लिये एक कार्यकारिणी और एक विधान मण्डल होना चाहिये जिसमें ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों के प्रतिनिधि हों। अगर किसी मुख्य साम्प्रदायिक प्रश्न पर मतभेद हो तो उसका निर्णय दोनों मुख्य जातियों के प्रतिनिधियों और सब उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के बहुमत से निश्चित होने चाहियें। (३) सब विषय जो संघ को नहीं सौंपे गये हैं और सब अवशिष्ट शक्तियाँ प्रान्तों में निहित रहेंगी। (४) देशी राज्य उन सब विषयों और शक्तियों को अपने पास रखेंगे जो संघ को नहीं सौंपे गये हैं। (५) प्रान्तों को समूह (Groups) बनाने का अधिकार होगा। उनकी स्वयं की कार्यकारिणी और विधान मण्डल होंगे। प्रत्येक समूह यह निश्चित करेगा कि अमुक प्रान्तीय विषय समूह में सामान्य हों। (६) संघ और समूहों के संविधानों में एक इस प्रकार का उपबन्ध होगा कि कोई प्रान्त अपनी विधान सभा के बहुमत से हर १० वर्ष बाद संविधान की शर्तों पर पुन. विचार करावे।

---

१. स्पीचिज एण्ड डोक्यूमेंट्स ग्रान दी इण्डियन कांस्टीट्यूशन, १९२१-१९४७, भाग २, पृष्ठ ५७७-७८।

संविधान बनाने वाली समिति के विषय में कैबिनेट मिशन की घोषणा में यह सुझाव दिया गया कि प्रान्त संविधान समिति के लिए दस लाख की जनसंख्या के ऊपर एक सदस्य चुनेंगे। प्रान्तीय विधान सभाओं के मुसलमान और सिक्ख सदस्य संविधान समिति के लिये अपनी जनसंख्या के आधार पर अपनी जातियों में से सदस्य चुनेंगे। अन्य दूसरे वर्गों के सदस्य अपनी जनसंख्या के आधार पर संविधान समिति के सदस्य निर्वाचित करेंगे। मुसलमान सिक्ख व साधारण तीन ही मुख्य श्रेणियों को चुनाव के लिये मान्यता दी गई। साधारण श्रेणी में वे सब व्यक्ति शामिल थे जो मुसलमान या सिक्ख नहीं थे। देशी राज्यों के प्रतिनिधि उनसे परामर्श करने पर चुने जायेंगे। प्रान्तीय विधान मण्डलों का प्रत्येक भाग (साधारण, मुस्लिम या सिक्ख) अपने प्रतिनिधि अनुपातिक प्रतिनिधित्व और एकल संक्रमणीय मत द्वारा चुनेंगे। सब प्रान्तों को तीन खण्डों में बाँटा गया। तीन खण्डों के प्रतिनिधियों का ब्यौरा नीचे दिया गया है —

प्रतिनिधियों की सूची

खण्ड (अ)

| प्रान्त | सामान्य | मुस्लिम | योग |
|---|---|---|---|
| मद्रास | ४५ | ४ | ४९ |
| बम्बई | १९ | २ | २१ |
| संयुक्त प्रान्त | ४७ | ८ | ५५ |
| बिहार | ३१ | ५ | ३६ |
| मध्य प्रान्त | ९ | ० | ९ |
| योग | १६७ | २० | १८७ |

खण्ड (ब)

| प्रान्त | सामान्य | मुस्लिम | सिक्ख | योग |
|---|---|---|---|---|
| पंजाब | ८ | १६ | ४ | २८ |
| उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त | ० | ३ | ० | ३ |
| सिन्ध | १ | ३ | ० | ४ |
| योग | ९ | २२ | ४ | ३५ |

खण्ड (स)

| प्रान्त | सामान्य | मुस्लिम | योग |
|---|---|---|---|
| बंगाल | २७ | ३३ | ६० |
| आसाम | ७ | ३ | १० |
| योग | ३४ | ३६ | ७० |

| | |
|---|---|
| ब्रिटिश भारत के लिए कुल योग | २९२ |
| देशी राज्यों के लिए अधिकतम | ९३ |
| योग | ३८५ |

संविधान बनाने वाली समिति की पहली बैठक जल्दी से जल्दी नई दिल्ली में होगी। इस बैठक में वे एक सभापति और एक सलाहकारी समिति चुनेंगे। सलाहकारी समिति नागरिकों के अधिकारों, अल्पमतों और जनजातियों के क्षेत्र के सम्बन्ध में कार्य करेगी। इसके बाद प्रान्तीय प्रतिनिधि ऊपर लिखे तीन खण्डों में बँट जायेंगे। प्रत्येक खण्ड उन प्रान्तों के लिए संविधान तैयार करेंगे, जो प्रान्त उस खण्ड में शामिल है। प्रत्येक खण्ड यह भी निश्चय करेगा कि उस खण्ड में सम्मलित प्रान्तों के लिए एक सामूहिक (group constitution) संविधान बनाने की आवश्यकता है *या नहीं। यदि है तो कौन-कौन से विषय सामान्य होने चाहियें प्रान्तों को समूह* छोड़ने का भी अधिकार दिया गया था। तीनों खण्डों और देशी राज्यों के प्रतिनिधि एक जगह इकट्ठा होकर बाद में संघीय संविधान बनायेंगे। संघीय संविधान बनाने वाली समिति में यदि कोई प्रस्ताव घोषणा के १५वें पैरे में कोई परिवर्तन करने के विषय में हो या किसी साम्प्रदायिक विषय से सम्बन्ध रखता हो तो वह दोनों मुख्य जातियों के मत देने वाले और उपस्थित प्रतिनिधियों के बहुमत से स्वीकार होगा। संविधान समिति के अध्यक्ष यह निश्चय करेंगे कि अमुक प्रस्ताव मुख्य साम्प्रदायिक विषय से सम्बन्ध रखता है या नहीं और यदि किसी भी मुख्य जातियों के प्रतिनिधियों का बहुमत अध्यक्ष से प्रार्थना करे तो वे अपना निश्चय देने से पहले संघ न्यायालय से परामर्श करेंगे। जैसे ही नया संविधान कार्यान्वित होने लगेगा किसी भी प्रान्त को अपने समूह को छोड़ने का अधिकार होगा। नये संविधान के अन्तर्गत प्रथम आम चुनाव के बाद ही उस प्रान्त की विधान मण्डल समूह को छोड़ने का निश्चय कर सकती है। सलाहकार समिति में उन सब वर्गों के प्रतिनिधि होंगे जिनसे यह सम्बन्ध रखती है। यह समिति संघीय संविधान सभा को रिपोर्ट करेगी। कैबिनेट मिशन के सुझावों में एक अन्तरिम सरकार की भी व्यवस्था की गई। इसमें मुख्य राजनैतिक दलों के प्रतिनिधि शामिल होंगे। ऐसी अन्तरिम सरकार में सब पद, युद्ध सदस्य सहित भारतीय नेताओं के हाथ में होंगे। कैबिनेट मिशन ने यह भी कहा कि यदि स्वतन्त्र भारत चाहे तो ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल का सदस्य रह सकता है। कैबिनेट मिशन ने अपने सुझावों में यह भी स्पष्ट कर दिया कि ब्रिटिश राज मुकुट के देशी राज्यों से सम्बन्ध जो अब तक रहे हैं वे भी अब नहीं रह सकते। सार्वभौम सत्ता (Paramountcy) न तो ब्रिटिश राजमुकुट के पास रह सकती है न ही स्वतन्त्र भारत की सरकार को हस्तान्तरित की जा सकती है। कैबिनेट मिशन ने इस विषय पर अपने १२ मई के ज्ञापन पत्र में इन्हीं सिद्धान्तों को रखा था। इसका अर्थ यह हुआ कि जो अधिकार देशी रियासतों के सम्बन्ध में अब तक सार्वभौम सत्ता के थे वे अब देशी रियासतों को लौटा दिये जायेंगे। इस ज्ञापन पत्र में कहा गया कि ब्रिटिश राजमुकुट और ब्रिटिश भारत के जो राजनैतिक सम्बन्ध देशी राज्यों से थे उनका अब अन्त हो जायेगा। ऐसी अवस्था में देशी राज्य या तो ब्रिटिश भारत में स्थापित होने वाली सरकार या सरकारों में संघीय सिद्धान्त के आधार पर सम्मिलित हों

सकती हैं या इन नई सरकारों से अन्य राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित कर सकती हैं।[1]

१७ मई १९४६ को आकाशवाणी से भाषण देते हुए लार्ड वैविल ने कहा कि समस्त विश्व के इतिहास में कैबिनेट मिशन योजना सरकार स्थापित करने में सबसे अधिक महान् और महत्वपूर्ण प्रयोग है। इसी भाषण में कैबिनेट मिशन की योजना का महत्व बताते हुए लार्ड वैविल ने कहा कि इस योजना के आधार पर भारत के भविष्य के संविधान का वास्तविक और कार्यरूप में परिणत हो सकने वाला ढांचा तैयार हो सकता है। इन सुझावों के द्वारा भारत की अनिवार्य एकता कायम रह सकती है, वर्तमान अवस्था में इन दो मुख्य जातियों के झगड़े के कारण इस एकता के छिन्न-भिन्न होने का भय है। जो सेना देश की एकता, शक्ति और सुरक्षा को दृढ़ रखती है इन सुझावों द्वारा इस भारतीय सेना के छिन्न-भिन्न होने का भय भी दूर हो जायेगा। इन सुझावों द्वारा मुस्लिम जाति को भी यह अधिकार मिलता है कि वे अपने विशेष हितों जैसे अपना धर्म, अपनी शिक्षा, सम्कृति, आर्थिक और अन्य कार्य अपने ढंग से और अपने अधिकतम हित के लिये चला सकें। इस योजना के अनुसार पंजाब की एकता को भी सुरक्षित रखा गया है जिससे कि सिक्ख जाति वहाँ पर महत्वपूर्ण और प्रभावशाली कार्य कर सके जैसा कि वह अभी तक करती रही है। इस योजना में अल्पमतों के हितों की रक्षा करने के लिये एक विशेष समिति की व्यवस्था की गई है जिसके समक्ष छोटे अल्पमत अपनी मागें रख सकते हैं।[2] कैबिनेट मिशन योजना समझौते पर आधारित थी। इसमें हिन्दू मुसलमान दोनों जातियों को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया गया था।

महात्मा गाँधी ने अपने 'हरिजन' पत्र में लिखा कि इस योजना में ऐसे बीज निहित हैं जो इस दुखमयी भूमि को आनन्द एवं सुख में परिणत कर सकते हैं (......it contains "a seed to convert this land of sorrow into one without sorrow and suffering")।[3] महात्मा गाँधी ने मई १९४६ को कहा कि कैबिनेट मिशन योजना एक ऐसा सर्वश्रेष्ठ लेख्य है जोकि वर्तमान अवस्था में ब्रिटिश सरकार पेश कर सकती थी।[4] गाँधी जी इसे वचन-पत्र (promissary note) कहते है।[5] कैबिनेट मिशन योजना का सबसे बड़ा गुण यह था कि संविधान बनाने वाली समिति को जनसंख्या के आधार पर बनाने की व्यवस्था की गई थी। यह एक प्रजातान्त्रिक लक्षण था। साम्प्रदायिक विषयों को तय करने के लिए भी साधारण

---

१. अमरनन्दी दी कान्स्टीट्यूशन ऑफ इंडिया, पृष्ठ १६।

२. पट्टाभि सीतारमैया . दी हिस्ट्री ऑफ दी इंडियन नेशनल कांग्रेस, भाग २, परिशिष्ट ४।

३. ई० डब्लू० आर. लुम्बी : दी ट्रान्सफर ऑफ पावर इन इंडिया १९४५-१९४७, पृष्ठ ८७।

४. ए० सी० बनर्जी : दी कॉन्स्टीट्यूएन्ट असेम्बली ऑफ इंडिया, पृष्ठ ७८।

५. वही, पृष्ठ ८०।

बहुमत के प्रयोग की ही व्यवस्था की गई। पाकिस्तान के विचार को मान्यता नहीं दी गई और एक अखिल भारतीय संघ को स्थापित करने का सुझाव रखा गया। संविधान सभा में ब्रिटिश सरकार या यूरोपियन जाति के प्रतिनिधियों को नहीं रखा गया। अपने सीमित क्षेत्र में संविधान सभा को पूरे अधिकार दिये गये। ब्रिटिश सरकार के हस्तक्षेप के बिना वह अपना कार्य कर सकती थी। कैबिनेट मिशन योजना में कुछ स्पष्ट त्रुटियाँ थीं। मुसलमानों के अलावा और अल्पमतों को विशेष रक्षा कवच नहीं दिये गये। प्रान्तों के समूह बनाने की योजना स्पष्ट नहीं थी। कांग्रेस और लीग ने उसके भिन्न-भिन्न अर्थ लगाये। इस योजना की यह भी त्रुटि थी कि प्रान्तों के संविधान पहले बनाने की योजना रखी गई और बाद में संघीय संविधान बना।[1] देशी राज्यों के प्रतिनिधियों को चुनने की ठीक व्यवस्था नहीं की गई। वे शासकों के मनोनीत सदस्य होते। देशी राज्यों की जनता का इन प्रतिनिधियों को चुनने में कोई हाथ नहीं था। कैबिनेट मिशन योजना में प्रान्तों को अधिक अधिकार दिये गये। अवशिष्ट शक्तियाँ भी उन्हीं को प्रदान की गईं। इस कारण केन्द्र को इतना कमजोर बना दिया गया कि वह सुचारु रूप से अपना कार्य नहीं कर सकता था। यह सोचना कठिन है कि ऐसा केन्द्र जिसके पास विदेशी विषय, सुरक्षा और यातायात ही हो कैसे देश की एकता स्थापित रख सकता है। प्रो० कूपलैण्ड ने भी कहा था कि बाहरी व्यापार और प्रमुख नीति केन्द्र के पास ही होनी चाहिए। सर सुल्तान अहमद और सर आर० किशिनदलाल ने भी कहा था कि केन्द्र कमजोर अवश्य हो परन्तु उसको तीन विषयों से कुछ अधिक विषय मिलने चाहियें, सप्रू रिपोर्ट ने भी केन्द्र को अधिक विषय दिये जाने की रिपोर्ट की थी। जो मनुष्य केन्द्र को कमजोर रखना चाहते थे उन्होंने भी यह कभी नहीं सोचा था कि केन्द्र इतना कमजोर हो सकता है जितना कमजोर कैबिनेट मिशन योजना ने इसे बनाने का प्रयत्न किया है।

मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान के सिद्धान्त को स्वीकार न करने की तो बड़ी आलोचना की परन्तु ६ जून को इस योजना को स्वीकार कर लिया। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने अपनी २६ जून की बैठक में योजना के कुछ भागों को स्वीकार कर लिया। समिति ने उस भाग को स्वीकार कर लिया जो संविधान बनाने वाली समिति से सम्बन्धित था। प्रान्तों के समूह बनाने के विषय में कांग्रेस में कुछ मतभेद रहा। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने अन्तरिम सरकार की योजना को अस्वीकार कर दिया। सिक्खों ने प्रान्तों के समूह बनाने के प्रश्न पर इस योजना को अस्वीकार कर दिया। इस बीच में महाराज्यपाल ने संविधान बनाने वाली समिति के सदस्यों

---

[1] आर० आर० सेठी : दी लास्ट फेज ऑफ ब्रिटिश सोवरेन्टी इन इण्डिया, पृष्ठ ८६।

को चुनने के लिए राज्यपालों को आवश्यक कदम उठाने के लिये कहा। ये चुनाव जुलाई में हुए। कैबिनेट मिशन के सदस्यों ने भारत छोड़ते समय इस बात पर प्रसन्नता प्रगट की कि अब संविधान बनाने वाली समिति का कार्य मुख्य दलों की अनुमति से चल सकेगा। उन्होंने अन्तरिम सरकार के न बनने पर खेद प्रगट किया। उन्होंने आशा प्रकट की कि कुछ समय उपरान्त जब संविधान सभा के लिये चुनाव हो चुकेंगे तब अन्तरिम सरकार को बनाने का फिर प्रयत्न किया जायेगा। महाराज्यपाल के इस विचार से कि अन्तरिम सरकार बनाना कुछ समय के लिये स्थगित कर दिया जाय, जिन्ना बहुत नाराज हुए। उनका विचार था कि महाराज्यपाल ने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी थी।

मौलाना आजाद ने इस बात पर प्रसन्नता प्रगट की कि कैबिनेट मिशन योजना को कांग्रेस और लीग दोनों ने स्वीकार कर लिया। उनके विचार में यह योजना कांग्रेस के लिये एक महान् विजय थी। इसके द्वारा अहिंसात्मक और बिना खून खराबी के देश को स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती थी। ब्रिटिश सरकार द्वारा भारतीय राष्ट्रीय माग को स्वीकार करना ऐसा कार्य था जिसका विश्व के इतिहास में कोई उदाहरण नहीं है।[1] परन्तु थोड़े समय बाद में एक ऐसी अभाग्यशाली घटना हुई जिसने इतिहास को बदल दिया। १० जुलाई को कांग्रेस के नये अध्यक्ष श्री जवाहर लाल ने बम्बई में संवाददाताओं के सम्मुख बोलते हुए कहा कि कांग्रेस ने तो केवल संविधान सभा में सम्मिलित होना ही स्वीकार किया है। कांग्रेस कैबिनेट मिशन योजना में जिस प्रकार के परिवर्तन चाहे, कर सकती है। उनके इस वक्तव्य से श्री जिन्ना अप्रसन्न हुए। उन्होंने कहा कि कांग्रेस संविधान सभा में अपने बहुमत के बल पर इस योजना में परिवर्तन कर सकती थी। इसका अर्थ होगा कि अल्पमतों को कांग्रेस के बहुमत पर निर्भर रहना पड़ेगा। श्री नेहरू के वक्तव्य का यह भी अर्थ था कि कांग्रेस ने इस योजना को पूर्णतया स्वीकार नहीं किया था। लीग परिषद् की बैठक बम्बई में २७ जुलाई को हुई। २९ जुलाई को लीग ने इस योजना को पूर्णतया स्वीकार करने के निश्चय को वापिस ले लिया। लीग ने पाकिस्तान की प्राप्ति के लिये प्रत्यक्ष कार्य की पद्धति अपनाई। १६ अगस्त को प्रत्यक्ष कार्य दिवस मनाना निश्चित हुआ। लीग के इस परिवर्तन से कांग्रेस को बड़ा धक्का लगा। इस पर विचार करने के लिये ८ अगस्त को कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की बैठक हुई। इस बैठक में कैबिनेट मिशन योजना को पूर्णतया स्वीकार करने का निश्चय हुआ। परन्तु श्री जिन्ना कांग्रेस के इस निश्चय से सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने कहा कि जवाहर लाल नेहरू का वक्तव्य ही कांग्रेस की नीति को दर्शाता है। लीग के निश्चय के अनुसार १६ अगस्त को प्रत्यक्ष कार्य दिवस मनाया गया। बंगाल के लीगी मुख्यमन्त्री ने उस दिन सार्वजनिक छुट्टी कर दी जिससे कि जनता प्रदर्शनों में भाग ले सके। उस दिन कलकत्ते में बहुत से उपद्रव हुए और सैंकड़ों मनुष्य मारे गये। सेना और

१. अब्दुल कलाम आजाद : इण्डिया विन्स फ्रीडम, पृष्ठ १५४।

पुलिस वहाँ उपस्थित थी परन्तु उसने रोकथाम नहीं की। मौलाना आजाद ने १६ अगस्त १९४६ को भारत के इतिहास में एक 'कलुषित दिन' बताया है।[1] इन दुर्घटनाओं के कारण यह प्रतीत हो गया कि शान्तिपूर्वक ढंग से लीग और कांग्रेस में समझौता होना सम्भव नहीं है। यह घटना भारतीय महान् दुखान्त घटनाओं में से एक है। यह खेदजनक बात है कि इसके कारण लीग को राजनैतिक और साम्प्रदायिक प्रश्न को दुबारा उठाने का अवसर मिल गया। श्री जिन्ना ने इस अवसर का पूरा-पूरा लाभ उठाया और लीग ने कैबिनेट मिशन योजना की स्वीकृति को वापिस ले लिया।

हम ऊपर लिख चुके हैं कि कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने अपनी ८ अगस्त की बैठक में कैबिनेट मिशन योजना को पूर्णतया स्वीकार कर लिया। इसका अर्थ यह हुआ कि कांग्रेस संविधान सभा में सम्मिलित होने को तैयार थी और अन्तरिम सरकार में भी सम्मिलित होने को तैयार थी। लार्ड वैविल, जो इस समय भारत के महाराज्यपाल थे, ने तुरन्त ही अन्तरिम सरकार को बनाने का निश्चय कर लिया। १२ अगस्त को लार्ड वैविल ने पं० जवाहरलाल नेहरू को जो इस समय कांग्रेस के अध्यक्ष थे अन्तरिम सरकार बनाने के लिये आमन्त्रित किया। २ सितम्बर १९४६ को अन्तरिम सरकार बनाई गई। मुस्लिम लीग इस सरकार में सम्मिलित नहीं हुई। अन्तरिम सरकार के सदस्य पं० नेहरू, सरदार पटेल, डा० राजेन्द्र प्रसाद, श्री सी० राजगोपालाचारी, डा० जॉन मथाई, सरदार बलदेव सिंह, सर शफात अहमद खाँ, श्री जगजीवन राम, सैय्यद अली जहीर, श्री सी० एच० भाभा, श्री आसफ अली और श्री शरतचन्द्र बोस थे। १३ अक्तूबर १९४६ को लीग ने भी अन्तरिम सरकार में शामिल होना स्वीकार कर लिया। दो दिन बाद लीग के पाँच सदस्य श्री लियाकत-अली खां, श्री आई० आई० चुन्दरीगर, श्री अब्दुर्रब्ब निश्तर, श्री गजनफर अली खाँ और श्री जोगेन्द्रनाथ मण्डल अन्तरिम सरकार में शामिल हो गये। इन पाँचों सदस्यों को स्थान देने के लिये तीन सदस्यों श्री शरतचन्द्र बोस, सर शफात अहमद खाँ और श्री अली जहीर खाँ ने त्यागपत्र दे दिया। जुलाई १९४६ में संविधान सभा के चुनाव हुए थे। संविधान सभा की प्रथम बैठक ९ दिसम्बर १९४६ को नई दिल्ली में हुई। प्रान्तों के समूह बनाने के विषय में मतभेद होने के कारण लीग ने संविधान सभा में भाग नहीं लिया। यह अन्तरिम सरकार अगस्त १९४७ तक कार्य करती रही। इस सरकार में कांग्रेस और लीग दोनों शामिल थे परन्तु इन दोनों में मतभेद होने के कारण सरकार शान्तिपूर्वक कार्य न कर सकी। मन्त्रिमण्डल की बैठकों में हमेशा झगड़ा ही होता था। मौलाना आजाद लिखते हैं, "मुस्लिम लीग के सदस्य सरकार में शामिल थे परन्तु फिर भी इसके विरुद्ध थे। जिस कार्य को भी कांग्रेस करना चाहती थी वे उसी में रोड़ा अटकाते थे। वित्त सदस्य, श्री लियाकत अली जो मुस्लिम लीगी थे उनकी शक्तियों को बहुत बढ़ा दिया गया था।" विभिन्न विचारों वाला मन्त्रि-मण्डल कभी भी भली-भाँति कार्य नहीं कर सकता। ऐसी अवस्था को सुलझाने के

१. इण्डिया विन्स फ्रीडम, पृष्ठ १५१।

लिए ब्रिटिश सरकार ने एक महत्वपूर्ण कदम उठाया।

२० फरवरी १६४७ को ब्रिटिश प्रधान मंत्री श्री एटली ने कामन्स सभा में एक महत्वपूर्ण घोषणा की।[1] कैबिनेट मिशन का उल्लेख करते हुये उन्होंने कहा कि ब्रिटिश सरकार को इस बात का खेद है कि भारतीय दलों में मतभेद होने के कारण संविधान सभा का कार्य सुचारु रूप से नहीं चल रहा है। उन्होंने कहा कि ब्रिटिश सरकार कैबिनेट मिशन की योजना के अनुसार अपने अधिकार ऐसे प्राधिकारियों को सौंपना चाहती है जो सर्वदलों की अनुमति से बनाये गये संविधान के अन्तर्गत निश्चित हों। दुर्भाग्यवश वर्तमान अवस्था में ऐसे संविधान के बनने की और ऐसे प्राधिकारियों की नियुक्ति होने की सम्भावना नहीं है। वर्तमान अनिश्चित दशा संकटपूर्ण है। ब्रिटिश सरकार नहीं चाहती कि ऐसी संकटपूर्ण अवस्था अनिश्चित समय तक बनी रहे। इस कारण ब्रिटिश सरकार यह स्पष्ट कर देना चाहती है कि उसकी निश्चित कामना है कि जून १६४८ तक वे अपनी शक्ति को उत्तरदायी भारतीय हाथों में सौंपने के लिए आवश्यक कदम बढ़ाये। ब्रिटिश सरकार ने कैबिनेट मिशन योजना में यह स्वीकार किया था कि वे एक पूर्णतया प्रतिनिधि संविधान सभा द्वारा बनाये गये संविधान को ब्रिटिश संसद की स्वीकृति के लिये भेजेंगे परन्तु यदि यह प्रतीत हो कि ऐसा संविधान एक पूर्णतया प्रतिनिधि संविधान सभा जून १६४८ तक तैयार नहीं कर सकती तो ब्रिटिश सरकार को यह सोचना होगा कि वे ब्रिटिश भारत में केन्द्रीय सरकार की शक्तियों को जून १६४८ में पूर्णतया किसी प्रकार की केन्द्रीय सरकार को सौंपे या कुछ क्षेत्रों की वर्तमान प्रान्तीय सरकारों को सौंपे या किसी अन्य ऐसे ढंग से सौंपे जो भारतीय जनता के सर्वश्रेष्ठ हित में हो। देशी राज्यों के विषय में श्री एटली ने कहा कि ब्रिटिश सरकार उनके सम्बन्ध में सार्वभौम सत्ता के अन्तर्गत अपनी शक्तियाँ और कर्त्तव्य ब्रिटिश भारत की किसी सरकार को नहीं सौंपेंगे। इसी घोषणा में श्री एटली ने बताया कि उन्होंने लार्ड वैविल के कार्यकाल को अन्त करने का निश्चय कर लिया है। लार्ड वैविल १६४३ में महाराज्यपाल नियुक्त किये गये थे। सरकार ने एक नया और अन्तिम कदम उठाने के लिये ऐसा निश्चित किया। उनके स्थान पर लार्ड माउन्टबेटन महाराज्यपाल नियुक्त हुए। उन्होंने मार्च में पद ग्रहण किया। वे नई दिल्ली २४ मार्च १६४६ को पहुँचे। पहुँचते ही उन्होंने यह घोषणा की कि वे कुछ महीनों में ही भारतीय समस्या का हल कराना चाहते हैं। उन्होंने भारतीय नेताओं से बातचीत करनी प्रारम्भ कर दी। मई १६४७ में वे लन्दन वापिस गये और उसी महीने के अन्त तक वापिस लौट आये। इस समय देश की अवस्था बड़ी सोचनीय थी। लीग ने भारत के विभाजन के लिये आन्दोलन कर रखा था और कांग्रेसी नेता भी लीग के व्यवहार से तंग आ चुके थे। श्री जिन्ना किसी शर्त पर भी पाकिस्तान की माँग

---

१. स्पीचिज एण्ड डोक्यूमैंट्स आन दी इण्डियन कान्सटिट्यूशन, १६२१-१६४७, भाग २, पृष्ठ ६६७-६६६।

को वापिस लेने के लिए तैयार नही थे ।

**माउन्टबेटन योजना**—इस योजना को ३ जून १९४७ की योजना भी कहते है । लार्ड माउन्टबेटन ने ३ जून १९४७ को भारत के विषय मे ब्रिटिश सरकार के अन्तिम निश्चय की घोषणा की ।[1] इस घोषणा मे यह कहा गया कि ब्रिटिश सरकार वर्तमान सविधान सभा का कार्य रोकना नही चाहती । परन्तु यह स्पष्ट है कि इस सभा द्वारा बनाया गया सविधान देश के उन भागो मे लागू नही होगा जो इसे स्वीकार नही करते । ब्रिटिश सरकार ने इन क्षेत्रो की जनता की इच्छाओ को जानने के लिये एक व्यवस्था की जिसके अनुसार उन क्षेत्रो की जनता अपना सविधान वर्तमान सविधान सभा मे बनवा सकती थी या किसी अन्य पृथक् सविधान सभा से जिसमे उन क्षेत्रो के प्रतिनिधि सम्मिलित हो । बगाल और पजाब प्रान्तीय विधान मण्डलों मे दो भागो मे बैठने के लिए कहा गया । एक भाग मे मुस्लिम बहुमत वाले जिलो के प्रतिनिधि होंगे और दूसरे भाग मे प्रान्त की अन्य जनता के प्रतिनिधि होंगे । जिलो की जनसख्या को जानने के लिये १९४१ की जनगणना को मान्यता दी जायेगी । प्रत्येक विधान मण्डलो के दोनो भागो के सदस्य अलग बैठक कर मत द्वारा यह निश्चित करेंगे कि प्रान्त का विभाजन होना चाहिये या नही । किसी भाग का साधारण बहुमत यह निश्चय कर सकता था कि विभाजन होना चाहिये या नही । यदि यह निश्चय हो जाय कि इन दोनो प्रान्तो का विभाजन होगा तो महाराज्यपाल उनके लिये पृथक् सीमा आयोग नियुक्त करेंगे जिसका कार्य एक साथ मुस्लिम और गैर मुस्लिम बहुमत वाले क्षेत्रो को निश्चित करना होगा । सिन्ध का विधान मण्डल अपनी विशेष बैठक मे यह निश्चित करेगा कि कौन-सी विधान सभा मे वह सम्मिलित होगा । उत्तर पश्चिम सीमाप्रान्त की स्थिति विशेष और सबसे भिन्न है । इसलिए इस प्रान्त मे जनमत सग्रह किया जायेगा । मतदाताओ से यह पूछा जायेगा कि वे किस सविधान सभा मे सम्मिलित होना चाहते हैं । जनमत सग्रह महाराज्यपाल के अधीन और प्रान्तीय सरकार के परामर्श से होगा । ब्रिटिश बिलोचिस्तान मे भी यही व्यवस्था रखी गई । यदि यह निश्चय किया जाय कि बगाल का विभाजन होगा तो आसाम के सिलहट जिले मे भी जनमत सग्रह होगा मतदाताओं से यह पूछा जायेगा कि वे आसाम प्रान्त में रहना चाहते हैं या पश्चिम बंगाल मे (जो विभाजन के बाद बने) । यदि जनमत सग्रह पूर्वी बगाल के पक्ष मे हो जाये तो एक सीमा आयोग सिलहट जिले मे एक साथ मुस्लिम बहुमत वाले क्षेत्रो को निश्चित करने के लिये बनेगा । ब्रिटिश सरकार ने यह तय किया कि ३ जून १९४७ की घोषणा का केवल ब्रिटिश भारत से ही सम्बन्ध होगा । कैबिनेट मिशन के १२ मई १९४६ के विज्ञापन-पत्र मे देशी रा[illegible] सम्बन्ध मे बनाई गई नीति के विषय मे कोई परिवर्तन नही होगा [illegible]तियों को [illegible] मे जल्दी भारत मे अपनी शक्ति को हस्तान्तरित करने की मण्डल अभी भी मन्त्री-म[illegible]

---

१. इण्डिया विन्स गेवर्नमेंट्स ऑन दी इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशन, भाग २ पृष्ठ ६७० ।

आशा दिलाई। ब्रिटिश सरकार ने कहा कि वे संसद के वर्तमान सत्र में एक ऐसा विधान प्रस्तुत करना चाहते हैं जिसके अनुसार इस वर्ष ही स्वायत्त शासन के आधार पर भारत में ब्रिटिश सरकार की शक्ति एक या दो आने वाले प्राधिकारियों को सौंप दी जाये जो ३ जून की घोषणा के अनुसार निश्चित की जाये। इन अधिकारियों को यह अधिकार होगा कि वे ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में सम्मिलित हों या न हों। अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने माउन्टबेटन योजना १५ जून को स्वीकार की। मुस्लिम लीग परिषद् ने इस योजना को ६ जून को स्वीकार किया, इस योजना के अनुसार बंगाल और पंजाब का विभाजन हो गया। पश्चिमी पंजाब और पूर्वी बंगाल ने नई संविधान सभा में शामिल होना स्वीकार कर लिया। पंजाब और बंगाल के लिए ३० जून १६४७ को सीमा आयोग नियुक्त हुए। बंगाल सीमा आयोग में जस्टिस बी० के० मुकर्जी और जस्टिस सी० सी० बिस्वास भारतीय सदस्य थे। पंजाब के सीमा आयोग में भारतीय सदस्य जस्टिस मेहरचन्द महाजन और जस्टिस तेजासिंह थे दोनों आयोगों के लिए एक ही मनुष्य को अध्यक्ष चुना गया। सर साइरिल रैड-क्लिफ दोनों कमीशनों के अध्यक्ष नियुक्त किये गए। बंगाल और पंजाब के सीमा आयोग ने अपने निश्चय १७ अगस्त को दिये। सिन्ध और उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त भी नई संविधान सभा में सम्मिलित हो गए। सिलहट पूर्वी बंगाल में सम्मिलित हो गया। ब्रिटिश सरकार ने ४ जुलाई को संसद में भारतीय स्वतन्त्रता विधेयक प्रस्तुत किया। इसको संसद के दोनों सदनों में जल्दी ही पास कर दिया गया। श्री चर्चिल ने भी अधिक अड़चन नहीं लगाई। यह विधेयक १८ जुलाई को भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम बन गया। इसके अनुसार १५ अगस्त १६४७ से भारत और पाकिस्तान दो अधिराज्यों के रूप में स्वतन्त्र देश स्थापित कर दिए गए। इस कारण से १५ अगस्त को प्रत्येक वर्ष भारत में स्वतन्त्र दिवस मनाया जाता है। विभाजन के फलस्वरूप लाखों मुसलमान भारत छोड़कर पाकिस्तान चले गए और लाखों हिन्दू पाकिस्तान को छोड़कर भारत आए। भारत में शरणार्थियों की संख्या अधिक है। इस बीच में ही भारत और पाकिस्तान में साम्प्रदायिक उपद्रव हुए जिसमें लाखों हिन्दू और मुसलमान मारे गए। विश्व इतिहास में ऐसे हत्याकाण्ड के कम उदाहरण मिलते हैं।

**१६४७ का भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम**—इस अधिनियम के अनुसार १५ अगस्त १६४७ से दो स्वतन्त्र अधिराज्यों भारत व पाकिस्तान की स्थापना की गई। 'स्वतन्त्र' शब्द के प्रयोग करने से यह स्पष्ट है कि ये दोनों अधिराज्य अपने विदेशी और आन्तरिक विषयों में पूर्णरूप से 'स्वतन्त्र' होंगे। इस अधिनियम में दोनों अधिराज्यों के क्षेत्रों की भी परिभाषा की गई है और क्षेत्रों में सम्मिलित होने की उनकी इच्छानुसार ही व्यवस्था भी गई है। जनता की इच्छाओं को मालूम करने के बाद बंगाल, पंजाब और आसाम के विभाजन की व्यवस्था की गई। सीमा आयोग के निश्चय के आधार पर इन प्रान्तों की अन्तिम सीमाओं को निश्चित करने की भी व्यवस्था की गई। अधिनियम राजमुकुट की ओर से हर एक अधि-

राज्य के लिए एक महाराज्यपाल की नियुक्ति की व्यवस्था की गई। एक ही मनुष्य दोनों अधिराज्यों का महाराज्यपाल नियुक्त हो सकता था। राजमुकुट अधिराज्य के मन्त्रियों की सलाह पर महाराज्यपाल की नियुक्ति करेगा। १६ जुलाई १६४७ को लार्ड सभा में भाषण देते हुए भारत सचिव लार्ड लिस्टोवैल ने बताया कि भारतीय नेताओं की सलाह पर श्री जिन्ना को पाकिस्तान का और लार्ड माउण्टबेटन को भारत का महाराज्य नियुक्त करने की सिफारिश की गई है। राजमुकुट उचित समय पर इनकी नियुक्ति करेंगे। अधिराज्यों की विधान मण्डल को हर प्रकार के कानून बनाने का अधिकार मिल गया। इन विधान-मण्डलों को राज्य क्षेत्रातीत प्रवर्तन के भी (extra territorial operations) कानून बनाने का अधिकार मिल गया। अधिराज्य की विधान मण्डल का कोई कानून इस आधार पर अवैध नहीं होगा कि वह इंगलैण्ड के किसी कानून या ब्रिटिश पार्लियामेंट के किसी कानून के विरुद्ध है। इन अधिराज्यों के महाराज्यपालों को यह अधिकार होगा कि वे राजमुकुट के नाम में अधिराज्य के विधान मण्डलों के कानूनों को अनुमति दें। अब कानून राजमुकुट की स्वीकृति के लिए सुरक्षित नहीं रखे जाते थे और न ही राजमुकुट उन्हें अस्वीकार कर सकता था। ब्रिटिश पार्लियामेंट का कानून तब तक किसी अधिराज्य में लागू नहीं होगा जब तक अधिराज्य की विधान मण्डल एक कानून द्वारा ऐसा निश्चय न कर दे। लार्ड लिस्टोवैल ने कहा है कि नये अधिराज्यों की ससदों की विधायनी शक्तियाँ इतनी व्यापक हैं जितनी कि ब्रिटिश ससद की या स्टेट्यूट ऑफ वेस्ट मिनिस्टर के अन्तर्गत किसी अन्य अधिराज्य के ससद की हैं।

इस अधिनियम के अनुसार देशी राज्यों के ऊपर ब्रिटिश राजमुकुट की सार्वभौम सत्ता और आधिपत्य समाप्त कर दिया गया। १५ अगस्त १६४७ से उनके बीच सब सन्धियों और फैसलों का अन्त कर दिया गया। परन्तु देशी राज्यों और भारत सरकार के बीच वर्तमान बहि-शुल्क, यातायात, डाक, तार और अन्य ऐसे ही विषयों का सम्बन्ध ज्यों का त्यों बना रहेगा जब तक ब्यौरेवार बातचीत द्वारा कोई अन्य प्रबन्ध न हो। जनजाति क्षेत्रों के साथ सन्धि और समझौते का भी अन्त कर दिया गया। उनके साथ भी देशी राज्यों की तरह वर्तमान स्थिति ज्यों की त्यों रखी गई। ब्रिटिश ससद ने राजमुकुट की 'भारत का सम्राट' नाम की उपाधि को हटा दिया। इस अधिनियम के अनुसार दोनों सविधान सभाओं को पाकिस्तान व भारत दोनों को—पूरी विधायनी शक्तियां दे दी गई। ये दोनों ही अधिराज्यों के विधान मण्डलों का कार्य करेंगी। ये अधिराज्यों के लिए अन्तिम सविधान भी बनायेंगी। इनके सविधान बनाते समय यह आवश्यक होगा कि अधिराज्यों के लिए सरकार व प्रशासन का प्रबन्ध हो। इस आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए अधिनियम के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई कि प्रत्येक अधिराज्य की सरकार जहाँ तक सम्भव हो सकेगा १६३५ के अधिनियम के अनुसार चलाई जायेगी। ऐसा निश्चय लार्ड माउण्टबेटन के सुझाव पर किया गया। १६३५ के अधिनियम के अन्तर्गत महाराज्यपाल और राज्यपाल की स्वविवेकीय और व्यक्तिगत निर्णय की शक्तियों का प्रयोग समाप्त कर दिया गया।

अब कोई प्रान्तीय विधेयक राजमुकुट की अनुमति के लिए सुरक्षित नहीं रखा जायेगा और राजमुकुट किसी प्रान्तीय अधिनियम को अस्वीकार नहीं कर सकेंगे।

१६३५ के अधिनियम के अन्तर्गत संघीय विधान मण्डल की शक्तियों का प्रयोग अधिराज्यों की संविधान सभायें करेंगी। इस प्रकार अधिराज्यों की संविधान सभाओं को दो कार्य सौंपे गये। पहला कार्य संविधान बनाने का था इस विषय में उन्हें पूर्ण अधिकार प्राप्त थे। दूसरा कार्य यह था कि अधिराज्यों के लिए अस्थायी रूप से केन्द्रीय विधान मण्डलों की तरह कार्य करें इनके अधिकार वही होंगे जो १६३५ के अन्तर्गत संघीय विधान मण्डल को प्राप्त थे। नई परिस्थिति को देखते हुए १६३५ के अधिनियम में कुछ हेर फेर करना पड़ेगा। यह परिवर्तन महाराज्यपाल अनुच्छेद ६ के अन्तर्गत एक आदेश के अनुसार करेंगे। अनुच्छेद ६ में महाराज्यपाल को केन्द्र और प्रान्तों में विभाजित करने के लिए आदेश जारी करने का अधिकार दिया गया था उसे दोनों अधिराज्यों के विभाजन होने तक सामान्य सेवाओं और अन्य केन्द्रीय कार्यों को चलाने के लिए आदेश देने का अधिकार था। पंजाब, बंगाल और आसाम के विभाजन के लिए इसी प्रकार के अधिकार उन प्रान्तों के राज्यपालों को दे दिये गए थे। ये शक्तियाँ सीमित थी और थोड़े ही समय के लिये दी गई थी। राज्यपालों को ये शक्तियाँ १५ अगस्त तक के लिए मिली थी और महाराज्यपालों को ३१ मार्च १६४८ तक मिली थी। अधिनियम में सार्वजनिक सेवाओं के भविष्य के लिए भी व्यवस्था की गई। जजों और भारत सचिव के यूरोपियन और भारतीय सेवकों को नये अधिराज्यों में कार्य करने का अधिकार दिया गया, यदि वे चाहें तो भी उनके वेतन व पेन्शन में कोई परिवर्तन नहीं होगा। केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के सेवकों को भी ऐसी ही सुविधा दी गई। अनुच्छेद ११ से १३ तक भारत की सेना से सम्बन्ध रखते थे।

**भारतीय संविधान सभा**—इसकी प्रथम बैठक ६ दिसम्बर १६४६ को हुई। महाराज्यपाल ने डा० सच्चिदानन्द सिन्हा को इसका अन्तरिम अध्यक्ष मनोनीत किया। उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान की पूरी पूरी तरह से प्रशंसा की। ११ दिसम्बर को डा० राजेन्द्र प्रसाद संविधान सभा के स्थायी अध्यक्ष निर्वाचित हुए। १३ दिसम्बर को प० जवाहरलाल नेहरू ने संविधान सभा में ध्येय प्रस्ताव (Objectives Resolution) प्रस्तुत किया। यह प्रस्ताव २२ जनवरी १६४७ को पास हुआ। इस प्रस्ताव में संविधान सभा ने भारत को एक स्वतन्त्र सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न गणतन्त्र घोषित करने और इसके संविधान को तैयार करने का निश्चय किया। संविधान सभा ने निश्चय किया कि गणतन्त्र की सब शक्तियाँ और अधिकार जनता द्वारा दिये जाते हैं। गणतन्त्र में सब भारतवासियों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय की व्यवस्था होगी। सबको सामान्य स्थिति और सामान्य अवसर और कानून के समक्ष समानता प्रदान होगी। सबको विचार व्याख्यान, धर्म, पूजा, पेशे, संगठन और कार्य की स्वतन्त्रता होगी। दलित वर्गों, अल्पमतों, और जनजाति क्षेत्रों के लिए आवश्यक रक्षा कवच रखे जायेंगे। गणतन्त्र

विश्व में अपनी उचित मान्यता प्राप्त करेगा, विश्व शांति और मनुष्य जाति के हित के लिये कार्य करेगा। संविधान सभा ने अपना कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिये कई समितियाँ स्थापित कीं, जैसे संघीय विषय समिति, प्रान्तीय संविधान समिति, मूल अधिकार समिति, अल्पमत और अनुसूचित जनजाति समिति इत्यादि। संविधान सभा ने अपना कार्य दो साल ११ महीने और १८ दिन में समाप्त किया। इस अवधि काल में इसके ११ सत्र हुए। इन ११ सत्रों में से पहले छः सत्र ध्येय प्रस्ताव पास करने और मूलाधिकार समिति, संघ संविधान समिति, प्रान्तीय विधान समिति और अल्पमत समिति की रिपोर्टों के विचार करने में लगा। ७वाँ, ८वाँ, ९वाँ, १०वाँ और ११वाँ सत्र प्रारूप संविधान के विचार करने में लगे। संविधान सभा के इन ११ सत्रों में १६५ दिन लगे। इनमें से ११४ दिन प्रारूप संविधान के ऊपर विचार करने में लगे।

प्रारूप संविधान एक प्रारूप समिति द्वारा तैयार किया गया। संविधान सभा ने २९ अगस्त १९४७ को प्रारूप समिति स्थापित की। डा० बी० आर० अम्बेदकर, श्री एन० गोपाल स्वामी अय्यंगर, श्री अलादीकृष्ण स्वामी अय्यर, श्री के० एम० मुन्शी, सैयद मोहम्मद सादुल्ला, श्री एन० माधवराव, श्री डी० पी० खेतान और सर बी० एल० मित्तर इस समिति के सदस्य थे। डा० बी० आर० अम्बेदकर इस समिति के अध्यक्ष बनाये गये। इस समिति की प्रथम बैठक ३० अगस्त को हुई। प्रारूप संविधान तैयार करने में इसने १४१ रोज लगाये। ५ नवम्बर १९४८ को प्रारूप संविधान सभा में प्रस्तुत किया गया। नया संविधान २६ नवम्बर १९४९ को अंतिम रूप से पास हुआ। संविधान के कुछ भाग तो तुरन्त ही कार्यान्वित कर दिये गये और शेष भाग २६ जनवरी १९५० को लागू किये गये। प्रारूप संविधान में ३१५ अनुच्छेद और ८ अनुसूचियाँ थीं। अन्तिम रूप में संविधान में ३९५ अनुच्छेद और ८ अनुसूची थी। प्रारूप संविधान में ७६३५ संशोधन भेजे गये। इनमें से २४७३ ही वास्तव में प्रस्तुत किये गये। कुछ लोगों का विचार था कि संविधान के बनाने में अधिक समय लगा परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं हुआ। संयुक्तराज्य अमेरिका के संविधान के बनने में चार महीने लगे। कनाडा के संविधान बनाने में २ साल ५ महीने लगे। आस्ट्रेलिया का संविधान ९ साल में तैयार हुआ। दक्षिणी अफ्रीका के संविधान में १ साल का समय लगा। हमारे संविधान को तैयार करने में अमेरिका और दक्षिण अफ्रीका से अधिक समय लगा। यहाँ पर यह सोचना चाहिए कि अमेरिका, कनाडा, दक्षिण अफ्रीका और आस्ट्रेलिया के संविधान हमारे संविधान से बहुत छोटे हैं। हमारे संविधान में ३९५ अनुच्छेद हैं जबकि अमेरिकन संविधान में ७, कनाडा संविधान में १४७, आस्ट्रेलिया संविधान में १२८ और दक्षिणी अफ्रीका के संविधान में १४७ अनुच्छेद ही हैं। हमारे संविधान को तैयार करने में अधिक समय लगने का दूसरा कारण यह है कि हमारी संविधान सभा को २४७३ संशोधनों पर विचार करना था जबकि अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया और दक्षिणी अफ्रीका में संशोधनों की समस्या ही नहीं थी।[1]

---

1. दी हिन्दुस्तान टाइम्स, नवम्बर २७, १९४९।

अध्याय १६

# ब्रिटिश राजमुकुट का देशी राज्यों से सम्बन्ध

**१८५७ के विद्रोह का परिणाम**—१८५७ के विद्रोह के कारण ब्रिटिश राजमुकुट और देशी राज्यो के सम्बन्ध मे परिवर्तन हो गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की जगह देशी राज्यो का ब्रिटिश राजमुकुट से सीधा सम्बन्ध हो गया। १८५७ के विद्रोह मे देशी राज्यो ने ब्रिटिश सरकार का साथ दिया था यद्यपि उनके पास असन्तुष्ट होने के अनेक कारण थे। देशी राजा के पुत्र न होने के कारण उसका राज्य छीन लिया जाता था। इसके कारण देशी राज्यो मे अपने भविष्य के बारे मे बडा असन्तोष था। विद्रोह के अन्त होने के बाद ब्रिटिश सरकार ने अपनी नीति मे परिवर्तन कर दिया। महारानी विक्टोरिया ने १ नवम्बर १८५८ के घोषणा पत्र मे बताया कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने देशी राज्यो के साथ जो सधियां और समझौते किये है उन्हे ब्रिटिश सरकार पूर्णतया मान्यता देगी। महारानी ने आगे कहा कि वे अब भारत मे अपने क्षेत्रो को विस्तृत करना नही चाहती। वे देशी राज्यो के अधिकार, मान और गरिमा का सम्मान करेंगे और उन्हे अपना ही समझेंगे (We shall respect the Rights, Dignity, and Honour of the Native Princes as our own)। देशी राज्यो को इससे बडा सन्तोष हुआ। १८५६ मे गढवाल के राजा की मृत्यु हो गई, उनके कोई औरस पुत्र नहीं था। इस समय लार्ड केनिंग ने राज्य को अग्रेजी राज्य मे नहीं मिलाया परन्तु राजा के अवैध पुत्र को ही राज का उत्तराधिकारी मान लिया। ब्रिटिश सरकार यह चाहती थी कि देशी राज्यो को इस बारे मे बिल्कुल सन्देह न रहे। इसलिए १८६० और उसके बाद मे सरकार की ओर से राज्यो को गोद लेने की सनदें प्रदान की गई। सनदो मे गोद लेने की प्रथा को स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार की एक सनद ११ मार्च १८६२ को मेवाड के राणा को प्रस्तुत की गई। इस सनद मे उनको हिन्दू धर्म और रिवाजो के अनुसार गोद लेने का अधिकार दिया गया। साथ मे यह शर्त भी लगाई गई कि वह राज्य ब्रिटिश राज्यमुकुट के प्रति भक्ति व निष्ठा दिखायेगे और अपनी सन्धियो व समझौतो का पूरा पालन करेंगे। ली वार्नर ने लिखा है कि इन सनदो के कारण ब्रिटिश सरकार और देशी राज्यो मे आपस मे एक दूसरे के प्रति विश्वास हो गया।[1] इन सनदो के अनुसार देशी राज्यों को भारतीय राजनैतिक पद्धति का एक अविभाज्य अग मान लिया गया। देशी राज्य अब अस्थायी सरकारो

१. दी नेटिव स्टेट्स ऑफ इण्डिया, पृष्ठ १६२।

की तरह नहीं रहे जिन्हें कुछ राजनैतिक कारणोंवश कभी भी समाप्त किया जा सकता था।[1] यद्यपि देशी शासकों को गोद लेने का अधिकार दे दिया गया परन्तु, उत्तराधिकार के निश्चय करने का अधिकार सरकार ने अपने हाथ में रखा। वह मनुष्य ही राज्य गद्दी का अधिकारी हो सकता था जिसको कि ब्रिटिश सरकार मान ले। १८८१ की सरकारी विज्ञप्ति में कहा गया कि देशी राज्यों में उत्तराधिकारी निश्चय करना ब्रिटिश सरकार का अधिकार और कर्तव्य है। प्रत्येक उत्तराधिकारी को गद्दी ग्रहण करने की अनुमति ब्रिटिश सरकार से लेनी पड़ती थी। जब तक उसे यह अनुमति प्राप्त न हो जाये तो वह उत्तराधिकारी गद्दी ग्रहण नहीं कर सकता था।

**राजमुकुट से प्रत्यक्ष सम्बन्ध के परिणाम**—ब्रिटिश राजमुकुट से सम्बन्ध स्थापित होने पर देशी राज्यों की स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गया। देशी शासकों का अब यह कर्त्तव्य हो गया कि वे अब ब्रिटिश राजमुकुट को अपनी भक्ति दिखायें। वे अब अपनी खुशी से ब्रिटिश साम्राज्य के सदस्य बन गये। १८७५ में जब प्रिन्स ऑफ वेल्स भारत आये तो देशी राज्यों ने उनका बड़ा स्वागत किया। ब्रिटिश राजमुकुट ने देशी शासकों को उपाधि और मान देना आरम्भ कर दिया। १८६१ में स्टार ऑफ इण्डिया की पदवी स्थापित की गई और कई देशी शासकों को यह उपाधि प्रदान की गई। निजाम हैदराबाद को 'हिज एग्जालटिड हाईनेस' की पदवी दी गई। १८७६ के दरबार में महारानी विक्टोरिया को 'भारत साम्राज्ञी' उपाधि देकर ब्रिटिश सरकार ने देशी राज्यों और राजमुकुट के सम्बन्धों को और दृढ़ कर दिया। इन उपाधियों और नामों ने देशी शासकों की स्थिति को और कमजोर कर दिया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय में वे कम्पनी के मित्र (Allies) समझे जाते थे परन्तु अब वे ब्रिटिश राजमुकुट की प्रजा बन गये।[2] ब्रिटिश राजमुकुट की उपाधि व नामों को लेकर उनका यह कर्तव्य हो गया कि वे अपने आपको राजमुकुट की सच्ची प्रजा प्रमाणित करें। उनका यह कर्तव्य था कि वे ब्रिटिश सरकार के वफादार हों और अपनी प्रजा की सच्ची सेवा करें। लार्ड कर्जन ने २६ नवम्बर १९९९ में ग्वालियर में अपने भाषण में कहा कि हमारी नीति के अनुसार देशी शासक भारत के साम्राज्य संगठन का एक मुख्य अंग बन गया है। वह महाराज्यपाल और उपराज्यपाल की तरह देश के शासन से सम्बन्धित है। मैं उसे अपना साथी और साझीदार समझता हूँ। एक शासक ऐसा नहीं कर सकता कि वह रानी के प्रति तो निष्ठा रखता हो और अपनी प्रजा के लिये तानाशाह और क्रूर हो। उसे अपने अधिकारों का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। उसे अपनी प्रजा का सेवक और स्वामी दोनों होना चाहिए। उसे अपने राज्य का राजस्व प्रजा की भलाई के लिये व्यय करना चाहिये। वह जितना

---

१. एच० एच० डोडवल : दी कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग ६, पृष्ठ ४१३।

२. के० वी० पुनिया : दी कान्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृष्ठ २१४।

अधिक ईमानदार होगा ब्रिटिश सरकार उसके कार्य में उतना ही कम हस्तक्षेप करेगी। उसे घुड़दौड़ों, पोलो के मैदान और यूरोपियन होटलों में ही नहीं घूमना चाहिये। उसका वास्तविक कार्य प्रजा के निकट रहने में ही है।[1]

जब से देशी राज्यों का सम्बन्ध सीधे राजमुकुट से हो गया तब से ही ब्रिटिश शासकों ने यह कहना प्रारम्भ कर दिया कि देशी शासकों को अपनी प्रजा का अधिक ध्यान रखना चाहिए। उन्हें दुराचार नहीं करना चाहिये। कैनिंग लिखते हैं[2] कि भारत सरकार देशी राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप कर सकती है यदि उनके कार्य देश में अराजकता या गड़बड़ पैदा करें। ब्रिटिश सरकार ऐसे राज्य का शासन कुछ समय के लिये अपने हाथ में भी ले सकती है यदि ऐसा न करने के लिए काफी प्रमाण हों। कैनिंग के उत्तराधिकारी लार्ड एलगिन ने इस बात को और भी स्पष्ट कर दिया। उसने कहा[3] कि यदि हम ऐसा नियम बनायें कि हम देशी शासकों के गलत कार्य में हस्ताक्षेप नहीं करेंगे और उनकी प्रजा के उन कार्यों का बलपूर्वक दमन करें जो वे (प्रजा) अपने कष्टों को दूर करने के लिये कर रहे हैं तो इसका परिणाम राज्य को हड़प कर लेना होगा। इस कार्य को करने के लिए हम तैयार नहीं हैं। १८५८ के बाद से ब्रिटिश सरकार ने देशी राज्यों को हड़पने की नीति का तो अन्त कर दिया परन्तु इसके साथ-साथ देशी राज्यों पर कड़ा नियन्त्रण रखना प्रारम्भ कर दिया। देशी राज्यों के कार्यों में ब्रिटिश सरकार अधिक हस्तक्षेप करने लगी। बहुत से विषयों को लेकर ब्रिटिश सरकार देशी राज्यों के अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप करने लगी। कभी वह बुरे शासन, कभी उत्तराधिकारी के विषय में उत्पन्न हुये झगड़े, अमानुषिक अत्याचारों को रोकने के लिये और कभी शासक के विरुद्ध विद्रोह को रोकने के लिये हस्तक्षेप करने लगी। देश की नई आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक अवस्था ने भी ब्रिटिश सरकार को हस्तक्षेप करने के लिए विवश किया। हस्तक्षेप करने की नीति जान बूझकर नहीं अपनाई गई। यह देश की परिवर्तित अवस्था के कारण ही हुआ। यातायात के विकास, रेल और तार का बनना, सार्वजनिक समाचार पत्रों का विकास और ब्रिटिश भारत के शासन की प्रगति ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी जिसके कारण ब्रिटिश सरकार को देशी राज्यों के क्षेत्रों में हस्तक्षेप करना पड़ा। ऐसी घटना जो कम्पनी के समय में भारत सरकार को सूचित ही न की जाती या बहुत दिनों बाद सूचित होती वे अब तुरन्त मालूम होने लगी। बहुत से अत्याचारों पर भारत सरकार पहले ध्यान नहीं देती थी, अब वह उन पर बहुत ध्यान देने लगी।[4]

इस नई नीति को अपनाने के लिए सार्वभौम शक्ति (Paramount Power)

---

१. ए० सी० बनर्जी : इण्डियन कान्स्टाट्यूशनल डोक्यूमेन्टस, भाग २, पृष्ठ, ३४१।

२. दी कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, भाग ६, पृष्ठ ४९३।

३. वही पृष्ठ ४९३।

४. वही, पृष्ठ ४९४।

बहुत से ऐसे सिद्धान्त, उदाहरण और प्रथाओं का प्रयोग करने लगी जिनका सन्धियों में कोई उल्लेख नहीं था। परन्तु सन्धियों के निर्वचन और प्रति युक्ति पर इनका बड़ा प्रभाव पड़ा। इन सिद्धान्तों, उदाहरणों और प्रथाओं को मान्यता इसलिये मिली कि सार्वभौम शक्ति ने उनका प्रयोग किया और देशी शासकों ने विवश होकर उन्हें मान लिया। इन नये सिद्धान्तों और प्रथाओं ने देशी राज्यों की शक्ति को बहुत कमजोर कर दिया।[1] सरकार एक नियम एक राज्य में प्रयोग में लाकर उसे दूसरे राज्य में भी पूर्वोदाहरण के तौर पर लागू कर देती थी। चाहे वह सन्धि में हो या न हो। इस प्रकार सार्वभौम शक्ति ने भारत की जनता के हितों की रक्षा करने के हेतु अन्य अधिकार अपने हाथों में ले लिये। सन्धियों के कुछ उपबन्धों पर कुछ अधिक जोर दिया गया और कुछ पर कम। सन्धियों के रचनात्मक निर्वचन के कारण राजमुकुट के सम्बन्ध सब देशी राज्यों के प्रति एक से हो गये। इस बात को लार्ड कर्जन ने भावलपुर में १६०३ में अपने भाषण में स्पष्ट कर दिया। उन्होंने कहा कि जैसा देशी शासकों का ब्रिटिश राजमुकुट से सम्बन्ध है ऐसा विश्व में कहीं उदाहरण नहीं मिलता। भारत की राजनैतिक पद्धति न तो सामन्तशाही है और न संघीय है। यह किसी संविधान पर आधारित नहीं है, यह किसी संधि से भी सम्बन्धित नहीं है, न यह किसी राजनैतिक संगठन से मिलती-जुलती है। यह तो सिर्फ उन सम्बन्धों को बताती है जो राजमुकुट और देशी राज्यों के बीच विभिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों में उत्पन्न हो गये हैं परन्तु उन्होंने समय के साथ-साथ एक सा रूप धारण कर लिया है।[2]

**हस्तक्षेप के उदाहरण**—१८५८ और १६०५ के बीच सन्धियों के रचनात्मक निर्वचन (Constructive Interpretation) के आधार पर ब्रिटिश सरकार ने बहुत से देशी राज्यों में हस्तक्षेप किया। १८६५ में मध्य भारत के जबुआ के राजा पर १०,००० रुपये का जुर्माना कर दिया गया और सलामी का अधिकार उससे छीन लिया गया। इसका कारण था कि उस राजा की माँ द्वारा बनाये गये मन्दिर में एक व्यक्ति ने चोरी की, राजा ने उस व्यक्ति के एक हाथ और पैर तुड़वा डाले। इसके आरोप में ही सरकार ने जुर्माना किया था। किसी को मृत्युदण्ड देने का अधिकार राजा को नहीं था। १८६८ में टोंक के नवाब को गद्दी से उतार दिया गया और उसके लड़के को गद्दी पर बैठा दिया गया और १७ बन्दूकों की सलामी के स्थान पर ११ बन्दूकों की सलामी ही कर दी गई। उस नवाब पर अपने आधीन शासक के १५ सम्बन्धियों को गोली से मार डालने का आरोप था। १८६२ में कलात के खान को त्याग पत्र देने के लिये विवश किया गया और उसके लड़के को गद्दी पर बैठाया गया। कलात् के खान ने अपने खजाने से रुपया चुराने के अपराध

१. के० बी० पुनिया : दी कॉन्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृष्ठ ३०१।

२. दी कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग ६, पृष्ठ ५०५।

में ५ महिलाओं और एक पुरुष को फांसी दे दी थी और दो मनुष्यों के हाथ पैर बुरी तरह से तोड़ डाले थे तथा अपने वजीर व उसके दो कुटुम्बियों को बर्बरता से मार डाला था। इसी आरोप के कारण ब्रिटिश सरकार ने नवाब को गद्दी से उतारा था। १८७० में एक राजपूत राज्य अलवर में विद्रोह हुआ। वहां की स्थिति को ठीक करने के लिए लार्ड मेयो ने जयपुर के राजा और एक ब्रिटिश अधिकारी को मध्यस्थ बनाया। उनके विफल होने पर महाराज्यपाल को बड़ी कार्यवाही करनी पड़ी। उसने राज्य का कार्य चलाने के लिये एक बोर्ड आफ मैनेजमेंट स्थापित किया जिसमें राज्य के बड़े-बड़े सरदार सम्मिलित थे और ब्रिटिश राजपूत उस बोर्ड का सभापति था। यद्यपि १८०३ की अलवर की सन्धि में यह लिखा हुआ था कि कम्पनी राजा के क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करेगी परन्तु फिर भी राज्य की स्थिति को सुधारने के लिए सरकार को कड़ा कदम उठाना पड़ा। डोडवेल का कहना है कि इस विषय में सरकार ने सन्धि की शर्तों को नैतिक आधार पर तोड़ दिया।[1]

एक दूसरा महत्त्वपूर्ण उदाहरण १८५७ में बड़ोदा के गायकवार को गद्दी से उतारने का है। डोडवेल इसे भारत सरकार के हस्तक्षेप का एक महत्वपूर्ण उदाहरण समझता है। गायकवार को गद्दी से उतारने का ढंग बड़ा 'निराला' था। १८७० में मल्हारराव गायकवार बड़ौदा की गद्दी पर बैठा था। उसकी ओर से सरकार सन्तुष्ट नहीं थी। सरकार का विचार था कि १८७५ के गुजरात के विद्रोह में उसका हाथ था। १८६३ में उसके भाई ने उसे बन्दी बना लिया था और उसे जहर देने का प्रयत्न किया जिससे कि वह उसके बाद गद्दी पर न बैठ सके। जब मल्हारराव गद्दी पर बैठा तो उसने अपने भाई के अनुयायियों से बदला लेना चाहा और उन्हें नष्ट करना चाहा। उन्हें जेल में डाल दिया गया जहां रहस्यपूर्ण ढंग से उनकी मृत्यु हो गई। तीन साल के दु:शासन के बाद भारत सरकार ने उसके शासन की जांच-पड़ताल करने के लिए एक आयोग बैठाया। इस आयोग में ३ ब्रिटिश अधिकारी और जयपुर राज्य के मुख्य मन्त्री थे। आयोग ने बड़ोदा के शासन की बड़ी निन्दा की और कई आवश्यक सुधार बताये। गायकवार से कहा गया कि वह १८ महीनों के अन्दर ही इन सुधारों को कार्यान्वित कर दे। अभाग्यवश इस समय गायकवार के सम्बन्ध ब्रिटिश रेजीडेन्ट कर्नल फेयर से बड़े खराब हो गए और उसने महाराज्यपाल लार्ड नार्थब्रुक से प्रार्थना की कि उस ब्रिटिश अधिकारी को वहां से हटा लिया जाय। इसी समय कर्नल फेयर ने भी महाराज्यपाल को एक रिपोर्ट भेजी जिसमें गायकवार पर यह आरोप लगाया कि उसने उसे (रेजीडेन्ट को) जहर दिया है। महाराज्यपाल ने कर्नल फेयर को हटाकर एक दूसरे अधिकारी को बड़ौदा में नियुक्त कर दिया। उस दूसरे अधिकारी ने बड़ोदा में पहुँचकर यह रिपोर्ट की कि गायकवार ने अपने शासन में आवश्यक सुधार नहीं किए हैं। उसने यह भी लिखा कि कर्नल फेयर को जहर देने में गायकवार का ही हाथ था। इस पर सरकार ने गायकवार

[1] दी कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग ६, पृष्ठ ४८८।

को बन्दी बना लिया और उसके राज्य का शासन कुछ समय के लिए अपने हाथ में ले लिया। भारत सरकार ने जहर देने के आरोप की जाँच-पड़ताल के लिए एक नया आयोग नियुक्त किया। इसमें ३ अंग्रेज सदस्य और ३ भारतवासी सदस्य थे। बंगाल के उच्च न्यायाधीश इस आयोग के सभापति थे। सर रिचार्ड मीड और श्री पी० एम० मेलविल अन्य अंग्रेजी सदस्य थे। महाराजा सिन्धिया, जयपुर के महाराजा और सर दिनकर राव भारतीय सदस्य थे। अंग्रेजी सदस्यों ने गायकवार को दोषी ठहराया परन्तु भारतीय सदस्यों ने उसको दोषी नहीं ठहराया। आयोग के सदस्यों में मतभेद होने के कारण सरकार ने यह निश्चय किया कि मल्हारराव को जहर के विषय में दोषी नहीं ठहराया जा सकता, परन्तु सरकार ने यह निश्चय किया कि गायकवार शासन करने के अयोग्य है। सरकार ने इसके कई कारण बताये। उसका चरित्र और शासन खराब बताया गया उस पर यह भी आरोप लगाया कि उसने आवश्यक सुधार नहीं किए। सरकार ने यह भी कहा कि बड़ौदा की जनता के हित में और बड़ौदा राज्य और ब्रिटिश सरकार के बीच अच्छे सम्बन्ध रखने के लिए यह आवश्यक था कि मल्हारराव को उसके अधिकार न दिए जायें। *भारत सरकार ने यह निश्चय किया कि मल्हारराव गायकवार को बड़ौदा की गद्दी से उतार दिया जाय और उसकी सन्तान को वहाँ की गद्दी के अधिकारों से वंचित रखा जाय।* गायकवार परिवार का एक नाबालिग सदस्य मल्हारराव का उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया गया और उसके बालिग होने तक सर माधवराव की अध्यक्षता में एक रीजेन्सी कौंसिल नियुक्त कर दी गई। डौडवेल का कहना है कि मल्हारराव को गद्दी से उतारने में सरकार ने सन्धियों की अवहेलना नहीं की।[1] उसने सरकार के कार्य को उचित बताया। कम्पनी के समय में यदि ऐसी घटना होती तो राज्य को हड़प कर लिया जाता परन्तु सरकार ने अब नम्रता से काम लिया। राज्य का केवल उत्तराधिकारी बदल दिया गया और राज्य को जैसा का तैसा रखा।

दूसरा महत्त्वपूर्ण उदाहरण मनीपुर राज्य का है। १८९० में मनीपुर के राजा को उसके एक सेनापति भाई ने विद्रोह करके राज से निकाल दिया। युवराज जो राज्य में उस समय बाहर थे तुरन्त वापिस आए और विद्रोहियों की सहायता से राज की बागडोर अपने हाथ में ले ली। ब्रिटिश सरकार पहले राजा के शासन से सन्तुष्ट न थी और उसने युवराज को ही राजा का उत्तराधिकारी मान लिया परन्तु *सरकार सेनापति को वहाँ से हटाना चाहती थी।* इस कार्य के लिए सरकार ने आसाम के चीफ कमिश्नर को मनीपुर भेजा परन्तु वहाँ पर उसके साथियों सहित उसे बन्दी बना लिया गया और उसे (कमिश्नर) फाँसी दे दी गई। भारत सरकार ने तुरन्त ही राज्य में अपनी सेना भेजी। युवराज और सेनापति को बन्दी बना लिया गया, उन पर हत्या और विद्रोह का मुकद्दमा चलाया गया और उन्हें फाँसी दे दी गई। मनीपुर राज्य को जैसा का तैसा रखा गया। ५ जून १८९१ को भारत

१. दी कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग ६, पृष्ठ ५०० ।

सरकार ने लिखा कि प्रत्येक उत्तराधिकारियों को सरकार द्वारा मान्यता मिलनी चाहिए और जब तक ऐसी स्वीकृति न मिल जाये उत्तराधिकारी वैध नहीं समझा जायेगा। इस कारण सेनापति और युवराज के कार्य विद्रोही समझे गए और युद्ध नहीं। ली वार्नर ने कुर्ग की १८३४ की हड़प (annexation) करने की नीति की मनीपुर की १८९१ की स्थिति से तुलना की है।[1] यद्यपि मनीपुर में दुःशासन था और विद्रोहियों ने सरकारी फौज पर हमला किया था और सरकारी अफसरों की हत्या कर दी थी फिर भी ब्रिटिश सरकार ने मनीपुर राज्य को हड़प करना ठीक नहीं समझा। इन्हीं हालतों में कुर्ग को हड़प कर लिया था। अब सरकार की नीति में परिवर्तन हो गया था और वह देशी राज्यों को हड़प करने के पक्ष में नहीं थी।

सरकार की इस नई नीति को अपनाने का तीसरा उदाहरण मैसूर राज्य का वापिस करना (Rendition of Mysore) है। १८३१ में महाराजा के दुःशासन के कारण लार्ड विलियम बैंटिक ने मैसूर राज्य को कुछ ब्रिटिश अधिकारियों के आधीन रख दिया। महाराज को पेन्शन दे दी गई परन्तु सरकार ने उसे पुन गोद लेने की स्वीकृति नहीं दी यदि महाराज की मृत्यु डलहौजी के समय हो जाती तो मैसूर भी सतारा और नागपुर की तरह कम्पनी के शासन में मिला लिया जाता परन्तु महाराजा की मृत्यु १८६८ में हुई और उन्होंने एक गोद लिया हुआ लड़का अपने पीछे छोड़ा। भारत सरकार ने उस लड़के को स्वीकार कर लिया और यह वचन दिया कि जब वह बच्चा बालिग हो जायेगा तो उसे गद्दी पर बैठा दिया जायेगा यदि वह इसके योग्य हो। लार्ड रिपन की सरकार ने इस वायदे को १८८१ में पूरा किया और उस लड़के को मैसूर की गद्दी पर बैठा दिया। उस समय १ मार्च १८८१ को सरकार ने मैसूर के नए महाराज के साथ एक समझौता किया जिसमें ब्रिटिश सरकार और मैसूर राज्य के बीच नए सम्बन्धों को स्पष्ट किया गया। १७९९ की मैसूर के साथ की गई सन्धि में और इस समझौते (Instrument of Transfer) में जमीन आसमान का अन्तर है। पहली सन्धि का ध्येय राज्य की वित्त स्थिति को स्थिर बनाना था। नए समझौते का अभिप्राय अच्छा शासन स्थापित करना था। यह समझौता राजमुकुट के साथ देशी राज्यों के सम्बन्धों को स्पष्ट करता है। इस राज्यलेख्य में मैसूर राज्य के विषय में "राजसत्ता" शब्द का कहीं प्रयोग नहीं हुआ है केवल शासन को कुछ क्षेत्र सौंप दिये गए हैं जिनके ऊपर शासन करना है। महाराज्यपाल की परिषद् की अनुमति के बिना राज्य के लिए कोई उत्तराधिकारी नियुक्त नहीं हो सकता था। शासक को राजमुकुट के प्रति निष्ठा और अधीनता रखनी चाहिए।[2] इस लेख्य में यह भी निश्चय किया गया कि मैसूर राज्य में भारत सरकार का सिक्का ही वैध समझा जायेगा और राज्य अपना सिक्का नहीं चला सकता। मैसूर के महाराजा वित्त के विषय में, कर लगाने में, न्यायिक प्रशासन

१. दी नेटिव स्टेट्स ऑफ इण्डिया, पृष्ठ १८३।

२. इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशनल डोक्यमेंट्स भाग २, पृष्ठ ३४६।

में, वाणिज्य कृषि और व्यवसाय के विषय में ब्रिटिश सरकार से सम्बन्धों के विषय में महाराजस्थान की परिषद् के परामर्श से ही कार्य करेगा। महाराजस्थान की परिषद् यह तय करेगी कि राज्य में कितनी सेना रखी जायेगी। महाराजस्थान की परिषद् की अनुमति के बिना राज्य के कानूनों और नियमों में परिवर्तन नहीं हो सकता था, इन प्रतिबन्धों का महत्व इस कारण अधिक था क्योंकि ये एक बहुत बड़े राज्य पर लगाए गए थे जिसका क्षेत्रफल, जनसंख्या, वस्तुओं की सम्पत्ति और प्रतिष्ठा बहुत अधिक थी। मैसूर राज्य को वापिस करने की नीति से यह साफ प्रकट है कि ब्रिटिश सरकार देशी राज्यों को हड़प नहीं करना चाहती थी। डोडवेल के अनुसार मैसूर राज्य को वापिस करने से यह स्पष्ट हो गया था कि कम्पनी के समय से अब राजमुकुट के देशी राज्यों के साथ सम्बन्धों में अधिक परिवर्तन हो गया था।

देशी राज्यों के स्तर में परिवर्तन—ऊपर लिखे उदाहरणों के आधार पर यह स्पष्ट हो गया कि देशी राज्य ब्रिटिश सरकार के आधीन थे और उनकी कोई अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति नहीं थी। २१ अगस्त १८९१ की सरकारी विज्ञप्ति में इस बात को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया गया। इस विज्ञप्ति में कहा गया कि देशी राज्यों के भारत सरकार और ब्रिटिश राजमुकुट के साथ जो सम्बन्ध हैं उन पर अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के सिद्धान्तों को लागू नहीं किया किया जा सकता। ब्रिटिश सरकार एक सार्वभौम शक्ति के रूप में है और देशी राज्य उसके आधीन हैं। १९वीं सदी के अन्त में ब्रिटिश सरकार ने राजनैतिक और आर्थिक विषयों में भी प्रतिबन्ध लगाकर राज्य को और अधिक आधीन कर दिया। शासकों के कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों को इस प्रकार दिखाया गया कि शासकों की स्वतन्त्रता ही कम हो गई। ३० नवम्बर १८९१ को लार्ड लैन्सडोन ने कलकत्ते में अपने भाषण में कहा कि देशी शासकों को इस प्रकार शासन करना चाहिए कि हम उनकी स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप न करें। उसने कहा कि अफ़ेद नहीं चाहते कि देशी शासकों का पूर्णतया अन्त कर दिया जाये। श्री के० बी० पुनिया ने ब्रिटिश सरकार की नीति को उदार प्रतिरोध (benevolent coercion) कहा है। लार्ड कर्जन ने तो इस नीति को हद तक पहुंचा दिया। लार्ड कर्जन ने अपने एक परिपत्र में देशी राज्यों को एक बड़ी डाट लगाई। उसने कहा कि 'देशी शासक अधिकतर भारत से बाहर रहते हैं इस तरह वे अपने कर्त्तव्यों की अवहेलना करते हैं उन्हें तभी देश से बाहर रहना चाहिए जब उनकी यात्रा से उनको और उनकी जनता को लाभ हो।" १८९९ के अपने ग्वालियर के भाषण में उसने कहा कि एक देशी शासक को एक तानाशाह की तरह व्यवहार नहीं करना चाहिए, उसे अपने आप को जनता का स्वामी और सेवक समझना चाहिए। लार्ड कर्जन के इस प्रकार के विचार समाचार पत्रों में भी प्रकाशित हो गए। इन विचारों से देशी शासक बड़े चिन्तित हुए और वे सोचने लगे कि ब्रिटिश सरकार उनके पुश्तानुगत अधिकारों में हस्तक्षेप कर रही है।

मिन्टो द्वारा नीति में परिवर्तन—लार्ड कर्जन के बाद लार्ड मिन्टो महाराज्यपाल बने। लार्ड कर्जन की कठोर नीति ने देश में राजनैतिक जागृति उत्पन्न कर दी थी

और जनता ने ब्रिटिश सरकार की आलोचना करना आरम्भ कर दी थी। ऐसी अवस्था में यह आवश्यक हो गया कि ब्रिटिश सरकार देशी शासकों को अपने पक्ष में रखे और राजनैतिक जागृति को रोकने में उनसे सहायता ले। लार्ड मिण्टो ने सरकारी नियन्त्रण को कम कर दिया और देशी रियासतों से नम्रता का व्यवहार किया और उनके सहयोग की माग की। १ नवम्बर १६०६ के अपने उदयपुर के भाषण में लार्ड मिन्टो ने कहा कि ब्रिटिश सरकार की नीति है कि देशी राज्यों के आन्तरिक विषयों में बहुत कम हस्तक्षेप करे। उसने कहा कि वे देशी राज्यों में एक प्रकार की नीति नहीं बरत सकते। उन्हें विभिन्न परिस्थितियों का ध्यान रखना पड़ेगा। उन्होंने कहा कि उन्होंने यह निश्चय कर लिया है कि वे देशी राज्यों को साधारण निर्देश बहुत कम जारी करेंगे और प्रत्येक मामले को उनकी अच्छाई देख कर तय करेंगे। वर्तमान सधियों, स्थानीय अवस्थाओं, परिस्थितियों और सवैधानिक विकास का भी ध्यान रखेंगे। भारत में ब्रिटिश सरकार के ढाँचे की आधार शिला यह है कि सार्वभौम शक्ति और शासकों के हितों में समानता हो और ब्रिटिश सरकार उनके मामलों में कम से कम हस्तक्षेप करे। उन्होंने ब्रिटिश राजनैतिक अधिकारियों और देशी शासकों के बीच सहयोग की अपील की।[1]

डौडवेल ने इस नई नीति को अपनाने के कारण बताते हुए कहा कि पढ़े लिखे भारतीयों का मुकाबला करने के लिए सरकार को कुछ मित्रों और सहायकों की आवश्यकता थी। १८५७ में देशी शासकों ने विद्रोह के दमन करने में सहायता दी थी। १६०७ में सरकार के विरुद्ध राजनैतिक अशान्ति को दबाने में वे सहायता दे सकते थे, इसलिए ब्रिटिश सरकार ने सोचा कि उनको दबाकर रखने के बजाय उनसे मित्रता करनी चाहिए।[2] (They were therefore to be cultivated rather than coerced)। देशी राज्यों के साथ सहयोग की नीति से दो परिणाम निकले। पहले तो इसके कारण देशी राज्यों में साम्राज्य सेवा सेना (Imperial Service Trops) की स्थापना हुई। यह सेना सकट काल में भारत सरकार को सहायता देती थी तथा देशी राज्यों के नियन्त्रण में थी। ब्रिटिश अधिकारी इस सेना को शिक्षा देते थे। इस सेना ने सबसे प्रथम बार १८६३ के हुनजा आन्दोलन में सहायता दी। १६१४ में इसकी संख्या २२००० थी। यहां पर यह उल्लेखनीय है कि लार्ड वैलेजली ने देशी शासकों की इच्छा के विरुद्ध अपनी फौजें उनके राज्यों में रखी थी। अब सहयोग की नीति के कारण देशी शासकों ने अपनी इच्छा से देश की सुरक्षा के लिए इन सेनाओं को अपने राज्य में रखा था। ब्रिटिश सरकार में देशी राज्यों के प्रति जो सन्देह और अविश्वास था वह अब विश्वास और सहयोग में परिणत हो गया। इस सहयोग की नीति का दूसरा परिणाम यह निकला कि

१. ए० सी० बनर्जी : इन्डियन कन्सटीट्यूशनल डोक्यूमेन्ट्स, भाग २, पृष्ठ ४११-४५३।

२. दी केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इन्डिया, भाग ६, पृष्ठ ५०६।

३. के० वी० पुनिया : दी कॉन्सटीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, पृष्ठ २०१।

ब्रिटिश सरकार ने देशी राज्यों को आपस में मिलने जुलने को सन्देह से देखने का अन्त कर दिया। लार्ड लिटन ने एक ऐसी योजना बनाई जिसके अनुसार मुख्य देशी शासकों को मिलने जुलने का अवसर मिलता और वे महाराज्यपाल को सामान्य हितों के विषयों में परामर्श भी देते। परन्तु भारत सचिव ने इस योजना को अस्वीकार कर दिया। लार्ड मिन्टो ने लार्ड लिटन की योजना को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया परन्तु लार्ड मोर्ले ने इसका विरोध किया।[1] प्रथम महायुद्ध के संकट के कारण लार्ड हार्डिंग को देशी शासकों के सम्मेलन बुलाने पड़े जिनमें उन विषयों पर वार्तालाप होता था जो साम्राज्य और देशी राज्यों के हितों से सम्बन्धित थे। मोन्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट ने इस दिशा में एक निश्चित कदम उठाया।

**मोन्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट और देशी राज्य**—मोन्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट ने इस बात को स्वीकार किया कि ब्रिटिश भारत में जो संवैधानिक परिवर्तन हो रहे हैं उनका देशी राज्यों पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। रिपोर्ट में कहा गया कि यद्यपि ब्रिटिश सरकार की नीति देशी राज्यों के सम्बन्ध में पिछले सौ वर्षों में सफल रही है परन्तु फिर भी कुछ क्षेत्रों में इस विषय में असन्तोष और अनिश्चितता है। कुछ शासकों को इस बात से बड़ी चिन्ता है कि ब्रिटिश सरकार देशी राज्यों की स्वतन्त्रता को पूरी तरह नहीं मान रही है और उन्हें संदेह है कि भविष्य में उनके व्यक्तिगत अधिकार और सुविधाओं को छीन लिया जाय। मोन्टेग्यू और चेम्सफोर्ड ने इस असन्तोष के दो कारण बताये हैं।[2] पहले तो सब देशी राज्यों को जिनकी संख्या ७०० के लगभग है और जिनमें कुछ छोटे और कुछ बड़े राज्य हैं एक ही नाम (देशी राज्य) से पुकारा गया है। इस एक नाम के प्रयोग करने के कारण उनकी स्थिति के अन्तर का पता नहीं चलता और जो व्यवहार छोटे शासकों के लिए उचित था वही व्यवहार बड़े शासकों के साथ भी किया गया। राजमुकुट और देशी राज्यों के भविष्य के सम्बन्धों को सुधारने के लिए रिपोर्ट में यह सिफारिश की गई कि सब देशी राज्यों को दो हिस्सों में बाँट देना चाहिए। एक श्रेणी उन राज्यों की होनी चाहिए जिन्हें आन्तरिक विषयों में पूर्ण स्वतन्त्रता है और दूसरी श्रेणी में अन्य राज्य रखे जावें। दूसरे, रिपोर्ट में बताया गया कि ब्रिटिश सरकार ने देशी राज्यों में बहुत सी बार हस्तक्षेप किया है और यह उचित ढंग से किया गया है। ऐसा करने में सरकार ने इस बात का अनुभव किया है कि कुछ देशी राज्यों के साथ की गई सन्धियों में समय के साथ परिवर्तन आ गया है और उनको अक्षरशः पालन करना असम्भव है। सरकार ने इस सिद्धान्त पर कार्य किया है कि सन्धियों का अर्थ पूर्णतया देखा जाना चाहिए और वर्तमान स्थिति में उनका निर्वचन होना चाहिए। सरकार की इस नीति का यह परिणाम निकला है कि देशी राज्यों के साथ सम्बन्ध रखने के लिये कुछ सिद्धान्त और पूर्व निर्णय-प्रमाण-समूह (a body of case-law) बनता

---

1. ए० बी० कीथ : इंडियन कॉन्स्टिट्यूशनल डॉक्यूमेन्ट्स, भाग २, भूमिका।
2. रिपोर्ट ऑन इंडियन कॉन्स्टीट्यूशनल रिफॉर्म्स, पृष्ठ ११३।

लिए गये हैं। परन्तु ये सिद्धान्त जब किसी राज्य में लागू किये जाते हैं तो उस राज्य का शासक वहां असंतोष प्रगट करता है। उसे भय है कि यह प्रथा और पूर्वोदाहरण उसके अधिकारों पर कुठाराघात करेंगे। यह दूसरा कारण है जिससे देशी राज्यों में असंतोष था। भारत सरकार ने भी इस असंतोष को स्वीकार किया है। मोन्टेग्यू और चेम्सफोर्ड ने यह सुझाव रखा कि दोनों पक्षों की अनुमति से इस समस्या पर पुनर्विचार होना चाहिये। इस पुनर्विचार का अर्थ नीति में परिवर्तन होना आवश्यक नहीं है। परन्तु इसका अभिप्राय भविष्य में वर्तमान पद्धति को सरल, प्रमाणित तथा संहिताबद्ध (......to simplify, standardize, and codify existing practice for the future) करना है।[1]

मोन्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में देशी शासकों की एक परिषद् के स्थापित करने की भी सिफारिश की गई। मोन्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट ने देशी शासकों के सम्मेलन पर अधिक जोर दिया। इस ध्येय की पूर्ति के लिए रिपोर्ट ने शासकों की परिषद् (a Council of Princes) के स्थापित होने की सिफारिश की।[2] यह परिषद् परामर्श देने वाली एक स्थाई निकाय होनी चाहिये। इसकी बैठकें निश्चित समय पर होनी चाहियें और साधारणतया प्रतिवर्ष इसकी बैठक अवश्य होनी चाहिए। महाराज्यपाल इस बैठक का कार्यक्रम निश्चित करेगा और स्वयं ही इसकी बैठकों का सभापति रहेगा। उसकी अनुपस्थिति में कोई शासक बैठक का अध्यक्ष बन सकता है। रिपोर्ट ने परिषद् की एक स्थाई समिति बनाने की भी सिफारिश की। यह समिति रीति-रिवाज और प्रथाओं पर विचार करेगी। परिषद् यदि चाहे तो देशी राज्यों के दिवान या मन्त्रियों को इस समिति का सदस्य बना सकती है। यदि दो या दो से अधिक राज्यों में या एक राज्य और स्थानीय सरकार या भारत सरकार में किसी विषय पर मतभेद हो या कभी ऐसी स्थिति आ जाय जब कि एक राज्य भारत सरकार या उसके स्थानीय अधिकारियों के निश्चय से असन्तुष्ट हो तो महाराज्यपाल एक आयोग नियुक्त कर सकता है जो इस मतभेद या झगड़े की जांच करेगा। इस आयोग में दोनों पक्षों के सदस्य होने चाहियें। यदि महाराज्यपाल इस आयोग के निश्चय से सहमत न हो तो यह विषय भारत सचिव के निश्चय के लिए छोड़ देना चाहिये एक न्यायिक अधिकारी जो उच्च न्यायालय के न्यायाधीश से कम स्तर का न हो इस आयोग का सदस्य होना चाहिये और दोनों पक्षों का मनोनीत एक-एक सदस्य इस आयोग में होना चाहिये। यदि कभी किसी देशी शासक को उसकी गद्दी से उतारने या उसके अधिकार और शक्तियों को छीनने का प्रश्न हो या उसके कुटुम्ब के किसी सदस्य को गद्दी से वंचित रखना हो तो इन मामलों की जांच के लिये एक आयोग महाराज्यपाल द्वारा अवश्य नियुक्त होना चाहिये जो उसे उचित सलाह दे। इस आयोग में पांच सदस्य होने चाहियें। साधारणतया एक उच्च

१. रिपोर्ट ऑन इंडियन कान्स्टीट्यूशनल रिफार्म्स, पृष्ठ १६४।

२. वही, पृष्ठ १६५

न्यायालय का न्यायाधीश और दो देशी राज्यों के शासक इसमें अवश्य होने चाहियें। मोन्टेग्यू और चेम्सफोर्ड ने यह भी सिफारिश की कि सिद्धान्त के तौर पर सब मुख्य राज्यों का भारत सरकार से प्रत्यक्ष राजनैतिक सम्बन्ध होना चाहिए। अभी तक केवल हैदराबाद, बड़ोदा, मैसूर और काश्मीर ही ऐसे सम्बन्ध रखते थे।

**नरेन्द्र मण्डल की स्थापना**—मोन्टेग्यू और चेम्सफोर्ड की सिफारिशों के अनुसार ८ फरवरी १९२१ को नरेन्द्र मण्डल (The Chamber of Princes) की स्थापना की गई। इसमें १२१ सदस्य थे १०९ सदस्य प्रमुख राज्यों से लिए गये थे और १२ सदस्य अन्य १२६ राज्यों से निर्वाचित होते थे। अधिक छोटे-छोटे राज्यों को प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया था। कुछ प्रमुख राज्य जैसे मैसूर और हैदराबाद इसके कार्यों में भाग नहीं लेते थे। यह परिषद् केवल वार्तालाप और परामर्श देने वाली समिति थी। इसको कोई कार्यकारिणी अधिकार नहीं थे। यह परिषद् साम्राज्य और सामान्य हितों के सम्बन्ध में परामर्श करती थी। यह परिषद् एक चांसलर और एक उप-चांसलर भी नियुक्त करती थी। इसकी स्थायी समिति में ७ सदस्य होते थे जिसमें चांसलर व उप-चांसलर भी सम्मिलित थे। इसके प्रस्ताव शासकों के लिए अनिवार्य नहीं होते थे और शासक उनको मानने के लिये बाध्य नहीं थे। नरेन्द्र मण्डल १९४७ तक कार्य करता रहा। १९४७ में इसे विघटित कर दिया गया। । इसके कार्य दृढ़ और महत्त्वपूर्ण नहीं होते थे। साईमन आयोग ने अपनी २० मई १९३० की रिपोर्ट में इसकी बड़ी प्रशंसा की। उसने इसे राजमुकुट व देशी राज्यों के सम्बन्धों के विकास में एक महत्त्वपूर्ण कदम बताया। इसने बहुत से प्रभावशाली विषयों पर स्वतन्त्रतापूर्वक अपने मत दिये।[1]

**बटलर समिति की रिपोर्ट**—हम पहले ही लिख चुके हैं कि देशी शासक *ब्रिटिश सरकार के सार्वभौम सत्ता के विचार से सन्तुष्ट नहीं थे।* सार्वभौम शक्ति के आधार पर ब्रिटिश सरकार बड़े से बड़े राज्य के आन्तरिक विषयों में हस्तक्षेप करने को तैयार रहती थी। लार्ड मिन्टो के समय में इस नीति में कुछ परिवर्तन और नम्रता आ गई थी। परन्तु लार्ड रीडिंग ने इसको फिर से जीवित करने का प्रयत्न किया। २७ मार्च १९२६ के हैदराबाद के निजाम को लिखे गये पत्र में उन्होंने जोरदार शब्दों में कहा कि भारत में ब्रिटिश राजमुकुट की प्रभुसत्ता सर्वश्रेष्ठ है और किसी भी देशी राज्य का शासक समानता से ब्रिटिश सरकार से वार्तालाप *नहीं कर सकता।* उसने कहा कि *देशी शासकों की आन्तरिक और बाहरी सुरक्षा ब्रिटिश सरकार पर निर्भर है।* जब कभी साम्राज्य या साधारण जनता के हितों का प्रश्न हो तो सार्वभौम शक्ति उचित कदम उठा सकती है और हस्तक्षेप कर सकती है क्योंकि अन्तिम उत्तरदायित्व उसी का है।[2] सार्वभौम शक्ति के प्रश्न पर पुनः

---

१. स्पीचेज एण्ड डाक्यूमेंट्स ऑन दी इंडियन कान्स्टीट्यूशन, भाग २, पृष्ठ ७७४।
२. वही, पृष्ठ ७११–७१२।

विचार करने के लिये एक भारतीय देशी राज्य समिति स्थापित की गई। संयुक्त प्रान्त के भूतपूर्व राज्यपाल सर हारकोर्ट बटलर इस समिति के अध्यक्ष चुने गये। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट १९२९ में दी। इस रिपोर्ट में देशी राज्यों के सार्वभौम शक्ति सम्बन्धी विचारों को अस्वीकार कर दिया गया। इस समिति ने कहा कि देशी राज्यों का सार्वभौम शक्ति से सम्बन्ध केवल साझेदारी ही नहीं है। परन्तु यह इतिहास, सिद्धांत, नीति, वर्तमान घटना और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होता रहता है।[1] रिपोर्ट में आगे चलकर कहा गया, कि परिवर्तनशील युग में स्थितियाँ बदलती रहती हैं और साम्राज्य की आवश्यकतायें नवीन परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देती हैं। इसलिये सार्वभौम शक्ति ही सर्वश्रेष्ठ होनी चाहिये। देशी राज्यों की जनता को शासन के कार्य में सम्मिलित करने के विषय पर बटलर समिति ने कहा कि सरकार सुझाव दे सकती है परन्तु इस आधार पर शासक को गद्दी से नहीं उतार सकती। रिपोर्ट में यह स्पष्ट कर दिया गया कि ब्रिटिश सरकार देशी राज्यों को बिना उनकी अनुमति के किसी ऐसी नई ब्रिटिश भारत की सरकार को नहीं सौंप सकती जो एक भारतीय विधान मण्डल को उत्तरदायी हो।[2]

**देशी राज्य और १९३५ की संघ योजना**—देशी शासकों ने बटलर समिति की रिपोर्ट से अप्रसन्नता प्रगट की। लन्दन में १९३० के गोलमेज सम्मेलन में देशी राज्यों ने विकासवादी सिद्धान्तों का बीजारोपण किया। उन्होंने कहा कि वे देश के राजनैतिक विकास को नहीं रोकना चाहते। आरम्भ में उन्होंने संघीय विचार का स्वागत किया परन्तु जब ब्यौरेवार संघ योजना पर वाद-विवाद हुआ तो वे पीछे हटने लगे। जब १९३५ का अधिनियम पास हो गया तो बहुत से शासक यह सोचने लगे कि संघ में सम्मिलित होने से उनकी शक्ति कम हो जायेगी। नवानगर के जाम साहब के १९४० के भाषण से यह स्पष्ट है कि देशी शासक संघीय उपबन्धों से प्रसन्न नहीं थे।[3] हम पहले ही लिख चुके हैं कि बहुत से कारणोंवश दूसरे महायुद्ध के प्रारम्भ होते समय १९३५ के अधिनियम की संघ योजना को स्थगित कर दिया गया। १९३५ के अधिनियम में देशी राज्यों के सम्बन्ध में एक छोटा सा परिवर्तन कर दिया गया। अब तक महाराज्यपाल ही देशी रियासतों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखते थे। इस अधिनियम के अन्तर्गत देशी राज्यों का सम्बन्ध ब्रिटिश सम्राट से प्रत्यक्ष कर दिया गया। इन सम्बन्धों को स्थापित रखने के लिये ब्रिटिश सम्राट के द्वारा एक विशेषाधिकारी की नियुक्ति की गई जिसे सम्राट का प्रतिनिधि (His Majesty's Representative) कहा जाता था। सम्राट को यह अधिकार था कि वे एक ही व्यक्ति को महाराज्यपाल और अपना प्रतिनिधि नियुक्त कर सकते थे। ब्रिटिश भारत के

---

१. स्पीचिज़ एण्ड डॉक्यूमेंट्स ऑन दी इंडियन कॉन्सटीट्यूशन, भाग २, पृष्ठ ७१९।

२. वही, भाग १, भूमिका।

३. वही, भाग २, पृष्ठ ७५७।

राजनैतिक नेताओं ने देशी राज्यों की राष्ट्रीय जागृति में प्रत्यक्ष भाग नहीं लिया। कुछ भारतीय नेता जैसे पं० जवाहरलाल नेहरू, डा० पट्टाभि सीतारमैया इत्यादि ने अखिल भारतीय देशी राज्य प्रजा परिषद् की बैठकों में भाग लिया तथा उनका सभापतित्व भी किया। परन्तु अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने प्रत्यक्ष रूप से देशी राज्यों की राजनीति में हस्तक्षेप नहीं किया। कांग्रेसी नेताओं ने देश के हितों को दृष्टि में रखकर ही ऐसी नीति अपनाई। यह सब होते हुए भी यह स्वाभाविक था कि भारतीय जनता देशी राज्यों की जनता की समस्याओं से सहानुभूति रखे। कुछ देशी रियासतों में उत्तरदायी संस्थायें स्थापित कराने के लिये आन्दोलन भी किये गये। परन्तु अधिकतर राज्यों में शासकों की तानाशाही ही चलती रही। कुछ देशी राज्यों, जैसे मैसूर, ट्रावनकोर, बड़ौदा, जयपुर इत्यादि में लोकप्रिय संस्थायें स्थापित की गईं। औंध जैसे छोटे राज्य में ही केवल पूर्ण उत्तरदायी सरकार स्थापित की गई।

**सार्वभौम शक्ति का अन्त**—युद्ध के बीच जब भारतीय संवैधानिक समस्या को सुलझाने के प्रयत्न किये गये तो देशी राज्यों का भी प्रश्न उठा। ब्रिटिश सरकार ने पहले से ही कह रखा था कि शासक अपनी अनुमति से ही किसी भारतीय संघ शासन में सम्मिलित हो सकते हैं। क्रिप्स मिशन के समय देशी शासकों ने यह माँग रखी कि यदि वे भारत की केन्द्रीय सरकार में सम्मिलित न हों तो उन्हें विभिन्न स्वतन्त्र संघ बनाने की सुविधा मिलनी चाहिये। कैबिनेट मिशन योजना के अन्तर्गत बनाई जाने वाली संविधान सभा में देशी शासकों को भी स्थान दिया गया। कैबिनेट मिशन ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि ब्रिटिश भारत में स्वतन्त्र सरकार या सरकारें स्थापित होने पर वे अधिकार जो देशी राज्यों ने सार्वभौम शक्ति को समर्पित कर रखे थे वे उन्हें वापिस लौटा दिये जायेंगे।[1] ये १९४६ की बात है, कैबिनेट मिशन अपने कार्य में विफल रहा। १९४७ के भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम में भी यह बात दोहराई गई। अधिनियम में यह निश्चय हुआ कि १५ अगस्त १९४७ को सार्वभौम शक्ति का अन्त हो जायेगा। सैद्धान्तिक रूप से देशी राज्य अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर सकते थे परन्तु वास्तव में ऐसा करना सम्भव नहीं था। देशी राज्य भारत सरकार से पृथक् नहीं रह सकते थे। देशी राज्यों के समक्ष दो प्रश्न थे, या तो वे स्वतन्त्र हो जायें या भारत व पाकिस्तान में सम्मिलित हो जायें उनको यह सोचने के लिये बहुत थोड़ा समय दिया गया था। इस समस्या का हल करने के लिये भारत के महाराज्यपाल लार्ड माउन्टबेटन और सरदार पटेल ने एक सुझाव रखा। देशी शासकों से अस्थायी समझौतों (Standstill Agreement) पर हस्ताक्षर करने के लिये कहा गया। इन समझौतों के अनुसार देशी राज्यों और भारत सरकार के सम्बन्ध कुछ समय के लिये ज्यों के त्यों बने रहते। इसके बाद देशी राज्य भारत सरकार से नये समझौते कर सकते थे। वे भारत सरकार में सम्मिलित हो सकते थे।

---

१. स्पीचिज एण्ड डोक्यूमेन्ट्स ऑन दी इंडियन कॉन्सटीट्यूशन, भाग २, पृष्ठ ७६१।

कैबिनेट मिशन ने पहले ही यह सुझाव रखा था कि यदि देसी राज्य केन्द्रीय सरकार में सम्मिलित होना चाहें तो वे ३ विषय भारत सरकार को सौंप दें। वे ३ विषय सुरक्षा, विदेशी विषय और यातायात थे। इसलिये देसी राज्यों से कहा गया कि वे इस आधार पर प्रवेश लेख पर हस्ताक्षर कर सकते थे।

**देशी राज्यों का भारत के साथ एकीकरण**—देसी राज्यों के शासकों ने अपनी विभिन्न नीतियाँ अपनाईं। हैदराबाद और ट्रावनकोर ने १५ अगस्त १६४७ को अपने राज्यों को स्वतन्त्र घोषित करने का प्रयत्न किया।[1] सर सी० पी० रामास्वामी अय्यर का कार्य अनुचित था। कुछ देसी राजाओं ने अपने निश्चय को कुछ समय के लिये स्थगित रखा। बड़ौदा के गायकवार सर प्रतापसिंह सबसे प्रथम शासक थे जिन्होंने अभिगमन लेख्य पर हस्ताक्षर किये यद्यपि ग्वालियर के दीवान ने इस आशय की घोषणा सबसे पहले की थी। बीकानेर और पटियाले के शासकों ने तुरन्त ही भारत सरकार में सम्मिलित होना चाहा। जाम साहब ने भी इस कार्य में सहयोग दिया। देसी राज्यों की जनता के दबाव और लार्ड माउन्टबेटन और सरदार पटेल की कार्यशीलता के कारण लगभग सभी देसी राज्यों ने प्रवेश लेख्य और अस्थायी समझौते पर १५ अगस्त १६४७ तक हस्ताक्षर कर दिये। केवल हैदराबाद, काश्मीर और जूनागढ़ ही बचे। कुछ समय बाद ये राज्य भी भारत में सम्मिलित हो गये। हैदराबाद राज्य के विरुद्ध भारत सरकार को सितम्बर १६४८ में सेना भेजनी पड़ी तभी वहाँ के निजाम भारत में सम्मिलित होने को तैयार हुए। देसी राज्यों को भारत में मिलाने का श्रेय विशेषकर सरदार पटेल को ही है। लन्दन के प्रसिद्ध समाचार पत्र 'दी टाइम्स' ने ६ फरवरी १६४६ को ठीक ही कहा था कि सरदार पटेल का कार्य बिस्मार्क के कार्य से भी अधिक महत्वपूर्ण था। पहले तो देसी राज्यों के समूह बना बनाकर उन्हें भारत में मिलाया गया। उनमें प्रजातान्त्रिक संस्थायें स्थापित की गईं और भूतपूर्व शासकों को उन संघों का राजप्रमुख बना दिया गया। अन्त में १६५६ के राज्य पुनर्गठन अधिनियम के अनुसार संघों को समाप्त करके बड़े बड़े राज्य स्थापित कर दिये गये और सब राज्यों के अधिकार समान कर दिये गये। प्रत्येक राज्य का राजनैतिक संगठन एक-सा बना दिया गया और सब राज्यों में एक राज्यपाल की नियुक्ति का उपबन्ध किया गया। केवल मैसूर राज्य के भूतपूर्व शासक को ही मैसूर का राज्यपाल बनाया गया।

— • —

[1] वी० पी० मेनन: दी स्टोरी ऑफ दी इंटिग्रेशन ऑफ दी इण्डियन स्टेट्स, पृष्ठ ११४, ११६।

अध्याय १७

# वित्तीय अवक्रमण

## (Financial Devolution)

**केन्द्रीयकरण के परिणाम**—प्रारम्भ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कार्यकाल में भारतीय प्रान्तों को वित्त विषयों में अधिक स्वतन्त्रता थी। परन्तु १८३३ के चार्टर एक्ट के द्वारा वित्त विषयों का अधिक रूप में केन्द्रीयकरण कर दिया गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत महाराज्यपाल की अनुमति के बिना प्रान्तीय सरकार न तो किसी को पद या नया वेतन दे सकती थी न किसी को भत्ता दे सकती थी।[1] सब कार्य केन्द्रीय सरकार की अनुमति से ही किये जाते थे। १८५३ और १८५८ के अधिनियमों ने इस स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं किया। राजस्व के साधन, कर की दर, कर को इकट्ठा करने के ढंग और व्यय के लिये अधिकार सब केन्द्रीय सरकार के हाथ में थे। प्रान्तों को कर वसूल करने में कोई रुचि नहीं थी। प्रान्तीय सरकारें संघ शासन की तरह इकाइयाँ न होकर केन्द्रीय सरकार के अभिकर्त्ता की भाँति कार्य कर रही थीं। १८५८ के अधिनियम के अन्तर्गत राजस्व के सब साधन महाराज्यपाल की परिषद् में निहित थे और प्रान्तीय सरकारें अपनी इच्छानुसार कुछ भी खर्च नहीं कर सकती थीं। प्रान्तीय सरकारें केन्द्रीय सरकार पर निर्भर थीं। सर जॉन स्ट्रैची ने लिखा है, "ब्रिटिश भारत के सब प्रान्तों का राजस्व एक कोष के समान था। इस कोष में से व्यय महाराज्यपाल की परिषद् की अनुमति से ही होता था। प्रान्तीय सरकारें नये खर्चे की अनुमति नहीं दे सकती थीं। वे केन्द्रीय सरकार की अनुमति और जानकारी के बिना कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकती थीं जो लाखों मनुष्यों के हितों से सम्बन्धित हों। प्रान्तीय सरकारें शासन की पद्धति में ऐसे परिवर्तन कर सकती थीं जिनके परिणाम गम्भीर हो सकते थे; वे भूमि राजस्व के लगाने के ढंग में परिवर्तन कर सकती थीं परन्तु वे ऐसा कोई छोटा या बड़ा सुधार नहीं कर सकती थीं जिसमें कुछ रुपया खर्च हो। यदि दो स्थानीय बाजारों के बीच एक सड़क बनाने के लिए २० पौंड की आवश्यकता हो या एक ऐसी घुड़साल को बनाने की आवश्यकता हो जो गिर गया हो या किसी निम्न श्रेणी के मजदूर को १० शिलिंग माहवार पर नौकर रखना हो तो इन सब कार्यों के लिये भारत सरकार की अनुमति आवश्यक थी।" इन सब कारणों से प्रान्तीय सरकारों में न तो खर्च कम करने के लिये रुचि थी और न राजस्व को एकत्रित करने की ओर ध्यान था। प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकारों में छोटे-छोटे विषयों में झगड़ा होता था।

---

१. आर० आर० सेठी : दी लास्ट फेज ऑफ ब्रिटिश सोवरेन्टी इन इण्डिया पृष्ठ ५५।

केन्द्र और प्रान्तीय सरकारों के बीच इस प्रकार के सम्बन्ध कुछ समय तक ठीक प्रकार कार्य करते रहे परन्तु १८५७ के विद्रोह के बाद स्थिति में परिवर्तन हो गया। रेल व तारों के कारण यातायात के साधनों में सुधार हो गया। केन्द्रीय सरकार के कार्यों में कुशलता होने के कारण प्रान्तीय सरकारों पर उसका नियन्त्रण दृढ़ हो गया। उसके फलस्वरूप प्रान्तीय सरकारें केन्द्रीय सरकार की मशीन के पुर्जे की भाँति हो गयी। इस समय केन्द्रीय सरकार ने अनुभव किया कि प्रान्तीय सरकारों पर इस प्रकार का नियन्त्रण न तो उचित है और न सम्भव है। विद्रोह के बाद केन्द्रीय सरकार की वित्त-व्यवस्था खराब हो गई और उस पर ४,२०,००,००० पौंड का कर्जा और अधिक हो गया। प्रत्येक वर्ष घाटा रहने लगा। केन्द्रीय सरकार चाहती थी कि आय बढ़े और व्यय कम हो परन्तु प्रान्तीय सरकारें केन्द्रीय सरकार को तो सहायता नहीं देती थी। प्रत्येक प्रान्तीय सरकार अपने लिये अधिक से अधिक रुपये की माँग करती थी और केन्द्रीय सरकार को यह नहीं मालूम था कि भिन्न-भिन्न प्रान्तों में कितना खर्चा होना चाहिये। जो प्रान्त अधिक चिल्लाता था उसी को अधिक सहायता मिलती थी। इस कारण प्रान्तों में अधिक रुपया खर्च करने और रुपये को व्यर्थ करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई। यदि कोई प्रान्त कम खर्च करता था तो उसे कोई लाभ नहीं होता था। यदि वह किसी वर्ष कम व्यय करे तो अगले वर्ष उसे कम रकम मिलती थी। केन्द्रीय सरकार प्रान्तों को जो वित्तीय सहायता देती थी वह उनके राजस्व इकट्ठा करने के आधार पर नहीं मिलती थी। इस कारण प्रान्तीय सरकारें अधिक राजस्व इकट्ठा करने में रुचि नहीं लेती थीं। इन सब त्रुटियों को दूर करने के लिए यह आवश्यक समझा गया कि प्रान्तों को वित्त उत्तरदायित्व सौंपा जाना चाहिये।[1]

**मेयो और लिटन की योजना**—*वित्तीय विकेन्द्रीकरण की ओर सबसे प्रथम* कदम लार्ड मेयो की सरकार ने १८७० में उठाया। लार्ड मेयो की सरकार ने प्रान्तीय सरकारों को निम्नलिखित विभाग सौंप दिये—पुलिस, जेल, चिकित्सा-सेवा, रजिस्ट्रेशन, शिक्षा, सड़क, इमारतें इत्यादि। इन विभागों की देखभाल के लिए केन्द्रीय सरकार प्रान्तों को एक निश्चित रकम देती थी। इन विभागों की आय भी प्रान्तीय सरकारों को ही मिलती थी। प्रान्तीय सरकार अपनी इच्छानुसार इस आय को विभिन्न सेवा के लिए व्यय कर सकती थी। प्रान्तीय सरकारों को यह भी अधिकार था कि वे किसी मनुष्य को २५० रु० महावार तक की नौकरी पर रख सकें। लार्ड मेयो के इस सुधार के कारण इन सेवाओं के खर्च में कुछ कमी हुई और केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारों में अच्छे सम्बन्ध स्थापित हो गये। परन्तु प्रान्तों में राजस्व को बढ़ाने की रुचि पैदा नहीं हुई। इस कमी को पूरा करने के लिए लार्ड लिटन की सरकार ने १८७७ में एक और कदम उठाया। उसने बाकी प्रान्तीय सेवाओं के

१. के० बी० पुनिया : दी कॉन्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृष्ठ ९०-९१।

व्यय का नियन्त्रण भी प्रान्तों को सौंप दिया। बाकी सेवायें भूमि, राजस्व, उत्पादन शुल्क स्टैम्प, साधारण प्रशासन, विधि न्याय इत्यादि। केन्द्रीय सरकार ने निश्चित अनुदान में वृद्धि करने के बजाय प्रान्तीय सरकारों को अतिरिक्त खर्चों की पूर्ति के लिए राजस्व की कुछ निश्चित मदें सौंप दीं। ये मदें उत्पादन शुल्क, स्टैम्पस और लाइसेन्स कर थे।

**लार्ड रिपन की योजना**—विकेन्द्रीकरण की ओर तीसरा कदम लार्ड रिपन की सरकार ने १८८२ में उठाया।[1] लार्ड रिपन की सरकार ने प्रान्तों को दिये जाने वाले निश्चित अनुदान को समाप्त कर दिया और बँटवारे की एक नई पद्धति अपनाई। राजस्व के कुछ मद केन्द्र को सौंप दिये गये। ये मद बाह्य शुल्क, नमक, सिक्के, डाक और तार व रेल इत्यादि थे। सार्वजनिक कार्य के विभाग प्रान्तों को सौंप दिये गये और बाकी विभाग जैसे स्टैम्पस अनुदान शुल्क, आय कर, वन रजिस्ट्रेशन, सिंचाई और भूमि राजस्व एक निश्चित मात्रा में केन्द्र और प्रान्तों में बाँट दिये गये। ये मात्रायें प्रत्येक प्रान्त के लिये भिन्न-भिन्न थीं। इस प्रकार भी वित्त व्यवस्था (Financial Settlement) पाँच वर्ष के लिए की जाती थी और हर पाँचवें साल इसमें संशोधन किया जाता था। इस प्रकार की व्यवस्था १८८७, १८९२ और १८९७ में की गई। इन व्यवस्थाओं के कारण पिछले ३० वर्षों के मुकाबले में अब हालत सुधर गई, परन्तु फिर भी यह असन्तोषजनक थी। १९००-१९०१ में केन्द्रीय सरकार की साढ़े सात करोड़ पौंड की आय में से प्रान्तों को खर्च करने के लिए केवल १ करोड़ ८० लाख पौंड ही मिले। इस रकम में से ही उन्हें भूमि राजस्व इकट्ठा करने, न्याय, जेल, पुलिस, शिक्षा, चिकित्सा, सड़क इत्यादि पर खर्च करना था। वित्त व्यवस्था में संशोधन करते समय जो रकम बचती थी वह भारत सरकार स्वयं ले लेती थी। इस कारण से प्रान्तों में कम खर्च करने की प्रवृत्ति समाप्त हो चुकी थी। प्रान्तीय सरकारें जानती थीं कि यदि वे बचत करेंगे तो उनकी बचत को भारत सरकार ले लेगी। यदि उन्होंने कम खर्च किया तो अगली व्यवस्था के लिये उन्हें कम रकम मिलेगी। इस कारण प्रान्तीय सरकारें बिना सोचे समझे खर्च करती थीं।[2] १९०४ में लार्ड कर्जन की सरकार ने इन व्यवस्थाओं को अर्ध स्थायी बना दिया। विशेष कारणों के आधार पर ही इनमें परिवर्तन हो सकता था। इस समय केन्द्र सरकार को काफी बचत हुई। इसलिये इसने काफी रकम प्रान्तीय सरकारों को पुलिस, कृषि, शिक्षा, स्थानीय स्वशासन इत्यादि को सुधारने के लिये विशेष अनुदान के रूप में दे दी। १९१२ में लार्ड हार्डिंग की सरकार ने इन वित्तीय व्यवस्थाओं को स्थायी बना दिया। इनमें कुछ और सुधार भी किये गए। अकाल सहायता का बोझ प्रान्तों पर पड़ता था परन्तु केन्द्र सरकार ने विशेष परिस्थिति में

1. के० वी पुन्निया : दी कान्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृष्ठ ९२।

2. डी० डी० मुन्ने : दी ग्रोथ ऑफ इण्डियन कान्स्टीट्यूशन एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन, पृष्ठ २७१।

प्रान्तों को सहायता देना स्वीकार कर दिया। प्रान्तों को विशेष कार्यों के लिये भी अनुदान दिये जाते थे। कुछ छोटे-छोटे हेर-फेर करके प्रान्तों को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया गया। सब प्रान्तों में वन आय और व्यय प्रान्तों पर छोड़ दिया गया। बम्बई में उत्पादन शुल्क को पूर्णतया प्रान्तीय बना दिया गया। मध्य प्रान्त और संयुक्त प्रान्त में ¾ उत्पादन शुल्क ही प्रान्तीय बनाया गया। भूमि राजस्व पंजाब में आधा और बर्मा में ¾ प्रान्तीय बना दिया गया। इन सुधारों के होते हुए भी प्रान्तों पर कुछ प्रतिबन्ध जारी रहे। प्रान्तों को घाटे का बजट बनाने का अधिकार नहीं था। प्रान्तों को भारत सरकार के पास न्यूनतम रोकाधिक्य (Cash Balance) रखना ही पड़ता था। प्रान्तों को कर लगाने और ऋण लेने का अधिकार नहीं था।[1]

**१९१९ के अधिनियम में वित्त व्यवस्था**—विकेन्द्रीकरण आयोग ने भी केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के वित्तीय सम्बन्धों पर विचार किया। इसने सिफारिश की कि महाराज्यपाल को प्रान्तों के दिये गये राजस्वों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए और रुपया वितरण करते समय प्रान्तीय आवश्यकताओं का ध्यान रखना चाहिये। मोन्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट ने भी इस विषय पर विचार किया। इसने सिफारिश की कि प्रान्तों को स्वतन्त्र राजस्व के साधन मिलने चाहियें और प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकारों के राजस्वों के साधन पृथक्-पृथक् कर देने चाहियें। इस प्रकार ही उत्तरदायी सरकार और लोकप्रिय सरकार में सामंजस्य हो सकता है। १९१९ के अधिनियम के अन्तर्गत राजस्व के 'विभाजित मदों' की प्रथा को समाप्त कर दिया गया।[2] १९१९ के अधिनियम के अन्तर्गत कुछ विषय केन्द्रीय सरकार को दिये गये। इनकी संख्या ४७ थी। इनमें मुख्य सुरक्षा, विदेशी विषय, रेल, डाक, तार बहिशुल्क, आय कर इत्यादि थे। प्रान्तों को ५१ विषय सौंपे गये जिनमें मुख्य शिक्षा, स्थानीय स्वशासन, स्वास्थ्य, सिंचाई, कृषि, पुलिस, न्याय उद्योग आदि थे। केन्द्र और प्रान्तीय सरकारों के वित्त सम्बन्धों पर विचार करने के लिए लार्ड मैस्टन की अध्यक्षता में एक विशेष समिति स्थापित की गई। इस समिति ने भूमि राजस्व, उत्पादन शुल्क सिंचाई और स्टैम्पस को प्रान्तीय बनाने की सिफारिश की। उसने कहा कि आयकर केन्द्रीय सरकार को मिलना चाहिये। इस प्रकार के निर्णय से केन्द्रीय सरकार को अवश्य ही घाटा होता। इसलिए मैस्टन निर्णय (Meston Award) के अनुसार प्रान्तों की ओर से केन्द्रीय सरकार को अनुदान की व्यवस्था की गई। मैस्टन समिति ने सिफारिश की कि कुछ समय बाद इन अनुदानों का अन्त हो जाना चाहिये। मैस्टन समिति को एक कठिन समस्या हल करनी थी, न तो वह प्रान्तों को खुश कर सकती

१. वी० जी० खरे : दी ग्रोथ ऑफ इण्डियन कॉन्सटीट्यूशन एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन पृष्ठ २२२।

२. वी० आर० मिश्रा : इकोनोमिक आसपेक्ट्स ऑफ दी इण्डियन कॉन्सटीट्यूशन पृष्ठ ४।

थी, न केन्द्रीय सरकार को। प्रान्तों ने इन अनुदानों के विरुद्ध आवाज उठाई और केन्द्रीय विधान-मण्डल में अपने विचारों को व्यक्त किया। कृषि प्रधान प्रान्तों जैसे मद्रास और संयुक्त प्रान्त ने शिकायत की कि वे दूसरे प्रान्तों से अधिक दे रहे थे। बम्बई और बंगाल ने आयकर न मिलने पर रोष प्रगट किया। बंगाल को ३ वर्ष के लिये विशेष रूप से कुछ छूट मिल गई। पहले ६ सालों तक यह वार्षिक अनुदान प्रतिवर्ष प्रान्तों को चुकाना ही पड़ा। इस कारण विकास योजनाओं के लिए प्रांतों के पास धन की कमी रही। वे शिक्षा, सफाई और स्थानीय स्वशासन पर आवश्यक मद खर्च नहीं कर सके। सुधारों के अन्तर्गत बहुत-सी नई योजनाओं को कार्यान्वित करने का विचार स्थगित करना पड़ा। 'केसरी पुत्र' का कथन है कि मेस्टन निर्णय ने 'बच्चे के पैदा होने से पहले ही उसकी हत्या कर दी।' प्रान्तों की इन शिकायतों के कारण भारत सरकार के वित्त सदस्य सर बेसिल ब्लैकिट ने १६२८ और १६२६ के बजट में प्रान्तों के अंशदानों की व्यवस्था नहीं की। इस तरह उनका अन्त कर दिया गया। १६१६ के सुधारों के अधीन प्रान्तीय सरकारों को बजट बनाने में लगभग पूरी स्वतन्त्रता मिल गई। कर लगाने और ऋण लेने की सुविधा मिल गई। प्रान्तीय सरकार केन्द्र से सिंचाई आदि के खर्च के लिये रुपया ले सकती थी। अकाल सहायता के लिये भी एक नई व्यवस्था कर दी गई।

**१६३५ के अधिनियम में वित्त-व्यवस्था**—१६१६ के अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तों और केन्द्रीय सरकार के बीच वित्त सम्बन्धों में कुछ सुधार हुआ परन्तु फिर भी प्रान्तीय सरकारों के मार्ग में कुछ कठिनाइयाँ थीं। उनको कर लगाने और ऋण लेने की पूरी स्वतन्त्रता नहीं थी। इस अधिनियम के अन्तर्गत धीरे-धीरे वित्त की एक प्रान्तीय पद्धति की स्थापना होने लगी। परन्तु इसके नियन्त्रण के लिये कभी-कभी केन्द्रीय सरकार की देख-रेख की आवश्यकता पड़ती थी। प्रान्तीय अंशदानों के अन्त होने पर उनकी स्थिति में कुछ सुधार हुआ। परन्तु फिर भी प्रान्तों को कुछ घाटा ही रहता था। पंजाब के अलावा कोई प्रान्त सन्तुलित बजट पेश नहीं कर सकता था। डा० बी० आर० मिश्रा लिखते हैं, "१६१६ के अधिनियम द्वारा पुराना युग समाप्त होता है और नया युग आरम्भ होता है। केन्द्रीय सरकार और प्रान्तों के वित्तीय विभाजन के आधार ने प्रान्तीय विषयों में केन्द्रीय सरकार के वित्त नियन्त्रण में मूल परिवर्तन कर दिया। परन्तु वास्तव में प्रान्तों को राष्ट्रीय निर्माण के विकास के लिए वित्त नीति निर्धारित करने की स्वतंत्रता नहीं थी।" १६३५ के अधिनियम के अन्तर्गत इस स्थिति में काफी परिवर्तन किया गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तों में प्रान्तीय स्वायत्त शासन स्थापित कर दिया गया और वित्त सम्बन्धी विषयों में प्रान्तों को अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई। मॉटेग्यू चेम्सफोर्ड सुधारों के मुकाबले में प्रान्तों को अब राजस्व के बहुत से ऐसे साधन मिल गये जो अधिक लचीले थे। यह विश्वास किया जाता था कि उत्पादन शुल्क के कारण उन्हें अधिक रकम मिलेगी। परन्तु राजस्व के कुछ साधन ऐसे थे जिनकी आय निश्चित थी। भूमि राजस्व इस प्रकार का ही था। इसमें कमी ही हो सकती थी। कृषि आयकर और उत्तराधिकारी कर

के द्वारा अधिक रुपया इकट्ठा करना सम्भव नहीं था। उत्पादन कर ही आय का सबसे बड़ा साधन था। परन्तु नशाबन्दी के प्रचार के कारण इसमें कम आय की आशा थी। स्टैम्प कर से बहुत थोड़ी आय होती थी इस प्रकार प्रान्तों के राजस्व के साधन लचीले नहीं थे। देशी राज्यों को कार्पोरेशन कर का एक भाग ही केन्द्र को देना पड़ता था।

१९३५ की संघ योजना के अन्तर्गत प्रान्तों को राजकोषी स्वायत्तता नहीं दी गई। उन्हें स्वायत्त शासन अवश्य दिया गया परन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि केन्द्र काफी हद तक प्रान्तों के मामलों में हस्तक्षेप कर सकते थे।[1] प्रान्तों को कुछ सुविधायें भी दी गई। ऋण लेने और प्रान्तीय लेखा परीक्षा में कुछ स्वतन्त्रता दे दी गई। संघ सरकार प्रान्तों को ऋण दे सकती थी और प्रान्तों के द्वारा लिये गये ऋणों पर गारण्टी दे सकती थी परन्तु इस पर एक प्रतिबंध था। प्रान्त संघ सरकार की आज्ञा के बिना भारत के बाहर से ऋण नहीं ले सकते थे। और संघ सरकार की अनुमति के बिना ऋण भी नहीं ले सकते थे यदि प्रान्त को दिया गया पहला कर्ज अभी चुकाया न गया हो। १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तीय और केन्द्र सरकारों की बजट अवस्था की जाँच करने के लिए एक समिति नियुक्त करने की व्यवस्था थी। इस समिति के अध्यक्ष सर ओटो नैमियर थे। वे इस समिति के एकमात्र सदस्य थे। उन्होंने बड़ी ईमानदारी और परिश्रम से कार्य किया परन्तु वे किसी प्रान्तीय सरकार को सतुष्ट न कर सके। उन्होंने बहुत से पिछड़े प्रान्तों को सहायता देने की सिफारिश की। सर ओटो नैमियर के सब सुझाव ब्रिटिश सरकार ने मान लिए, संसद ने भी उनकी अनुमति दे दी। भारत सरकार ने १९३६ में एक आदेश द्वारा उनको प्रकाशित कर दिया। नैमियर निश्चय (Niemeyer Award) के अनुसार आय कर की आधी आय प्रान्तों को सौंप दी गई थी परन्तु यह आय कम थी। प्रान्तीय स्वायत्त शासन को सफल बनाने के लिए यह आवश्यक था कि आयकर का ३/४ भाग प्रान्तों को मिलना चाहिए ऐसा न करके प्रान्तों की वित्त-व्यवस्था शोचनीय कर दी गई। सर शाफात अहमद खाँ लिखते हैं : "प्रान्तों को भिक्षुक बना दिया गया है उन्हें दूर दूर भिक्षा माँगनी पड़ेगी। ...... वे दिवालिया अवश्य होंगे।"[2]

**नये संविधान में वित्त व्यवस्था**—नये संविधान के अन्तर्गत प्रान्तों और केन्द्र के वित्त सम्बंध प्रत्यक्ष रूप से बना दिये गए हैं यह संविधान के १२वें भाग में दिये गये है। नये संविधान के अनुच्छेद २८० में एक वित्त आयोग के नियुक्त करने की भी व्यवस्था की गई है। राष्ट्रपति संविधान के प्रारम्भ होने के दो साल के भीतर और प्रत्येक पाँच वर्ष बाद या उससे पहले एक वित्त आयोग नियुक्त करेगा। इस आयोग में एक अध्यक्ष और ४ अन्य सदस्य होंगे। इस आयोग का

१. सर शफात अहमद खाँ : दी इण्डियन फेडरेशन, पृष्ठ १६६।
२. वही पृष्ठ १५६–१६०।

कर्त्तव्य होगा कि वह निम्नलिखित विषयों पर राष्ट्रपति को रिपोर्ट दे:—(१) वे सिद्धान्त क्या हों जो राज्यों के राजस्व या भारत की संचित निधि में सहायक अनुदान देने के लिए प्रयोग में लाये जायें। (२) केन्द्र और राज्य सरकारों में करों का बटवारा किस प्रकार हो तथा करों की आमदनी के कितने कितने भाग केन्द्र व राज्य सरकारों में बाँटे जायें। (३) और कई विषय जो राष्ट्रपति उचित वित्त-व्यवस्था के हित में आयोग के आगे रखना ठीक समझें इत्यादि। राष्ट्रपति आयोग द्वारा प्रत्येक सिफारिश को संसद के दोनों सदनों के आगे रखवायेंगे। इनके साथ हर सिफारिश पर सरकार द्वारा की गई कार्यवाही का ब्यौरा भी रखा जायेगा।

नये संविधान में केन्द्रीय सरकार और राज्यों के बीच राजस्व का वितरण १९३५ के अधिनियम के आधार पर किया गया है। राज्यों के राजस्व के २० साधन रखे गये हैं। इनमें कुछ इस प्रकार हैं:— भूमि राजस्व, कृषि आय कर, भूमिकर, खनिज पदार्थों पर कर, बिजली की खपत और बिक्री कर, चुंगी कर, पशु कर इत्यादि। इन करों को राज्य ही लगायेंगे और वे ही उन्हें इकट्ठा करेंगे। कुछ कर ऐसे रखे गये जिन्हें केन्द्रीय सरकार लगाती और इकट्ठा करती है, परन्तु वे राज्यों में बाट दिये जाते हैं। इस प्रकार के कर ६ हैं:—इनमें से दो कर रेल के किराए पर और समाचार पत्रों की बिक्री पर हैं। कुछ शुल्क ऐसे हैं जिन्हें केन्द्र सरकार लगाती है परन्तु उन्हें राज्य सरकार इकट्ठा और व्यय करती है। कुछ कर ऐसे हैं जिन्हें केन्द्र सरकार लगाती और इकट्ठा करती है परन्तु उनकी निधि केन्द्र और राज्यों में बांट दी जाती है। इनमें से आय कर एक है, संघ की सूची में राजस्व की २० मुख्य मदें दी हुई हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—रेल, तार व डाक, भारत का सार्वजनिक ऋण, सिक्के, बाह्य ऋण, रिजर्व बैंक आफ इण्डिया, पोस्ट आफिस सेविंग्स बैंक, लाटरी, कृषि आय के अलावा अन्य आय पर कर, बहिशुल्क, तम्बाकू, कर इत्यादि। आय कर के वितरण को संसद निश्चित करेगी। इस कार्य को करने के लिए राष्ट्रपति एक वित्त आयोग नियत करेंगे और इसकी सिफारिशों पर विचार करने के बाद ही राष्ट्रपति यह आदेश देंगे कि आय कर राज्यों में किस प्रकार बाँटा जाय। १९३५ के अधिनियम के मुकाबले में राज्यों की स्थिति इस विषय में अधिक कमजोर रखी गयी है। राज्यों को आय-कर के निश्चित प्रतिशत मिलने का संवैधानिक अधिकार नहीं दिया है।[1] नये संविधान में संसद को यह अधिकार दिया गया है कि वह प्रतिवर्ष भारत की संचित निधि में से सहायक अनुदान उन राज्यों को दे जो पार्लियामेंट के विचार में सहायता के योग्य हैं। ऐसी सहायता प्रत्येक राज्य के लिए विभिन्न हो सकती है।

—: ० :—

---

१. बी० आर० मिश्रा: इकोनॉमिक आस्पेक्ट्स आफ दी इंडियन कांसटीट्यूशन पृष्ठ २०।

२. वही पृष्ठ २८।

अध्याय १८

# महाराज्यपाल और उसकी परिषद्

महाराज्यपाल का पद—महाराज्यपाल का पद १७७३ के विनियामक अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित हुआ था। १७८४ के अधिनियम और १७९३ के चार्टर एक्ट अधिनियम ने उसके पद की शक्ति और बढ़ा दी। १८३३ के चार्टर अधिनियम के अनुसार वह भारत का महाराज्यपाल बन गया। सबसे पहले महाराज्यपाल वारेन हेस्टिंग्ज थे। वे १७७४ से १७८५ तक महाराज्यपाल रहे। पहले पद का नाम बंगाल के महाराज्यपाल था और बाद में भारत का महाराज्यपाल हो गया। १८५८ में लार्ड कैनिंग के समय में इस पद के नाम में 'वाइसराय' और जोड़ दिया गया। 'वाइसराय' शब्द कानून या अधिनियम में नहीं लिखा गया था परन्तु व्यवहारिक रूप में इस शब्द का प्रयोग होने लगा। सबसे प्रथम बार महारानी विक्टोरिया ने नवम्बर १८५८ की अपनी घोषणा में इस शब्द का प्रयोग किया। १७७४ से लेकर १९४७ तक ३२ महाराज्यपाल इस पद पर रहे। इनमें ६ स्काटलैंड के रहने वाले थे, ६ आयरलैंड के और २० इंगलैंड के रहने वाले थे। २० महाराज्यपालों ने ईटन और हैरो में शिक्षा प्राप्त की थी। १४ ने विश्व विख्यात ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में शिक्षा पाई थी। ४ कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के छात्र थे। २ पिट के निकट के सम्बन्धी थे और दो कैसलरी के सम्बन्धी थे। कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं कि पिता और पुत्र दोनों व बाबा और पोता दोनों महाराज्यपाल के पद पर रहे। तीन ऐसे महाराज्यपाल भी हुए जो ब्रिटिश प्रधान मन्त्री के पुत्र थे और एक उनका भाई था। चार महाराज्यपाल भारतीय असैनिक सेवा में कार्य कर चुके थे। एक महाराज्यपाल अविवाहित थे। उन सबकी औसत उम्र ४६ वर्ष थी। डलहौज़ी नियुक्ति के समय ३५ वर्ष के ही थे। सबसे अधिक समय तक वारेन हेस्टिंग्ज इस पद पर रहे। कार्नवालिस और कर्जन दोबारा नियुक्त हो गए थे। ३ महाराज्यपालों की मृत्यु उनके कार्यकाल में ही हो गई।[1] श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी भारत के अन्तिम महाराज्यपाल थे।

लार्ड मरसी ने महाराज्यपाल पद की बड़ी प्रशंसा की है। ब्रिटिश साम्राज्य और प्रजा की दृष्टि में अपनी महत्ता के कारण ब्रिटिश प्रधान मन्त्री के बाद इनके पद का ही नम्बर आता था। बहुत योग्य मनुष्य ही इस पद पर नियुक्त किये जाते थे। राजनैतिक आधार पर इस पद पर नियुक्ति नहीं होती थी। केवल ३ मनुष्यों ने जॉर्ज कैनिंग, लार्ड मिलनर और सर हेनरी बोमन ने ही इस पद को ग्रहण करने से इकार

१. लार्ड मरसी : दी वाइसरायज एण्ड गवर्नर्स जनरल ऑफ इण्डिया १७७३-१९४७, पृष्ठ १५८।

किया था। उनका पद एक राजा के समान उच्च पद था उनकी शक्तियां एक तानाशाह के समान थी। विश्व की ⅕ जनसंख्या के लिये वह सम्मानित देवता था।[1] सर हरबर्ट एडवर्ड्स ने कहा था कि मुगल सम्राट की तरह वह किसी का उत्तरदायी नहीं था और पोप की तरह वह कोई गलत कार्य नहीं करता था। लार्ड कर्जन ने उसे "ब्रिटिश सम्राट के अधीन सर्वश्रेष्ठ पद" कहा था।[2] हैरल्ड जे० लास्की ने १६४० में लिखा था कि महाराज्यपाल का पद ब्रिटिश राजमुकुट के अधीन मुख्य ६ पदों में से एक है। उसका पद बहुत ही महत्वपूर्ण पदों में से एक है। भारतीय नीति के हर पहलू पर उसका अधिक प्रभाव पड़ता है। बहुत से क्षेत्रों में अन्तिम निश्चय उसी के ऊपर निर्भर रहता है। यदि वह अपनी शक्तियों का पूरी तरह से प्रयोग करने लगे तो उसके पास नेपोलियन जैसी प्रतिभा होनी चाहिये।[1] लार्ड मैकॉले ने कहा था कि महाराज्यपाल में ही उच्चतम शक्ति निहित है और सारा उत्तरदायित्व उस पर ही निर्भर है। लार्ड डलहौजी ने कहा था कि महाराज्यपाल की स्थिति इतनी उच्च है ऐसी विश्व में किसी मन्त्री की नहीं। वह सब बातों का प्रारम्भ, मध्य और अन्त है। श्री रामजे मैकडोनल्ड के अनुसार महाराज्यपाल के तीन मुख्य कार्य हैं। पहले तो वह राजमुकुट का प्रतीक है और उसका प्रतिनिधित्व करता है। दूसरे वह लंदन स्थित ब्रिटिश सरकार का प्रतिनिधित्व करता है, तीसरे वह भारतीय शासन का मुख्य है। पहला कार्य ही उसका उचित कार्य था। राजसत्ता उसी के हाथ में थी। न्याय और दया भी उसी के हाथ में थी। वह अपने सरकारी कार्य के लिए किसी उच्च न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्र के आधीन नहीं था। वह किसी विषय में गिरफ्तार नहीं हो सकता था और न उसे सजा ही सकती थी। न उसके ऊपर राजद्रोह या महाअपराध का मुकद्दमा ही चल सकता था। अपने पद के कारण वह शासक की ऐतिहासिक परम्पराओं और भावनाओं का प्रतीक था। वायसराय की हैसियत में और बाद में राजमुकुट के प्रतिनिधि के रूप में वह देसी राज्यों के शासकों से सम्बन्ध रखता था। ब्रिटिश सरकार और भारत सचिव की आज्ञा को मानना उसका कर्तव्य था। उसका यह भी कर्तव्य था कि ब्रिटिश सरकार और भारत सचिव को महत्वपूर्ण व आवश्यक अविलम्ब कार्यों से सूचित करे। भारत की राजकोष सम्बन्धी नीति, सीमा प्रान्त नीति, विदेशी नीति और संवैधानिक प्रश्नों को कार्यान्वित करे। यदि वह इन सब नीतियों से सहमत न हो तो उसे त्याग पत्र दे देना चाहिये। लार्ड नार्थब्रुक को इसलिए त्याग पत्र देना पड़ा था क्योंकि वह ब्रिटिश सरकार की राजकोष सम्बन्धी और विदेशी नीति को कार्यान्वित नहीं कर पाया था। लार्ड कर्जन को इसलिए त्याग पत्र देना पड़ा क्योंकि भारतीय सेनापति

१. लार्ड मरसी : दी वायसरायज एण्ड गवर्नर्स जनरल ऑफ इंडिया, पृष्ठ १६७।

२. ब्रिटिश गवर्नमेंट इन इण्डिया, भाग २, पृष्ठ ११४।

३. ए० बी० रुद्रा : दी वायसराय एण्ड गवर्नर जनरल ऑफ इण्डिया, प्राक्कथन।

की संवैधानिक स्थिति के विषय मे ब्रिटिश सरकार उनके विचारों से सहमत नही थी।

**महाराज्यपाल की परिषद्**—प्रारम्भ मे ही महाराज्यपाल की सहायता के लिये इसके आधीन एक परिषद् रही है। लार्ड कैनिंग ने लार्ड स्टेनले को यह लिखा कि परिषद् के बजाय उनकी सहायता के लिये कुछ सचिव होने चाहियें। परन्तु ब्रिटिश सरकार ने इस सुझाव को नही माना। यदि यह सुझाव मान लिया जाता तो नौकरशाही की तानाशाही हो जाती।[1] लार्ड कैनिंग अपनी परिषद् की कार्य पद्धति से सन्तुष्ट नही थे। सब कार्य समस्त परिषद् के समक्ष होता था। हर छोटी बात के लिए परिषद् और महाराज्यपाल की अनुमति की आवश्यकता थी। कार्यवश महाराज्यपाल को देश का दौरा करना था। कभी-कभी वह कलकत्ते से १५०० मील दूरी पर चले जाते थे और सब सरकारी लेख उनके पास भेजे जाते थे। महाराज्यपाल के पास भेजने के बाद सरकारी पत्रों को परिषद् के हर सदस्य के पास भेजा जाता था। इसमें काफी देर लगती थी और बहुत सी बार बहुत से काम दुबारा करने पड़ते थे। कभी-कभी परिषद् महाराज्यपाल की अनुपस्थिति में कुछ कार्य करती थी और कुछ कार्य महाराज्यपाल अपने दौरे पर, अपने कैम्प में करते थे। सर जॉन स्ट्रैची के अनुसार एक प्रकार की दोहरी सरकार स्थापित हो गई थी जो अच्छे शासन के लिए हानिकारक थी।[2] कम्पनी के शासन काल मे बहुत से महत्वपूर्ण कार्य हुये। राज्य जीते गये और हड़प किये गए परन्तु सरकार के काम में कोई अड़चन नही आई। सरकारी काम कोई अधिक नहीं था। न रेल थी न तार और न सड़कें ही थी। सरकारी काम ज्यादा पेचीदा नहीं था, परन्तु १८५७ के विद्रोह के बाद स्थिति बदल गई। इसलिये महाराज्यपाल ने यह आवश्यक समझा कि सरकार के काम को सुचारु रूप से चलाने के लिये परिषद् के कार्य में परिवर्तन होना चाहिये। इस उद्देश्य को लेकर लार्ड कैनिंग ने २६ जनवरी १८६१ को भारत सचिव सर चार्ल्स वुड को एक पत्र लिखा जिसमें इस विषय के कुछ सुझाव रखे। उन्होंने लिखा कि हर विषय को परिषद् के प्रत्येक सदस्य के सम्मुख रखना समय की बरबादी थी।[3]

भारत सचिव ने उनके सुझाव को मान लिया और इस आशय का एक उपबंध १८६१ के भारतीय परिषद् अधिनियम में रखा। उन्होंने कहा कि उपबंध का प्रयोग सावधानी से करना चाहिये। यह उपबंध अधिनियम के ८वें अनुच्छेद में था। यह उपबंध इस प्रकार है : "महाराज्यपाल को यह अधिकार है कि वह परिषद् की कार्यवाही को सुचारु रूप से चलाने के लिये समय-समय पर नियम और आदेश बना सकता था।" इस उपबंध के आधार पर लार्ड कैनिंग ने सरकार के विभिन्न

---

१. इण्डियन कॉन्सटीट्यूशनल डोक्यूमेंट्स, भाग २, भूमिका।

२. वही, भाग २, पृष्ठ १६१।

३. वही, पृष्ठ ३१।

विभागों को परिषद् के सदस्यों में बाँट दिया। हर सदस्य को एक-एक विभाग सौंप दिया गया। इस प्रकार भारत में मन्त्रि मण्डल सरकार की नींव पड़ी।[1] शासन के हर भाग के लिये एक सरकारी मुख्य नियुक्त हो गया और वही उसके लिये उत्तरदायी होता था। दैनिक कार्य परिषद् के सम्मुख नहीं आता था। यह कार्य परिषद् के सदस्य के स्वयं उत्तरदायित्व के आधार पर किया जाता था। यदि सदस्य का विचार हो कि अमुक कार्य विशेष है तो वह महाराज्यपाल से स्वयं मिल सकता था या अपने आधीन सचिव द्वारा इस कार्य को करा सकता था। ऐसी अवस्था में महाराज्यपाल उस विषय को स्वयं तय कर सकते थे। या उस विषय को परिषद् की दूसरी बैठक में रख सकते थे। यदि किसी स्थानीय सरकार को बात को तय करना हो, २ या २ से अधिक विभागों में मतभेद हो तो वे विषय महाराज्यपाल के सम्मुख रखे जाते थे। वह यदि चाहता तो इनके विषय में स्वयं आदेश जारी कर देता। यदि उचित समझे तो किसी विषय को समस्त परिषद् के सम्मुख रख देता। सर जॉन स्ट्रैची ने लिखा है कि लार्ड कैनिंग के निश्चय के कारण उसकी परिषद् एक मन्त्री मण्डल में परिणित हो गई, जिसका वह मुख्य होता था। परिषद् के सदस्य लगभग मन्त्रि मण्डल के सदस्यों की तरह थे। प्रत्येक के आधीन एक मुख्य सरकारी विभाग होता था। परिषद् के कार्य के विषय में विशेषीकरण की प्रथा लार्ड कैनिंग के समय से पहले ही स्थापित हो गई थी। १८३४ में कानून के लिये एक विशेषज्ञ सदस्य चुना गया था। इसी प्रकार १८५६ में वित्त के लिये भी एक विशेषज्ञ सदस्य नियुक्त हुआ था परन्तु परिषद् के कार्य के लिये विभाग पद्धति (Portfolio System) की स्थापना का श्रेय लार्ड कैनिंग को है।[2]

१८६१ के अधिनियम के अनुसार महाराज्यपाल की कार्यकारिणी परिषद् में ५ साधारण सदस्य होने थे। इनमें से दो असैनिक सेवक होने थे। १ सैनिक सदस्य होता था, एक वित्त विशेषज्ञ और एक विधिवेत्ता होता था। सेनापति इस परिषद् का आसाधारण सदस्य होता था। महाराज्यपाल की अनुपस्थिति में कुछ समय तक वरिष्ठ सदस्य उसका कार्य करता था। परन्तु बाद में मद्रास और बम्बई के राज्यपालों में से वरिष्ठ राज्यपाल इस कार्य को करता था। १८७४ के भारतीय परिषद् अधिनियम के अनुसार सार्वजनिक कार्य विभाग के लिए एक छठे सदस्य की नियुक्ति की व्यवस्था कर दी गई। १९०४ के भारतीय परिषद् अधिनियम के अनुसार सार्वजनिक कार्य विभाग के सदस्य की नियुक्ति की आवश्यकता हटा दी गई। १८८० से लेकर कर्जन के समय तक छठे सदस्य का स्थान रिक्त रखा गया। लार्ड कर्जन ने वाणिज्य और व्यवसाय के लिए एक नया विभाग खोला और छठे सदस्य की नियुक्ति करके उसे यह विभाग सौंप दिया। लार्ड कर्जन के समय में एक और महत्वपूर्ण

१. इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशनल डॉक्यूमेंट्स, भाग २, पृष्ठ २६।

२. डा० ज० सर्वे: दी मेकिंग आफ इण्डियन कान्स्टीट्यूशन एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन, पृष्ठ १७८।

परिवर्तन हुआ। उसके कार्यकाल से पहले सैनिक विभाग परिषद् के एक साधारण सदस्य के अधीन रहता था। वह सदस्य सेना-सदस्य कहलाता था। वह एक सैनिक होता था परन्तु अपने कार्यकाल में इस कार्य को नहीं करता था। सर जॉर्ज चेसने जैसे प्रसिद्ध सैनिक सेना सदस्य रह चुके थे। सेना-सदस्य मुख्यालय में रहता था और सेना के विषय में महाराज्यपाल का सवैधानिक सलाहकार था। सेनापति पदोन्नति अनुशासन और सेना को इधर उधर भेजने के लिये उत्तरदायी होता था। सेनापति को अपने सुझाव सेना सदस्य के द्वारा भेजने पड़ते थे। १६०२ में जब लार्ड किचनर भारतीय सेनापति होकर आये तो उन्होंने इस व्यवस्था को पसन्द नहीं किया। उन्होंने एक नये सेना विभाग (Army Department) को स्थापित करने का सुझाव रखा। सेनापति इस विभाग के मुख्य होते और समस्त सेना प्रशासन के लिये उत्तरदायी होते। लार्ड कर्जन ने इस सुझाव का विरोध किया, उन्होंने कहा कि ऐसा करने से सब सेनाधिकार सेनापति में निहित हो जायेंगे और इसके फलस्वरूप महाराज्यपाल की शक्ति कम हो जायेगी क्योंकि उसे अब स्वतन्त्रतापूर्वक सेना के विषय में सलाह नहीं मिल सकेगी। ब्रिटिश सरकार ने लार्ड कर्जन की बात को नहीं माना इसलिये लार्ड कर्जन ने १६०५ में अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। यह वाद-विवाद कर्जन किचनर वाद-विवाद कहलाता है। इस वाद-विवाद के फलस्वरूप महाराज्यपाल की कार्यकारिणी परिषद् में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ।[1] भारतीय सेनापति अब सेना के विषयों में महाराज्यपाल के एक मात्र सलाहकार बन गये। सेना सदस्य की जगह सेना प्रदाय सदस्य (Military Supply Member) नियुक्त हो गया। इस सदस्य के अधिकार और स्थिति निम्नस्तर की थी। लार्ड मार्ले ने इस व्यवस्था को न तो शासन के लिये उचित समझा और न आर्थिक दृष्टि से ही ठीक समझा। १६०६ में सेना प्रदाय सदस्य का पद समाप्त कर दिया गया। १६१० में शिक्षा और स्वास्थ्य के लिए एक नया विभाग खोल दिया गया और सेना प्रदाय सदस्य के स्थान पर एक नये सदस्य की नियुक्ति शिक्षा और स्वास्थ्य के लिये हो गई। परिषद् के साधारण सदस्यों में से तीन के लिए यह आवश्यक था कि वे कम से कम दस वर्ष तक भारत में राजमुकुट की सेवा में रह चुके हों। एक सदस्य के लिये यह आवश्यक था कि वह कम से कम ५ वर्ष तक बैरिस्टर रह चुका हो। अन्य दो सदस्यों के लिये किसी कानूनी योग्यता की आवश्यकता नहीं थी। इस उपबन्ध के आधार पर ही भारतवासियों को सदस्यता दी गई।

१६०६ तक परिषद् में यूरोपियन सदस्य ही होते थे। उस वर्ष सबसे प्रथम बार एक भारतवासी श्री सत्येन्द्र प्रसन्न सिंह महाराज्यपाल की परिषद् के सदस्य नियुक्त हुये। लार्ड मिन्टो और लार्ड मॉर्ले ने कहा कि यह नियुक्ति राजनैतिक आधार पर नहीं थी। यह तो १८३३, १८५८ के अधिनियम के अन्तर्गत हुई थी। श्री सिंह के बाद एक मुस्लिम सदस्य की नियुक्ति हुई। १६०६ से लेकर १६१६ तक

1. ए० सी० बनर्जी : इण्डियन कॉन्सटीट्यूशनल डोकूमैंट्स, भाग २, भूमिका।

एक ही भारतीय महाराज्यपाल की परिषद् का सदस्य रहा। बाद में भारतीय सदस्यों की संख्या ३ कर दी गई। भारतीय सदस्यों को साधारण विभाग ही दिये जाते थे। सबसे प्रथम बार सर जोसफ भोर को वाणिज्य और रेलवे विभाग मिला। कानून और शिक्षा स्वास्थ्य और भूमि आदि विभाग भारतीयों को दिये जाते थे। भारतीय सदस्यों का अधिक प्रभाव नहीं था। यदि तीनों भारतीय सदस्य एक मत के हों तो उनका प्रभाव अवश्य पड़ता था। प्रवासी भारतीयों के प्रश्न पर सब भारतवासी एक हो जाते थे।

महाराज्यपाल की परिषद् में पहले ४ सदस्य होते थे। कम्पनी के डायरेक्टरों द्वारा इनकी नियुक्ति होती थी। १८५८ के बाद से ये राजमुकुट द्वारा नियुक्त होने लगे। राजमुकुट इन्हें भारत सचिव की सलाह पर पांच वर्ष के लिये नियुक्त करता था। इस परिषद् के (१) गृह, (२) कानून, (३) वित्त, (४) व्यवसाय और श्रम, (५) रेल वाणिज्य और धार्मिक विभाग, (६) शिक्षा स्वास्थ्य और भूमि विभाग काफी समय तक रहे। १९१९ के अधिनियम के अन्तर्गत इस परिषद् में ३ सदस्य ऐसे होने चाहिए जो दस वर्ष तक भारत में सरकारी नौकरी कर चुके हों और एक सदस्य ऐसा हो जो बैरिस्टर रहा हो या १० वर्ष तक किसी उच्च न्यायालय का वकील रहा हो। महाराज्यपाल परिषद् के एक सदस्य को उपसभापति नियुक्त कर सकता था। गणपूर्ति के लिये महाराज्यपाल और एक साधारण सदस्य की आवश्यकता थी। यदि परिषद् में मतभेद हो तो परिषद् के बहुमत से निश्चय होता था। और यदि दोनों पक्षों के मत बराबर हैं तो महाराज्यपाल को निर्णयात्मक मत देने का अधिकार था। यदि महाराज्यपाल यह समझें कि अमुक कार्य ब्रिटिश भारत या उसके किसी भाग की सुरक्षा शान्ति और हित के लिये आवश्यक है तो वह परिषद् के बहुमत की अवहेलना करके उस कार्य को कर सकते थे। ऐसा वे अपने अधिकार और उत्तरदायित्व से करते थे।[1] विपक्षी दल के दो सदस्यों के कहने पर इस विषय की रिपोर्ट भारत सचिव के पास भेजनी पड़ती थी। इस उपबन्ध के आधार पर महाराज्यपाल वह ही कार्य कर सकते थे जो वे परिषद् की अनुमति से कर सकते थे। यदि महाराज्यपाल देश के दौरे पर चले जायें तो परिषद् उन्हें अपनी ओर से कुछ कार्य करने की स्वीकृति दे सकती थी। प्रारम्भ से परिषद् सामूहिक रूप से कार्य करती थी और सब कार्य बहुमत के आधार पर होते थे। परिषद् ने वारेन हेस्टिंग्ज को बड़ा परेशान किया। १७७३ के विनियामक अधिनियम के अनुसार महाराज्यपाल को यह अधिकार नहीं था कि वे परिषद् के बहुमत के विरुद्ध कुछ कार्य कर सकें। लार्ड कार्नवालिस के कहने पर १७८६ के एक अधिनियम द्वारा यह निश्चय हो गया कि महाराज्यपाल कुछ विशेष अवसरों में अपनी जिम्मेदारी पर परिषद् के बहुमत के विरुद्ध कार्य कर सकता था। इस कारण परिषद् की स्थिति में परिवर्तन हो गया। वह झगड़े वाली निकाय न रहकर एक हां में हां मिलाने वाली

---

१. १९१९ के भारत सरकार अधिनियम का अनुच्छेद ४१ (२)।

सलाहकारी समिति बन गई।[1]

अधिक समय तक परिषद और महाराज्यपाल के सम्बन्ध अच्छे रहे हैं। महाराज्यपाल और परिषद के सम्बन्ध मित्रतापूर्वक रहे हैं।[2] वैलेजली और लारेन्स ने ही परिषद के सदस्यों के विरुद्ध शिकायतें की। ये बड असन्तोषी और जिद्दी थे वे विरोध पसन्द नही करते थे। कर्जन और डलहौजी ने कभी शिकायत नहीं की। वे कुशल और दृढ़ शासक थे। लार्ड रिपन ने लिखा है कि उन्होंने परिषद् के साथ अच्छी तरह कार्य किया। उनके विचार मे परिषद् के सदस्य महाराज्यपाल का समर्थन करने के लिए बड़े इच्छुक रहते थे। केवल दो बार ही परिषद् के बहुमत ने महाराज्यपाल का विरोध किया। एक बार महाराज्यपाल को बहुमत के विरोध करने पर भी कार्य करना पड़ा। १८७६ में लार्ड लिटन ने बाहर से आने वाले सूती कपड़े पर से कर हटा दिया यद्यपि उसकी परिषद का बहुमत यह नही चाहता था। लार्ड रिपन के समय मे भी जब उसने कन्धार से अपनी सेना हटाने का प्रस्ताव परिषद् के सम्मुख रखा तो परिषद के बहुमत ने उनका विरोध किया। परन्तु लार्ड रिपन ने अपनी विशेष शक्ति का प्रयोग नही किया। अन्त में ब्रिटिश मंत्रि मण्डल को इस विषय मे निश्चय करना पड़ा। इसलिये हम कह सकते है कि भारत सरकार एक व्यक्ति की सरकार न होकर एक परिषद की सरकार थी। लार्ड कर्जन ने कहा था : "यह कभी नही भूलना चाहिए कि भारत सरकार एक व्यक्ति द्वारा शासित न होकर एक समिति द्वारा चलाई जाती है।" भारत सरकार पूर्णतया तानाशाही नही थी। उसे भारत सचिव की आज्ञाओं को मानना पड़ता था और परिषद के सदस्य भी अपना कुछ अस्तित्व रखते थे। जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं महाराज्यपाल परिषद् के सहयोग से ही कार्य करते थे। वैलेजली और लार्ड हार्डिंग ने ही परिषद को दूर रखने की कोशिश की और परिषद का अधिक सहयोग नहीं लिया। लार्ड हार्डिंग का कार्य कानून के विरुद्ध था, लार्ड वेलेजली परिषद की बैठकों मे उपस्थित नही रहते थे, इस पर बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल और बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स ने उन्हें डाटा। महाराज्यपालों ने अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग नही किया इसके कई कारण थे। इस अधिकार का होना ही काफी प्रभावशाली था। दूसरे, सदस्य महाराज्यपाल के आधीन थे। उनके बराबर नही थे। तीसरे, महाराज्यपाल के हाथ मे संरक्षणता (Patronage) की शक्ति थी। परिषद के स्थान महाराज्यपाल की सिफारिश पर भरे जाते थे। बहुत से लोग पदवियों के इच्छुक होते थे। सदस्यों को अधिक वेतन मिलता था। सदस्यता के हटने के बाद उनमे कुछ उच्च पद प्राप्त करने की

---

१. बी० बी० मिश्र० : दी ग्रोथ ऑफ इंडियन कॉन्सटीट्यूशन एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन, पृष्ठ १७५।

२. ए० बी० कटा : दी वायसराय एण्ड गवर्नर जनरल ऑफ इण्डिया, पृष्ठ १३२।

३. वही, पृष्ठ १३४-१३७।

अभिलाषा रहती थी। सदस्यता का कार्य काल पाँच वर्ष हो था। उसके बाद मे वे कुछ उच्च पद प्राप्त करना चाहते थे। कुछ राज्यपाल बनना चाहते थे तो कुछ उप-राज्यपाल या भारत सचिव की परिषद के सदस्य। इस प्रकार स्वार्थी लोग महाराज्य-पाल की हाँ मे हाँ मिलाना अपना कर्तव्य समझते थे। विभागो के सचिवों ने भी सदस्यो की स्थिति को कमजोर कर रखा था। सचिव स्वतन्त्रतापूर्वक महाराज्यपाल से मिल सकते थे और इनके द्वारा महाराज्यपाल सब विभागो में हस्तक्षेप कर सकता था। सदस्यगण महाराज्यपाल और सचिवों के बीच दबे रहते थे। सर अमोरे भीग के शब्दों मे, सदस्यगण महाराज्यपाल की छोटी से छोटी इच्छा को भी शाही आज्ञा मानते थे। उसकी अवहेलना करना भय से दूर नहीं था।

सर हेनरी फाउलर, जो कुछ समय तक भारत सचिव भी रहे और बाद मे लार्ड वोल्वर हैम्पटन कहलाये, ने परिषद की विशेषताएँ बताई है।[1] परिषद् के सदस्य कुछ विषयो मे मन्त्रिमंडल के सदस्य की तरह थे। वे सरकारी नीति के बनाने और कार्यान्वित करने मे सक्रिय भाग लेते थे। कुछ विषयो मे वे ऐसे मन्त्रियो की तरह थे जो मन्त्रिमण्डल के सदस्य नहीं होते थे। उनको ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल की नीति अपनानी पड़ती थी। यद्यपि उनके बनाने मे उनका कोई हाथ नही होता था। दूसरे, परिषद के सदस्य भारतीय धारा सभा के उत्तरदायी नहीं होते थे। भारतीय धारा सभा का कोई भी निर्वाचित सदस्य परिषद का सदस्य नहीं बनाया गया। तीसरे, परिषद मे बहुत सी प्रकार के सदस्य रहते थे। यह एक विजातीय निकाय थी। कुछ अंग्रेज होते थे तो कुछ भारतवासी, कुछ असैनिक सेवक तो कुछ गैर सरकारी सदस्य थे। चौथे, परिषद एक अविभाज्य उत्तरदायित्व पर आधारित थी। सब सदस्यो को एक सी नीति ही अपनानी पड़ती थी यदि महाराज्यपाल स्वयं भी कोई कार्य करें तो सदस्यो को उसका समर्थन करना पड़ता था। जैसे सर हेनरी फाउलर ने कहा था सरकार लन्दन मे हो या कलकत्ते मे उसे एक संयुक्त निकाय की तरह कार्य करना चाहिये। अन्त मे, महाराज्यपाल की स्थिति परिषद मे बड़ी प्रभावशाली थी। उसके व्यक्तित्व और चरित्र और उसके साथियो के व्यक्तित्व पर काफी निर्भर रहता था। उसके अर्धशाही पद और शान-शौकत के कारण उसका सम्मान बढ़ा हुआ था। वह भारत मे सम्राट का प्रतिनिधि होता था, वह एक बड़े देश का प्रथम नागरिक होता था।[2] उसकी उचित सामाजिक स्थिति थी। उसका राजनैतिक पद भी उसके साथियो से ऊँचा होता था, वह एक विशेष अर्थ में ब्रिटिश सरकार का प्रतिनिधि था और वास्तव मे भारत सरकार का प्रतीक होता था। शासन की सफलता और विफलता का उत्तरदायी वही था। शासन की कुशलता का श्रेय भी उसे ही मिलता था।

—: o :—

१. ए० बी० रज्ञ : दी कन्ट्रोल एण्ड गवर्नर जनरल आफ इण्डिया, पृष्ठ १२२।

२. वही, पृष्ठ, १२८।

## अध्याय १९

# असैनिक सेवा का विकास

जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी से लेकर भारत सरकार ब्रिटिश राजमुकुट को सौंप दी गई तो बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल और कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स की शक्तियाँ भारत सचिव को दे दी गईं। भारत सचिव का पद १८५८ के अधिनियम के अनुसार स्थापित किया गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत १५ सदस्यों की एक भारतीय परिषद (The Council of India) भी बनाई गई। भारत में प्रसंविदित असैनिक सेवा (Covenanted Civil Service) के लिए नियुक्तियाँ खुली प्रतियोगिता के द्वारा उन नियमों के आधार पर की जाती थी जो भारत सचिव की परिषद् सिविल सर्विस कमीशनर्स की सहायता से बनाती थी। महारानी विक्टोरिया की १ नवम्बर १८५८ की घोषणा में खुली प्रतियोगिता के सिद्धान्त को दृढ़तापूर्वक मान लिया गया। घोषणा में कहा गया . यह हमारी दूसरी इच्छा है कि जहाँ तक हमारी प्रजा का सम्बन्ध है उसे जाति, धर्म आदि भावनाओं से ऊपर उठाकर निष्पक्ष रूप से उसकी शिक्षा, योग्यता, दायित्व सम्पादन सम्बन्धी सामर्थ्य तथा सच्चाई के अनुसार उसे शासन सम्बन्धी विभिन्न पदों तथा नौकरियों में स्थान दिया जाय (It is our further will that so far as may be, our subjects, of whatever race or creed, be freely and impartially admitted to offices in our service, the duties of which they may be qualified, by their education, ability and integrity, duly to discharge)। इस घोषणा के सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के लिए भारत सचिव ने १८६० में अपनी परिषद् के पाँच सदस्यों की एक समिति बनाई जिसने सिफारिश की कि परीक्षा साथ-साथ भारत और इंग्लैंड में होनी चाहिए। भारतीयों के साथ न्याय करने का एक यही उचित उपाय था। परन्तु इस समिति की सिफारिशों को न तो स्वीकार किया गया, न प्रकाशित किया गया।

भारत असैनिक सेवा अधिनियम १८६१ में पास किया गया। इस अधिनियम का मुख्य उद्देश्य कुछ ऐसी नियुक्तियों को वैध घोषित करना था जो १८९३ के चार्टर एक्ट की शर्तों के विरुद्ध भूतकाल में की गई थीं। इस अधिनियम का ध्येय यह भी था कि समस्त उच्च असैनिक नियुक्तियों को भारत में प्रसंविदित असैनिक सेवकों के लिए सुरक्षित रखा जाय। अधिनियम की अनुसूची में इन पदों का उल्लेख था। ये पद विभागों के मन्त्रियों से लेकर उपदण्डाधिकारी तक थे। १८६१ का भारत असैनिक सेवा अधिनियम मद्रास, बम्बई, बंगाल और आगरा में ही पहली बार लागू किया गया था। इन प्रान्तों को विनियम प्रान्त (Regulation Provinces) कहते थे। अन्य प्रान्तों में जो इस प्रकार के नहीं थे और जहाँ दशा खराब थी वहाँ पर सैनिक

अधिकारी ही असैनिक पदों पर खुले आम नियुक्त होते थे। जैसे-जैसे देश सगठित होता गया सैनिक अधिकारियों की जगह भारतीय असैनिक सेवा के सदस्य नियुक्त होते गये। असैनिक सेवा के कार्य के लिए सैनिक अधिकारियों को नियुक्त करने की प्रथा मध्य प्रान्त व अवध में १८७६ में, सिन्ध में १८८५ में, पजाब में १६०३ में और आसाम में १६०७ में बन्द कर दी गई।

जब भारत सरकार राजमुकुट के अधीन हो गई तब से असैनिक सेवा की नामावली में जो परिवर्तन किये गये उनको यहाँ बताना आवश्यक है। इस समय बगाल बम्बई और मद्रास ही तीन प्रान्त थे जिन्हे प्रेसीडेन्सीज कहते थे। जो अन्य क्षेत्र ब्रिटिश राज्य के अन्तर्गत आते गये उन्हें बगाल प्रान्त में मिला दिया गया। तीनों प्रान्तों की असैनिक सेवा के लिये भिन्न-भिन्न निवृत्ति वेतन-निधि थी और तीनों प्रान्तों की असैनिक सेवा के विभिन्न नाम थे। इस प्रकार इन तीनों को बगाल असैनिक सेवा, बम्बई असैनिक सेवा और मद्रास असैनिक सेवा कहते थे। सरकारी और सामूहिक रूप से असैनिक सेवा को भारत की प्रसविदित असैनिक सेवा कहते थे। इसके विपरीत अधीन सेवायें (Subordinate Services) थीं जिनमें मुख्यतः भारतीयों की नियुक्ति होती थी और इन्हें अप्रसविदित असैनिक सेवायें कहते थे। प्रसविदित असैनिक सेवा के सदस्यों को एक सविदा पर हस्ताक्षर करने पड़ते थे जिसमें वे यह वचन देते थे कि वे कभी भी व्यापार नहीं करेंगे और न उपहार लेंगे तथा निवृत्ति वेतन-निधि के लिए योगदान (subscribe) देंगे। बाद में असैनिक सेवा के इस वर्गीकरण को अस्वीकार कर दिया गया। बहुत समय तक भारत सरकार ने असैनिक सेवा के उचित वर्गीकरण की ओर ध्यान नहीं दिया। १६वी शताब्दी के अन्त तक भारत में उच्च सेवाओं के लिए केवल यूरोपियन ही नियुक्त होते थे और ये प्रसविदित असैनिक सेवा के सदस्य होते थे। भारतीय राजनैतिक नेताओं ने इन सेवाओं के भारतीयकरण पर अधिक जोर दिया। इसके दो कारण थे—राजनैतिक और राष्ट्रीय। उनका यह कहना था कि देश के शासन में भारतवासियों का अधिक भाग होना चाहिए। उन्होंने यह भी कहा कि अंग्रेजों को अधिक वेतन देकर असैनिक सेवा में रखा जाता था जिसके कारण भारतीयों को अधिक कर देना पड़ता था। १८७० में भारत सरकार अधिनियम में भारतवासियों को कुछ अधिक सुविधायें दी गईं। योग्य भारतवासियों को असैनिक सेवा में भर्ती करने की व्यवस्था की गई। इस अधिनियम के अनुसार भारतवासी प्रसविदित असैनिक सेवा में पद और स्थान ग्रहण कर सकते थे। परन्तु उनकी नियुक्ति विभिन्न ढग से होती थी।

इस अधिनियम को कार्यान्वित करने के लिए १८७६ तक नियम नहीं बनाए गये। उस वर्ष भारत सरकार ने यह घोषित किया कि इस अधिनियम के अन्तर्गत उन भारतवासियों को नियुक्त किया जायेगा जो अच्छे घरानों और अच्छी सामाजिक स्थिति के होंगे, जो योग्य होंगे और अच्छी शिक्षा प्राप्त किये होंगे। ये वे मनुष्य होंगे जो अप्रसविदित सेवाओं में जाना पसन्द नहीं करेंगे क्योंकि उनके वेतन आदि आकर्षक नहीं होंगे। भारत सरकार ने इस प्रकार के नियम अपने २४ दिसम्बर १८७६ के

प्रस्ताव में घोषित किए इन नियमों के अनुसार महाराज्यपाल की परिषद् को यह अधिकार था कि वह प्रसविदित असैनिक सेवा के निश्चित सदस्यों में ⅙ भारतीयों को नियुक्त कर सकती है। यह आवश्यक नहीं था कि ये भारतवासी इंगलैंड की प्रतियोगिता परीक्षा पास करें। इस प्रकार परिनियत असैनिक सेवा (Statutory Civil Service) स्थापित हुई। यह १० साल तक कार्य करती रही। इस सेवा में ६६ भारतवासियों को नियुक्त किया गया। इस सेवा में प्रथम नियुक्ति कुमार रामेश्वरसिंह की थी जो बाद में दरभंगा के महाराजाधिराज बने। थोड़े समय बाद ही उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। यह नई असैनिक सेवा अपने कार्य में सफल न हो सकी। भारत का शिक्षित वर्ग इस असैनिक सेवा से सन्तुष्ट नहीं हुआ। उन्हें एक यह भी शिकायत थी कि १८७६ में भारतवासियों के लिए भारतीय असैनिक सेवा में भरती होने की आयु २१ से घटाकर १६ कर दी गई। इतनी थोड़ी आयु में प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए अंग्रेजी भाषा का ज्ञान अच्छी तरह से नहीं हो सकता था। अंग्रेजों ने यह कार्य जानबूझ कर किया था ताकि भारतीय असैनिक सेवा में न आ सकें।[1]

**एटकीसन आयोग**—सेवाओं के भारतीयकरण के लिए भारतवासियों ने अधिक जोर दिया। राष्ट्रीय कांग्रेस ने दिसम्बर १८८५ के बम्बई के प्रथम अधिवेशन में यह मांग रखी कि असैनिक सेवा के लिए प्रतियोगिता परीक्षा भारत और ब्रिटेन में एक साथ ही दोनों जगह होनी चाहिए। लार्ड डफरिन की सरकार ने इस पर विचार किया। १८७६ की योजना समाप्त कर दी गई। इसके विपरीत लोक सेवा आयोग की रिपोर्ट के आधार पर एक नई योजना लागू की गई। यह लोक सेवा आयोग पंजाब के उपराज्यपाल सर चार्ल्स एटकीसन (Sir Charles Aitchison) की अध्यक्षता में १८८६-८७ में स्थापित किया गया। इसे एक ऐसी योजना बनानी थी जिससे भारतवासी लोक सेवा में उच्च पद प्राप्त कर सकें। एटकीसन आयोग ने प्रसविदित और अप्रसविदित सेवाओं के लिए सिफारिशें कीं। आयोग ने यह सुझाव दिया कि भारतीय असैनिक सेवा के निश्चित स्थानों में से कुछ नियुक्तियां एक स्थानीय सेवा को हस्तान्तरित कर देनी चाहिए जिसका नाम प्रान्तीय असैनिक सेवा हो। प्रत्येक प्रान्त अपनी प्रान्तीय असैनिक सेवा की भरती स्वयं करे। प्रांतीय असैनिक सेवा से नीचे स्तर की एक आधीन असैनिक सेवा (Subordinate Civil Service) होनी चाहिए। भारतीय असैनिक सेवा और प्रान्तीय असैनिक सेवा का सम्बन्ध बताते हुए आयोग ने यह सिफारिश की कि प्रान्तीय असैनिक सेवा के सदस्यों के वेतन स्वतन्त्र आधार पर निश्चित होना चाहिए। भारतीय असैनिक सेवा के वेतनों से उनका सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। परन्तु जहां तक उन दोनों सेवाओं के स्तर का प्रश्न है आयोग ने यह सिफारिश की कि जहां तक हो सके दोनों सेवाओं के सदस्यों को सामाजिक समानता मिलनी चाहिए। जब दोनों सेवाओं के सदस्य एक से ही पद

१. सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी : ए नेशन इन मेकिंग पृष्ठ ४४

ग्रहण करें तो उनको सरकारी उत्सवों में समान स्थान मिलना चाहिए।

एटकीसन आयोग की सिफारिश पर भारत में असैनिक सेवा को तीन भागों में बांट दिया गया—(१) भारतीय असैनिक सेवा जिसकी भरती इंग्लैंड में ही होती थी, (२) प्रान्तीय असैनिक सेवा, (३) अधीन असैनिक सेवा। प्रान्तीय असैनिक सेवा और अधीन असैनिक सेवा की भर्ती प्रान्तीय सरकारों द्वारा बनाए गए नियमों द्वारा होती थी। इन दोनों सेवाओं में भारतवासी ही रखे जाते थे। अपने नियमों के लिए प्रान्तीय सरकारों को भारत सरकार की अनुमति लेनी पड़ती थी। इन दो सेवाओं में भारतीयों की भर्ती मनोनयन या परीक्षा द्वारा होती थी। असैनिक सेवाओं का यह वर्गीकरण कुछ हेर फेर के साथ अभी तक प्रचलित रहा है। एटकीसन आयोग द्वारा सुझाए गए सुधारों से शिक्षित भारतवासी सन्तुष्ट नहीं हुए। प्रान्तीय असैनिक सेवाओं के सदस्यों का स्तर निम्न था और उनकी सामाजिक स्थिति भी सन्तोषजनक नहीं थी। बाद में कुछ परिवर्तनों ने इस स्थिति को और खराब कर दिया था इस कारण भारतीय जनता विशेषकर दीवानी, शिक्षा और लोक कार्य विभाग के विषय में अधिक असन्तुष्ट थी।[1] जब से भारत में असैनिक सेवा ऊपर लिखे तीन भागों में बांट दी गई तब से प्रसंविदित और अप्रसंविदित सेवाओं का नाम हटा दिया गया। प्रान्तीय असैनिक सेवा के लिए नियुक्ति उन नियमों के आधार पर होती थी जिन्हें प्रान्तीय सरकार भारत सरकार की अनुमति से बनाती थी। कभी-कभी इस सेवा के लिए व्यक्ति मनोनीत कर दिए जाते थे, कभी परीक्षा द्वारा उनकी नियुक्ति होती थी और कभी अधीन असैनिक सेवा से पदोन्नति दे दी जाती थी। प्रान्तीय असैनिक सेवा के सदस्य उन पदों को ग्रहण कर सकते थे जो पद पहले प्रसंविदित सेवा के लिए सुरक्षित थे। ऐसे पदों की सूची १८९२-१८९३ में प्रकाशित की गई। इस सूची में ९३ उच्च नियुक्तियां सम्मिलित थीं। इस सूची में कुछ पद और भी जोड़ दिए गए थे। जिलाधीशों, डिप्टी कमिश्नरों और उच्च जजों के पद उन्हें मिल सकते थे। १९१० में भारत सरकार ने शाही विकेन्द्रीकरण आयोग की रिपोर्ट की सिफारिश पर ऐसे नियम बनाए जिनके अनुसार प्रान्तीय सरकारों को भारतीय सरकार की अनुमति के बिना प्रान्तीय असैनिक सेवा में भर्ती करने के नियम बनाने का अधिकार दे दिया गया। केवल भारत सरकार का साधारण नियन्त्रण रहा। ये नियम प्रान्तीय असैनिक सेवा के उम्मीदवारों की न्यूनतम आयु शिक्षा, चरित्र, स्वास्थ्य और प्रशिक्षण से सम्बन्ध रखते थे। इस प्रकार प्रान्तीय असैनिक सेवा दृढ़तापूर्वक स्थापित कर दी गई। भारत में असैनिक सेवाओं का ऊपर दिया हुआ वर्गीकरण वैज्ञानिक सिद्धान्त पर आधारित नहीं था। यह वर्गीकरण नियुक्ति करने वाले अधिकारियों की विभिन्नता पर आधारित था और इसी कारण इसमें स्थाई रूप से भेदभाव न थे।

इसलिंगटन आयोग—२ जून १८९३ को कॉमन्स सभा ने एक प्रस्ताव द्वारा

१. दी कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया (१९३२), भाग ६, पृष्ठ ३६९।

यह निश्चित किया कि भारतीय प्रशासनिक सेवा की भर्ती के लिए प्रतियोगिता परीक्षा इंगलैंड और भारत दोनों में एक साथ होनी चाहिये परन्तु इस प्रस्ताव पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। इस पर भारतवासियों ने आन्दोलन किया और यह माग प्रस्तुत की कि लोक सेवाओं में भारतीयों को अधिक स्थान मिलने चाहियें। इस विषय को लेकर १७ मार्च १९११ को भारतीय व्यवस्थापिका परिषद् (Imperial Legislative Council) में काफी वाद-विवाद हुआ। इस कारण से लार्ड हार्डिंग की सरकार ने ५ सितम्बर १९१२ को लार्ड इस्लीगटन की अध्यक्षता में लोक सेवाओं पर एक शाही आयोग की नियुक्ति कराई। इस आयोग की रिपोर्ट १९१५ में तैयार कर दी गई परन्तु युद्ध के कारण यह रिपोर्ट १९१७ तक प्रकाशित न हो सकी। प्रशासनिक सेवाओं के वर्गीकरण के विषय में इस आयोग ने सिफारिश की कि ऐसे कार्य को जो कम महत्व का हो और जिसे आधीन अभिकरण के व्यक्ति ठीक प्रकार कर सकते हों उनको उच्च स्तर के व्यक्तियों से कराना रुपये का दुरुपयोग है।[1] ऐसी अवस्थाओं में आयोग ने यह सिफारिश की कि या तो दो प्रशासनिक सेवायें होनी चाहियें या एक सेवा के दो वर्ग होने चाहिये—एक निम्न वर्ग और एक उच्च वर्ग—इसलिए इस आयोग ने सिफारिश की कि आधीन सेवाओं के अलावा भारत सरकार' के अन्तर्गत सेवाओं में दो वर्ग होने चाहियें—प्रथम वर्ग और द्वितीय वर्ग—यही भारत की केन्द्रीय सेवाओं (Central Services) के वर्तमान वर्गीकरण का आधार-भूत है। यद्यपि प्रथम वर्ग और द्वितीय वर्ग नाम १९२६ से प्रचलित हुए। इस्लीगटन आयोग ने बताया कि 'प्रान्तीय सेवा' शब्द को उन मनुष्यों के सम्बन्ध में जो भारत सरकार के नियन्त्रण में हैं और उसके विभागों में प्रत्यक्ष रूप से कार्य कर रहे हैं और वे वही कार्य कर रहे हैं जो भारतीय प्रशासनिक सेवा के सदस्य कर रहे हैं प्रयोग करना भ्रमपूर्वक है। इसलिये आयोग ने यह सिफारिश की कि भारतीय और प्रान्तीय भागों को केवल एक ही सेवा में परिणित कर देना चाहिये।

**भारत सचिव की घोषणा**—इस्लीगटन आयोग की रिपोर्ट पर ध्यानपूर्वक विचार करने से पहले ही स्थिति बदल चुकी थी। २० अगस्त १९१७ को तत्कालीन भारत सचिव ने भारत की राजनैतिक मांग को ध्यान में रखते हुए महाराज्यपाल लार्ड चेम्सफोर्ड से परामर्श करके कामन्स सभा में घोषणा की कि "भारतवासियों को शासन की प्रत्येक शाखा से सम्पर्क में अधिकाधिक लाया जाय और भारत में उत्तरोत्तर उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार की स्थापना की दृष्टि से स्वशासनीय संस्थाओं का क्रमशः विकास किया जाय ताकि भारत ब्रिटिश साम्राज्य का एक अविच्छेद्य अंग बना रहे।"[1] यह एक 'महत्वपूर्ण वाक्य' था जिसके द्वारा ब्रिटिश सरकार इस देश में उत्तरदायी सरकार स्थापित करेगी। इस घोषणा के द्वारा एक युग का अन्त होना है

---

१. इस्लीगटन कमीशन रिपोर्ट ऑन दी पब्लिक सर्विसिज इन इण्डिया (१९१५), पृष्ठ ११।

२. रिपोर्ट ऑन इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशनल रिफार्म्स (१९१८) पृष्ठ १।

और दूसरे युग का प्रारम्भ होता है।[1] नई परिस्थितियों के कारण श्री मोन्टेग्यू और लार्ड चेम्सफोर्ड ने सोचा कि असैनिक सेवाओं का भारतीयकरण इस्लीगटन आयोग के सुझावों से भी अधिक करना है। उनका विश्वास था कि "भारतीयों को अधिक अनुपात में भर्ती करना फौरन प्रारम्भ कर देना चाहिये"।[2] उनकी रिपोर्ट में यह भी सिफारिश की गई कि भारतीय असैनिक सेवा की परीक्षा भारत और ब्रिटेन दोनों में एक साथ होनी चाहिए। १९१९ के भारत सरकार अधिनियम में असैनिक सेवाओं के प्रश्न पर पृथक् रूप से विचार किया गया। इस अधिनियम में भारत सचिव को परिषद् को असैनिक सेवाओं के वर्गीकरण, भरती करने के ढंग, सेवा की शर्तें, वेतन भत्ते अनुशासन, आचरण के विषय में नियम बनाने का अधिकार मिल गया।[3] इस समय तक भारत की असैनिक सेवायें निम्नलिखित वर्गों में बँटी हुई थी—(१) अखिल भारतीय सेवायें (२) केन्द्रीय सेवायें (३) प्रान्तीय सेवायें (४) अधीन सेवायें। अखिल भारतीय सेवाओं की नियुक्ति भारत सचिव द्वारा होती थी। इस सेवा के सदस्य भारत के किसी भाग में भी भेजे जा सकते थे। यदि अखिल भारतीय सेवा के किसी सदस्य को केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत न भेजा जाय तो वे अपना समस्त जीवन प्रान्तों में काट देते थे। अखिल भारतीय सेवाओं के कुछ सदस्य प्रान्तों से लेकर केन्द्रीय सरकार के कार्यों को करने के लिए रखे जाते थे। ये सब सेवायें प्रान्तीय सेवाओं से विभिन्न थी प्रान्तीय सेवाओं को केवल प्रान्तीय कार्यों के लिए ही नियुक्त किया जाता था। इन सेवाओं को प्रान्तीय सेवाओं से विभिन्न रखने के लिए 'अखिल भारतीय सेवा' का नाम दिया गया था।

केन्द्रीय सेवायें केन्द्रीय सरकार के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में थी। केन्द्रीय सेवायें देशी राज्य और सीमा जनजातियों, सरकारी रेलों के प्रशासन, डाक व तार, सीमा शुल्क लेखा परीक्षा, वैज्ञानिक विभाग जैसे भारत सर्वेक्षण, भूविज्ञान सर्वेक्षण, पुरातत्व सम्बन्धी विभाग इत्यादि से सम्बन्धित थी। इन सेवाओं के कुछ अधिकारी भारत सचिव द्वारा नियुक्त होते थे। केन्द्रीय सेवाओं के सदस्यों का अधिक बहुमत भारत सरकार द्वारा नियुक्त किया जाता था और भारत सरकार ही उन पर नियंत्रण रखती थी। प्रान्तीय सेवाओं के अधिकारियों की नियुक्ति न तो भारत सचिव द्वारा और न भारत सरकार द्वारा बल्कि प्रान्तीय सरकारों द्वारा होती थी। प्रत्येक प्रान्तीय सरकार अपने प्रान्त में से ही इन अधिकारियों की नियुक्ति करती थी।[4] भारतीय

---

१. लौकनाशन रिपोर्ट आन दी सुपीरियर सिविल सर्विसेज इन इण्डिया (१९२४) पृष्ठ ८।

२. बी० ऑ० मिश्र : दी ग्रोथ आफ इण्डियन कान्स्टीट्यूशन एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन पृष्ठ ४२०।

३. रिपोर्ट आफ दी इण्डियन स्टेट्यूटरी कमीशन (१९३०) भाग २, पृष्ठ ३८८।

४. रिपोर्ट आफ दी इण्डियन स्टेट्यूटरी कमीशन १९३०, भाग १, पृष्ठ २६५।

असैनिक सेवाओं के पदों में से कुछ पद प्रान्तीय असैनिक सेवाओं के अधिकारियों के लिये सुरक्षित रखे जाते थे। जिलाधीश, जिला न्यायाधीश इत्यादि ऐसे पद थे। केन्द्र और प्रान्तों में आधीन सेवायें थीं। इन सेवाओं में अराजपत्रित (non gazetted) अधिकारी ही नियुक्त होते थे। क्योंकि भारत के वास्तविक प्रशासन का कार्य प्रांतीय सरकारों द्वारा चलता था इसलिए अखिल भारतीय सेवायें ही देश भर में इस कार्य को करती थी। १ फरवरी १९२४ को अखिल भारतीय सेवाओं की स्वीकृत सख्या ४२७६ और वास्तव में यह सख्या ३६७५ थी। भारतीय असैनिक सेवा की स्वीकृत सख्या १३५० और वास्तव में १२६० सख्या थी।

ली आयोग—१९२४ के शाही आयोग ने महत्वपूर्ण सिफारिशें की। यह आयोग फेरहम के ली (Lee of Fareham) की अध्यक्षता में भारत की उच्च असैनिक सेवाओं के सम्बन्ध में नियुक्त हुआ था। उसके सदस्य श्री एन० एम० समर्थ सर रेजीनेल्ड क्रडक, श्री भूपेन्द्रनाथ बसु और प्रो० कूपलेंड थे। इस आयोग की सिफारिशों के अनुसार कुछ अखिल भारतीय सेवाओं को ज्यों का त्यों रखा गया। उनकी नियुक्ति भी भारत सचिव की परिषद् द्वारा ही होती रही। परन्तु अन्य अखिल भारतीय सेवाओं का अन्त कर दिया गया यद्यपि उन सेवाओं के वर्तमान सदस्य अपने पदों पर रह सकते थे। जो अखिल भारतीय सेवायें समाप्त कर दी गई उनके स्थान पर प्रान्तीय सरकारों को प्रान्तीय असैनिक सेवाओं को स्थापित करने का अधिकार मिल गया। जो अखिल भारतीय सेवायें समाप्त नहीं कर दी गई वे शासन के सुरक्षित विभागों से सम्बन्धित थी भारतीय असैनिक सेवा, भारतीय पुलिस सेवा, भारतीय वन सेवा (बम्बई और बर्मा को छोड़कर) और भारतीय इन्जिनियरिंग सेवा का सिंचाई भाग सेवायें समाप्त नहीं की गई। ये सेवायें भारत की सार्वजनिक सुरक्षा और वित्त से सम्बन्धित थी। ली आयोग ने सिफारिश की, कि इन सेवाओं की नियुक्ति भारत सचिव के हाथ में ही रहनी चाहिये और वे ही उन पर नियन्त्रण रखें। ये चार सेवायें ही जो समाप्त नहीं की गई अखिल भारतीय सेवायें रहीं। जो अखिल भारतीय असैनिक सेवायें समाप्त कर दी गई वे प्रान्तों के हस्तान्तरित विभागों से सम्बन्धित थी। बम्बई और बर्मा की वन विभाग सेवायें हस्तान्तरित विभागों से सम्बन्धित थीं। ली आयोग ने सिफारिश की कि इन सेवाओं को अखिल भारतीय सेवायें न रखकर प्रान्तीय मन्त्रियों के अधीन रख लेना चाहिये। ली आयोग ने कहा 'हमारी यह राय है कि स्थानीय सरकारों के लिए भारतीय शिक्षा सेवा, भारतीय कृषि सेवा और भारतीय पशु चिकित्सा सेवा के लिए वर्तमान ढग से भविष्य में भर्ती नहीं की जानी चाहिये। बम्बई व बर्मा की भारतीय वन सेवा और भारतीय इजीनियरिंग सेवा की सड़क और बिल्डिंग शाखा के लिए भी यही व्यवस्था होनी चाहिये। भविष्य में इन सब सेवाओं की नियुक्ति स्थानीय सरकारों द्वारा होनी चाहिए।'[1] द्वैतशासन के स्थापित होने के बाद यह और भी आवश्यक हो गया। ली

१. ली कमीशन रिपोर्ट आन दी सुपीरियर सिविल सर्विस इन इंडिया १९२४, पृष्ठ ८।

आयोग ने भारतीय चिकित्सा सेवा के लिए ऊपर लिखी सिफारिशें नहीं की यद्यपि इन सेवा का क्षेत्र भी प्रान्तीय मन्त्रियों के अन्तर्गत ही आता था। इस सेवा के विषय में ली आयोग ने यह सिफारिश की कि युद्ध के समय डाक्टरों की कमी को पूरा करने के लिये और यूरोपियन सेवाओं और उनके कुटुम्बों की देखभाल करने के लिये यह आवश्यक है कि कुछ अधिकारी भारतीय सेना के चिकित्सा विभाग में लेकर प्रान्तों के असैनिक चिकित्सा विभागों में रख दिए जाने चाहियें। ये अधिकारी ऐंग्लो होने थे जिनकी नियुक्तियाँ ब्रिटिश सम्राट द्वारा होती थी। ली आयोग की सबसे महत्वपूर्ण सिफारिश एक लोक सेवा आयोग स्थापित करने के विषय में थी। १६१६ के भारत सरकार अधिनियम में भी इस प्रकार की कल्पना की गई थी। आयोग ने सिफारिश की कि इस प्रकार की संस्था जल्दी से जल्दी स्थापित होनी चाहिए। लोक सेवा आयोग एक अखिल भारतीय संस्था होनी चाहिए। इसमें पाँच बहुत ही योग्य सदस्य होने चाहियें। राजनैतिक संस्थाओं से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए दो सदस्य ऐसे होने चाहियें जो उच्च न्यायिक योग्यतायें रखते हों, यह आयोग असैनिक सेवाओं के सम्बन्ध में एक विशेषज्ञ निकाय के रूप में कार्य करेगा। ली आयोग ने लोक सेवा आयोग स्थापित करने के विषय में अपनी सिफारिश को अपने सुझावों का अविभाज्य और अनिवार्य अंग बताया इसलिये आयोग ने आशा प्रकट की कि उसकी यह सिफारिश जल्दी से जल्दी कार्यान्वित होनी चाहिये। ली आयोग ने सेवाओं के भारतीकरण के विषय में भी सिफारिश की। आयोग का विचार था कि भारतीय असैनिक सेवा में मैत्रीभाव और समान उत्तरदायित्व की भावना बढ़ाने के लिये यह आवश्यक है कि भारतीय असैनिक सेवा में प्रत्यक्ष भर्ती द्वारा शीघ्र से शीघ्र आधे अंग्रेज और आधे भारतवासी हों। यदि सौ सदस्यों की नियुक्ति करनी है तो ४० अंग्रेज और ४० भारतवासी होने चाहियें और २० प्रान्तीय सेवा के पदोन्नति द्वारा नियुक्त किये जाने चाहियें। इस प्रकार ४० अंग्रेज और ६० भारतवासियों की नियुक्ति होनी चाहिए। इस असैनिक सेवा में आयोग के अनुमान के अनुसार १५ वर्ष में अंग्रेज और भारतवासियों की संख्या बराबर-बराबर हो जायगी। भारतीय पुलिस सेवा के लिये भर्ती में ५० प्रतिशत अंग्रेज और ५० प्रतिशत भारतवासी होने चाहियें। २५ वर्ष बाद भारतवासियों और अंग्रेज की संख्या बराबर हो जायेगी। ली आयोग की रिपोर्ट सर्वसम्मति से थी। इसका श्रेय उसके अध्यक्ष को है। इस आयोग की सिफारिशों के अनुसार हस्तान्तरित विभागों में कार्य करने वाले अंग्रेज अधिकारियों की नियुक्ति और अनुशासन मन्त्रियों के हाथों में सौंप दिये गए। यह कदम १६१६ के सुधारों के पक्ष में था।[1]

**साइमन आयोग**—साईमन आयोग ने १६३० की अपनी रिपोर्ट में असैनिक सेवाओं के प्रश्न पर इस आधार पर विचार किया कि द्वैतशासन समाप्त कर दिया जाना चाहिये और प्रान्तों में स्वायत्त शासन स्थापित कर दिया जाना चाहिए।

१. वी० जी० मुथे।

साईमन आयोग का विचार था कि सुरक्षा सम्बन्धी सेवायें जैसे भारतीय असैनिक सेवा और भारतीय पुलिस सेवा भारत सचिव के हाथ में रहनी चाहिये। इनकी नियुक्ति भारत सचिव के ही हाथ में रहनी चाहिये। भारत सचिव को यह भी अधिकार होना चाहिए कि वह प्रान्तीय सरकारों से कहे कि उन्हें इन सेवाओं के कितने सदस्य और किन पदों पर नियुक्त करने चाहियें।[1] १६१६ के भारत सरकार अधिनियम के अनुच्छेद ६६ व (२) के अन्तर्गत भारत सचिव की परिषद ने २७ मई १६३० को असैनिक सेवाओं के वर्गीकरण, नियन्त्रण और अपील सम्बन्धी नियम प्रकाशित किये। इन नियमों के अनुसार भारत में असैनिक सेवाओं का निम्नलिखित वर्गीकरण किया गया—(१) अखिल भारतीय सेवायें, (२) प्रथमश्रेणी की केन्द्रीय सेवायें, (३) द्वितीय श्रेणी की केन्द्रीय सेवायें, (४) प्रान्तीय सेवायें, (५) विशेषज्ञ सेवायें (६) अधीन सेवायें। कुछ समय बाद अधीन सेवाओं के बजाय तृतीय श्रेणी की केन्द्रीय सेवाओं और चौथी श्रेणी की केन्द्रीय सेवायें स्थापित की गई। १६३५ के अधिनियम के अन्तर्गत भारतीय असैनिक सेवा, भारतीय पुलिस सेवा और भारतीय चिकित्सा सेवा (असैनिक) की नियुक्ति भारत सचिव द्वारा होती थी। इन सेवाओं के अलावा और सेवाओं की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार और प्रान्तीय सरकारों द्वारा होती थी। भारतीय असैनिक सेवा, भारतीय पुलिस सेवा और भारतीय चिकित्सा सेवा (असैनिक) इन तीन सेवाओं को छोड़कर केन्द्र में कार्य करने वाली अन्य सेवा की नियुक्ति महाराज्यपाल द्वारा होती थी। यदि सेवायें प्रान्तीय क्षेत्र में कार्य करें तो उन की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा होती थी। १६३५ के अधिनियम के अन्तर्गत एक संघीय लोक सेवा आयोग स्थापित करने की व्यवस्था की गई।

प्रथम श्रेणी की केन्द्रीय सेवाओं में कुछ उच्च स्तर के पद भी शामिल थे। प्रत्येक प्रथम श्रेणी की सेवा के साथ-साथ एक द्वितीय श्रेणी की सेवा भी थी। प्रथम श्रेणी की सेवा के लिये नियुक्ति महाराज्यपाल की परिषद् द्वारा होती थी, द्वितीय श्रेणी के लिये नियुक्त विभागों के अध्यक्षों के हाथ में थी। प्रथम श्रेणी व द्वितीय श्रेणी के अधिकारी राजपत्रित अधिकारी होते थे। प्रथम श्रेणी के लिये भर्ती प्रतियोगिता परीक्षा द्वारा होती थी। इस परीक्षा को संघीय लोक सेवा आयोग लेता था। द्वितीय श्रेणी से पदोन्नति करकर भी कुछ अधिकारियों को प्रथम श्रेणी में रखा जाता था। द्वितीय श्रेणी की नियुक्ति प्रतियोगिता की परीक्षा द्वारा भी होती थी। प्रथम श्रेणी व द्वितीय श्रेणी के लिए एक ही परीक्षा होती थी। उत्तीर्ण उम्मीदवारों में से उच्च स्थान पाने वाले प्रथम श्रेणी में रख दिये जाते थे और नीचे के दर्जे वाले द्वितीय श्रेणी में रख दिये जाते थे। नीचे से पदोन्नति करके कुछ अधिकारी द्वितीय श्रेणी में आते थे परन्तु इनकी संख्या द्वितीय श्रेणी से पदोन्नति करके प्रथम श्रेणी में जाने वालों से कम होती थी। कुछ विभागों में द्वितीय श्रेणी के सब अधिकारी पदोन्नति द्वारा नियुक्त होते थे। १६४७ के केन्द्रीय वेतन आयोग के समक्ष गवाही देने

---

१. रिपोर्ट आफ दा इण्डियन स्टेट्यूटरी कमीशन (१६३०), भाग २, पृष्ठ २८८।

हुए, द्वितीय श्रेणी के अधिकारियों ने यह मांग की कि प्रथम श्रेणी व द्वितीय श्रेणी को एक कर देना चाहिये क्योंकि उनकी भर्ती का मापदण्ड लगभग एक ही है और वे एक-सा ही कार्य करते हैं। इस युक्ति के विरुद्ध यह कहा गया कि जो अधिकारी पदोन्नति द्वारा द्वितीय श्रेणी में आते हैं वे कार्यकाल के अन्त में आते हैं। ऐसे अधिकारियों में कार्यपटुता नहीं होती और अधिकतर वे प्रथम श्रेणी के योग्य नहीं होते।[1] केन्द्रीय वेतन आयोग ने इन दोनों श्रेणियों को कायम रखने की सिफारिश की। परन्तु उसने यह भी कहा कि जिन विभागों में इन दोनों श्रेणियों को रखना आवश्यक नहीं है वहाँ पर उन दोनों को मिलाकर एक राजपत्रित सेवा के रूप में संगठित किया जा सकता है। केन्द्रीय सेवाओं का प्रथम श्रेणी और द्वितीय श्रेणी में वर्गीकरण अब भी विद्यमान है।

**नये संविधान के अन्तर्गत असैनिक सेवायें**—नये भारतीय संविधान के अन्तर्गत समस्त लोक सेवायें या तो केन्द्रीय सरकार के आधीन हैं या प्रान्तीय सरकारों के आधीन हैं। संसद को यह भी अधिकार दिया गया है कि वह कानून के द्वारा एक या एक से अधिक अखिल भारतीय सेवायें स्थापित कर सकती है जो केन्द्र व राज्यों के लिए कार्य करेंगी। ऐसा निश्चय राज्यसभा में उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के ⅔ बहुमत द्वारा पास किये प्रस्ताव के आधार पर ही हो सकता है। राज्य सभा अपने प्रस्ताव में यह पास करे कि अमुक सेवा को स्थापित करना राष्ट्रीय हित में है।[2] नये संविधान के अन्तर्गत भारतीय प्रशासकीय सेवा (Indian Administrative Service) और भारतीय पुलिस सर्विस को अखिल भारतीय सेवा मान लिया गया। भारतीय असैनिक सेवा के सदस्यों के लिए वही सुविधायें मान ली गईं जो नये संविधान के प्रारम्भ होने से पहले उन्हें मिली हुई थीं। भारत में असैनिक सेवाओं का वर्गीकरण निम्न प्रकार है—(१) अखिल भारतीय सेवायें जिनमें भारतीय प्रशासकीय सेवा और भारतीय पुलिस सेवा शामिल हैं, (२) भारतीय विदेशी सेवा, (३) भारतीय सीमा प्रशासकीय सेवा। यह सेवा थोड़े समय से पहले ही सीमा क्षेत्रों के प्रशासन के लिए बनाई गई है, (४) प्रथम श्रेणी की केन्द्रीय सेवायें इन केन्द्रीय सेवाओं में मुख्य ये हैं—(अ) भारतीय लेखा परीक्षा और लेखा सेवा, (ब) भारतीय सुरक्षा लेखा सेवा (स) भारतीय रेल लेखा सेवा, (द) भारतीय सीमा शुल्क और उत्पादन शुल्क सेवा, (क) भारतीय आयकर सेवा, (ख) भारतीय रेलवे की परिवहन सेवा, (ग) भारतीय डाक सेवा (घ) सैनिक भूमि और केन्टोमेन्ट सेवा, (छ) केन्द्रीय सरकार ने दो केन्द्रीय सेवायें और स्थापित कर दी हैं। ये प्रथम श्रेणी की केन्द्रीय सेवायें हैं, ये ... दाय सेवा और भारतीय निरीक्षण सेवायें हैं। इन सेवाओं के सदस्य प्रति-

माह द्वारा केन्द्रीय सरकार की ओर से नियुक्त किये जाते हैं, परीक्षा सघीय सेवाओं के अ... लेता है। (५) द्वितीय श्रेणी केन्द्रीय सेवायें। (६) तृतीय और

जाना चाहिये

---

१. दी सेन्ट्रल पे कमीशन (इंडिया) १९४७, पृष्ठ १६।
२. ...धान, अनुच्छेद ३१२ (१)।

चौथी श्रेणी की केन्द्रीय सेवायें इनमें आधीन सेवायें शामिल हैं, (७) प्रथम, द्वितीय तृतीय, चौथे वर्ग की केन्द्रीय सचिवालय सेवा, (८) विशेषज्ञ सेवायें जिनमें भारत सर्वेक्षण, इन्जीनियरिंग सेवायें और वैज्ञानिक सेवायें सम्मिलित है, (९) राज्य असैनिक सेवायें, पहले इन्हे प्रान्तीय असैनिक सेवायें कहते थे।

मुख्य राज्य सेवायें, प्रान्तीय असैनिक सेवा, राज्य पुलिस सेवा, न्यायिक सेवा, इन्जिनीयरिंग सेवा, चिकित्सा सेवा, स्वास्थ्य सेवा, वन सेवा, शिक्षा सेवा, इत्यादि हैं। इनमे से कुछ सेवाओ की दो श्रेणी हैं। इन सेवाओ के अतिरिक्त आधीन असैनिक सेवा भी है और विशेषज्ञ सेवायें जिनमे मिस्त्री आदि सम्मिलित हैं। राज्य सेवाओ का प्रबन्ध राज्य सरकारें ही करती हैं। केन्द्रीय सरकार को उनसे कोई सरोकार नही है। केन्द्रीय सरकार केन्द्रीय सेवाओ और अखिल भारतीय सेवाओ के लिये उत्तरदायी है। केन्द्रीय सरकार ही इन्हे सगठित करती है। केन्द्रीय सेवाओ का दिन प्रति दिन का प्रशासन विभिन्न मत्रालयो मे निहित होता है। समस्त सेवाओ का भर्ती स्तर अनुशासन और सेवाओ के अनुबन्धन गृह मत्रालय के हाथ मे है।[1] स्वर्गीय एन० गोपालास्वामी अय्यगर ने १९४९ की सरकार के पुनर्गठन की रिपोर्ट मे सेवाओ के सगठन की योजनाओ पर बडा जोर दिया। उन्होने कहा कि भारतीय प्रशासकीय सेवा की केन्द्र के लिये विभिन्न कोटि (Cadre) नही होनी चाहिये। द्वितीय महायुद्ध से पहले केन्द्र के उच्च प्रशासकीय पदो के लिये प्रान्तो से भारतीय असैनिक सेवक कुछ समय के लिये भेजे जाते थे। निश्चित अवधि समाप्त होने पर वे प्रान्तों को वापिस भेज दिये जाते थे और उनके स्थान पर एक दूसरे अधिकारी बुला लिये जाते थे। युद्ध काल मे केन्द्रीय पदो की सख्या बहुत बढ गई और प्रान्तो में पास इतने अधिक अधिकारी नही थे कि उनमे से कुछ केन्द्र मे भेजे जा सकें। १९४७ में स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद सामाजिक व आर्थिक कार्यों के बढने के कारण केन्द्रीय पदो की सख्या और अधिक बढ गई। अग्रेज आई० सी० एस० अधिकारियो के अवकाश ग्रहण करने और मुसलमान अधिकारियो के पाकिस्तान जाने के कारण प्रान्तीय उच्च अधिकारियो की सख्या बहुत कम हो गई। राज्य ऐसी अवस्था मे नही थे कि वे केन्द्र को अपने अधिकारी भेज सकें। जो अधिकारी राज्यो से केन्द्र को भेजे जा चुके थे वे अनिश्चित काल के लिये ही वहाँ रह गये। इस कारण भारत सरकार को एक भारतीय असैनिक प्रशासकीय (केन्द्रीय) कोटि योजना बनानी पडी। इस योजना के अनुसार प्रत्येक राज्य या राज्यो के समूह के लिये एक भारतीय प्रशासकीय सेवा कोटि बनाई गई। इस कोटि का कोई अधिकारी राज्य सरकार और केन्द्र सरकार की अनुमति से केन्द्र सरकार की सेवा के लिये भेजा जा सकता था। भारत सरकार कुछ अन्य अखिल भारतीय सेवाओ की स्थापना पर विचार कर रही है। इनमे केन्द्रीय वैज्ञानिक सेवा, सांख्यिकी सेवा,

१. रिपोर्ट आफ दी मिनिस्ट्री आफ होम अफेयर्स गवर्नमेंट आफ इण्डिया (१९५०-५१), पृ० १।

भारतीय सुरक्षा सेवा, केन्द्रीय स्वास्थ्य सेवा, भारतीय राजस्व सेवा, केन्द्रीय कृषि सेवा इत्यादि हैं। सरकार के कार्य बढ जाने के कारण भारतीय प्रशासकीय सेवा मे भी वृद्धि कर दी गई है। राज्यो का विकास कार्य इसका मूल कारण है। १९५० मे इनकी सख्या ८९७ थी। पचवर्षीय योजनाओ के कारण हर तीसरे साल इस सख्या मे वृद्धि कर दी गई। हाल मे ही भारत सरकार ने इन अफसरो की सख्या को १७३८ से बढाकर २010 कर दिया है। यह सख्या राज्यो मे इस प्रकार बाटी गई है। आन्ध्र प्रदेश १५१, आसाम ८०, बिहार १८८, गुजरात ११०, महाराष्ट्र १५५, मध्यप्रदेश १८०, मद्रास १४१, उडीसा १००, पजाब १४१, उत्तर प्रदेश २४६ पश्चिमी बगाल १३६, मैसूर १००, राजस्थान १३७, केरल ७१, जम्मू और काश्मीर ३३, देहली और हिमाचल प्रदेश ३५।[1]



१. आई० आई० पी० ए० न्यूज लैटर, जनवरी १९६१ पृष्ठ, २।

अध्याय २०

# स्थानीय स्वशासन का विकास

**प्रारम्भिक कार्य**—विकेन्द्रीकरण आयोग ने लिखा था कि जनता को शासन के सम्पर्क में लाने के लिये यह आवश्यक है कि स्वशासन का विकास गावों से प्रारम्भ होना चाहिये। भारतीय ग्राम आदि काल से चले आये हैं और वहाँ के व्यक्ति एक दूसरे के अधिक निकट रहते हैं परन्तु अंग्रेजी नमूने का स्थानीय शासन सबसे पहले नगरों में स्थापित किया गया। बम्बई, कलकत्ता और मद्रास में पृथक् अधिनियमों द्वारा बहुत पहले निगम स्थापित हो चुके थे, परन्तु १८६१ के बाद ही उनमें निर्वाचित प्रतिनिधियों को स्थान मिला। १८६५ तक इन तीन नगरों के अलावा और नगरों में स्थानीय संस्थायें नाममात्र की थी। १८५० के अधिनियम के अनुसार नगरों में जनता की इच्छानुसार नगर समितियाँ स्थापित हो सकती थी। इन समितियों को अप्रत्यक्ष कर लगाने का भी अधिकार था। परन्तु बहुत कम नगरों ने इस उपबन्ध का प्रयोग किया। नगरों की जनसंख्या बढ़ती जा रही थी और सफाई की उचित व्यवस्था नहीं थी। १८८५ के लगभग नगरों की अवस्था को सुधारने के लिये नगर सुधार अधिनियम पास किये गये। १४ सितम्बर १८६४ को लार्ड लॉरेन्स ने एक नीति में घोषित किया कि जहाँ तक सम्भव हो जनता को अपने कार्यों का प्रबन्ध स्वयं करना चाहिये।[1] लार्ड मेयो ने स्थानीय शासन के विषय में १८७० में एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास किया। यह प्रस्ताव इस प्रकार है—"जो निधि शिक्षा, चिकित्सा, सहायता, धर्म, दान और स्थानीय सार्वजनिक कार्यों के लिये सुरक्षित रखी गई है उसकी सफलतापूर्वक व्यवस्था करने के लिये स्थानीय रुचि और देखभाल आवश्यक है। यदि इस प्रस्ताव को पूर्ण रूप से व सच्चाई के साथ कार्यान्वित किया गया तो स्वशासन के विकास, नगरपालिका संस्थाओं को सुदृढ़ बनाने और शासन में भारतीय और अंग्रेजों को अधिक सम्पर्क में लाने के लिये अवसर मिलेंगे।"[2]

**लार्ड रिपन के कार्य**—स्थानीय स्वशासन की दिशा में सबसे पहले महत्वपूर्ण और दृढ़ कदम उठाने का श्रेय लार्ड रिपन को है। डॉक्टर आर० अर्गल लार्ड रिपन को 'स्थानीय स्वशासन का पिता' बताते हैं। उनको स्थानीय स्वराज्य में इतनी रुचि थी कि उन्होंने भारत सचिव को धमकी दी कि यदि उनके सुझाव स्वीकार नहीं किये जायेंगे तो वे अपने पद से त्यागपत्र दे देंगे। वे वित्तीय साधन और शासन के विकेन्द्रीयकरण के लिये नहीं बल्कि जनता में लोकप्रिय और राजनैतिक शिक्षा

---

१. दी कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, भाग ६, पृष्ठ ५११।

२. बी० जी० सप्रे : दी ग्रोथ आफ इंडियन कॉन्स्टीट्यूशन एण्ड ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृष्ठ २२३।

फैलाने के लिये स्थानीय स्वशासन पर बल देते थे। यह कार्य सरकारी अधिकारियों द्वारा भली प्रकार नहीं किया जा सकता था। यदि स्थानीय जनता स्थानीय शासन में रुचि रखे तो शासन अच्छी तरह चलाया जा सकता है। लार्ड रिपन ने १२ जून १८८२ को टोमहूयूजिज (Tom Hughes) को एक पत्र लिखा जिसमें उसने कहा कि वे रिपन स्थानीय स्वशासन का विकास करके भारत में यूरोपियन प्रजातन्त्र के नमूने का जनता का प्रतिनिधित्व नहीं चाहते। वे तो सबसे श्रेष्ठ, योग्य और प्रभावशाली व्यक्तियों को धीरे-धीरे इस प्रकार की शिक्षा देना चाहते हैं जिससे कि वे स्थानीय विषयों के प्रबन्ध में रुचि और सक्रिय भाग लें। यदि स्थानीय निकाय भारतीय जनता को कुछ प्रशिक्षण दे सकते हैं तो यह आवश्यक है कि उनके कार्यों में सरकारी अधिकारियों का हस्तक्षेप अधिक नहीं होना चाहिये। स्थानीय निकायों को अपना कार्य सरकारी अधिकारियों की देखरेख में करना चाहिये। अधिकारी तभी हस्तक्षेप करें जब वे यह देखें कि स्थानीय निकाय गलत मार्ग पर चल रही है।[1] लार्ड रिपन ने २५ दिसम्बर १८८२ को भारत सचिव को भेजे गये अपने ज्ञापन पत्र में कहा कि अंग्रेजी सरकार का यह योग्य कार्य होगा कि वे भारत में अपनी प्रजा को प्रशिक्षण दें। जैसे-जैसे समय व्यतीत होता जाये भारतीयों को अपने कार्य स्वयं सुचारु रूप से चलाने की शिक्षा दें। ब्रिटिश सरकार का भारत में इससे अधिक उच्च और कोई राजनैतिक ध्येय नहीं हो सकता।[2]

**लार्ड रिपन का प्रस्ताव**—१८ मई १८८२ को लार्ड रिपन की सरकार ने एक ऐतिहासिक प्रस्ताव प्रकाशित किया। इस प्रस्ताव में उनकी सरकार ने एक महत्वपूर्ण नीति घोषित की कि इस नई नीति के दो लक्ष्य थे। एक तो यह था कि प्रान्तीय सरकारों को चाहिये कि वे स्थानीय स्वशासन की पूर्ति के लिये उचित धन नियत कर दें। दूसरे प्रान्तीय सरकारों का यह कर्तव्य है कि वे ऐसे कानून बनावें जो स्थानीय स्वशासन के विकास के लिये आवश्यक हों। प्रस्ताव में कहा गया कि नगरों में स्थानीय शासन स्थापित करते समय यह भी ध्यान रखना चाहिये कि प्रत्येक जिले में भी स्थानीय निकाय स्थापित हों जिनके निश्चित कर्तव्य हों और उनके पास निश्चित धन हो। इन निकायों का क्षेत्र अधिक नहीं होना चाहिये। उन्होंने तहसील निकाय को एक इकाई माना। कई तहसील निकाय एक जिला बोर्ड के अन्तर्गत रखी जा सकती थीं। निकायों के संगठन के विषय में यह सुझाव दिया गया कि इनके अधिकतर सदस्य गैर-सरकारी होने चाहियें। कुछ सदस्य निर्वाचित और कुछ मनोनीत हो सकते हैं। बोर्डों के अध्यक्ष जहाँ तक हो सके गैर सरकारी होने चाहियें और वे बोर्ड द्वारा ही निर्वाचित होने चाहियें। सरकार के नियन्त्रण के विषय में प्रस्ताव में कहा गया कि ये नियन्त्रण भीतर से न होकर बाहर से होना चाहिये। सरकार स्थानीय निकायों के कार्यों का पुनर्निरीक्षण कर सकती है। परन्तु उसे उनकी इच्छा के

१. ए० सी० बनर्जी : इण्डियन कान्स्टीट्यूशनल डोक्यूमेंट्स, भाग २, पृष्ठ ७८।
२. वही, भाग २, पृष्ठ ८०।

विरुद्ध कोई कार्य नहीं करना चाहिये। सरकार के नियन्त्रण दो प्रकार के हो सकते हैं। निकायों के कुछ कार्यों के लिये जैसे ऋण लेना, कर लगाना, सम्पत्ति को दूसरों को देने के विषय में सरकार की अनुमति आवश्यक है। यदि निकाय कोई गलत कार्य कर रही हो तो सरकार को यह अधिकार होना चाहिए कि वे निकायों के कार्यों को रद्द कर दें या कुछ समय के लिये निकाय को स्थगित कर दें। इस प्रस्ताव में कहा गया, कि राजस्व के कुछ स्थानीय साधन निकायों को सौंप दिये जाने चाहियें। प्रान्तीय राजस्व से भी कुछ धन, मांगों के रूप में स्थानीय निकायों को दिया जाना चाहिये।[1] भारत सरकार ने प्रान्तीय सरकारों को पहले से ही इस प्रकार के संकेत दे दिये थे।

मद्रास सरकार को लिखे गये १८८१ के पत्र में भारत सरकार ने कहा कि महाराज्यपाल की परिषद् इस बात के लिए इच्छुक है कि अपने निश्चित क्षेत्र में जहां तक सम्भव हो स्थानीय निकायों को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता हो। १८८२ के प्रस्ताव में इस बात पर अधिक जोर दिया गया कि सरकार को इस प्रकार कार्य करना चाहिये कि गैर-सरकारी सदस्य यह सोचें कि वास्तविक शक्ति उनके (सदस्यों) के ही हाथ में है और उन्हें वास्तविक उत्तरदायित्व निभाना है।[2] लार्ड रिपन के सुझावों पर ठीक प्रकार कार्य नहीं किया गया। बंगाल के राज्यपाल सर ऐश्ले ईडीन का विचार था कि सरकार को स्थानीय निकायों पर पूरा अधिकार रखना चाहिये। उनकी सरकार का यह विचार था कि १८८२ के प्रस्ताव के सुझाव समय से पहले (premature) के थे। लार्ड रिपन के सुधारों की भावना को ही नष्ट कर दिया गया। विकास बहुत धीमा था। स्थानीय निकायों और नगरपालिकाओं में एक सी ही स्थिति थी। सरकारी अधिकारियों ने स्थानीय स्वशासन के मार्ग में रोड़े अटकाये। सरकारी अधिकारी जो ग्रामीण निकायों के अध्यक्ष होते थे अपना कार्य अपने ही ढंग से करते थे। निकायों में सरकारी और मनोनीत सदस्यों की संख्या अधिक थी। निकायों के पास बहुत ही सीमित वित्त साधन थे। न तो वे अपनी इच्छानुसार कर लगा सकते थे और न ऋण ही ले सकते थे।[3] १९०९ में स्थानीय स्वशासन के आलोचकों ने विकेन्द्रीकरण आयोग को बताया कि स्थानीय निकाय सरकारी शासन के लगभग भाग ही बन गये हैं। उनका कार्य सरकारी अधिकारियों द्वारा होता था या निकायों के व्यय पर अधिकार सरकारी विभागों द्वारा होता था। स्थानीय निकायों के कार्यों में सरकार का हस्तक्षेप अधिक था।[4] मोन्टेग्यू और चेम्सफोर्ड ने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि स्थानीय स्वशासन के क्षेत्र में जनता को शिक्षित

१. बी० बी० मिश्रे दी ओव ऑफ इण्डियन कन्स्टीट्यूशन एण्ड ऐडमिनिस्ट्रेशन पृष्ट, २२५।

२. आर० अर्गन म्यूनिसिपल गवर्नमेंट इन इण्डिया, पृष्ट १७।

३. दी ग्रोथ आफ इण्डियन कान्स्टीट्यूशन एण्ड ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृष्ट ३३१।

४. रिपोर्ट आन इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशनल रिफार्म्स, पृष्ठ ६।

करने के सिद्धान्त की अवहेलना की गई और तात्कालिक परिणामों पर अधिक जोर दिया गया। रिपोर्ट में कहा गया कि पिछले ३५ वर्षों में स्थानीय स्वशासन के विकास के लिये जो कदम उठाये गये हैं वे भारत के अधिक भाग में पर्याप्त नहीं हैं।[1] १८९६ में लार्ड एलगिन की सरकार ने एक प्रस्ताव के द्वारा नगरपालिकाओं के कार्यों पर प्रकाश डाला। परन्तु इसके द्वारा कोई नई नीति नहीं अपनाई गई। प्रस्ताव में बताया गया कि स्थानीय निकायों की आय और व्यय में वृद्धि हो गई है और वे लाभदायक कार्य कर रही हैं।

**१९०९ का विकेन्द्रीकरण आयोग**—यह आयोग केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के शासन के सम्बन्धों पर विचार करने के लिये बनाया गया था। परन्तु इस आयोग ने स्थानीय संस्थाओं की स्थिति पर भी विचार किया। आयोग ने इस बात को स्वीकार नहीं किया कि सरकार स्थानीय संस्थाओं के कार्य में अधिक हस्तक्षेप कर रही थी। परन्तु फिर भी इसने यह सुझाव रखा कि स्थानीय निकायों में प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तों को लागू करने के लिये उन्हें अधिक शक्तियां देनी चाहियें। इस आयोग ने यह स्वीकार किया कि आलोचकों के इस वक्तव्य में, कि स्थानीय निकाय और नगरपालिकायें स्थानीय स्वशासन के प्रभावशाली यन्त्र नहीं हैं, कुछ सत्य अवश्य है। उसने कहा कि जनता की राजनैतिक शिक्षा धीरे-धीरे ही हो सकती है। अंग्रेजी नमूने का स्थानीय स्वशासन भारत में तुरन्त लागू नहीं किया जा सकता। उन्होंने यह स्वीकार किया कि लार्ड रिपन के समय से अब तक काफी प्रगति हुई है और इस अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्थानीय स्वशासन के विकास की ओर अधिक प्रयत्न करना चाहिए। इस आयोग ने चार सिफारिशें कीं। (१) नगरपालिकाओं का जनसंख्या के आधार पर वर्गीकरण होना चाहिए और बड़ी नगरपालिकाओं को अधिक शक्ति मिलनी चाहिये। (२) नगरपालिकाओं को कर लगाने की व बजट पर नियन्त्रण रखने की पूरी शक्ति होनी चाहिए। (३) नगरपालिकाओं में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत अधिक होना चाहिए। (४) प्रान्तीय सरकारों को स्थानीय निकायों पर शिक्षा, अस्पताल, अकाल सहायता, पुलिस, पशु चिकित्सा से सम्बन्ध रखने वाला व्यय नहीं लादना चाहिए। स्थानीय निकायों को प्रान्तीय सेवाओं पर व्यय नहीं करना चाहिए। उन्हें अपनी आय के निश्चित अनुपात की रकम विशेष कार्यों के लिए नहीं देनी चाहिए। विकेन्द्रीकरण आयोग ने ग्राम पंचायतों को स्थापित करने की भी सिफारिश की। उसने कहा कि इन पंचायतों के कुछ प्रशासकीय अधिकार होने चाहियें। इनको छोटे-छोटे से दीवानी और फौजदारी मुकदमे तय करने का अधिकार भी होना चाहिए। श्री गोपालकृष्ण गोखले ने विकेन्द्रीकरण आयोग के सम्मुख दिये गये अपने वक्तव्य में कहा कि ग्राम-पंचायतें अवश्य बननी चाहियें। स्थानीय निकायों और नगरपालिकाओं को वास्तव में लोकप्रिय बनाना चाहिए और उनके पास अधिक साधन होने चाहियें। जिलाधीशों को

---

[1]. रिपोर्ट ऑन इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशनल रिफार्म्स, पृष्ठ ६।

सब महत्वपूर्ण विषयो पर इन परिषदो से परामर्श करनी चाहिये।

**लार्ड हार्डिग का १९१५ का प्रस्ताव**—विकेन्द्रीकरण आयोग की सिफारिशो पर लार्ड हार्डिग की सरकार ने विचार किया और १९१५ मे एक प्रस्ताव द्वारा स्थानीय निकायो के सगठन मे परिवर्तन करने के लिये कुछ सुझाव रखे। भारत सरकार ने स्थानीय स्वशासन के विकास पर सन्तोष प्रकट किया। प्रत्येक प्रान्त मे समान रूप से सफलता नही मिली थी परन्तु विकास और प्रगति हर ओर दिखाई देती थी। स्वशासन को चलाने मे कुछ त्रुटियाँ थी। स्थानीय निकायो की आय कम और अनिश्चित थी। उन्हे अधिक कर लगाने मे कठिनाई थी। सार्वजनिक स्वास्थ्य मे जनता की रुची नही थी। बहुत से मनुष्य चुनाव मे अधिक व्यय होने के कारण भाग नही लेते थे। बहुत से मनुष्य इस कार्य के योग्य नही थे। साम्प्रदायिक भावनाओ के कारण स्थानीय स्वशासन के विकास मे बाधा पड गई थी। यह सब त्रुटियाँ होते हुए भी सरकार ने निश्चय किया कि स्वशासन का अधिक विकास होना चाहिए।[1] स्वशासन का क्षेत्र अधिक होने के कारण सरकारी प्रस्तावो मे बताया गया कि भारत सरकार केवल सामान्य नियम ही बना सकती है। यह प्रान्तीय सरकारो पर निर्भर है, कि किस प्रकार और किस ढग से स्थानीय निकायो का विकास किया जाय। नगरपालिकाओ के विषय मे भारत सरकार ने कहा कि उनके अध्यक्षो को गैर सरकारी सदस्यो मे से चुनना ठीक था। नगरपालिकाओ मे निर्वाचित बहुमत होना चाहिये और नगरपालिकाओ को कर लगाने, बजट बनाने और अपने कार्यालयो पर नियन्त्रण रखने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। ग्रामीण क्षेत्रों के विषय मे प्रस्तावो मे कहा गया कि वे नगरपालिकाओ के मुकाबिले मे पिछडे हुए हैं और जनता की स्थानीय विषयो मे कम रुचि है इसलिए ग्रामीण निकायो मे सरकारी अध्यक्ष ही रहने चाहियें। विकेन्द्रीकरण आयोग ने ग्रामो मे पचायतें स्थापित करने की भी सिफारिश की थी। उसने कहा था कि छोटे-छोटे दीवानी और फौजदारी विषयों मे उन्हें अधिकार होना चाहिए, उन्हे राजस्व के साधन भी प्राप्त होने चाहियें। लार्ड हार्डिग की सरकार ने प्रान्तीय सरकारो से इस दिशा मे प्रयोग के रूप मे कुछ कदम बढ़ाने के लिए कहा। परन्तु भारत सरकार प्रान्तीय सरकारों पर इस विषय मे दबाव नहीं डाल सकती थी। इसका कारण स्पष्ट है। स्थानीय स्वशासन का विकास प्रान्तीय सरकारों पर ही निर्भर था और वे ही इस विषय मे पूरी जानकारी रखती थी। परन्तु भारत सरकार ही सबसे पहले इस विषय मे कोई कदम उठा सकती थी क्योकि इसके पास राजस्व के साधन और कर लगाने की शक्ति थी, इन सब कारणों से १९१५ के सरकारी सुझाव अधिक उपयोगी सिद्ध नही हुए।[2]

**१९१८ का प्रस्ताव**—प्रथम महायुद्ध के कारण विकेन्द्रीकरण आयोग और १९१५ के प्रस्ताव पर अमल नही हो सका। इसी बीच मे भारत सचिव की २०

१. आर० अर्गल : म्यूनिसिपल गवर्नमेंट इन इंडिया, पृष्ठ २७।
२. रिपोर्ट ऑन इंडियन कॉन्सटीट्यूशनल रिफार्म्स, पृष्ठ ७।

अगस्त १९१७ की घोषणा ने देश का राजनैतिक वातावरण ही बदल दिया। इस घोषणा के अनुसार ब्रिटिश सरकार ने धीरे-धीरे भारत में प्रतिनिधि संस्थायें स्थापित करने का निश्चय कर लिया। सरकारी घोषणा पर साम्राज्य व्यवस्थापिका परिषद में टिप्पणी करते हुये महाराज्यपाल लार्ड चेम्सफोर्ड ने ५ सितम्बर १९१७ को कहा कि घोषणा के अनुसार तीन दिशाओं में प्रगति होनी चाहिए। विकास का पहला कदम स्थानीय स्वशासन की दिशा में उठाना चाहिए। स्थानीय संस्थाओं द्वारा ही जनता को शिक्षण, राजनैतिक शिक्षा और उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न करने का अवसर मिल सकता है। लार्ड चेम्सफोर्ड ने कहा कि स्थानीय निकायों का तेजी से विकास करने का अवसर आ चुका था। अब सामान्य नागरिक में उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न होनी चाहिए। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए लार्ड चेम्सफोर्ड की सरकार ने १६ मई १९१८ को एक प्रस्ताव प्रकाशित किया। भारत सरकार ने यह इच्छा प्रगट की कि प्रान्तीय सरकारों को स्थानीय निकायों के विकास में तेजी से पग उठाना चाहिए और प्रगतिशील नीति अपनानी चाहिए। यदि प्रान्तीय सरकारें चाहें तो विशेष विषयों में विशेष कारणों से इस नीति में कुछ हेर-फेर कर सकती हैं। सरकारी प्रस्ताव में यह मूल सिद्धान्त माना गया कि "उत्तरदायी संस्थायें तभी दृढ़ रह सकती हैं जब उनमें सारी जनता का प्रतिनिधित्व और सुझावों का ठीक से प्रयोग हो और स्थानीय स्वशासन के क्षेत्र में प्रशासकीय शक्ति का उचित उपयोग ही राजनैतिक शिक्षा का सबसे उच्च मार्ग है। भारत सरकार चाहती थी कि विभागों की कुशलता के मुकाबले में राजनैतिक शिक्षा पर अधिक जोर दिया जाना चाहिए और स्थानीय निकायों को अधिक से अधिक जनता का प्रतिनिधित्व करना चाहिए। अल्पमतों का प्रतिनिधान मनोनयन से होना चाहिए। अधिकारियों को भी इन निकायों में मनोनीत किया जा सकता है परन्तु उन्हें मत देने का अधिकार नहीं होना चाहिए। चुनाव के लिए मताधिकार भी कम कर दिया जाना चाहिए। इस समय नगरपालिकाओं में मतदाता जनसंख्या के ६% थे। जिला बोर्डों के लिए मतदाता के $\frac{1}{2}$% थे। सरकार ने यह स्वीकार किया कि पश्चिमी देशों की तरह पूर्णतया चुनाव पद्धति भारत में नहीं अपनाई जा सकती, परन्तु कम से कम जनसंख्या के १६% मनुष्यों को स्थानीय स्वशासन के चुनाव में भाग लेने का अवसर अवश्य मिलना चाहिए। नगरपालिकाओं और जिला बोर्डों में अध्यक्ष निर्वाचित होने चाहियें। जनता को वास्तविक अधिकार मिलने चाहियें और सरकार का नियन्त्रण कम होना चाहिए। सरकार को तभी हस्तक्षेप करना चाहिए जब यह शासन की कुशलता के लिए आवश्यक हो। नगरपालिकाओं को कर लगाने और उसे बढ़ाने-घटाने का अधिकार होना चाहिए। जो नगरपालिका सरकार की ऋणी है वे सरकार की बिना आज्ञा कर कम नहीं कर सकती है। स्थानीय निकायों को बजट के विषय में स्वतन्त्रता होनी चाहिए। मुख्य कार्यकारिणी अधिकारी को छोड़कर दूसरे अधिकारियों पर स्थानीय निकायों का ही नियन्त्रण रहना चाहिए। सरकार तो केवल छुट्टी के भत्ते, वेतन, पेन्शन इत्यादि के नियम निर्धारित कर सकती है।

नगरपालिकाओं को अपना कार्य करने के लिये सरकारी अनुमति की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए।

**मोन्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट**—मोन्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में स्थानीय स्वशासन पर उचित जोर दिया गया। इस रिपोर्ट में यह स्वीकार किया गया कि स्थानीय निकायों के पास रुपये की कमी थी और स्थानीय विषयों में जनता की रुचि बहुत धीरे-धीरे बढ़ रही थी। सरकार ने तत्कालीन परिणाम पर अधिक जोर दिया और राजनैतिक शिक्षा की ओर कम ध्यान दिया। इस कारण पिछले ३५ वर्ष में स्थानीय स्वशासन में पर्याप्त उन्नति नहीं हुई। इस रिपोर्ट में अवस्था को सुधारने के लिए उचित सुझाव रखे। स्थानीय स्वशासन के विकास को अविलम्ब समझा गया। रिपोर्ट में कहा गया कि मनुष्य उस चीज को अच्छी तरह समझता है जो उससे सम्बन्धित है, जिसका उसे अनुभव है और जिसको वह अच्छी तरह समझता है। उसे वह भली प्रकार कार्यान्वित कर सकता है, इसलिए रिपोर्ट ने सिफारिश की कि स्थानीय निकायों पर जनता का पूर्ण नियन्त्रण रहना चाहिये। मोंटेग्यू और चेम्सफोर्ड ने कहा कि जहाँ तक हो सके स्थानीय निकायों पर जनता का पूर्ण नियन्त्रण होना चाहिए और बाहर का नियन्त्रण उन पर कम से कम होना चाहिये। इस सिद्धान्त को उन्होंने अपने सुझावों का प्रथम सूत्र बताया।[1]

**१९१९ के अधिनियम के अन्तर्गत स्थानीय निकायों का विकास**—इस अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तों में द्वैतशासन स्थापित हुआ। प्रान्तीय विभागों को दो भागों, हस्तान्तरित और सुरक्षित में—बाँट दिया गया। स्थानीय स्वशासन के विभाग को हस्तान्तरित विभाग में रखा गया और यह भारतीय मन्त्रियों को सौंप दिया गया, जो प्रान्तीय विधान मण्डलों के प्रति उत्तरदायी थे। मन्त्रियों ने स्थानीय निकायों के विकास का भरसक प्रयत्न किया। उनके रास्ते में सबसे बड़ी रुकावट धन की थी। वे अपनी इच्छानुसार इसका विकास नहीं कर सकते थे। वित्त सुरक्षित विभाग था और कार्यकारिणी का एक परिषद उसका कर्ता धर्ता था जो विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी नहीं था। जब कभी मन्त्रीगण अपनी माँग रखते थे तो वह अपनी इच्छानुसार उसमें काट-छाँट कर देता था इन सब बातों के होते हुए भी लगभग सब प्रान्तों में स्थानीय-स्वशासन को सुधारने के लिए नये अधिनियम पास किये गये। अधिक जनता को मताधिकार दिया गया और चुने हुए सदस्यों की संख्या बढ़ाई गई। जनता ने भी इन स्थानीय संस्थाओं में अधिक रुचि लेना आरम्भ कर दिया। संयुक्त प्रान्त में फरवरी १९२३ में 'डिस्ट्रिक्ट बोर्ड एक्ट' पास हुआ जिसके अनुसार इनके सब स्थानों की पूर्ति निर्वाचन से होने लगी। प्रान्तीय सरकार केवल दो मनुष्यों को मनोनीत करती थी। इसी प्रकार बम्बई प्रान्त में भी स्थानीय निकाय अधिनियम पास हुआ। सब नगरपालिकाओं और जिला बोर्डों में गैर सरकारी अध्यक्ष होने लगे। सरकारी नियन्त्रण का भी लगभग अन्त

१. रिपोर्ट ऑन इंडियन कान्स्टीट्यूशनल रिफार्म्स, पृष्ठ १२३।

कर दिया गया। स्थानीय निकायों को अपने साधन व आय बढ़ाने की स्वतन्त्रता मिल गई। ग्राम पचायतों को स्थापित करने का भी प्रयत्न किया गया। सयुक्त-प्रान्त मे एक अधिनियम पास किया गया जिसके अनुसार जिलाधीश को अपने स्वविवेक से किसी ग्राम या ग्रामों के समूह के लिये पचायत स्थापित करने का अधिकार दिया गया। यह पचायतें छोटे-छोटे दीवानी या फौजदारी के मुकदमें तय करती थी। इस नये अधिनियम के अन्तर्गत सबसे पहली पचायतें जुलाई १९२१ मे स्थापित हुई और दिसम्बर १९२२ तक उनकी सख्या ३०३० हो गई।[1] नगरपालिकाओं में सदस्यों ने साम्प्रदायिक भावनाओं को दूर नहीं रखा इसलिए जैसा कि प्रो० रशब्रुक विलियम्स ने कहा है कि इन धार्मिक मतभेदो के कारण वे अधिक सफलता प्राप्त न कर सकीं।

**१९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत स्थानीय निकायों का विकास**—इस अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तो मे स्वायत्त शासन स्थापित हो गया और सब विभाग निर्वाचित मन्त्रियो को सौंप दिये गये। इस कारण सब प्रान्तो मे स्थानीय निकायो मे सुधार करने के प्रयत्न किये गये। बम्बई और सयुक्त प्रान्त मे स्थानीय निकायों की समस्या पर विचार करने के लिये समितियाँ स्थापित की गई। बम्बई मे ग्राम पचायतों को नये ढग से सगठित किया गया। लोकप्रिय मन्त्रियो को दो ढाई साल ही अच्छी तरह कार्य करने का अवसर मिला। इसलिए वे अधिक महत्वपूर्ण कदम नहीं उठा सकते थे। थोड़े समय बाद युद्ध प्रारम्भ हो गया और कांग्रेसी मन्त्रियो ने त्याग पत्र दे दिये। इस प्रकार कई वर्षों तक कुछ प्रगति न हो सकी। १९४६ मे फिर से कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल स्थापित हुए और उन्होंने नये ढंग से स्थानीय स्वशासन में सुधार करना प्रारम्भ कर दिया।

**नये संविधान के अन्तर्गत विकास**—स्थानीय निकायो की उन्नति दृढ़तापूर्वक स्वतन्त्रता के समय से ही प्रारम्भ होती है। राज्य की नीति निर्देशक तत्वों मे भी स्थानीय निकायों पर जोर दिया गया है। सब राज्यों में स्थानीय स्वशासन मे सुधार करने के प्रयत्न किये गये हैं। स्थानीय निकायो को अधिक जनप्रिय बनाया गया है उनके कार्य मे वृद्धि की गई है और उन्हें अधिक से अधिक आर्थिक सुविधायें दी गई हैं। सयुक्त प्रान्त मे नगरपालिकाओं के अध्यक्षों के विरुद्ध अविश्वास के प्रस्तावों को पास करने का प्रचार सा हो गया। प्रत्येक अध्यक्ष अपना कार्य करने की अपेक्षा सदस्यो को खुश करने मे ही लगा रहता था। उनकी स्थिति बड़ी कमजोर थी इस कारण उनके चुनाव को प्रत्यक्ष रखा गया परन्तु इस प्रयोग मे कुछ सफलता न मिली और दुबारा फिर अध्यक्ष के चुनाव को अप्रत्यक्ष कर दिया गया है। मध्य प्रदेश मे भी उनका चुनाव अप्रत्यक्ष रूप मे है। बड़े-बड़े नगरों में महानगरपालिका (Corporation) स्थापित हो गई है। उत्तर प्रदेश में ऐसी सस्थायें वाराणसी,

---

१. बी० जी० खुपे : दी ग्रोथ ऑफ इण्डियन कान्स्टीट्यूशनल एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन पृ० ४२५।

इलाहाबाद, लखनऊ, आगरा और कानपुर मे स्थापित हुई हैं। मध्य प्रदेश मे ऐसी संस्थायें, इन्दौर, ग्वालियर और जबलपुर मे स्थापित हुई हैं। भारत की राजधानी दिल्ली मे एक विशेष प्रकार की महापालिका स्थापित की गई है। इसके क्षेत्र में नगर और कुछ आसपास के ग्राम दोनो शामिल हैं। इन महापालिकाओं को अधिक अधिकार दिये गये है। ग्रामों की अवस्था सुधारने के लिए लगभग प्रत्येक राज्य में ग्राम पंचायतें स्थापित की गई हैं। उत्तर प्रदेश मे ग्राम सभा और न्याय समितियाँ स्थापित हुई है। ग्राम सभाओं के लिए सब बालिग स्त्री व पुरुष मत दे सकते है। इन सभाओ के अधिकार भी बढ़ा दिये गये है यद्यपि इनकी आय के साधन अब भी बहुत कम है। उत्तर प्रदेश में डिस्ट्रिक्ट बोर्डों में भी आवश्यक सुधार किये जा रहे हैं। बोर्ड के सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई है और उनके कार्य क्षेत्र भी विस्तृत कर दिये गये हैं। मध्य प्रान्त मे १९२० तक ग्राम पंचायतें नहीं थी। उस वर्ष एक अधिनियम द्वारा पंचायतें स्थापित की गई। इस अधिनियम के अन्तर्गत जिलाधीश पंचो में से समस्त या कुछो को ग्राम न्यायालय का सदस्य बना सकता था। इन न्यायालयों को ५० रुपये तक के मुकदमों को तय करने का अधिकार था। १९५३ में ८००० पंचायतें थी। १९२० का पंचायत अधिनियम १९४६, १९४७, १९४८, १९४९, १९५०, १९५१ और १९५३ में संशोधित किया गया। इस प्रकार ग्राम पंचायतों को अधिक शक्तियाँ दे दी गई हैं। उनको बहुत से प्रशासकीय और विकास कार्य सौंप दिये गये हैं। बलवन्तराय मेहता समिति की रिपोर्ट ने ग्राम पंचायतो को बढ़ाने पर अधिक जोर दिया। इस रिपोर्ट के अनुसार सब विकास कार्य जिला बोर्डों के सहयोग से होने चाहिएँ। विकास का सब कार्य धीरे-धीरे इन बोर्डों के सुपुर्द किया जा रहा है। बलवन्तराय मेहता रिपोर्ट के अनुसार सबसे अधिक कार्य राजस्थान में हुआ है, वहाँ की सरकार प्रजातान्त्रिक विकेन्द्रीकरण मे लगी हुई है। पंचायतो पर नया उत्तरदायित्व सौंप कर ग्रामो मे एक नया युग और नया जीवन प्रारम्भ करने का प्रयत्न चल रहा है।

अध्याय २१

# न्यायपालिका का विकास

लार्ड हेस्टिंग्ज और लार्ड कार्नवालिस के कार्यकाल में न्यायपालिका की त्रुटियों को सुधारने का प्रयत्न किया गया परन्तु इस दिशा में कोई ठोस कार्य न हो सका। मैकाले ने प्रथम बार न्यायपालिका को सुधारने पर जोर दिया। उसने भारत के लिए एक समान संहिता तैयार करने की मांग की। वह प्रभावशाली वक्ता और निडर आलोचक था। वह बहुत योग्य था और संसद में उसका भय था। संहिता तैयार करने के लिए उसी को चुना गया। १८३३ में संसद में इस विषय पर बोलते हुए उसने कहा, "मेरा यह विश्वास है कि कानूनों की संहिता की जितनी आवश्यकता भारत को है इतनी किसी देश को नहीं है और न किसी देश में यह इतनी आसानी से तैयार की जा सकती है।" संसद के एक अधिनियम द्वारा महा-राज्यपाल को संहिता तैयार करने के लिए एक समिति स्थापित करने का अधिकार मिला। लार्ड मैकाले इस समिति का सदस्य था। वह भारत आया और १८३४ और १८३८ के बीच उसने संहिता तैयार करने का कार्य किया। उसके प्रारूप पर २२ वर्ष तक अमल नहीं हुआ। उसका प्रारूप १८६० में ही कानून बना। इस २२ वर्ष के समय में मैकाले द्वारा बनाये गये प्रारूप की भली प्रकार छानबीन की गई। सर बार्नस पीकोक का इसमें अधिक हाथ था। वे कलकत्ता उच्च न्यायालय के प्रथम मुख्य न्यायाधीश थे। १८५३ में कम्पनी के चार्टर का नवीनकरण किया गया और उसी वर्ष इंगलैण्ड में एक कानूनी आयोग स्थापित हुआ। १८६१ में एक दूसरा कानूनी आयोग स्थापित किया गया। इन कानूनी आयोगों को भारतीय कानूनों पर विचार करना था। १८३३ और १८५३ के अधिनियमों के अन्तर्गत जो कानून आयोग स्थापित हो गए थे उनके परिश्रमों के फलस्वरूप भारतीय कानून और उनकी नियमों की संहितावद्ध किया गया। व्यवहार-प्रक्रिया (Code of Civil Procedure) को १८५९ में कानून का रूप दिया गया। भारतीय दण्ड संहिता (Indian Penal Code) १८६० में कानून बना और १८६१ में दण्ड प्रक्रिया संहिता (Code of Criminal Procedure) को कानून का रूप दिया गया।

**१८६१ का उच्च न्यायालय अधिनियम**—१८६१ में न्यायिक शासन में सुधार करने के लिए भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम पास किया गया। इस अधिनियम के अनुसार राजमुकुट को कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में उच्च न्यायालय स्थापित करने का अधिकार मिल गया। यह उच्च न्यायालय इन नगरों में १८६२ में स्थापित हुए। इन उच्च न्यायालयों के स्थापित होने के बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अन्तर्गत आने वाले उच्चतम न्यायालय और सदर दीवानी और सदर निजामत अदालतें समाप्त कर दी गई और उनके अधिकार क्षेत्र इन उच्च न्यायालयों को

हस्तान्तरित कर दिये गये। इन उच्च न्यायालयों में एक मुख्य न्यायाधीश होता था और १५ से अधिक न्यायाधीश नहीं हो सकते थे। इनमें से मुख्य न्यायाधीश को मिलाकर कम से कम ⅓ बैरिस्टर होने चाहियें और ⅓ भारतीय असैनिक सेवा के सदस्य होने चाहियें। जो मनुष्य पांच वर्ष तक किसी न्यायिक पद को ग्रहण कर चुके हैं और दस वर्ष तक वकालत कर चुके हैं वे भी उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश नियुक्त हो सकते थे।[1] न्यायाधीश ब्रिटिश राजमुकुट के प्रासादानुसार ही अपने पद पर रह सकते थे। जहाँ तक उनके अधिकारों का सम्बन्ध है वे बम्बई, कलकत्ता और मद्रास में ही दीवानी और फौजदारी मुकदमों की प्रारम्भिक सुनवाई कर सकते थे। दीवानी के विषयों में वे १०० रुपए से अधिक वाले मामले ले सकते थे और उन फौजदारी मामलों को ले सकते थे जिनको प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेटों ने भेजा हो।[2] समुद्र के बीच किये गये अपराधों के मुकद्दमे भी वे तय कर सकते थे। यदि यूरोपियन्स प्रेसीडेंसी नगरों से बाहर कोई अपराध करें तो उनके मुकद्दमों की सुनवाई उच्च न्यायालयों में होती थी। इन न्यायालयों को यह भी अधिकार था कि ईसाइयों के तलाक के मुकद्दमे तय करें। उच्च न्यायालयों के आधीन जो दीवानी और फौजदारी न्यायालय थे उनके फैसलों की अपील भी उच्च न्यायालय सुनता था। उच्च न्यायालय मान्य न्यायालय भी थी। ये न्यायालय बन्दी प्रत्यक्षीकरण लेख (Writ of Habeas Corpus) भी जारी कर सकते थे।

इन उच्च न्यायालयों को अपने अधीन न्यायालयों की देख-रेख करने का भी अधिकार था। वे अधीन न्यायालयों से मुकद्दमों के विषय में सूचना प्राप्त कर सकते थे। वे एक अधीन न्यायालय से मुकद्दमा हटा कर दूसरे अधीन न्यायालय में भेज सकते थे। उनको न्यायालय के कार्य के विषय में साधारण नियम जारी करने का भी अधिकार था। कलकत्ता उच्च न्यायालय के विषय में जो नियम बनते थे उनके लिये भारत सरकार की अनुमति आवश्यक थी। मद्रास और बम्बई के उच्च न्यायालयों के लिये प्रान्तीय सरकारों की अनुमति आवश्यक थी। १८६१ के अधिनियम के अनुसार राजमुकुट को कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के अलावा और क्षेत्रों में भी उच्च न्यायालय स्थापित करने का अधिकार था। इस शक्ति के आधार पर १८६६ में इलाहाबाद उच्च न्यायालय स्थापित हुआ। इसी प्रकार लाहौर और पटना में उच्च न्यायालय स्थापित हुए। इन उच्च न्यायालयों को अपील सुनने का ही अधिकार था। किसी उच्च न्यायालय को राजस्व सम्बन्धी विषयों पर प्रारम्भिक सुनवाई करने का अधिकार नहीं था। उच्च न्यायालयों की भाषा अंग्रेजी थी। प्रत्येक उच्च न्यायालय प्रांत का सबसे उच्च न्यायालय था। यदि किसी दिवानी मामले की रकम १०,००० या इससे अधिक रुपए की हो या कोई मुख्य कानूनी प्रश्न निहित हो तो प्रीवी कौंसिल को

१. गुरुमुख निहालसिंह : लैंडमार्क्स इन इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डेवलपमेंट, पृष्ठ ७८।

२. जे० बी० सूद : इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशनल डेवलपमेंट, पृष्ठ ४७०-४७१।

न्यायिक समिति के समक्ष अपील की जा सकती थी। कुछ विशेष कारणों के आधार पर फौजदारी मुकद्दमों में भी अपील हो सकती थी। ११२० तक मध्य प्रान्त और बरार एक चीफ कमिश्नर के आधीन था। १६२० में इस प्रान्त में राज्यपाल की नियुक्ति हुई। १६३६ में इस प्रांत में एक उच्च न्यायालय स्थापित हुआ इसमें पहले इस प्रांत में एक ज्यूडिशनल कमिश्नर होता था। ६ जनवरी १६३६ से नागपुर उच्च न्यायालय ने कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। सर गिलबर्ट स्टोन प्रथम मुख्य न्यायाधीश थे। इनकी सहायता के लिए पाँच और न्यायाधीश थे। लखनऊ में एक मुख्य न्यायालय (Chief Court) स्थापित हुआ। उत्तर पश्चिम सीमा प्रांत में एक ज्यूडीशनल कमिश्नर की अदालत थी। १८६५ में एक दूसरा भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम पास किया गया। इसके आधार पर महाराज्यपाल की परिषद् किसी क्षेत्र या स्थान को एक उच्च न्यायालय के क्षेत्र से निकाल कर दूसरे उच्च न्यायालय के क्षेत्र में रख सकती थी। इस अधिनियम के आधार पर महाराज्यपाल की परिषद् को अधिकार था कि वह उच्च न्यायालयों को देशी राज्यों में रहने वाली ईसाई प्रजा के मुकद्दमों की सुनवाई का अधिकार दे। १८६५ और १८७३ के बीच सब प्रांतों में दीवानी अदालत अधिनियम पास हुए जिनके अनुसार देश में एक सी पद्धति अपनाई जाने लगी। १६११ में उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या १५ व २० के बीच में रखी गई और महाराज्यपाल की परिषद् को उच्च न्यायालय स्थापित करने का अधिकार मिल गया।

**न्यायिक विषयों में जाति भेदभाव**—भारत में उच्च न्यायालयों के स्थापित होने से पहले और कुछ समय बाद तक जाति भेदभाव प्रचलित था। उच्च न्यायालयों से कम स्तर के न्यायालय यूरोपियन्स के मुकद्दमों की सुनवाई नहीं कर सकते थे। १८३३ में चार्टर एक्ट के पास हो जाने से यूरोपियन्स का भारत में प्रवेश पर जो प्रतिबन्ध था वह दूर हो गया और यह आशा प्रतीत हुई कि अब अधिक यूरोपियन्स भारत में आयेंगे। १८३४ के सरकारी प्रेषण में कहा गया कि भारतवासी और यूरोपियन्स को एक सी ही न्यायिक पद्धति लागू की जायेगी। "जहाँ पर सब लोगों के लिये एक समान न्याय नहीं है वहाँ पर सुरक्षा भी समान रूप से नहीं हो सकती।" इसलिये लार्ड मैकाले द्वारा बनाए गये १८३६ के अधिनियम के अन्तर्गत कलकत्ता, बम्बई और मद्रास नगरों के बाहर की दीवानी अदालतों में यूरोपियन्स के ऊपर मुकद्दमा चल सकता था। परन्तु १८७२ ई० तक फौजदारी मुकद्दमों के विषय में यह साधारण सिद्धान्त था कि यूरोपियन्स के ऊपर उन्हीं न्यायालयों में मुकद्दमा चलाया जा सकता है जो राजमुकुट द्वारा स्थापित हुई हैं। १८७२ में जब सर जेम्स स्टीफन कानूनी सदस्य बने तो उन्होंने साधारण फौजदारी अदालतों का क्षेत्राधिकारी यूरोपियन्स पर भी लागू कर दिया। परन्तु ये अदालतें अंग्रेजी कानून के विशेष उपबन्धों के आधार पर ही यूरोपियन्स के मुकद्दमों की सुनवाई कर सकती थी और इन न्यायालयों की शक्तियाँ भी सीमित कर दी गईं। १८८३ में प्रसिद्ध इलबर्ट बिल द्वारा यह प्रयत्न किया गया कि भारतीय सेशन जज और कुछ भारतीय मजिस्ट्रेट

यूरोपियन्स के मुकद्दमे की सुनवाई कर सकें परन्तु भारत में बसने वाली अंग्रेज जनता ने इस बिल का बड़ा विरोध किया। इस कारण १८८४ में एक संशोधित बिल पास किया गया जिसके अनुसार भारतीय सेशन्स जज और जिला मजिस्ट्रेट यूरोपियन्स के मुकद्दमों की सुनवाई कर सकते थे परन्तु यूरोपियन्स को यह अधिकार दिया गया कि वे सेशन्स के मुकद्दमों और जिला मजिस्ट्रेट के सम्मुख एक मिश्रित न्यायमण्डली (mixed jury) की माँग कर सकते थे जिसमें कम से कम आधे सदस्य यूरोपियन्स होने चाहियें।[1] सर जॉन स्ट्रेची ने लिखा है कि यह ऐसी माँग थी जो अंग्रेज स्वयं अपने देश में किसी मजिस्ट्रेट की अदालत में नहीं माँग सकते थे।

**संघ न्यायालय और उच्चतम न्यायालय**—१६३५ के अधिनियम के अन्तर्गत भारत में एक संघीय न्यायालय स्थापित हुई। यह विशेषकर संवैधानिक विषयों का निर्णय देने के लिये ही बनाई गई। प्रत्येक संघ शासन में इस प्रकार का न्यायालय होता है। इस न्यायालय की ब्यौरेवार व्याख्या हमने एक अन्य अध्याय में कर दी है। १६४६ तक इंगलैंड की प्रीवी कौंसिल ही भारत के लिए सबसे उच्च न्यायालय थी। संवैधानिक विषयों में संघ न्यायालयों की अपील प्रिवी कौंसिल में भेजी जाती थी। दीवानी और फौजदारी के मामलों की अपील भी प्रिवी कौंसिल में भेजी जाती थी। यदि आमतौर से प्रिवी कौंसिल में अपील भेजने की सुविधा न हो या आधीन न्यायालय अपील करने की अनुमति न दे तो प्रिवी कौंसिल को अपील के लिये विशेष अनुमति देने का अधिकार था। १६४६ में प्रिवी कौंसिल में अपील भेजने का अधिकार समाप्त कर दिया गया। नये भारतीय संविधान के अन्तर्गत एक उच्चतम न्यायालय की व्यवस्था की गई थी। यह देश का सबसे उच्च न्यायालय है। इसके फैसले के विरुद्ध कोई अपील नहीं हो सकती। यह न्यायालय १६५० में स्थापित हुआ। २८ जनवरी १६५० को इस न्यायालय के चीफ जस्टिस हरिलाल कनिया ने इसका उद्घाटन किया। इस न्यायालय का ब्यौरेवार वर्णन हम एक दूसरे अध्याय में कर चुके हैं।

**आधीन न्यायालय**—प्रांतों में कुछ आधीन न्यायालय भी रहे हैं। प्रत्येक जिले में एक डिस्ट्रिक्ट और सेशन्स जज रहा है वह जिले का सबसे उच्च न्यायिक अधिकारी होता है। जब वह सेशन्स जज के रूप में कार्य करता है तो वह फौजदारी मुकद्दमों की सुनवाई कर सकता है। उसे फाँसी तक की सजा देने का अधिकार है। उसके आधीन प्रथम, द्वितीय और तृतीय श्रेणी के मजिस्ट्रेट हैं जिनकी अपीलें वह सुनता है। जिला जज की स्थिति में वह दीवानी के मुकद्दमों की सुनवाई करता है और वह जिले की सबसे बड़ी दीवानी अदालत है। उसके मातहत कुछ सब जज, सिविल जज और मुन्सिफ भी होते हैं। अधिक काम होने के कारण अतिरिक्त सेशन्स जज भी नियुक्त हो सकते हैं। इसी प्रकार अतिरिक्त मुन्सिफ भी होते हैं। अन्य अनेक दे

---

१. बी० डी० सप्रे : दी ग्रोथ ऑफ इण्डियन कान्स्टीट्यूशन एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन, पृष्ठ ४५१-४५२।

मुन्सिफो को नियुक्त करने की प्रथा नहीं थी। द्वितीय श्रेणी और तृतीय श्रेणी के मजिस्ट्रेटों की अपील जिला मजिस्ट्रेट या अन्य प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेटों की अदालत मे होती है। प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेटो की अपील सेशन्स कोर्ट मे जाती है। सेशन्स कोर्ट की अपील हाईकोर्ट मे जाती है। जिला कलक्टर जिले की सबसे बड़ी राजस्व अदालत है। उसके मातहत डिप्टी कलक्टर और तहसीलदार होते हैं। इनकी अपीलें जिला कलक्टर के पास जाती हैं। जिला कलक्टर की अपीलें कमिश्नर के पास जाती हैं और और अन्त मे एक बोर्ड ऑफ रिवेन्यू होता है जो कमिश्नर की अपीलें सुनता है। छोटे-छोटे दीवानी मामलो को सुनने के लिए अवैतनिक मुन्सिफ भी होते थे और अवैतनिक दण्डाधिकारी छोटे-छोटे फौजदारी के मुकद्मे तय करते थे। अवैतनिक दण्डाधिकारी सामूहिक रूप से बैठते थे। कभी-कभी स्पेशल मजिस्ट्रेट भी नियुक्त होते थे। स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद जिले की इस न्यायिक पद्धति को ज्यो का त्यों अपना लिया गया है।

यहाँ पर हम अपने न्यायिक संगठन के ३ मुख्य प्रश्नों पर कुछ कहना आवश्यक समझते हैं। ब्रिटिश शासन काल मे शासन को सुदृढ़ करने के लिए अवैतनिक दण्डाधिकारी नियुक्त होते थे। ये सरकार परस्त रायसहाब, राय बहादुर और खान बहादुर होते थे और सरकार के पिट्ठू व हाँ मे हाँ मिलाने वाले होते थे। खेद की बात है कि सरकार ने इस बुरी प्रथा को जारी कर दिया है। अब भी शासित दल के लोग ही अवैतनिक दण्डाधिकारी नियुक्त होते हैं। ये अपने प्रभाव के द्वारा शासित दल को चुनाव मे सहायता देते हैं और अपने अधिकार का दुरुपयोग करते है। एक स्वतन्त्र देश मे ऐसे दण्डाधिकारियो की नियुक्ति करना सर्वथा प्रजातन्त्र के विरुद्ध है। नानावती के मुकद्मे मे उच्चतम न्यायालय ने अपना फैसला देकर यह सिद्ध कर दिया कि हमारे न्यायाधीश स्वतन्त्र हैं। इसी प्रकार करनाल हत्याकाण्ड मे पजाब उच्च न्यायालय के फैसले ने यह भी सिद्ध कर दिया कि न्यायाधीश प्रांतीय सरकार की कठपुतली नहीं है बल्कि उनका स्वतन्त्र अस्तित्व है परन्तु न्यायपालिका के प्रति सरकार का व्यवहार सन्तोषपूर्ण नहीं है। एक बार श्री नेहरू ने जजों के विषय मे एक अनुचित वक्तव्य दिया। श्री एस० एम० पटेल इत्यादि के विरुद्ध जो कार्यवाही चल रही थी उसमे हमारी सरकार ने बोस आयोग की बात न मानकर लोक सेवा आयोग की बात मानी। इस निश्चय से जनता मे असंतोष फैला। कुछ समय से सरकार ने न्यायाधीशों को अच्छे-अच्छे पद देकर फुसलाने का प्रयत्न किया है। श्री एम० सी० छागला को अमेरिका मे अपना राजदूत नियुक्त करके सरकार ने न्यायपालिका की स्वतन्त्रता पर कुठाराघात किया था। अन्त मे हम कहना चाहते हैं कि कांग्रेसी नेताओं ने बहुत सालो तक ब्रिटिश सरकार से न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक् रखने की माँग की। ब्रिटिश सरकार अपने हित मे इस बात को नहीं मानना चाहती थी। सर जॉन स्ट्रेची ने कहा था कि यदि इस सिद्धांत को मान लिया गया तो ब्रिटिश सरकार का अन्त होना प्रारम्भ हो जायेगा। बहुत से सरकारी आयोगों और समितियों ने इस विषय पर विचार किया। सर हार्वे एडमसन ने

१९०८ में साम्राज्य व्यवस्थापिका परिषद् के समक्ष कहा कि "न्यायिक शासन पवित्र ही नहीं होना चाहिये बल्कि यह तभी हमारे शासन की दृढ़ नींव बन सकता है जब यह सन्देह से परे हो।" हमारे नये संविधान में नीति निर्देशक तत्वों में अनुच्छेद ५० के अनुसार सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक् करने के लिये आवश्यक कदम उठाये। परन्तु इस समय तक शायद ही किसी राज्य में इस दिशा में सफल कदम उठाया गया है। उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में कुछ प्रयोग किये गये हैं परन्तु वे सन्तोषजनक नहीं हैं। स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद कांग्रेसी नेताओं का विश्वास इस सिद्धान्त में कम होता जा रहा है यह खेदजनक है।

अध्याय २२

# भारतीय संविधान की प्रमुख विशेषतायें

१ विभिन्न संविधानों का मिश्रण—हमारे संविधान के निर्माताओं ने पुरानी लकीर का अनुसरण करने का प्रयत्न किया है। भारतीय संविधान में संसार के कुछ वर्तमान लोकतन्त्रात्मक संविधानों की अच्छी बातों का और विशेषकर अमेरिकन ब्रिटिश, कनाडियन और आयरिश संविधानों की विशेषताओं का समावेश किया गया है। हमारा संविधान दुनिया के बहुत से संविधानों की कुछ विशेषताओं को आधाररूप मानकर बनाया गया है।

२ संविधान एक विस्तृत लेख्य—नि सन्देह हमारा संविधान एक व्यापक लेख्य है। यह अपने विषय की एक संक्षिप्त रूप रेखा नहीं है और न यह अन्धकार में प्रकाश ढूंढने का ही प्रयत्न है। अधिकांश बात लेखबद्ध है। इसमें नए राष्ट्र की शैशव कालीन कठिनाइयों का ध्यान रखकर हर सम्भव समस्या के समाधान के लिए ब्यौरेवार व्यवस्थायें की गई हैं। प्रशासन और संवैधानिक सम्बन्धों के सभी पहलुओं का संविधान में उल्लेख हुआ है। इस ब्यौरे के कारण यह कहा जा सकता है कि इसमें वकीलों की मौज हो (lawyer's paradise) जायगी किन्तु संविधान के निर्माता यथा सम्भव संघर्ष के अवसर न आने देने के इच्छुक थे।

३. जनता की प्रभुता—हमारा संविधान जनता की प्रभुसत्ता पर आधारित है। संविधान परिषद द्वारा पास किये गये प्रस्ताव में यह बिल्कुल स्पष्ट कर दिया गया था कि संघ तथा इकाई दोनों ही में सर्वोपरि प्रभुता अन्त में जनता के हाथ में होगी। नये संविधान की प्रस्तावना में तो यह बात और भी स्पष्ट करदी गई है, "हम भारत के लोग भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के लिये दृढ़ सकल्प होकर इस संविधान को अंगीकृत अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।" यह साफ प्रगट है कि संविधान केवल जनता द्वारा बनाया ही नहीं गया है बल्कि उसके लाभ के लिये ही उसकी रचना की गई है।

४. संसदीय सरकार—नये संविधान में यह बुद्धिमत्ता की गई है कि संसदीय सरकार पद्धति को अपनाया गया है। यद्यपि भारत में राज्य का प्रधान राष्ट्रपति होता है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि भारत में अध्यक्षात्मक सरकार पद्धति प्रचलित है। प्रेजिडेन्ट केवल नाम मात्र के लिए राज्य का प्रधान होता है। हर काम प्रेजिडेन्ट के नाम पर राज्य के मन्त्री करते हैं। प्रेजिडेन्ट मन्त्रियों की सलाह से काम करता है और मन्त्री संसद के प्रति जो पूर्ण मताधिकार पर चुनी गई है उत्तरदायी होते हैं। राज्यों तक में उत्तरदायी सरकार है। राज्यपालों से यह आशा की जाती है कि वे मन्त्रियों की सलाह पर काम करें।

५. लोकप्रिय सरकार—नया संविधान लोकतन्त्रात्मक सिद्धान्तों पर

निर्मित हुआ है। यह एक लोकतन्त्रात्मक सरकार स्थापित करता है और भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य का नाम देता है। प्रभुसत्ता जनता के हाथ में है। जनता को पूरे राजनैतिक अधिकार प्राप्त हैं। इनमें राज्य के सर्वोच्च पद को प्राप्ति करना और उसके लिए चुने जाने का अवसर मिलना भी सम्मिलित है। २१ वर्ष से ऊपर आयु वाले सभी नागरिकों को पूर्ण मताधिकार प्राप्त हैं। जहाँ तक कि राय देने और राजनैतिक अधिकारों के उपयोग का सम्बन्ध है जन्म, आर्थिक अवस्था, रंग, जाति या लिंग के सभी भेद मिटा दिये गये हैं। "इस संविधान ने कलम की एक नोंक से भारत के किसानों की जो जनसंख्या का ७० प्रतिशत भाग है स्थिति ही बदल डाली है, संसदीय सरकार और पूर्ण वयस्क मताधिकार के द्वारा सरकार जनता और उसके प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी हो गई है।"[1]

६ एक लौकिक राज्य (A secular state)—भारत में अनेक मतों को मानने वाली और अलग-अलग बोलियाँ बोलने वाली अनेक जातियाँ बसी हुई हैं। ये जाति, धर्म और भाषा के भेद उनके सरकार के विभिन्न अंगों में भाग लेने में कोई बाधा नहीं बनते। सभी लोग एक सामान्य नागरिकता के सभी अधिकारों का उपभोग करते हैं। बिना धर्म, जाति, रंग और रूप आदि के विचार के सभी के लिए एक ही प्रकार की नागरिकता है। भारत का कोई राज धर्म नहीं है। हर व्यक्ति को अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी धर्म को मानने, आचरण करने व प्रचार करने का पूर्ण अधिकार है। पूजा की विधि के विषय में भी ऐसी ही स्वतन्त्रता है। सरकार धार्मिक मामलों में किसी प्रकार का कोई हस्तक्षेप नहीं करती। सभी नौकरियाँ और पद सबके लिए समान रूप से खुले हैं। कानून के आगे सब समान हैं। इस विषय में अनुसूचित जातियों, जन-जातियों व ऐंग्लो इण्डियनों को दी गई विशेष रियायतें लौकिकता के सिद्धान्त के प्रतिकूल जाती हैं।

७ भारत एक संघ शासन—भारतीय संविधान संघ सिद्धान्त पर आधारित है। "संविधान का ढांचा सब आवश्यक तत्वों से संघात्मक है।"[2] इस संविधान द्वारा एक दो भागों वाला राजतन्त्र (dual polity) स्थापित किया गया है और संघ सरकार व इकाई दोनों में ही विधायनी शक्तियाँ बाँटी गई हैं। यद्यपि 'संघात्मक' का शब्द संविधान में कहीं नहीं आया है पर संविधान की सभी मुख्य विशेषतायें संघ के अनुरूप हैं। संविधान का नाम यूनियन (इकाई या मेल) अवश्य है किन्तु इस शब्द का अर्थ संघ भी होता है और वास्तव में यह संविधान संघात्मक है भी। संघ संविधान में शक्ति विभाजन के अतिरिक्त एक संघ न्यायालय की भी व्यवस्था है जो केन्द्र व इकाइयों के बीच शक्ति विभाजन सम्बन्धी झगड़े तय करेगा। संविधान में एक प्रस्तावना जुड़ी है, एक दूसरे सदन की भी व्यवस्था की गई है और संविधान की कठोरता पर बल दिया गया है। इस प्रकार इस संविधान में संघ के सभी लक्षण

१. अवर कान्स्टीट्यूशन (एक सरकारी प्रकाशन), पृष्ठ १४।
२. एस० एन० मुकर्जी : अमृत बाजार पत्रिका, २६ जनवरी १९५०, पृष्ठ ३३।

विद्यमान हैं। यह सब कुछ देखते हुए यह बड़े आश्चर्य की बात मालूम पड़ती है कि जैसे डा० के० पी० मुकर्जी ने इस तथ्य के विरुद्ध एक लेख में अपने विचार प्रकट किये हैं।[1] हम भारतीय संघ की प्रकृति के विषय में आगे विचार करेंगे।

८ मूल अधिकार—भारतीय संविधान ने अपने नागरिकों के मूल अधिकारों के लिए एक विशेष प्रबन्ध किया है। ये अधिकार निम्न प्रकार के हैं :—

समान व्यवहार का अधिकार, स्वातन्त्र्य अधिकार, शोषण से रक्षा का अधिकार, धर्म, संस्कृति व शिक्षा का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार और संवैधानिक उपचारों का अधिकार—इन अधिकारों के प्रयोग पर कुछ प्रतिबन्ध भी लगाए गए हैं। इनके लिए न्यायालय में कार्यवाही हो सकती है यदि इनका कहीं उल्लंघन होता हो।

६. राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्त—हमारा संविधान राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्तों का भी एक अद्भुत आयोजन करता है। ये सिद्धान्त न्यस्त (Justiciable) नहीं हैं। ये केवल नैतिक दृष्टि से केन्द्रीय और राज्य सरकारों के पथ प्रदर्शन के लिए बनाए गये हैं। इन सिद्धान्तों की पूर्ति करना सरकारों के लिए आवश्यक नहीं है। यह केवल आदर्श परामर्श का मूल्य रखते हैं।

१०. राष्ट्रीय भाषा—हमारी संविधान परिषद ने हिन्दी को भारत की राज-भाषा घोषित करके एक बड़ा बुद्धिमत्तापूर्ण, सूझ-बूझ का और सराहनीय कार्य किया है। यदि देश को एक राष्ट्र की स्थिति में लाना हो तो एक राष्ट्रीय भाषा का होना परम आवश्यक है। किसी राष्ट्र की एकता को बनाने और उसकी जड़ें मजबूत करने के लिए एक समान भाषा का होना सबसे महत्वपूर्ण तत्व है। इसके द्वारा दक्षिण भारत के निवासियों को कुछ असुविधा भले ही हो पर उसे सह लेना चाहिये। यदि लोग देश की स्वाधीनता के लिए जेल जा सकते हैं तो कोई कारण नहीं कि वे अपनी राष्ट्रीय भाषा के लिए कुछ त्याग न करें। राष्ट्र भाषा राष्ट्र के विचार विनिमय, आदान प्रदान व सम्पर्क का माध्यम है और भारत जैसे बड़े देश के प्रशासन के लिये परम आवश्यक है। संविधान में देवनागरी लिपि में लिखित हिन्दी को सरकारी काम-काज की भाषा रखने का विधान है। पन्द्रह वर्ष के लिए और इसके बाद भी केन्द्रीय सरकार के कामकाज के लिए अंग्रेजी का प्रयोग जारी रहेगा। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि हिन्दी का प्रयोग इससे पहले न हो। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार व राजस्थान जैसे कई हिन्दी भाषी राज्यों ने हिन्दी का विस्तारपूर्वक प्रयोग शुरू कर दिया है। कुछ सीमित मात्रा में केन्द्रीय सरकार ने भी इसका प्रयोग आरम्भ कर दिया है। विदेशी सरकारों के साथ की गई कुछ सन्धियों पर हिन्दी में हस्ताक्षर किये गये हैं। कुछ वर्ष पहले भारत सरकार ने श्री बी० जी० खेर की अध्यक्षता में एक हिन्दी कमीशन नियुक्त किया था जिसका उद्देश्य भारत सरकार के सरकारी कामकाज के अनुरूप हिन्दी के विकास के लिए मार्ग व साधनों के सुझाव देना था।

---

१. दी इंडियन जरनल ऑफ पोलिटिकल साइन्स, भाग १५, पृष्ठ १७७-१७६।

११. अल्पसंख्यक वर्गों के लिये विशेष उपबन्ध—संविधान में अनुसूचित जातियों व जन के लिये विशेष उपबन्ध रखे गए हैं। इनका उद्देश्य पिछड़े हुए वर्गों के हितों की रक्षा करना है। कुछ समय के लिए उनके विधान मण्डलों में स्थान सुरक्षित किए गए हैं। आसाम में जन जाति क्षेत्रों के लिये जिला काउन्सिलें और स्वायत्त प्रान्त प्रादेशिक काउन्सिलें स्थापित की गई हैं। जन जातियों को स्थानीय प्रशासन में काफी भाग दिया गया है, दूसरे राज्यों में जन जातियों को प्रशासन में मिलाने के लिए सलाहकार समितियों की स्थापना का आयोजन किया गया है। यह भी निश्चित किया गया है कि जन जातियों के कल्याण कार्य की देख-भाल एक अलग मन्त्री के हाथ में हो। मध्य प्रदेश में ऐसा एक मन्त्री नियुक्त हो भी गया है। इन रक्षा-कवचों (safeguards) के पालन के सम्बन्ध में एक विशेष अफसर निश्चित अवधियों पर अपनी रिपोर्ट सरकार को देता है। संविधान में अनुसूचित जातियों के प्रशासन और अनुसूचित जन जातियों की भलाई के कार्यों की रिपोर्ट देने के लिए एक स्पेशल कमीशन की नियुक्ति का भी उपबन्ध है। इस प्रकार का एक कमीशन जिसका नाम पिछड़े वर्ग कमीशन है और जिसे भारत सरकार द्वारा नियुक्त किया गया था पिछड़ी जातियों की दशा सुधारने के सम्बन्ध में कई कदम उठाने की सिफारिश कर चुका है। संविधान में ऐंग्लो इण्डियनों के लिये संसद में प्रतिनिधित्व की भी व्यवस्था की गई है।

१२. सबसे लम्बा लेख्य—हमारा संविधान सम्भवतः संसार का सबसे बड़ा लेख्य है। "यह अवश्य ही संसार का सबसे बड़ा और सर्वाधिक ब्यौरे वाला संविधान होगा।"[1] इसमें ३९५ अनुच्छेद और ८ सूचियाँ हैं। इसीलिए इसे अनावश्यक रूप से ब्यौरेवार और फैला हुआ समझा जाता है। बहुत से ऐसे मामलों का जिनको सुलझाने का काम दूसरे देशों में संसदों पर छोड़ दिया जाता है, संविधान में स्पष्ट और ब्यौरेवार उल्लेख हुआ है। देश का विस्तार, जनसंख्या की विभिन्नता, विभिन्न प्रकार के हितों का होना और उनमें समझौते का औचित्य तथा एक नए लोकतन्त्र के लिये रक्षा कवच रखना, कुछ ऐसी आवश्यकतायें हैं जिनके कारण इतना लम्बा संविधान अनिवार्य हो गया। सर आइवर जैनिंग्स ने भारतीय संविधान के विशालकाय होने के अनेक कारण दिए हैं। भारतीय संविधान में केवल संघ के संविधान का ही समावेश नहीं हुआ है बल्कि इसमें संघ के अन्तर्गत आने वाले संविधानों का भी समावेश हो गया है। संघ और इकाइयों के पारस्परिक सम्बन्ध, अधिकारों का बिल, राजकार्य नीति के निदेशक सिद्धान्त, न्यायपालिका का संगठन, सार्वजनिक सेवायें, ऐंग्लो-इण्डियन, अनुसूचित जन-जातियाँ और सरकारी भाषा ऐसे विषय हैं जिनका कि क्षेत्र बहुत विशाल है और जिनमें संविधान के अनुच्छेदों की एक बड़ी संख्या लग गई है।

१. सर आइवर जैनिंग्स : सम कैरैक्टरिस्टिक्स ऑफ दी इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशन, पृष्ठ ३१।

उपरोक्त सब विषयों के सम्बन्ध में संविधान के २६० अनुच्छेद और चार सूचियां लगी हैं अर्थात् सारे संविधान का दो तिहाई भाग इन्हीं विषयों की व्याख्या से भरा है।[1] इन अनुच्छेदों के कुछ विषय ऐसे थे जो आसानी से संसद पर छोड़े जा सकते थे, संविधान के बड़े होने का एक और भी कारण है। यह संविधान मूलतः सन् १९३५ ई० के कानून से लिया गया है और इसकी बहुत सी व्यवस्थायें उस कानून से ज्यों की त्यों नकल कर दी गई हैं।[2] सन् १९३५ ई० का कानून ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा आसानी से संशोधित किया जा सकता था किन्तु वर्तमान भारतीय संविधान का संशोधन करने के लिए एक विशेष प्रक्रिया आवश्यक है। इसके अतिरिक्त भारत के नेताओं को अपने समय की भारत की परिस्थितियों को भी ध्यान में रखना था। इसीलिये उन्होंने सभी नागरिकों के हितों की रक्षा के लिए काफी रक्षा कवचों का प्रबन्ध किया।

१३. एक कठोर संविधान—संघ शासन में संविधान अनिवार्य रूप से कठोर बनाया जाता है। ऐसा सम्मिलित होने वाले राज्यों को राजी करने के और संघ सम्बन्धी समझौते को एक पवित्र बन्धन का स्थान देने के उद्देश्य से किया जाता है। नए संविधान में कार्य विभाजन की व्यवस्थायें संघीय विधान मण्डल में इकाइयों के लिए स्थान निश्चित करने और संघीय न्यायालय की शक्तियाँ ऐसी बातें हैं जो राष्ट्रीय विधान मण्डल के दो तिहाई बहुमत के अधिकार से भी ऊपर रक्खी गई हैं। एक कठोर संविधान को और अधिक कठोर बनाने की कोई आवश्यकता नहीं थी। "भारतीय संविधान में सबसे बड़ी कठोरता यह है कि जहाँ एक ओर इसके संशोधन का तरीका बड़ा कठोर रक्खा गया है वहाँ दूसरी ओर यह इतना अधिक ब्यौरे वाला है और कानून के इतने बड़े व्यापक क्षेत्र से सम्बन्धित है कि इसके वैधानिक औचित्य (constitutional validity) की समस्या प्रायः आती रहेगी।"[3] ऐसी बहुत कम व्यवस्थायें हैं जिनका साधारण बहुमत द्वारा ही संशोधन हो सके।

१४. एक मजबूत केन्द्र—यद्यपि संविधान संघात्मक प्रकृति का है किन्तु यह एकात्मक प्रवृत्ति लिए हुए है, प्रधान शक्तियाँ (residuary powers) केन्द्र में निहित हैं। एक सूची समवर्ती विषयों की भी है। यदि कोई विषय राष्ट्रीय महत्व का बन जाय तो यह केन्द्रीय सरकार के अधिकार क्षेत्र में लाया जा सकता है। आपात्काल में शासन-प्रबन्ध विफल हो जाने पर सरकार के संचालन की व्यवस्था की गई है। युद्ध, बाहरी आक्रमण या आन्तरिक गड़बड़ी की अवस्था में राष्ट्रपति एक उद्घोषणा (Proclamation) द्वारा आपातकाल घोषित कर सकते हैं। राष्ट्-

---

१. सर आइवर जैनिंग्स : सम कैरैक्टरिस्टिक्स ऑफ दी इंडियन कान्स्टीट्यूशन, पृष्ठ १३।

२. वही, पृष्ठ १०।

३. वही, पृष्ठ १०।

पति और राज्यपालो को विशेष शक्तियाँ दी गई हैं। सभी महत्त्वपूर्ण कार्यवाहियो को एकरूपता से कार्यान्वित की गई योजनानुसार चलाने का निर्देश करने वाले उपबन्ध (Provisions) एक समान न्यायपालिका, मौलिक कानूनो मे एकता, समान अखिल भारतीय सेवायें, एक ही नागरिकता व एक भाषा का व्यवहार कुछ ऐसी बातें हैं जो भारत की राष्ट्रीयता की जडो को मजबूत करेंगी। आधुनिक जगत की असाधारण अवस्था मे एक मजबूत केन्द्रीय सरकार का होना परम आवश्यक है। जैसा कि लन्दन के "टाइम्स" पत्र ने लिखा है, राज्य मे फूट फैलाने वाली शक्तियो से राष्ट्र को बचाने के लिए और सघ के अन्तर्गत आने वाली उन इकाइयो को सभालने के लिये जो अपनी कार्यक्षमता मे एक दूसरी मे बहुत भिन्न हैं सघ (Union) के पास एक मजबूत केन्द्र अवश्य ही होना चाहिये, एक ओर वे भूत-पूर्व ब्रिटिश भारत के प्रान्त हैं जो बहुत समय से जमे हुए शासन मे चले आ रहे हैं और दूसरी ओर वे नये और अनुभव शून्य प्रशासन हैं जिनके हाथो मे अब पूर्व-कालीन देशी राज्यो का शासन भार आ गया है। आपातकाल मे एक ऐसा अधिकारी होना चाहिये जिसकी सब आज्ञा मानते हो। डाक्टर भीमराव अम्बेदकर ने ठीक ही कहा है, "इसमे कोई सन्देह नहीं है कि अधिकाश जनता की राय मे आपातकाल मे नागरिक की अवशेष राजभक्ति (residual loyalty) केन्द्र के प्रति होनी चाहिये और सघ के अन्तर्गत आने वाली इकाइयो के प्रति नही क्योंकि केवल केन्द्र ही समूचे देश के सामान्य व सार्वजनिक हित की दृष्टि से कार्य कर सकता है। इसी कारण से केन्द्र को आपातकाल के लिए कुछ सर्वोपरि शक्तियाँ (over-riding-powers) दी गई हैं।" इन केन्द्रीय शक्तियो व सकटकालीन उपबन्धो को कुछ आलोचको ने लोकतन्त्र के विरुद्ध ठहराया है। वे आलोचक इस बात को भूल जाते हैं कि ये सब शक्तियाँ सरकार के परामर्श के साथ प्रयुक्त की जायेंगी। राष्ट्रपति व राज्यपाल कोई सीजर या जार के नमूने के शासक नही होगे।

१५ **ब्रिटिश राजमुकुट के साथ सम्बन्ध**—सविधान परिषद ने एक दूसरे ढग से हमारे ऊपर गुलामी की छाप लगा दी है। भारत का ब्रिटिश साम्राज्य-वाद के साथ गठ-जोड कर दिया गया है। स्वतन्त्र सपर्क के प्रतीक (symbol of free association) के वेष मे हमने ब्रिटिश राजमुकुट को अपना सिरोमणि मान लिया है। एक विदेशी राजमुकुट के साथ इस प्रकार का सम्बन्ध हमारे राष्ट्रीय आत्म-सम्मान पर एक ही अमिट कलक है। हम यह अनुभव करते हैं कि हमे अनेक प्रकार से ब्रिटिश सरकार से समर्थन की आवश्यकता है किन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हजारो अन्य उपाय निकाले जा सकते हैं। विदेशी नरेश के साथ तनिक सा सम्बन्ध भी एक स्वाधीन राष्ट्र का न तो लक्षण है और न उसे शोभा ही देता है।

१६ **सर्वोच्च न्यायालय**—नये सविधान मे एक सर्वोच्च न्यायालय की व्यवस्था की गई है जो सघ न्यायालय का कार्य करेगा और देश का सबसे बडा न्यायालय होगा। इसे सुनवाई के प्रारम्भिक व अपीलीय दोनो प्रकार के क्षेत्रा-धिकार होगे और परामर्श देने का भी अधिकार होगा। इसका अधिकार क्षेत्र

अमेरिका के सुप्रीम कोर्ट से भी कहीं अधिक व्यापक होगा। यह केन्द्र व इकाइयों के बीच उठने वाले झगड़ों को भी तय करेगा और नागरिकों के मूल अधिकारों की भी रक्षा करेगा। इसकी स्वतन्त्रता व निष्पक्षता की रक्षा की गारन्टी संविधान ने की है।

## क्या भारत एक संघ है ?
## (Is India a Federation ?)

हम इस बात को पहले ही कह कह चुके हैं कि भारतीय संविधान ने भारत में एक संघ की स्थापना की है यद्यपि संविधान में कहीं संघ शब्द नहीं आया है किन्तु हमारे संविधान में संघ सरकार की सभी आवश्यक विशेषतायें विद्यमान हैं। डा० के० पी० मुकर्जी इस विचार से बिल्कुल सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं कि "यह संविधान निश्चित रूप से असंघात्मक (unfederal) या एकात्मक (unitary) है।"[1] आपका विचार है कि जिस संविधान में संघ शासन के लक्षणों में से एक का भी अभाव हो वह संघात्मक नहीं रह जाता।[2] आप हमारे संघवाद (federalism) की मोटी-मोटी विशेषताओं की उस मृत मनुष्य शरीर से तुलना करते हैं जिसे मानवीय शरीर रचना की सारी बनावट होते हुए भी मनुष्य नहीं कहा जाता। इसी प्रकार डा० मुकर्जी कहते हैं कि संघवाद का प्राण तत्व न होने के कारण भारतीय संघ एक मुर्दा है। आप संविधान के तीसरे अनुच्छेद पर विशेष बल देते हैं जिसके अनुसार भारतीय संसद कानून पास करके कोई नया राज्य बना सकती है, किसी राज्य के क्षेत्र को घटा बढ़ा सकती है, सीमायें परिवर्तित कर सकती है और उनका नाम भी बदल सकती है। आप लिखते हैं कि 'यदि यह एक एकात्मक सरकार की परिभाषा नहीं है तो मैं नहीं जानता कि वह क्या है'...। इसका तो यह अर्थ है कि यदि संसद चाहे तो कभी भी सारे देश को इकाई में बदल सकती है और इसमें भी बढ़कर बात यह है कि (वैधानिक उपायों द्वारा) यह केवल असम्भव ही नहीं हैं बल्कि यह सब कुछ वर्तमान संविधान में किसी प्रकार का संशोधन किये बिना ही किया जा सकता है।"[3]

कुछ और लेखकों ने भी इस प्रकार के विचार प्रकट किये हैं। एलन ग्लैडहिल (Alan Gledhill) का कहना है कि संविधान के निर्माता इस बात को जानते थे कि वे एक संघ शासन की स्थापना नहीं कर रहे हैं। क्योंकि हर जगह उन्होंने यूनियन (Union) शब्द का प्रयोग किया है। हमारे संविधान में संघ Federation) शब्द का प्रयोग कहीं नहीं हुआ है। इस लेखक की राय में हमारा संविधान काफी हद तक एकात्मक ढंग का है। कैनिथ वीहार जो संघ के विषय के प्रवीण व्यक्ति हैं वे भी इसी मत को मानते हैं उनका कथन है "कि भारत के नये संविधान में

---

१. दी इंडियन जरनल ऑफ पोलिटिकल साइन्स, भाग १५, पृष्ठ १०७।
२. वही।
३. वही, पृष्ठ १०८।

अधिक से अधिक आधे लक्षण संघ के हैं'''''''यह एकात्मक राज्य है जिसमें कि कुछ मामूली लक्षण संघ के हैं। न कि संघ राज्य जिसमें मामूली लक्षण एकात्मक राज्य के हैं"।[1] (The new Constitution .. is at most quasi-federal... ...a unitary State with subsidiary federal features rather than federal State with subsidiary unitary features.)

हम यहाँ यह बतला देना चाहते हैं कि राजनीतिक शास्त्र में गणित शास्त्र के सिद्धान्तों को पूर्ण कठोरता के साथ नहीं ग्रहण किया जा सकता। इस क्षेत्र में अभी कोई डार्विन, न्यूटन या फैरेड उत्पन्न नहीं हुआ है। "संसार में शायद ही कोई संघ शासन हो जो परिभाषा की दृष्टि से परिपूर्ण या आदर्श हो। कोई भी पुराना या वर्तमान संविधान ऐसा नहीं है जो पूर्णतया संघीय हो"।[2] किसी न किसी सिद्धान्त की अवहेलना हर किसी संघ में हुई है। अमेरिका में सिनेट के सदस्यों का प्रत्यक्ष चुनाव होता है। यह एक असंघात्मक लक्षण है। स्वीट्जरलैंड में संघीय न्यायालय किसी संघीय कानून को अवैध घोषित नहीं कर सकता। यह भी एक असंघात्मक लक्षण है। साम्राज्यवादी जर्मन संघ में प्रशिया एक दबदबे का स्थान रखता था। और उसकी स्थिति समवाद के सिद्धांत के प्रतिकूल थी, सन् १९३५ के कानून ने जो संघ योजना स्थापित की थी उसमें भी अनेक संघ के प्रतिकूल लक्षण थे। इसी प्रकार हमारे संविधान में अनेक ऐसी विशेषतायें हैं जो एक संघ (federation) में नहीं होनी चाहियें। इसमें एकात्मक की ओर झुकाव है किन्तु कुछ संघ विरोधी विशेषतायें होने का यह अर्थ नहीं हो जाता कि इन देशों में स्थापित संघ सरकारें ही नहीं हैं। इसका केवल इतना अर्थ है कि इन देशों में स्थापित संघ सरकारें संघ के आदर्श की दृष्टि से अपूर्ण हैं। संघ के सिद्धान्तों का होना मात्र (degree) के अनुसार है, गुण के अनुसार नहीं। दूसरे यह कहना कि भारतीय संसद सारे राज्यों को एक इकाई में बदल सकती है एक असम्भव कल्पना है। कोई भी भारतीय संसद जिसे जरा भी होश होगा ऐसा करने का साहस कभी नहीं करेगी। ब्रिटिश पार्लियामेन्ट भी यदि चाहे तो वह अपने सारे अधिकार किसी एक व्यक्ति को सौंप सकती है और यह कह सकती है कि तुम इन अधिकारों से जो मर्जी आये करो अर्थात् पार्लियामेंट वैधानिक तरीके से तानाशाही स्थापित कर सकती है लेकिन सब जानते हैं कि वह ऐसा कभी नहीं करेगी। इसी तरह भारतीय संसद राज्यों को कभी भी बिल्कुल समाप्त नहीं कर सकती।

यदि सीमाओं के परिवर्तन का प्रश्न राज्यों पर छोड़ा जाता तो कोई नया राज्य ही स्थापित न हो पाता। कोई भी राज्य अपने अधिकार के किसी क्षेत्र को दूसरे राज्य को देने पर राजी न होता इसीलिये यह अधिकार संसद को दिया गया

१. केनन म्नेहविल : दी रिपब्लिक आफ इन्डिया १९५९, पृष्ठ ९३।

२. नोरमन डी० पामर : फेडरेलिज्म इन थ्योरी एण्ड प्रेक्टिस, भाग १, पृष्ठ ३, भूमिका।

है। तीसरे अनुच्छेद के लगाने का अभिप्राय संविधान की संघीय विशेषताओं को समाप्त करने का कभी नहीं था।

भारतीय संघ में संघ के कुछ अनिवार्य तत्व भी विद्यमान हैं। प्रत्येक संघ संविधानों में एक प्रस्तावना होती है जिसमें उनकी भावना को व्यक्त किया जाता है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में कहा गया है कि "हम भारत के लोग भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के लिये'' ... दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में''' 'एतद द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।" इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यह संविधान जनता द्वारा बनाया हुआ है और एक लोकतन्त्रात्मक गणराज्य स्थापित करता है। प्रस्तावना में यह भी लिखा है कि संविधान का उद्देश्य न्याय स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुता की वृद्धि करना है। प्रायः सब संघ संविधान उन संविधान सभाओं द्वारा बनाये जाते हैं जो इसी उद्देश्य के लिये स्थापित की हुई होती हैं। फिलडेलफिया कन्वेंशन ने अमेरिकन संविधान बनाया था। इसी प्रकार हमारा संविधान हमारी संविधान परिषद् ने श्री डा० राजेन्द्र प्रसाद जी की अध्यक्षता में कार्य करते हुए बनाया था।

हर संघ में विधायनी शक्तियों का विभाजन होता है। भारतीय संविधान में भी ऐसा विभाजन मौजूद है। विभिन्न सरकारों की शक्तियाँ तीन सूचियों में दी हुई हैं। संघ सूची में संघ सरकार की शक्तियाँ दी हुई हैं। राज्यों की सूची में राज्य सरकार की शक्तियाँ दी हुई हैं। कुछ शक्तियाँ ऐसी हैं जिनका दोनों सरकारें (केन्द्र व राज्य) प्रयोग कर सकती हैं। ऐसी शक्तियाँ समवर्ती सूची (concurrent list) में दी हुई हैं। संघीय कानूनों और राज्य कानूनों में विरोध होने पर संघ कानून मान्य होगा। यह एक सर्वविदित संघ सिद्धान्त है। अनुच्छेद २४८ के अनुसार अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्र में निहित हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि संविधान r निर्माता राज्य सरकार की अपेक्षा केन्द्रीय सरकार को अधिक बलशाली रखना ाहते थे। इसी उद्देश्य को दृष्टि में रख कर दो अनुच्छेद २४९ और २५० ाविधान में जोड़े गये हैं जिनके अनुसार संसद को राज्य सूची में हस्तक्षेप करने का ाधिकार है, अनुच्छेद २४९ के अनुसार यदि राज्य परिषद् (Council of itates) उपस्थित और राय देते हुए सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से ये प्रस्ताव पास कर दे कि राष्ट्रीय हित में संसद को किसी राज्य सूची के अन्तर्गत आने वाले विषय पर कानून बनाना आवश्यक है तो ऐसा भी हो सकता है। अनुच्छेद २५० में संघ संसद को आपातकालीन अवस्था में राज्य सूची में आने वाले किसी भी विषय पर कानून बनाने का अधिकार दिया गया है। इन दोनों अनुच्छेदों के आधार पर डा० मुकर्जी कह सकते हैं कि भारत में कोई संघ सरकार नहीं है। किन्तु यह बात ठीक नहीं है। इन दो अनुच्छेदों से सिर्फ यह सिद्ध होता है कि संघ सरकार को कुछ अतिरिक्त शक्तियाँ दी गई हैं। फिर भी भारत में संघ शासन ही है।

सभी संघों में विधान मंडल के दो सदन होते हैं। निम्न सदन जनसंख्या

के आधार पर निर्वाचित होता है और उच्च सदन में इकाइयों के समान संख्या में अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित सदस्य होते हैं। इसी प्रकार हमारी संसद में भी दो सदन हैं। निम्न सदन व्यावहारिक रूप से जनसंख्या के आधार पर प्रत्यक्ष रूप से ही निर्वाचित हुआ है। यहाँ यह बता देना उचित होगा कि हमारे निम्न सदन में एक प्रतिनिधि ऐंग्लो इंडियन जाति का और छ प्रतिनिधि जम्मू और काश्मीर राज्य के होते है। ऐंग्लो इंडियन को राष्ट्रपति और जम्मू और काश्मीर के प्रतिनिधियों को उस राज्य की सरकार मनोनीत करती है। इसके अलावा कुछ और नामजद सदस्य भी होते हैं। इस प्रकार संघ सिद्धान्त से कुछ थोड़ा सा अन्तर जरूर हो जाता है। हमारी संसद के उच्च सदन में अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित या मनोनीत सदस्य होते हैं। इसमें भारतीय संघ की विभिन्न इकाइयों का समान प्रतिनिधान नहीं है। इस प्रकार से एक महत्वपूर्ण संघ सिद्धान्त का उल्लंघन हुआ है। अमेरिका, आस्ट्रेलिया, कैनेडा और स्विट्जरलैंड में समान प्रतिनिधान का नियम माना गया है किन्तु भारत में ऐसा नहीं है। सन् १९३५ के कानून में भी समानता के सिद्धान्त को नहीं माना गया था इसका कारण यह है कि भारत में न यह आवश्यक है और न उसकी माँग है।

हर संघ में एक संघ न्यायालय होता है जो संघ और इकाइयों के बीच उठने वाले मतभेदों का निर्णय करता है। संघ न्यायालय संविधान का निर्वाचन और व्याख्या भी करता है। भारत सुप्रीम कोर्ट नाम से एक इस प्रकार के न्यायालय की व्यवस्था की गई है। यह न्यायालय नागरिकों के अधिकारों की रक्षा भी करता है। अब तक न्यायालय ने अनेक महत्वपूर्ण फैसले किये हैं जिनमें उसने विधान मण्डलों द्वारा पास हुए कुछ कानूनों को अवैध घोषित किया है। इस प्रकार के संघ न्यायालय अमेरिका, स्विट्जरलैंड और दूसरे संघ शासित देशों में भी हैं।

सब संघ शासनों में इकाइयों के संविधान लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों पर बनाये जाते हैं। भारत में भी यह संघ सिद्धान्त अपनाया गया है। केवल केन्द्र में ही नहीं बल्कि राज्यों में भी उत्तरदायी सरकारें स्थापित की गई हैं। सन् १९३५ के कानून में लोकतन्त्र और निरंकुशता का मिश्रण था। वह बात नये संविधान में दूर कर दी गई है। अमेरिका में राज्यों के संविधान और स्विट्जरलैंड में केन्टनों के संविधान लोकतन्त्रीय सिद्धान्त पर बनाये गये हैं। प्रायः संघ संविधानों में मूल अधिकारों के एक अधिकार पत्र के जोड़ देने की परिपाटी पड़ी हुई है। ऐसा अमेरिका, स्विट्जरलैंड तथा अन्य संघ शासित देशों के संविधानों में किया गया है। भारत ने भी इस संघ सिद्धान्त को अपनाया और इस प्रकार इसके संविधान में भी एक लम्बी चौड़ी मूल अधिकारों की सूची लगाई गई है।

सभी संघों में संविधान कठोर और लिखित होता है। हम अमेरिकन और आस्ट्रेलियन संघ संविधानों की कठोरता से परिचित हैं। यद्यपि भारतीय संविधान इतना अधिक कठोर नहीं है जितना कि अमेरिका का परन्तु यह भी लिखित और कठोर अवश्य है। संविधान के कुछ उपबन्धों का संशोधन संसद केवल साधारण

बहुमत से कर सकती है। कुछ उपबन्ध ऐसे हैं जिनका संशोधन संसद के दोनों सदनों के दो तिहाई बहुमत से कर सकते हैं। कुछ अनुच्छेदों के संशोधन के लिए भारतीय राज्यों में से आधों की सहमति आवश्यक है। इस सहमति को प्राप्त करना बड़ा कठिन होता है।

सभी संविधानों में इकाइयाँ संघ से पृथक् नहीं हो सकतीं। ऐसा करने की आज्ञा ही नहीं होती है। इसी प्रकार भारतीय राज्य भी भारतीय संघ से पृथक् नहीं हो सकते। वे सदा के लिये संघ के सदस्य बनाये गये हैं।

एक दो बातें और हैं जिनमें हमारा संघीय संविधान और संविधानों से भिन्न है। संयुक्त राज्य अमेरिका में दोहरी नागरिकता है। वहाँ प्रत्येक राज्य या स्टेट को अधिकार है कि वह अपने नागरिकों अथवा निवासियों को जो अधिकार दें उन्हें अन्य निवासियों को न दें, या अधिक कठिन शर्तों पर दें। इसके विपरीत भारतीय संविधान में शासन तो दो हैं, परन्तु नागरिकता एक ही है। राज्यों की नागरिकता पृथक् नहीं है। सब भारतीय, वे चाहे जहाँ निवास करें विधि या कानून के सामने समान हैं। अमेरिका में राज्यों को अपने संविधान बनाने का अधिकार है। भारत में इकाइयों को यह अधिकार नहीं दिया गया है। यहाँ एक ही संविधान सब पर लागू होता है और संवैधानिक अधिकार भी एक ही है।

कुछ संघों में शासन दो होने के साथ ही विधान मण्डल, कार्यपालिका, न्यायपालिका और राज्याधीन नौकरियाँ भी दो हो जाती हैं। इस दोहरेपन के कारण विधि या कानून, शासन और न्यायपालिका में विविधता होने लगती है। स्थानीय आवश्यकताओं और परिस्थितियों का सामना करने के लिए कुछ विविधता अभीष्ट भी हो सकती है, परन्तु एक बिन्दु के आगे वह घपलेबाजी का ही कारण बन जाती है। वर्तमान युग के संविधान को तो सब आधारभूत विषयों में समरूपता का ही उपबन्ध करना चाहिये। भारतीय संविधान में (१) एक न्यायपालिका, (२) मूलभूत व्यावहारिक (दीवानी) अपराधिक (फौजदारी) विधियों या कानूनों की समानता और (३) अखिल भारतीय प्रशासनिक नौकरियों की एकता द्वारा विधान और शासन में एकता रखी गयी है।[1]

१. हमारा संविधान (एक सरकारी प्रकाशन), पृष्ठ १–४४ ।

## अध्याय २३

# मूल अधिकार (Fundamental Rights)

भारतीय संविधान में मूल अधिकारों का भी विवेचन किया गया है। इन्हें संविधान में रखने का उद्देश्य नागरिक की स्वाधीनता की रक्षा करना है। किसी भी राज्य का आधार अधिकार होते हैं। *उनके कारण ही राज्य को अपनी शक्ति के* प्रयोग में नैतिक बल प्राप्त होता है। और ये इस अर्थ में प्राकृतिक अधिकार माने जाते हैं कि ये अच्छे जीवन के लिए आवश्यक हैं। इन अधिकारों के संविधान में सम्मिलित हो जाने से सरकार की मनमानी कार्यवाहियों पर एक प्रकार का नियन्त्रण लग जाता है। "ये अधिकार उच्च आदर्शों की एक पवित्र घोषणा माने जाते हैं और इनको लेकर लोकमत को जाग्रत किया जा सकता है और राज्य की क्रियात्मक या निषेधात्मक कार्यवाहियों के लिए एक मान दण्ड स्थापित करते हैं।"[1] इस प्रकार के अधिकार प्रथम महायुद्ध के बाद बने हुए प्राय सभी लोकतन्त्रीय संविधानों में *पाये जाते हैं। "हमारे संविधान में जोड़ा गया अधिकार पत्र इतने विस्तृत मानव* अधिकारों की घोषणा करता है जितने किसी अन्य राज्य में नहीं पाये जाते।"[2] इन मूल अधिकारों को न्यायालयों की सहायता से प्राप्त किया जा सकता है।[3] फिर भी ये अधिकार पूर्ण निरपेक्ष (absolute) नहीं हैं। इनके साथ राज्य की ये शर्तें लगी हुई हैं कि ये अधिकार सभी व्यक्तियों के सामान्य अधिकारों की रक्षा के प्रतिकूल न हों या समाज के सर्वश्रेष्ठ हित के प्रतिकूल न हो। मूल अधिकार संविधान के तीसरे भाग में दिए हुए हैं। १२ से लेकर ३५ तक अनुच्छेदों में उनका वर्णन है। संविधान में निम्नलिखित मूलाधिकार दिये गये हैं :—

(१) समता का अधिकार।
(२) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अधिकार।
(३) शोषण के विरुद्ध अधिकार।
(४) धर्म स्वातन्त्र्य का अधिकार।
(५) संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार।
(६) व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का अधिकार। और
(७) संवैधानिक उपचार।

अब हम इन अधिकारों में से एक-एक को लेते हैं :—

**समता का अधिकार**—हर नागरिक को कानून की दृष्टि में समान माना गया है। राज्य किसी नागरिक के साथ केवल धर्म, मूल जाति, लिंग, जन्मस्थान के

---

१. एम० एन० मुखर्जी, अमृत बाजार पत्रिका। २६ जनवरी १९५०, पृष्ठ ५३।
२. वही पृष्ठ ५४।
३. संविधान का अनुच्छेद १२।

कारण या इनमें से किसी एक के कारण भेद भाव नहीं करेगा। धर्म, मूल, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर किसी नागरिक पर निम्नलिखित प्रतिबन्ध नहीं लगाये जायेंगे।

(अ) दुकानों, जलपान गृहों, होटलों और सार्वजनिक मनोरंजनों के स्थानों में प्रवेश।

(ब) कुँए, तालाब, नहाने के घाट और पब्लिक के घूमने-फिरने की जगहों का प्रयोग। यह अधिकार १५वें अनुच्छेद के अनुसार दिया गया है। संविधान में हुए हाल के एक संशोधन के अनुसार १५वें अनुच्छेद में निम्नलिखित वाक्य और जोड़ दिया गया है। "इस अनुच्छेद के कारण किसी राज्य सरकार को किसी सामाजिक और शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े हुए वर्ग के नागरिकों या अनुसूचित जातियों या अनुसूचित जनजातियों की उन्नति के लिए कोई विशेष उपबन्ध करने में रुकावट नहीं होगी।"

संविधान में सरकारी नौकरियों के लिए सबको समान अवसर देने की भी व्यवस्था है। इस नियम का केवल यह अपवाद है कि विधान मण्डल कुछ अवस्थाओं में आवास योग्यता (residential qualifications) की शर्त लगा सकते हैं और कुछ ऐसे पिछड़े वर्गों के लिए नौकरियों के स्थान सुरक्षित कर सकते हैं जिनका नौकरियों में पर्याप्त प्रतिनिधान नहीं है।

एक नये संशोधन के अनुसार राज्य सामाजिक व शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े वर्गों के लिए विशेष उपबन्ध (special provisions) कर सकते हैं। संविधान में यह भी उपबन्ध किया है कि सैनिक या अधिक शिक्षा सम्बन्धी योग्यता के अतिरिक्त अन्य कोई उपाधि राज्य किसी नागरिक को प्रदान नहीं करेगा तथा कोई भारतीय नागरिक किसी विदेशी राज्य से कोई उपाधि स्वीकार नहीं करेगा। यह बड़ी विचित्र बात है कि जब हमारे संविधान में उपाधि वितरण को स्पष्ट रूप से निषिद्ध घोषित किया गया है हमारी सरकार अनेक प्रकार की उपाधियाँ असैनिक सेवकों तथा सार्वजनिक व्यक्तियों को धड़ाधड़ बाँट रही है। सर सी० वी० रमन, सर एस० राधाकृष्णन, श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य तथा पं० नेहरू को भारत रत्न की उपाधि देना संविधान के शब्द और भावना दोनों के विरुद्ध है।

संविधान में छुआछूत को अवैध कर दिया है और इसके व्यवहार को गैर कानूनी ठहराया है।[1] इस प्रकार ऐसा करके हमारे संविधान ने "महात्मा गाँधी द्वारा की गई महान् सामाजिक क्रान्ति पर कानूनी छाप लगा दी है। इस प्रकार भारत के ५ करोड़ अछूतों को उनके युगों से चले आ रहे निम्न सामाजिक स्तर आदि से ऊपर उठा दिया है......यह अकेला अनुच्छेद ही जिसने छुआछूत को अवैध ठहराया है उन सब समानता के अधिकारों की अपेक्षा जो संविधान ने नागरिकों को प्रदान किये हैं कहीं अधिक मूल्य रखता है। इसने उस सबसे अधिक जघन्य सामाजिक

१. अनुच्छेद १७।

असमानता को जिसने हिन्दू समाज को खराब कर रखा था समाप्त कर दिया।... अब भारत में सामाजिक लोकतन्त्र का एक नया अध्याय आरम्भ हो गया है।"[1]

**व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अधिकार**—सभी नागरिकों को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की गारन्टी दी गई है। सभी नागरिकों को (१) बोलने और विचार प्रकट करने (२) शान्तिपूर्वक बिना हथियारों के सभा करने और इकट्ठा होने (३) सभा और सगठन करने (४) सारे भारत में बिना रोक-टोक भ्रमण करने (५) किसी भी भाग में बसने (६) सम्पत्ति समाप्त करने, रखने या बेचने और (७) किसी भी व्यवसाय को या काम धन्धे को करने का अधिकार है। (अनुच्छेद १६)।

किन्तु ये अधिकार पूर्णतया निर्पेक्ष नहीं हैं। इन पर प्रतिबन्ध हैं। सविधान में राज्यों को इन अधिकारों पर सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार, नैतिक स्तर और राज्य की सुरक्षा के लिए प्रतिबन्ध लगाने का अधिकार दिया गया है इस प्रकार राज्य सार्वजनिक हित को दृष्टि में रख कर इन अधिकारों पर कोई भी उचित प्रतिबन्ध लगा सकता है। इसके द्वारा राज्य की मानहानि, और न्यायालय मानहानि के लिए कानून बनाने के अधिकार की सुरक्षा की गई है। इन प्रतिबन्धों के न रहने से सरकार के काम में बड़ी रुकावट आ जाती, पूर्णतया निर्पेक्ष अधिकारों से अराजकता आ जाती। कोई भी सभ्य सरकार ऐसी स्थिति सहन नहीं करेगी। १६वें अनुच्छेद के एक सशोधन के अनुसार सरकार को यह अधिकार प्राप्त है कि वह राज्य की सुरक्षा के लिए, विदेशी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने के लिए सार्वजनिक शान्ति, सदाचार या न्यायालयों के मानहानि या अपराध के लिए उकसाहट को रोकने के लिए उचित प्रतिबन्ध लगा सके।

हमारे सविधान में नियम प्रधान शासन (rule of law) को भी मान्यता प्रदान की गई है, २०वें अनुच्छेद में लिखा है कि किसी आदमी को किसी अपराध का उस समय तक दोषी नहीं ठहराया जायगा जब तक कि वह अपराध करने के समय के प्रचलित कानून को भग नहीं करेगा। और न ही किसी व्यक्ति को किसी अपराध के लिए अपराध करने के समय के कानून में निर्देशित दण्ड से अधिक दण्ड दिया जायगा। किसी व्यक्ति पर एक ही अपराध के लिए दो बार मुकदमा नहीं चलाया जायगा। किसी व्यक्ति को उसके विरुद्ध लगाये गये अभियोग में अपने विरुद्ध गवाही देने को विवश नहीं किया जायगा। किसी व्यक्ति को कानूनी प्रक्रिया के विरुद्ध उसके जीवन या व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से वचित नहीं किया जायगा। सविधान में अनियमतापूर्वक गिरफ्तारी और अनिश्चित नजरबन्दी के विरुद्ध उपबन्ध है। जब तक कि उसे यथासम्भव शीघ्रता से उसकी गिरफ्तारी के आधार से सूचित न किया जाय कोई व्यक्ति जिसे गिरफ्तार किया जाय हिरासत में नहीं रखा जा सकता और न उसे कानूनी सलाह लेने और सफाई के लिए अपनी पसन्द के वकील को रखने से वचित

१. अवर कान्स्टिट्यूशन (एक सरकारी प्रकाशन) पृष्ठ २५—२६।

किया जा सकता है। संविधान मे नजरबन्दी की प्रक्रिया को भी निश्चित कर दिया गया है। निवारक नजरबन्दी अधिक से अधिक ३ महीने की हो सकती है। यह अवधि ऐसे तीन व्यक्तियो की सलाहकार समिति की सिफारिश पर बढाई जा सकती है, जो हाईकोर्ट के जज नियुक्त किये जाने की योग्यता रखते हो। संविधान मे यह बताया गया है कि नजरबन्दी की आज्ञा देने वाला प्राधिकारी यथासम्भव शीघ्रता से नजरबन्द व्यक्ति को उन आधारो से सूचित करेगा जिन पर आज्ञा दी गई है और जल्दी से जल्दी उस आज्ञा के विरुद्ध कानूनी कार्यवाही करने का अवसर देगा।

शोषण के विरुद्ध अधिकार—२३वें अनुच्छेद मे व्यक्तियो के व्यापार व बेगार को अवैध घोषित कर दिया गया है। १४ वर्ष से कम आयु के बालको से कल-कारखानो मे काम नही लिया जा सकेगा। सार्वजनिक कार्य के लिए अनिवार्य सेवा का आदेश दे सकती है।

धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार—सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य का ध्यान रखते हुए भी व्यक्तियो को अन्त करण की स्वतन्त्रता का तथा धर्म को अबाध रूप से मानने व आचरण करने और प्रचार करने का समान हक होगा।[1] हर धर्म के अनुयायियो को स्वतन्त्रता है कि वे जिस प्रकार चाहें अपने धार्मिक कृत्यों को करें और धार्मिक तथा धर्मार्थ कार्यों के लिए सम्पत्ति रखें, प्राप्त करें और उसका प्रशासन करें। सिखो को कृपाण पहनने और लेकर चलने का अधिकार दिया गया है। किन्तु धार्मिक स्वतन्त्रता पर कुछ प्रतिबन्ध भी लगा दिये गये हैं, ताकि धर्म को 'एक राजनीतिक शस्त्र या सामाजिक रूढियो के लिये एक ढाल" न बना लिया जाय। इस प्रकार किसी को किसी धर्म को स्थिर रखने या उसकी वृद्धि करने के लिए कर देने के लिए विवश नहीं किया जा सकता। जिन संस्थाओ को सरकारी मान्यता प्राप्त है या जिन्हे अनुदान मिलता है उनमे न धार्मिक शिक्षा अनिवार्य है और न पूजा व उपासना। संविधान सरकार द्वारा संचालित सभी शिक्षा संस्थाओं मे धार्मिक शिक्षा दिये जाने के विरुद्ध है। इन सब उपबन्धो के कारण भारत को एक लौकिक राज्य बनने मे बडी सहायता मिली है।

संस्कृति व शिक्षा सम्बन्धी अधिकार—संविधान परिषद् के एक सदस्य के शब्दों मे हमारे संविधान ने "अल्पमत वर्गों के अधिकारों का एक युग आरम्भ कर दिया है।" कोई भी अल्पमत वर्ग जिसकी अपनी अलग कोई भाषा, लिपि या संस्कृति हो उसे उसको कायम रखने का अधिकार दिया गया है। किसी भी नागरिक को किसी सरकारी धन से संचालित या सहायता प्राप्त शिक्षा संस्था मे भरती होने से धर्म, जाति या भाषा के आधार पर वंचित नहीं किया जायगा। सभी धार्मिक और भाषा-विषयक अल्पमत वर्गों को अपनी पसद की शिक्षा-संस्थायें स्थापित करने और प्रकाशित करने का अधिकार होगा। सरकारी अनुदान सभी संस्थाओ को बिना किसी भेद-भाव के दिये जायेंगे।

सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार—भारतीय संविधान मे राज्य द्वारा सम्पत्ति

१. अनुच्छेद २५।

अपहरण निषिद्ध ठहराया गया है। सार्वजनिक हित में सम्पत्ति लेने की अवस्था में सरकार की ओर से स्वामी को उसकी सम्पत्ति के लिए क्षति पूर्ति का नियम रखा गया है। किसी व्यक्ति को उसकी सम्पत्ति से कानूनी अधिकार के अनुसार ही वंचित किया जा सकता है। संविधान ने कुछ जमींदारी उन्मूलन कानूनों को अपने क्षेत्राधिकार से मुक्त कर दिया है। ये कानून राष्ट्रपति की स्वीकृति मिलते ही वैध समझे जायेंगे और लागू कर दिये जायेंगे।

## संवैधानिक उपचार का अधिकार
## (Right of Constitutional Remedies)

यदि ये न्यायालय के द्वारा लागू न कराये जा सकें तो निश्चय ही इन मूल अधिकारों का कोई अर्थ नहीं रहता। अतः संविधान ने यह नियम कर दिया कि इन अधिकारों को सार्थक बनाने के लिए कुछ संवैधानिक उपचार हों। संविधान का मसौदा तैयार करने वाली समिति के अध्यक्ष डा० बी० आर० अम्बेडकर ने इन उपचारों को "सारे संविधान का हृदय और आत्मा", (heart and soul of the whole constitution) कहा था। इन अधिकारों को प्राप्त करने के लिये नागरिकों को सुप्रीम कोर्ट में दावा करने का अधिकार दिया गया है।[1] सुप्रीम कोर्ट को इन अधिकारों की रक्षा की साधारण शक्ति तथा यदि वह आवश्यक समझे तो बन्दी प्रत्यक्षीकरण (habeas corpus) और परमादेश (mandamus) आदि की आज्ञायें जारी करने की शक्तियाँ दी गई हैं। सुप्रीम कोर्ट को इन अधिकारों के प्रतिपालन के लिए निर्देशन (direction) आज्ञायें (orders) और लेख (writs) आदि जारी करने का भी अधिकार दिया गया है। संसद को इन्हीं शक्तियों को निम्न स्तर के न्यायालयों को उनके क्षेत्र की स्थानीय सीमाओं के अन्तर्गत प्रदान करने का अधिकार दिया गया है। संवैधानिक उपचार का अधिकार केवल आपातकाल की घोषणा के समय में ही स्थगित हो सकता है। तब भी यह सारे भारत में स्थगित नहीं हो सकता और न ही स्थगित करने की शक्ति असीम है। ज्यों ही आपातकाल समाप्त होता है यह अधिकार फिर स्थापित हो जाता है। संसद मूल अधिकारों को सेना के सम्बन्ध में संशोधित कर सकती है। किसी सार्वजनिक सेवक द्वारा मार्शल लॉ के समय अपनी सरकारी स्थिति में किये गए गलत कामों के लिए उसे दण्ड से मुक्त किया जा सकता है।

सुप्रीम कोर्ट ने अपनी उपयोगिता को जनता की आशा से कहीं अधिक सिद्ध कर दिया है। इसने अपनी स्वतन्त्रता को कायम रखा है और सच्चे अर्थों में संविधान के संरक्षक और अन्तिम निर्वाचक का कार्य किया है। भारतीय गणराज्य के नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा करते हुए इसने अपने जीवन के थोड़े से काल में बहुत महत्व के निर्णय किये हैं जिनमें से कुछ का यहाँ उल्लेख किया जाता है। ए० के० गोपालन् बनाम मद्रास सरकार के मामले में सुप्रीम कोर्ट ने

---

[1]. अनुच्छेद ३२

सन् १९५० ई० के निवारक नजरबन्दी कानून की चौदहवीं धारा को इस आधार पर अवैध घोषित कर दिया कि इसके द्वारा सविधान के २२ और ३२ वें अनुच्छेदों द्वारा प्रदत्त मूलाधिकारों में कमी होती थी। वेंकटरमन बनाम मद्रास सरकार के मामले में सुप्रीम कोर्ट ने यह निर्णय दिया कि मद्रास सरकार की कथित साम्प्रदायिकतापूर्ण आज्ञा, (Communal G O.) जिसमें हरिजनों और पिछड़े हुए हिन्दुओं के लिए तो नौकरियों को सुरक्षित रखने का उपबन्ध किया ही गया था साथ ही मुस्लिम, ईसाई, गैर ब्राह्मण, हिन्दुओं और ब्राह्मणों के लिए भी स्थान सुरक्षित करने का प्रबन्ध किया गया था सविधान के १६ वें अनुच्छेद के खण्ड ४ के आशय के प्रतिकूल होने के कारण अवैध है। रमेश थापर बनाम मद्रास सरकार के मामले में सुप्रीम कोर्ट ने यह निश्चय किया कि मद्रास सरकार की 'क्रौस रोड्स' नामक पत्र के प्रवेश और वितरण पर लगाई गई पाबन्दी सविधान के १९ वें अनुच्छेद द्वारा प्रदत्त विचार स्वतन्त्रता के मूलाधिकार के प्रतिकूल है। मद्रास शान्ति और व्यवस्था कानून (Madras Maintenance of Public Order Act) की धारा ९ (१-अ) को उपरोक्त कारण से अवैध घोषित कर दिया गया।

एक दूसरे मामले में सुप्रीम कोर्ट ने मध्य प्रदेश बीडी कानून के उस अश को रद्द कर दिया जिसके द्वारा राज्य सरकार को खेती की फसल के महीनों में कुछ गाँवों में बीडी बनाने के कार्य पर रोक लगाने का अधिकार दिया गया था। जब से यह न्यायालय बना है इसके न्यायाधीशों ने भारत की जनता को एक अनुशासित राष्ट्र में रखने का प्रयत्न किया है। अपने बहुत से फैसलों में इस न्यायालय ने किसी बात की परवाह न करते हुए नागरिकों के मूल अधिकारों को सुरक्षित रखा है। रामसिंह बनाम देहली राज्य के मामले में इस न्यायालय ने बताया कि "प्रत्येक मामले में अधिकार ही मौलिक है न कि प्रतिबन्ध। न्यायालय का कर्तव्य और अधिकार है कि वह यह देखे कि जो मूल अधिकार हैं वे मौलिक ही रहें और गौण न हो जायें ससद व कार्यकारिणी सविधान में निहित अपने क्षेत्र की सीमा न लाँघें।" ('In every case it is the rights which are fundamental not the limitations. It is the duty and the privilege of the supreme court to see that rights which are intended to be fundamental are kept fundamental and to see that neither parliament nor the executive exceed the bounds within which they are confined by the constitution.") एक अन्य फैसले (Sholapur Spinning and Weaving Company Ltd ) में न्यायालय ने यह तय किया कि विधान सभा पर लगाये गए प्रतिबन्धों का वह अप्रत्यक्ष रूप से भी उल्लघन नहीं कर सकती। इस प्रकार सुप्रीम कोर्ट की न्याय की निगरानी ने नागरिकों के मूलाधिकारों की पूरे उत्साह के साथ रक्षा की है और यह सच्चे अर्थों में सविधान का सरक्षक बन गया है। सुप्रीम कोर्ट का कर्तव्य सविधान की मान्यता स्थिर रखना है। जैसा कि चीफ जस्टिस ह्यूजज (Hughes) ने अमेरिका के सुप्रीम कोर्ट के बारे में कहा है "हम सविधान के नीचे

हैं और संविधान वह है जो कि जज कहते हैं कि यह है।" हम यही बातें भारतीय सुप्रीम कोर्ट के बारे में भी कह सकते हैं। भारत की सुप्रीम कोर्ट ने हाल में एक निर्णय दिया है कि मूल अधिकारों में संशोधन नहीं हो सकता। मूल अधिकारों में परिवर्तन करने के लिए एक नयी संविधान सभा बुलानी पड़ेगी।

## राज्य की नीति के निर्देशक तत्व
## (Directive Principles of State Policy)

भारतीय संविधान के चौथे भाग में राज्य के नीति निर्देशक तत्वों का वर्णन है। ३६ से लेकर ५१ अनुच्छेद तक इसी प्रसंग के लिये हैं। इन सिद्धान्तों के लिए न्यायालय का उपचार नहीं है। इस बात में ये उन मूलाधिकारों से भिन्न है जिन्हें न्यायालय की सहायता से मनवाया जा सकता है। फिर भी संविधान इन सिद्धान्तों को देश के शासन में उतना ही मौलिक महत्त्व देता है और राज्य का कर्त्तव्य है कि वह कानून बनाते समय इन सिद्धान्तों का प्रयोग करे। राज्य को चाहिए कि प्रजा का कल्याण करने के लिए एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था प्राप्त करने और कायम रखने का प्रभावपूर्ण प्रयत्न करे जिसमें राष्ट्र के जीवन से संबंधित सभी संस्थाओं में सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय विद्यमान हो।[1]

अनुच्छेद ३९ के अनुसार राज्य अपनी नीति के संचालन में निम्न मान्यताओं को विशेष महत्त्व देगा -

(क) स्त्री व पुरुष सभी नागरिकों को समानता से आजीविका के पर्याप्त साधन उपलब्ध हों।

(ख) समाज के आर्थिक साधनों का स्वामित्व और नियन्त्रण इस तरह से व्यवस्थित हो कि वह सामान्य कल्याण का उद्देश्य पूरा करे।

(ग) आर्थिक व्यवस्था का संचालन इस प्रकार हो कि धन का और उत्पादन के साधनों का सार्वजनिक हानि करने वाले तरीकों से संचय न हो सके।

(ङ) मजदूरों (स्त्री व पुरुष दोनों) तथा थोड़ी उम्र के बच्चों के स्वास्थ्य और शक्ति का दुरुपयोग न हो तथा नागरिक आर्थिक आवश्यकताओं से विवश होकर ऐसे पेशों में न जावें जो उनकी आयु और शक्ति के उपयुक्त न हों।

(घ) समान काम करने के लिए स्त्री और पुरुष दोनों को समान वेतन मिले।

(च) बच्चे और नवयुवकों की शोषण से रक्षा की जावे और उनके सदाचार व्यवहार की दशा ठीक रहे।

४० वें अनुच्छेद के अनुसार ऐसी ग्राम पंचायतों का संगठन राज्य द्वारा किया जायेगा जो स्वायत्त शासन की इकाइयाँ होंगी। राज्य शिक्षा, बेकारी, वृद्धावस्था और अस्थाई अयोग्यता के समय सरकारी सहायता का प्रबन्ध करेगा। राज्य काम करने की यथोचित और मानवोचित दशाओं को सुनिश्चित करने

१. अनुच्छेद ३८।

का प्रयत्न करेगा और प्रसूति सहायता का प्रबन्ध करेगा। राज्य सब मजदूरों के लिए काम, गुजारे के लायक मजदूरी और अच्छे जीवन-स्तर के योग्य काम की अवस्थायें और पूरे आराम करने और सामाजिक व सांस्कृतिक अवसरों को प्राप्त करने का प्रयास करेगा। राज्य घरेलू उद्योगों की सहायता भी करेगा। राज्य सभी नागरिकों के लिए एक समान विधि संहिता (Civil Code) बनाने का प्रयत्न करेगा। राज्य संविधान लागू होने के १० वर्ष तक की अवधि के अन्दर-२ सभी बच्चों के लिए १४ वर्ष की आयु होने तक के लिए अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा प्रदान करने का प्रयत्न करेगा। राज्य विशेषकर जनता के दुर्बल वर्गों और अनुसूचित जातियों और जन जातियों की शिक्षा और आर्थिक हितों का विशेष ध्यान रखेगा और उनकी हर प्रकार के सामाजिक अन्याय और शोषण से रक्षा करेगा। राज्य जनता के रहन-सहन और भोजन तत्व के स्तर को ऊंचा उठाने और सार्वजनिक स्वास्थ्य में सुधार करने को अपना प्राथमिक कर्त्तव्य समझेगा। राज्य नशीली दवाइयों और मादक पदार्थों को जो स्वास्थ्य के लिये हानिकारक हों बन्द करने का प्रयत्न करेगा। राज्य कृषि और पशु-पालन को आधुनिक और वैज्ञानिक ढंग पर संगठित करने का यत्न करेगा। राज्य ऐतिहासिक और राष्ट्रीय महत्व के स्मारकों की रक्षा के लिए कार्यवाही करेगा। इसके अतिरिक्त राज्य निम्नलिखित बातों के लिए भी प्रयत्नशील होगा :—

(१) अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा और शान्ति में वृद्धि करना।

(२) राष्ट्रों के बीच सम्मान और न्यायपूर्ण सम्बन्धों को बनाये रखना।

(३) संगठित मनुष्यों के एक दूसरे से व्यवहारों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून और संधि बन्धनों के लिए आदर बढ़ाना।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का पंच फैसले द्वारा निपटारा करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना।

राजनीति के निर्देशक तत्वों का उपरोक्त अध्याय हमारे संविधान की एक अनुपम विशेषता है। ये सिद्धान्त संवैधानिक औचित्य के आदर्श समूह हैं और सरकार के सम्बन्ध को निश्चित करते हैं। इन सिद्धान्तों का आधार संविधान की प्रस्तावना बतलायी जाती है और वास्तव में यह कार्यकारिणी और विधान मण्डल के पथ प्रदर्शन के लिये अनुदेश (instructions) हैं वास्तव में ये आधार सम्बन्धी शिक्षायें हैं जिनकी किसी जनता के प्रति उत्तरदायी सरकार को उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।[1] जेनिंग्स इन सिद्धान्तों को पवित्र आकांक्षाओं का नाम देता है। उसके विचार में इन सिद्धान्तों की उपयोगिता इस बात में है कि "जो बात संविधान में लिखनी है वह उस बात से अधिक महत्वपूर्ण मानी जायेगी जो संविधान में नहीं है"।[2]

जस्टिस मनु ने आगरा विश्वविद्यालय के १९५३ के व्याख्यानों में कहा था

१. एम० एन० मुकर्जी, माडर्न रिव्यू पत्रिका—जनवरी २६-१९५० पृ० ५१।

२. सम कैरेक्टरिस्टिक्स ऑफ दी इंडियन कॉन्स्टीट्यूशन, पृ० ३५।

"इन राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तो मे आधुनिक जाति के हितकारी राज्य का पूरा दर्शन विद्यमान है" (In the directive principles of state policy will be found the entire philosophy on which the 'welfare state' in any modern community will be found) डा० बी० आर० अम्बेदकर ने संविधान परिषद् मे कहा था, "प्रजातन्त्र मे जनता ही यह निश्चय करती है कि किसके हाथ मे शक्ति है। परन्तु जिसके हाथ मे शक्ति है उसको मनमानी करने का अधिकार नही है। अपनी शक्ति को कार्यान्वित करने के लिए उसको उन लिखित अनुदेशो का सम्मान करना होगा जिन्हे नीति के निर्देशक तत्त्व कहते हैं। वह उसकी अवहेलना नही कर सकता। *यदि वह इन तत्त्वो की अवहेलना करता है तो उसके ऊपर* न्यायालय म मुकदमा नही चल सकता। परन्तु निर्वाचन के समय उसे मतदाताओ को उनका जवाब देना पडेगा।"

राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्व आइरिश और बर्मी संविधानो के ढग पर बनाये गये हैं। हमे यह कहने मे कोई झिझक नही है कि यह केवल शुभ विचार है *और हमारे पिछडेपन का जीता-जागता सबूत है। ऊपर लिखे प्रकार के सिद्धान्त* हर उस आधुनिक राज्य की आवश्यक विशेषता है जो अपने को सभ्य होने का दावा करता है। यदि हम सभ्यता और विकास के उस स्तर पर नहीं पहुँच सकते तो उसका अर्थ यह नही है कि हम अपनी अयोग्यता का सारी दुनिया मे प्रदर्शन करें या ढोल पीटें। यह कहना कि इन सिद्धान्तो के रखने से शिक्षा मिलती है और यह अनुदेश लेख्य (*Instruments of Instructions*) की तरह है अधिक सार नहीं रखता। एक अच्छी सरकार को अपने काम को ठीक समझना चाहिये, उसे किसी निर्देशक तत्त्वो की सहायता की आवश्यकता नही होनी चाहिये।

---

अध्याय २४

# राष्ट्रपति (The President)

**उसका निर्वाचन**—संविधान में भारत के लिए एक राष्ट्रपति पद की व्यवस्था की गई है। वह राज्य का प्रधान होगा। उसका चुनाव अप्रत्यक्ष होगा। प्रत्यक्ष चुनाव को अनावश्यक समझा गया था। उसमें समय और धन भी बहुत व्यय होता है। अब राष्ट्रपति एक निर्वाचक गण (Electoral College) द्वारा चुना जाता है जो संसद और राज्यों के विधान मडलों के निर्वाचित सदस्यों से बना होता है। चुनाव अनुपाती प्रतिनिधान (Proportional Representation) और एकल सक्रमणीय मत (single transferable vote) द्वारा होगा। ऐसे चुनाव में मतदान गुप्त पर्चियों द्वारा होगा। राष्ट्रपति पद की अवधि पाँच वर्ष होगी और वह चाहे तो इससे पहले भी त्याग पत्र दे सकता है। संविधान का अतिक्रमण करने के महाभियोग का दोषी ठहराये जाने पर वह पद से पृथक भी किया जा सकता है। वह फिर दोबारा भी चुनाव के लिए खड़ा हो सकता है। राष्ट्रपति पर संविधान के अतिक्रमण का अभियोग संसद के किसी भी सदन द्वारा लगाया जा सकता है। ऐसा कोई दोषारोपण उस समय तक नहीं लगेगा जब तक कि :—

(क) इस आशय की प्रस्थापना किसी संकल्प में न हो, जो १४ दिन की ऐसी लिखित सूचना के दिए जाने के पश्चात् प्रस्तुत किया गया है जिस पर उस सदन के कम से कम एक चौथाई सदस्यों ने हस्ताक्षर करके, उस संकल्प को प्रस्तावित करने का विचार प्रकट किया है तथा

(ग) ऐसा प्रस्ताव सदन के कुल सदस्य संख्या के कम से कम दो तिहाई बहुमत द्वारा ऐसा संकल्प पारित न किया गया हो। जब इस प्रकार का आरोप संसद के किसी सदन द्वारा लगाया जाय तो संसद का दूसरा सदन उसकी जाँच करेगा या करायेगा। राष्ट्रपति को इस अनुसंधान में उपस्थित होने का तथा अपना प्रतिनिधित्व कराने का अधिकार होगा। यदि इस जाँच के फलस्वरूप उपरोक्त दोषारोपण की सिद्धि को घोषित करने वाला संकल्प जाँच करने वाले सदन के समस्त सदस्यों के कम से कम दो तिहाई बहुमत से, पारित हो जावे तो इसका प्रभाव यह होगा कि प्रस्ताव पास होने की तारीख से राष्ट्रपति को अपने पद से हटाया जाना होगा। राष्ट्रपति की मृत्यु, पद त्याग या पद से हटाये जाने या अन्य कारण से हुई रिक्तता के लिए निर्वाचन सभव शीघ्र और हर अवस्था में ६ मास से पहले किया जायेगा।

**उसकी अर्हतायें (His Qualifications)**—वही आदमी राष्ट्रपति पद के लिए चुनाव में खड़ा हो सकता है जो (i) भारत का नागरिक हो (ii) ३५

वर्ष की आयु का हो, (iii) लोक सदन के सदस्य चुने जाने की अर्हता रखता हो। कोई सरकारी नौकर इस पद के लिए नहीं खड़ा हो सकता। राष्ट्रपति न तो संसद के किसी सदन और न किसी राज्य के विधान मण्डल के किसी सदन का सदस्य बन सकता है। यदि वह पहिले से ही इस प्रकार का सदस्य हो तो राष्ट्रपति चुन लिये जाने पर उसकी सदस्यता आप से आप समाप्त समझ ली जावेगी।

## उसके विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ
## (His Privileges and Immunities)

राष्ट्रपति को बिना किराया दिये सरकारी राज्य भवन में रहने का अधिकार है और उसको सब भत्ते और विशेषाधिकार प्राप्त होंगे जो संसद उसके लिए निश्चित कर दे। उसे १० ००० रु० मासिक तनख्वाह मिलती है जो उसकी अवधि में घटाई नहीं जा सकती। राष्ट्रपति को बड़ा सम्मान और विशेषाधिकार भी प्राप्त है। उसे अपने अधिकारों के प्रयोग के लिए किसी न्यायालय में उत्तरदायी नहीं होना पड़ता सिवाय उस समय के जब उस पर संसद के किसी सदन द्वारा अभियोग लगाया जाय। उसकी अवधि में उसके विरुद्ध कोई फौजदारी कानूनी कार्यवाही नहीं हो सकती जब तक कि दो महीने का लिखित नोटिस न दिया गया हो। न कोई दीवानी दावा व्यक्तिगत रूप से उसके विरुद्ध चल सकता है।

## उसकी कार्यकारी शक्तियाँ (His Executive Powers)

संघ का कार्यकारी प्राधिकारी राष्ट्रपति में निहित है।[1] इस प्रकार के कार्यकारी प्राधिकारी का प्रयोग वह या तो प्रत्यक्ष रूप से करता है। या अपने आधीन कर्मचारियों द्वारा संविधान के अनुसार करता है। भारत की रक्षा सेनाओं का सर्वोच्च समादेश (supreme command) भी उसी में निहित है। राज्यपाल, राजदूत, हाईकोर्ट व सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीशों, केन्द्रीय पब्लिक सर्विस कमीशन के सदस्य व चेयरमैन, भारत के अटर्नी जनरल और कम्पट्रोलर व ऑडीटर जनरल आदि सहित सब महत्वपूर्ण पदों की नियुक्ति वही करता है। वही चुनाव, वित्त और भाषा सम्बन्धी कमीशन नियुक्त करेगा। वह उस कमीशन की भी नियुक्ति करेगा जो अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन पर रिपोर्ट देगा और सामाजिक व शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े वर्गों की अवस्था की जाँच करेगा। ऐसे कमीशन पहले ही नियुक्त किये जा चुके हैं इनमें सबसे अन्तिम कमीशन हिन्दी कमीशन है जिसकी श्री बी० जी० खेर की अध्यक्षता में नियुक्ति की गई थी।

**उसकी विधिकारी शक्तियाँ** (His Legislative Powers)—राष्ट्रपति का विधिकारी प्राधिकार संसद के अवकाश काल में अध्यादेश (*ordinance*) जारी करने के लिए है। ऐसे अध्यादेश उस समय जारी किये जाते हैं जब संसद के सत्र न हो रहे हों और राष्ट्रपति के लिए आवश्यक कार्यवाही करना अनिवार्य हो। इस

---

१. अनुच्छेद ५३ (१)

प्रकार जारी किये गये अध्यादेश का वही प्रभाव होता है जो संसद द्वारा पास किए कानून का। किन्तु इस प्रकार के हर अध्यादेश को संसद के दोनों सदनों के सामने रखना होता है और संसद के सत्र आरम्भ होने के ६ सप्ताह बाद या संसद द्वारा असहमति का प्रस्ताव पास कर देने पर यह अप्रवृत्त (inoperative) हो जाता है। ये अध्यादेश राष्ट्रपति द्वारा भी जब वह चाहे वापिस लिए जा सकते हैं। राष्ट्रपति राज्यों के अतिरिक्त अन्य प्रदेशों की शान्ति व शासन व्यवस्था के लिए विनियम बना सकता है, वह विधेयकों को संसद के पास पुनर्विचार के लिए वापिस कर सकता है। लोकसभा को विघटित कर सकता है, दोनों सदनों के मिले-जुले सत्र को आमन्त्रित कर सकता है, उन्हें सम्बोधित कर सकता है और उन दोनों में से किसी एक को या दोनों को अपना सन्देश भेज सकता है। वह समय-समय पर दोनों या एक सदन को किसी भी समय या स्थान पर आमन्त्रित कर सकता है और सत्र का अवसान (Prorogue) कर सकता है। राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना कोई अनुदान नहीं दिया जा सकता और न उसकी सिफारिश के बिना कोई वित्त विधेयक संसद में रक्खा जा सकता है।

उसकी न्यायकारी शक्तियाँ (His Judicial powers)—राष्ट्रपति को[1] क्षमा दान, दण्ड स्थगित करने या प्राणदण्ड को कारावास में परिणित करने की शक्ति निम्नलिखित अपराधों के विषय में है :—(क) उन मामलों में जिनमें कि दण्ड सैनिक न्यायालय द्वारा दिया गया हो।

(ख) उन सब मामलों में जहाँ दण्ड अथवा दण्डादेश ऐसे विषय सम्बन्धी किसी विधि के विरुद्ध अपराध के लिए दिया गया हो जिस विषय तक संघ की कार्यकारी शक्ति का विस्तार है

(ग) उन सब मामलों में जिनमें प्राण दण्ड दिया गया हो।

## उसकी आपातकालीन शक्तियाँ
## (His Emergency Powers)

जर्मनी के वैमार संविधान (Weimar Constitution) की तरह भारत के राष्ट्रपति को भी कुछ आपातकालीन शक्तियाँ दी गई हैं। संविधान में तीन प्रकार के आपात की कल्पना की गई है और उनके लिए तीन प्रकार की उद्घोषणाओं की आवश्यकतायें रक्खी गई हैं। संविधान के १८वें भाग में राष्ट्रपति की आपात-कालीन शक्तियों का वर्णन है, यह वर्णन ३५२ से लेकर ३६० अनुच्छेदों में आता है। सबसे पहले (अनुच्छेद ३५२), युद्ध बाहरी आक्रमणों से या आन्तरिक गड़बड़ से जिससे भारत या उसके किसी भाग की सुरक्षा को खतरा हो, उत्पन्न होने वाली आपात है। ऐसी आपात की उद्घोषणा आपात की आशंका को ध्यान में रखकर पहिले से ही की जा सकती है फिर भी राष्ट्रपति के संसद के अधिकार की उपेक्षा

---

१. अनुच्छेद ७२।

नही कर सकता। सविधान मे उसका प्राधिकार सदा ससद के प्राधिकार पर निर्भर होता है। आपात उद्घोषणा जिसे राष्ट्रपति ने जारी किया हो ससद के दोनो सदनो के आगे रखी जानी चाहिए। यदि दोनो सदन अपनी स्वीकृति न दे दें तो यह दो मास मे समाप्त हो जाती है। आपात काल मे केन्द्रीय सरकार राज्य सूची के विषयो के सम्बन्ध मे भी कानून बना सकती है और राष्ट्रपति नागरिको के मूल अधिकारो को भी स्थगित कर सकता है।[1] राष्ट्रपति देश के राजस्व के साधनों का वित्तीय वर्ष के लिए बटवारा भी फिर से कर सकता है।

२० अक्टूबर १९६२ को नेफा और लद्दाख मे चीनी आक्रमण होने पर श्री नेहरू ने २२ अक्टूबर को रेडियो से एक भाषण दिया जिसमे उन्होने कहा कि चीनी आक्रमण देश के लिये बहुत हानिकारक है। २६ अक्टूबर को सघीय मन्त्रिमण्डल की एक बैठक हुई जिसमे चीनी आक्रमण पर विचार किया गया। इस बैठक के पश्चात् उसी दिन राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन ने सारे देश मे आपात काल की घोषणा कर दी, यह घोषणा भारतीय सविधान के ३५२ अनुच्छेद के अन्तर्गत की गई। उसी दिन (२६ अक्टूबर) राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन ने भारत की सुरक्षा के लिये एक अध्यादेश जारी कर दिया। इस अध्यादेश मे भारत सरकार को यह अधिकार दिया गया कि वह आपात काल के समय मे भारत की रक्षा के लिये विशेष व्यवस्था कर सकती है। कुछ समय बाद इस अध्यादेश को भारत सुरक्षा विधेयक मे परिणित कर दिया गया। इस विधेयक को भारतीय ससद के दोनो सदनो ने स्वीकार कर लिया। दिसम्बर के प्रारम्भ मे राष्ट्रपति ने इस विधेयक पर हस्ताक्षर कर दिए और यह भारत सुरक्षा अधिनियम बन गया यह अधिनियम अभी तक लागू है। चीनी आक्रमण को रोकने के लिये एक राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद् भी स्थापित की गई थी।

दूसरी प्रकार का आपात (अनुच्छेद ३५६) उस समय होता है जब राष्ट्रपति को किसी राज्यपाल से इस आशय का समाचार मिले या उसे समाधान हो गया हो कि राज्य विशेष मे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमे उस राज्य का शासन कार्य सविधान के अनुसार सचालित करना सम्भव नही है। ऐसी दशा मे राष्ट्रपति राज्यपाल के प्राधिकार सहित राज्य विशेष का सारा शासन-कार्य सम्हाल लेता है। राष्ट्रपति यह भी घोषित कर सकता है कि उक्त राज्य के विधानमण्डल की शक्तिया ससद के द्वारा या उसके प्राधिकार के अन्तर्गत प्रयुक्त की जायेंगी। वह सविधान के किसी भी भाग को स्थगित कर सकता है जो उस राज्य के किसी निकाय या प्राधिकारी से सम्बन्धित हो। किन्तु राष्ट्रपति उन शक्तियो को नही सम्हाल सकता जो हाईकोर्ट मे निहित होती हैं या उसके द्वारा प्रयोग करने के लिये होती हैं। वह सविधान के हाईकोर्ट सम्बन्धी किसी उपबन्ध के कार्य को स्थगित नही कर सकता। ऐसी हर उद्घोषणा भी ससद के दोनो सदनो के आगे रखी जाती है और सदनो की स्वीकृति न मिलने की हालत मे महीने मे अपने आप समाप्त हो जाती है, अनुच्छेद ३५७ के अनुसार ससद राज्य के लिये

१. अनुच्छेद ३५९ (१)

कानून बनाने की शक्ति को राष्ट्रपति को दे सकती है। या उसके (राष्ट्रपति) द्वारा निश्चित किसी प्राधिकारी को यह अधिकार देने का विकल्प राष्ट्रपति को दे सकती है। जिस समय संसद के दोनों सदनों के सत्र चालू हों कोई अध्यादेश जारी नहीं किया जा सकता। जिस समय लोक सभा बन्द हो तो राष्ट्रपति संसद की स्वीकृति मिलने तक के लिये राज्य की संचित निधि से धन व्यय करने की अनुमति दे सकता है।

तीसरे प्रकार का आपात वित्तीय आपात है। यदि राष्ट्रपति को यह समाधान हो जाये कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है कि इससे भारत या उसके किसी भाग की वित्तीय स्थिरता या उसका प्रत्यय (credit साख) को खतरा है तो वह आपात की उद्घोषणा कर सकता है, ऐसी दशा में वह आवश्यक निर्देश जारी कर सकता है और राज्य के सेवकों की सब या कुछ श्रेणियों के वेतन और भत्तों में कमी कर सकता है। वह यह भी निर्देश कर सकता है कि सभी धन विधेयक तथा अन्य विधेयक भी राज्य विधान मण्डल द्वारा पास हो जाने के बाद उसके विचार के लिये सुरक्षित रख दिये जायें। अनुच्छेद ३६० (४-ख) के अनुसार राष्ट्रपति को वित्तीय आपात के समय सभी प्रकार के सरकारी राजकर्मचारियों (सुप्रीम कोर्ट और हाईकोर्ट के जजों सहित) के वेतन और भत्ते कम करने का अधिकार है। पिछले दो प्रकार आपात की भी वही अवधि होती है जो पहले प्रकार की उद्घोषणा की। किन्तु राज्यों में संवैधानिक शासन के टूट जाने की आपात उद्घोषणा पहिली बार दो महीने के लिये होती है और यह अवधि हर बार छ: महीने के लिये यदि केन्द्रीय सरकार चाहे तो संसद द्वारा बढ़वानी होगी। साथ में यह भी शर्त है कि ऐसी उद्घोषणा किसी भी अवस्था में तीन वर्ष से ज्यादा चालू नहीं रहेगी।

## राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति
## (Real Position of the President)

राष्ट्रपति की उपरोक्त शक्तियाँ उसकी व्यक्तिगत शक्तियाँ नहीं हैं। ये शक्तियाँ उसके पद से सम्बद्ध हैं वह इन्हें अपने स्वविवेक (discretion) से प्रयोग नहीं कर सकता। वह अपने सभी कामों में अपने मन्त्रियों के परामर्श से कार्य करता है। वह उनकी इच्छा के विरुद्ध नहीं जा सकता। हमारी शासन पद्धति एक संसदीय प्रकार की है। राष्ट्रपति केवल नाम के लिये राज्य का प्रधान है। वह राज्य का संवैधानिक प्रधान है। वह प्रधान कार्यकारी है परन्तु वास्तविक कार्यकारी नहीं। उसकी शक्तियों की तुलना इंग्लैंड के नरेश की शक्तियों से की जा सकती है यद्यपि उसे उतनी प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं। जैसा कि सर आइवर जैनिंग्स ने कहा है कि भारत में बिना राजा के ही संवैधानिक राजतन्त्र कायम है। (In India there is a constitutional monarchy without a monarch) ब्रिटिश राजतन्त्र एक वंशानुगत है और इसलिए उसमें कुछ चमक (glamour) भरी है। एक भारतीय राष्ट्रपति

साधारणतया एक अवसरवादी राजनीतिज्ञ ही हो सकता है। उसके अप्रत्यक्ष निर्वाचन के कारण उसकी व्यक्तिगत स्थिति का महत्व और भी कम होता है।

भारतीय संविधान के अन्तर्गत "राष्ट्रपति का वही स्थान है जो ब्रिटिश संविधान में राजा का। वह राज्य का प्रधान होता है किन्तु कार्यकारिणी का प्रधान नहीं होता। वह राष्ट्र का प्रतिनिधि माना जाता है परन्तु शासन नहीं करता। प्रशासन में उसका स्थान एक औपचारिक साधन का है, अर्थात् एक ऐसी मुहर का जिसके द्वारा राष्ट्र के निश्चयों की मान्यता प्रकट की जाती है।" वह राष्ट्रीय उत्सवों के अवसरों पर अध्यक्षता ग्रहण करता है। वह राजदूत और अन्य कूटनीतिक अधिकारियों की आव-भगत करता है। भारतीय राजदूत उसके नाम पर ही बाहर भेजे जाते हैं। सरकार के सभी काम उसके नाम से ही किये जाते हैं लेकिन वास्तव में यह सब निश्चय सरकार के होते हैं। एक लेखक लिखते हैं "क्योंकि लोक सभा के प्रति मन्त्रिमण्डल उत्तरदायी होता है राष्ट्रपति नहीं, और क्योंकि शक्ति उत्तरदायित्व के साथ-साथ चलती है इसलिये राष्ट्रपति की स्थिति एक संवैधानिक प्रधान से अधिक कुछ नहीं हो सकती। अपनी वास्तविक स्थिति में तो उसकी तुलना अमेरिका के राष्ट्रपति के साथ न की जाकर ब्रिटिश नरेश या फ्रांस प्रेजिडेंण्ट के साथ ही की जा सकती है, संसदीय सरकार प्रणाली में इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग ही नहीं है।"

संविधान द्वारा राष्ट्रपति को प्रदान की गई शक्तियों के आधार पर यह कहा गया है कि वह एक तानाशाह, दैत्य महादानव, कैसर या जार होगा। हिन्दुस्तान टाइम्स में प्रकाशित एक वक्तव्य में भी शरतचन्द्र बोस ने यह मत प्रकट किया था कि संविधान ने अन्य अनेक शक्तियों के साथ ही राष्ट्रपति को राज्यों के राज्यपालों को नियुक्त करने की शक्ति, कानून बनाने की अति विस्तृत शक्ति, राज्य सभा के सदस्यों को मनोनीत करने की शक्ति, किसी राज्य के किसी या सभी कार्यों को स्वयं सभाल लेने की शक्ति, या किसी राज्यपाल को प्रदान की हुई कोई या सारी शक्तियाँ संविधान के तीसरे भाग के अधिकारों को भी स्थगित कर देने की शक्ति तथा अन्य आपातकालीन शक्तियाँ जिन पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं है राष्ट्रपति को देकर सचमुच एक आधुनिक मुगल सम्राट का स्थान दे दिया है। इस प्रकार का अतिशयी वक्तव्य संविधान की बहुत हल्की समझदारी पर आश्रित है। डा० बी० एम० शर्मा कहते हैं, "एक मजबूत आदमी राष्ट्रपति बनकर वास्तविक कार्यकारक (executive) बनना चाहेगा और बन सकता है जबकि एक दुर्बल राष्ट्रपति संसदीय अभिसमयों (conventions) को गणराज्य के प्रशासन में चलने देगा।"[1] एक अन्य लेखक भी यही मानते हैं कि अमरीकन प्रेसीडेन्ट इसीलिये महान् शक्ति का

---

१. दी इण्डियन जरनल ऑफ पौलिटिकल साइन्स, अक्टूबर-दिसम्बर, १९५० पृष्ट ८।

प्रयोग करता है क्योंकि उसके पद की शक्तियाँ और प्रतिष्ठा वाशिंगटन ने बहुत बढ़ा-चढ़ा कर रखी थी। उनके विचार में मैक मोहन (Mac Mohan) और ग्रेवी (Grevy) ने अपनी दुर्बल नीतियों के द्वारा फ्रांस के प्रेसीडेन्ट पद को बिल्कुल निर्बलता की अवस्था को पहुँचा दिया था।

उपरोक्त दोनों विद्वानों की एक भ्रान्त धारणा है। किसी पद की दृढ़ता या दुर्बलता उस पद पर आसीन व्यक्ति के व्यक्तिगत चरित्र पर निर्भर नहीं है। यह मूलतः सरकार की पद्धति पर निर्भर करता है। एक ब्रिटिश नरेश को चाहे वह कितना ही मजबूत क्यों न हो मन्त्रिमण्डल के आगे झुकना ही पड़ता है। एडवर्ड अष्टम को भी बाल्डविन के आगे झुकना पड़ा था। ट्रूमैन गरीबा एक साधारण अमेरिकन प्रेसीडेन्ट एडवर्ड अष्टम के मुकाबले सौ गुना अधिक शक्तिशाली था। मजबूत या कमजोर आदमी होने से संवैधानिक पद्धति में कोई विशेष अन्तर नहीं आता। इसलिये एक राजेन्द्र प्रसाद या एक चक्रवर्ती राजगोपालचारी यह सब एक ही बात है। यहाँ हम मसौदा तैयार करने वाली समिति के एक सदस्य सर अल्लाडी कृष्ण स्वामी अय्यर के विचार उद्धृत करते हैं। आपने नई दिल्ली में रेडियो पर बोलते हुए कहा था कि भारतीय गणराज्य के राष्ट्रपति को अनिवार्यतः अपने मन्त्रियों के परामर्श पर चलना होगा यदि राष्ट्रपति अपने मन्त्रियों से बिना पूछे उनके परामर्श से स्वतन्त्र होकर कार्य करने का यत्न करेगा तो वह संविधान की मर्यादा के अतिक्रमण का दोषी होगा।[1]

डा० राजेन्द्र प्रसाद ने अपने बर्ताव से यह दिखाया था कि वे वास्तव में नाम मात्र के राष्ट्रपति थे। वे सब कार्य मन्त्रिमण्डल की सलाह से करते थे। नौरमन डी० पामर का कथन है। "अभी तक जो बहुत सी परम्परायें स्थापित हो चुकी हैं उनमें यह है कि गणराज्य का राष्ट्रपति संविधान के शानदार भागों का प्रधान है और वह अपनी विशेष शक्तियों का प्रधान मन्त्री और मंत्री मण्डल की सलाह से ही उपयोग करेगा। वास्तव में उसकी स्थिति अमेरिका व फ्रांस के राष्ट्रपति से अधिक नहीं मिलती बल्कि ब्रिटेन के सम्राट से अधिक मेल खाती है।"[2] (Among the conventions that seem to be established is one that the President of the republic shall indeed be the head of the "dignified" parts of the constitution and that he shall use his extraordinary powers only upon the advice of the Prime Minister and the cabinet. In actual fact his position has been far closer to that of the English sovereign than to that of the American President or even of the President of the French Republic)

---

१. दी हिन्दुस्तान टाइम्ज, २१ जनवरी १९५०।
२. मेजर गवर्नमेंट ऑफ एशिया, पृष्ठ २१५।

फिर भी हर प्रकार की सरकार की शासन पद्धति में व्यक्तित्व का कुछ न कुछ प्रभाव होता अवश्य है। एक उच्च आचरण वाला व्यक्ति अवश्य अपने मन्त्रियों के कार्य को प्रभावित कर सकता है। इसके सिवाय राष्ट्रपति किसी भी समय सरकारी कागज मंगवा सकता है और मन्त्रियों के द्वारा किए निर्णयों के पुनर्विचार की मांग कर सकता है। वह मन्त्रियों को चेतावनी दे सकता है और ठीक काम करने पर उपयुक्त अवसरों पर उन्हें शाबासी भी दे सकता है वह आपत्ति भी कर सकता है। थोड़े समय पहले डा० राजेन्द्रप्रसाद ने पंडित नेहरू को एक पत्र लिखा था उसमें उन्होंने सरकार की बेकारी, शिक्षा, खाद्य और व्यवसायिक विकास की नीति की निन्दा की थी, उन्होंने इस पत्र में चेतावनी दी कि भूमि वितरण और सहकारी खेती के विषय में कानून बनाते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि खाद्य उत्पादन पर इसका कोई प्रभाव न पड़े और उसके उत्पादन में कमी न आए।[1] उन्होंने कहा कि खाद्य पदार्थों में राज्य व्यापार (State Trading) करना हानिकारक है। इसके चलाने के लिए एक बड़े संगठन और अनुभवी व्यक्तियों की आवश्यकता है। उन्होंने कृषि प्रशिक्षण खोलने पर जोर दिया। प्रधान मन्त्रि ने अपने उत्तर में राष्ट्रपति के सुझावों का स्वागत किया। उन्होंने उस्मानिया विश्वविद्यालय स्नातक परिषद के २७ वें वार्षिक सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए भारतीय शिक्षा पद्धति में परिवर्तन की आवश्यकता बतलाई। राष्ट्रपति ने कहा कि कोई भी शिक्षित मनुष्य बेकार नहीं रहना चाहिये। उन्होंने कहा कि बेकारी बढ़ती जा रही है परन्तु उसके साथ नौकरियां व धन्धे नहीं। बढ़ रहे हैं।[2] राष्ट्रपति ने कुछ समय पहले एक पत्र प्रधान मन्त्री को लिखा था जिसमें उन्होंने प्रधान मन्त्री से अनुरोध किया था कि वे एक शक्तिशाली और स्वतन्त्र न्यायालय की स्थापना करें जो उच्च अधिकारियों और मन्त्रियों के विरुद्ध लगाए गए अभियोगों की जांच पड़ताल करे।[3]

वह किसी नीति के परिपालन को अन्तिम रूप से नहीं रोक सकता, फिर भी प्राय. छोटे-मोटे मामलों में उसकी इच्छाओं का सम्मान किया जाता है। डा० राजेन्द्र प्रसाद ने मन्त्रिमण्डल के बिना परामर्श किए ही श्री जवाहरलाल नेहरू को भारत रत्न की उपाधि प्रदान कर दी थी। इसी प्रकार राष्ट्रपति के अनुरोध पर ही हैदराबाद में राष्ट्रपति निलियम को राष्ट्रपति के दक्षिण में सरकारी निवास स्थान के रूप में स्थापित किया गया है। ऐसे छोटे-मोटे मामलों में मन्त्रिमण्डल की सहमति की कल्पना करली जाती है किन्तु राष्ट्रपति राजनैतिक मामलों में किसी निश्चय पर पहुँचने का साहस नहीं कर सकता इसी प्रकार यदि संसद में केवल दो दल हों और लगभग के समान शक्ति वाले हों तो राष्ट्रपति अपने व्यक्तिगत स्वविवेक का प्रयोग करते हुए किसी को भी अपना प्रधान मन्त्री बना सकता है।

---

१. दी हिन्दुस्तान टाइम्स, १८ जून १९५९।

२. वही, २४ अगस्त १९५९।

३. वही, ८ दिसम्बर १९५९।

## उप-राष्ट्रपति (The Vice-President)

संविधान में एक उपराष्ट्रपति पद की भी व्यवस्था की गई है, जो पदेन राज्य सभा का अध्यक्ष होता है। जब राष्ट्रपति का स्थान खाली होता है नए राष्ट्रपति के चुनाव होने तक तो उपराष्ट्रपति उसके स्थान में कार्य करता है। उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति की अनुपस्थिति या बीमारी में उसका काम करता है किन्तु अमेरिकन वाइस प्रेसीडेन्ट की तरह राष्ट्रपति का स्थान खाली होने पर वह राष्ट्रपति नहीं हो जाता। उपराष्ट्रपति संसद के दोनों सदनों की एक सम्मिलित बैठक में अनुपाती प्रतिनिधान पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा निर्वाचित किया जाता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि वह ऐसा व्यक्ति हो जो भारत का नागरिक हो, ३५ वर्ष की आयु का हो चुका हो और राज्य सभा का सदस्य चुना जाने की योग्यता रखता हो। उपराष्ट्रपति की अवधि पांच साल होती है। यदि राज्यसभा उस समय की सदस्य संख्या के बहुमत से उपराष्ट्रपति को अपने पद से हटाने का प्रस्ताव पास करदे और लोक सभा उनसे सहमत हो जाए तो उपराष्ट्रपति अपने पद से हटाया जा सकता है। इस समय श्री वी० वी० गिरी भारत के उपराष्ट्रपति हैं। उनसे पहले डाक्टर जाकिर हुसैन उपराष्ट्रपति थे जो इस समय राष्ट्रपति हैं। १० वर्ष राष्ट्रपति रहने के बाद डा० राजेन्द्र प्रसाद ने तीसरी बार राष्ट्रपति होना स्वीकार नहीं किया। उन का स्थान डा० राधाकृष्णन ने ले लिया। वे पाच वर्ष तक राष्ट्रपति रहे। उनकी अवधि समाप्त होने पर डा० जाकिर हुसैन राष्ट्रपति चुने गये।

—: ० :—

अध्याय २५

# भारतीय संसद

भारत में केन्द्रीय विधान मण्डल संसद (Parliament) कहलाता है। यह राष्ट्रपति और दो सदनों को मिलकर बना है जिन्हें क्रमशः राज्य सभा और लोक सभा कहते हैं। राष्ट्रपति संसद का अभिन्न (Integral) भाग है। सब विधेयक जो दोनों सदनों द्वारा पारित किये जाते हैं राष्ट्रपति की अनुमति मिलने से ही अधिनियम बनते हैं।

## राज्य सभा

संगठन—सभी संघ विधानों की तरह भारत के संविधान में दो सदनों के विधान मण्डल की व्यवस्था है। राज्य सभा में, जैसा कि उसके नाम से ही जाना जा सकता है, राज्यों के, अर्थात् भारतीय संघ की संवैधानिक इकाइयों के प्रतिनिधि बैठते हैं। इसकी कुल संख्या अधिक से अधिक २५० अर्थात् लोक सभा की सदस्य संख्या से आधी होती है। इसमें से १२ सदस्य राष्ट्रपति द्वारा कला, साहित्य, विज्ञान और समाज सेवा आदि का विशेष ज्ञान या अनुभव रखने वाले व्यक्तियों में से मनोनीत किये जाते हैं।[1] भारतीय संविधान की चतुर्थ संशोधित अनुसूचि के अनुसार जिसमें राज्यों के लिए स्थानों के बँटवारे के बारे में उपबन्ध है, विभिन्न राज्यों के लिए २१६ प्रतिनिधि तथा दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, मणिपुर और त्रिपुरा इत्यादि संघ राज्य क्षेत्रों के लिए नौ प्रतिनिधि निश्चित किये गए हैं। १९६० के बम्बई पुन संगठन अधिनियम के अनुसार बम्बई राज्य को महाराष्ट्र और गुजरात दो राज्यों में बाँट दिया गया है। भारत सरकार ने नागा प्रदेश को एक पृथक् राज्य बनाया। १९६६ में पंजाब को दो राज्यों में बाँट दिया गया। एक भाग को पंजाब और दूसरे को हरियाणा नाम दिया गया। इस प्रकार नागा प्रदेश को मिलाकर भारत में १७ राज्य हैं। १२ मनोनीत सदस्यों को मिलाकर राज्य सभा की संख्या २४० है। राज्य सभा में राज्यों और संघ राज्य क्षेत्रों के लिये प्रतिनिधियों की संख्या निम्नलिखित है —

| | |
|---|---|
| (१) आन्ध्र प्रदेश | १८ |
| (२) आसाम | ७ |
| (३) बिहार | २२ |
| (४) महाराष्ट्र | १९ |
| (५) केरल | ९ |
| (६) मध्य प्रदेश | १६ |
| (७) मद्रास | १८ |
| (८) मैसूर | १२ |

१. अनुच्छेद ८० (३)।

| | |
|---|---|
| (६) उड़ीसा | १० |
| (१०) पंजाब | ७ |
| (११) राजस्थान | १० |
| (१२) उत्तर प्रदेश | ३४ |
| (१३) पश्चिमी बंगाल | १६ |
| (१४) जम्मू और काश्मीर | ४ |
| (१५) गुजरात | ११ |
| (१६) दिल्ली | ३ |
| (१७) हिमाचल प्रदेश | ३ |
| (१८) मणिपुर | १ |
| (१९) त्रिपुरा | १ |
| (२०) हरियाणा | ५ |
| (२१) नागालैण्ड | १ |
| (२२) पांडिचेरी | १ |

**सदस्यों का चुनाव**—राज्य सभा के सदस्यों का चुनाव अप्रत्यक्ष रूप से होता है। दूसरे शब्दों में हर राज्य के प्रतिनिधि जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित न होकर उस राज्य की विधान सभा के सदस्यों द्वारा चुने जाते हैं। ये चुनाव अनुपाती प्रतिनिधित्व के आधार पर एकल संक्रमणीय मत प्रणाली से संचालित किए जाते हैं। संघ राज्य क्षेत्रों के प्रतिनिधियों के चुनाव का तरीका निकालने का काम संविधान ने संसद पर ही छोड़ दिया है।

**राज्य सभा की अवधि**—दूसरे देशों के संघ विधान मण्डलों के उच्च सदनों की भांति भारतवर्ष की राज्य सभा भी एक स्थाई निकाय है और कभी विघटित नहीं होती है किन्तु इसके एक तिहाई सदस्य हर दूसरे वर्ष की समाप्ति पर निवृत्त हो जायेंगे।[1]

**गणपूर्ति**—राज्य सभा की गणपूर्ति इसके कुल सदस्य संख्या का दसवां भाग होती है।

**सदस्यता के लिए अर्हता**—किसी व्यक्ति के लिए राज्य सभा के किसी स्थान के लिये चुने जाने के लिए निम्नलिखित अर्हता होनी चाहिए :—

(क) भारत का नागरिक हो।

(ख) तीस वर्ष की आयु का हो।

(ग) ऐसी अर्हताएँ रखता हो जो कि इस बारे में संसद निर्मित किसी विधि के द्वारा या अधीन निश्चित की जायें।[2]

**सदस्यता के लिए अनर्हताएँ**—कोई व्यक्ति राज्य सभा का सदस्य चुने जाने के लिये अनर्हत होगा।[3]

१. अनुच्छेद ८३ (२)।
२. अनुच्छेद ८०।
३. अनुच्छेद १०२।

(क) यदि वह भारतीय सरकार के अथवा किसी राज्य की सरकार के अधीन लाभ का पद धारण किये हुए है।

(ख) यदि वह विकृत चित्त है।

(ग) यदि वह अनुन्मुक्त दिवालिया है।

(घ) यदि वह भारतीय नागरिक नहीं है, अथवा किसी विदेशी राज्य की नागरिकता को स्वेच्छा से अर्जित कर चुका है, अथवा किसी विदेशी राज्य के प्रति निष्ठा अनुषक्ति को अभी स्वीकार किये हुए है।

(ङ) यदि वह संसद निर्मित किसी विधि के द्वारा या अधीन इस प्रकार अनर्ह कर दिया गया है।

**राज्यसभा का सभापति**—भारत का उपराष्ट्रपति ही पदेन राज्य सभा का सभापति होता है। राज्य सभा अपने एक सदस्य को उपसभापति पद के लिए चुनेगी। इस समय श्री एम० वाई० कृष्णामूर्तिराव राज्यसभा के उपसभापति हैं। राज्यसभा के उप-सभापति के रूप में पद धारण करने वाला सदस्य :—

(क) यदि सभा का सदस्य नहीं रहता तो अपना पद रिक्त कर देगा।

(ख) किसी समय भी अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा जो सभापति को सम्बोधित होगा, अपना पद त्याग सकेगा, तथा

(ग) सभा के तत्कालीन समस्त सदस्यों के बहुमत से पारित सभा के संकल्प द्वारा अपने पद से हटाया जा सकेगा।

परन्तु खंड (ग) के प्रयोजन के लिये कोई संकल्प तब तक प्रस्तावित न किया जायगा जब तक उस संकल्प के प्रस्तावित करने के अभिप्राय की कम से कम चौदह दिन की सूचना न दे दी गई हो।[1] जब सभापति का स्थान रिक्त होता है या जब उप-राष्ट्रपति भारत के राष्ट्रपति के रूप में कार्य कर रहा है, तो सभापति के कृत्य उप-सभापति द्वारा सम्पादित किये जाते हैं। सभापति और उप-सभापति को हटाने के सम्बन्ध में जब किसी प्रस्ताव पर सदन में बहस होती है, तो ये दोनों उन प्रस्तावों पर मतदान में भाग नहीं ले सकते और न ही ऐसी बहस के समय सभापतित्व ग्रहण कर सकते हैं, किन्तु उन्हें अपने विचार प्रकट करने का अधिकार रहता है।

**राज्य सभा के सदस्यों के विशेषाधिकार**—भारतीय संविधान ने संसद में भाषण की स्वतन्त्रता का सदस्यों को आश्वासन दिया हुआ है, किन्तु यह स्वतन्त्रता संविधान के उपबन्धों से तथा संसद के स्थायी आदेश तथा कार्य संचालन सम्बन्धी नियमों से मर्यादित है। सदस्यों को यह भी आश्वासन दिया गया है कि सदन में या उसकी किसी समिति में किसी भाषण के लिये या मतदान के लिये किसी न्यायालय में कोई अभियोग नहीं चलाया जायगा। यह आश्वासन सदन की कार्यवाहियों के प्रकाशन तथा सदन के अधिकार से प्रकाशित प्रकाशनों पर भी लागू है। जब तक

---

१. अनुच्छेद ९०।

इसके विरुद्ध संसद द्वारा विधि निर्माण के द्वारा कोई अन्य स्पष्टीकरण न हो जाय तब तक राज्य सभा, और सदस्यों को, और उसकी समितियों को, वे ही शक्तियां विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ मिलेंगी, जो कि ऐसे प्रसंग में, इंगलैंड के अन्दर हाउस ऑफ कॉमन्स को, व उसके सदस्यों को, और उसकी समितियों को इस समय उपलब्ध है।

**राज्य सभा की स्थिति और शक्तियां**—अन्य सब राज्यों की तरह जहां पर उच्च सदन होता है, हमारे यहाँ भी उच्च सदन की स्थिति और शक्तियों का अन्दाजा इस बात से लगाया जाता है कि इस उच्च सदन का सार्वजनिक कोष पर, विदेशी मामलों पर तथा कार्यपालिका की नियुक्तियों आदि पर कोई नियन्त्रण है या नहीं। सारी दुनिया में, अमेरिकन सीनेट का सबसे अधिक शक्तिशाली उच्च सदन माना जाता है, क्योंकि उसका उपरोक्त तीनों विषय पर पूर्ण नियन्त्रण है। हमारी राज्यसभा को इस प्रकार की कोई शक्तियाँ प्राप्त नहीं हैं। कोई वित्त विधेयक पहले निम्न सदन में ही प्रारम्भ होता है। वित्त विधेयक निम्न सदन से पारित होकर राज्य सभा द्वारा चौदह दिन के अन्दर अपनी सिफारिशों के साथ वापिस भेजने के लिये भेजा जाता है। निम्न सदन इन सिफारिशों में से कुछ को या सबको स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है। राज्य सभा बजट को पारित होने से १४ दिन के लिये रोक सकती है। यह शक्ति नाम मात्र की है। उसका कोई महत्व नहीं है। विदेशी मामलों के लिये और कार्यपालिका की नियुक्तियों के सम्बन्ध में राज्य सभा को कोई एक मात्र (exclusive) क्षेत्राधिकार प्राप्त नहीं हैं। कार्यपालिका की नियुक्तियाँ राष्ट्रपति द्वारा मन्त्रिमण्डल की सलाह पर की जाती हैं। गैर वित्त विधेयकों के बारे में स्थिति जरा भिन्न है। गैर वित्त विधेयक राज्य सभा में भी प्रारम्भ हो सकता है। ऐसा विधेयक अधिनियम तभी बनेगा जब उसे दोनों सदनों की स्वीकृति मिली हो।[1] यदि ऐसे विधेयक के विषय में दोनों सदनों में मतभेद हो तो मतभेद का विषय राष्ट्रपति द्वारा दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में विचार के लिये भेजा जा सकता है। यदि ऐसी संयुक्त बैठक में विवादग्रस्त विधेयक ऐसे संशोधनों सहित, यदि कोई हों, जिनको संयुक्त बैठक में स्वीकार कर लिया जाये, दोनों सदनों के उपस्थित तथा मत देने वाले समस्त सदस्यों के बहुमत से पारित हो जाता है तो वह दोनों सदनों से पारित समझा जावेगा।[2] ऐसी संयुक्त बैठकों के अवसरों की सम्भावना बहुत कम है। ऐसी बैठकों का परिणाम क्या होगा यह पूर्व निश्चित बात है। राज्य सभा की सदस्य संख्या लोकसभा से लगभग आधी है और जब तक किसी प्रश्न पर लोकसभा में ही भयंकर फूट न हो राज्यसभा कभी उसके निश्चय को नहीं बदलवा सकती। किसी गैर वित्त विधेयक को लोकसभा द्वारा पारित होने पर, राज्य-सभा ने अस्वीकार कर दिया हो या छः मास तक उस पर कोई कार्यवाही न की हो

१. अनुच्छेद १०७ (१), (२)।
२. अनुच्छेद १०८।

तो राष्ट्रपति दोनों सदनों की संयुक्त बैठक आमन्त्रित कर सकते हैं। इस प्रकार राज्यसभा छः मास की देरी लगा सकती है। वह किसी विधेयक को समाप्त नहीं कर सकती है जहां तक विधेयकों का सम्बन्ध है यह एक देरी करने का यन्त्र है।

जहां तक संविधान में संशोधनों का सम्बन्ध है, राज्य सभा को लोकसभा के समान शक्तियां प्राप्त हैं। ऐसे संशोधनों का प्रारम्भ राज्य सभा में भी हो सकता है।[1] संविधान में संशोधन का विधेयक जब प्रत्येक सदन द्वारा उस सदन की समस्त सदस्य संख्या में बहुमत से तथा उस सदन के उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों के दो तिहाई से अन्यून बहुमत से पारित होता है तभी राष्ट्रपति की अनुमति के लिये भेजा जाता है। यह व्यवस्था जल्दबाजी, गुटबाजी और अविवेक के विरुद्ध बड़ी रक्षा कवच है। भारतीय उच्च सदन की यह शक्ति समानता का बड़ा महत्व रखती है क्योंकि इसके द्वारा इस तथ्य की पुष्टि होती है कि राज्य सभा की सहमति के बिना संविधान में संशोधन नहीं किया जा सकता। "इससे प्रकट है कि राज्य सभा राज्यों की प्रभुता या स्वाधीनता की धारक (repository) है और संविधान वास्तव में संघात्मक है।"[2]

राज्य सभा को कुछ अन्य शक्तियाँ भी मिली हैं। भारत का उप-राष्ट्रपति राज्य सभा का पदेन सभापति होता है। इससे सभा को गौरव और अधिकार मिलता है। संविधान के आपातकालीन उपबन्धों के अधीन राष्ट्रपति जो उद्घोषणायें (proclamations) जारी करता है उनके चालू रहने के लिए राज्य सभा का अनुमोदन आवश्यक है।[3] राज्य सभा का हाथ उच्च न्यायालयों और उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को पृथक् करने में भी होता है। राष्ट्रपति के महाभियोग में भी इसको लोकसभा के साथ समान शक्ति प्राप्त है। राज्य सभा के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के चुनाव में भी भाग लेते हैं। अन्त में यदि राज्य-सभा दो तिहाई के बहुमत से संकल्प पारित करे तो वह एक बार में एक वर्ष के लिये संसद को किसी राज्य सूची (State List) के विषय पर विधि निर्माण का अधिकार दे सकती है।[4]

इस शक्ति के बारे में डा० वी० एम० शर्मा कहते हैं. "राज्य सभा को एक विशेष शक्ति प्राप्त है जिसमें लोक सभा उसकी साझी नहीं है और जिसके कारण इस बात की पुष्टि हो जाती है कि भारतीय संविधान करार की प्रकृति (Contractual Nature) पर आश्रित है, यह करार संघ विधानमण्डल के उच्च सदन की शक्ति से प्रगट होता है और यह संघ शासन के सवैधानिक कार्यों के अधिकारों की

१. अनुच्छेद ३६८।
२. एन० पी० चौधरी मैक्सिमम चैम्बर्स इन फैडरेशन्स, पृष्ठ १८५।
३. अनुच्छेद ३५२ और ३६०।
४. अनुच्छेद २४६।

रखा करता है।"[1] यह भी कहा जाता है कि "वित्त विधेयकों को छोड़कर शेष सब मामलों में राज्यसभा लोकसभा के समान स्तर पर शक्तियाँ रखती है और इस प्रकार यह एक सच्चा द्वितीय सदन है।"[2] हमारे विचार में माननीय लेखक का यह वक्तव्य पूर्णतया ठीक नहीं है।

संघ के उच्च सदन की शक्तियाँ उसके गठन (composition) में नहीं किन्तु स्थिति (position) और शक्तियों में निहित हैं। सभी संघ संविधानों में संघ की इकाइयों को समान आधार पर प्रतिनिधित्व देने का सिद्धान्त अपनाया गया है। यह तरीका कनाडा, आस्ट्रेलिया और स्विट्जरलैंड के उदाहरणों से स्पष्ट है। यह सिद्धान्त भारत में नहीं अपनाया गया। यहाँ प्रतिनिधित्व जन-संख्या के आधार पर दिया गया है। इसके तीन कारण हैं। पहले तो भारत में यह व्यावहारिक नहीं है, यहाँ अनेक ऐसे छोटे-छोटे राज्य हैं जिनको समान प्रतिनिधित्व नहीं दिया जा सकता। दूसरे इस प्रकार की माँग होने का कोई अवसर नहीं था। तीसरे भारतीय संघ की इकाइयाँ जहाँ तक ब्रिटिश भारत का सम्बन्ध है पहले केवल प्रशासनिक इकाइयाँ थी। इसके विपरीत अमेरिका में सन् १७८९ में संघ बनने से पूर्व सारे राज्य पूर्णतया स्वाधीन थे। वे समान प्रतिनिधित्व के साधन से अपनी स्थिति की गारन्टी चाहते थे। कनाडा, आस्ट्रेलिया और अमेरिका में राज्यों को उच्च सदन में समान प्रतिनिधित्व का प्रलोभन देकर संघ शासन में सम्मिलित होने के लिए राजी किया गया। भारत में संघ की कल्पना अंग्रेजों की देन है। और इकाइयों ने समानता के लिए कोई माँग नहीं रखी। कुछ मामलों में तो संघ में सम्मिलित होने के लिए उनकी स्वीकृति भी नहीं ली गई। उनकी स्वीकृति की कल्पना करली गई।

हमारे संविधान ने राज्य सभा में अप्रत्यक्ष चुनाव की व्यवस्था करने में ठीक काम किया है। प्रत्यक्ष चुनाव का उद्देश्य उच्च सदन के लिए तभी कुछ सार्थक होता है जब वह सदन वास्तविक रूप में प्रभावशाली संघीय सदन हो, जैसा कि अमेरिका में है। भारत में प्रत्यक्ष चुनाव एक भूल होती है। यह गलती १९३५ के कानून में की गई थी, जिसमें उच्च सदन के लिये प्रत्यक्ष चुनाव की और निम्न सदन के लिए अप्रत्यक्ष चुनाव की व्यवस्था की गई थी। राज्य सभा के प्रत्यक्ष चुनावों से उसे एक विरोधी शक्ति का स्वरूप मिल जाता, जबकि यह वास्तव में विरोधी शक्ति नहीं है, क्योंकि इसके बहुत सीमित अधिकार हैं। प्रत्यक्ष चुनाव से अनावश्यक संघर्ष, झूठी शान और थोथा अधिकार जन्म लेता है।

एक अन्य लेखक राज्य सभा को "संसार का एक सबसे दुर्बल उच्च सदन" मानते हैं। "इसे राज्यों का वास्तविक प्रतिनिधि बतलाना भी कठिन है और

१. फैडरेलिज्म इन थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस भाग २, पृष्ठ ५२५।
२. वही, भाग २, पृष्ठ ५२१।

न उनको रक्षा करने की इसमे शक्ति है।" वह आगे चल कर यह भी कहते हैं कि "हमारी राज्य सभा उत्पन्न करने वालों ने आजकल के दो सदन वाले फैशन को संविधान मे शामिल करने के अतिरिक्त और कोई अभिप्राय विशेष इस सभा की सृष्टि करते समय अपने विचार मे लिया हो ऐसा मालूम नही होता। हमारे देश मे उच्च सदन कभी भी सम्मान या आदर की दृष्टि से नही देखे गये। यह कोई आश्चर्य की बात नही होगी यदि राज्य सभा भी हमारे संविधान की एक शृंगार प्रसाधन की वस्तु बन कर रह जाय।" राज्य सभा की शक्तियो के बारे में यह कथन पूर्णतया ठीक नही है। सघ संविधान मे आज के समय में कोई भी उच्च सदन इकाइयो के हित का प्रवक्ता नही हो सकता। दल प्रणाली ने राज्यो के हितो या कुछ वर्गों के प्रतिनिधित्व की गुंजाइश ही नही छोडी है। अमेरिका मे भी प्रो० हरमन फाइनर के कथनानुसार राज्यो की सीमाएँ राजनैतिक जीवन को बांध नही सकी हैं। रही यह आलोचना कि राज्य परिषद् केवल एक शृंगारिक प्रसाधन है सो यह भी पूर्णतया ठीक नही है। राज्य सभा दबदबे वाली संस्था भले ही न हो किन्तु यह शून्य भी नही है। यह एक निश्चित और उपयोगी उद्देश्य की पूर्ति करती है। निम्न सदन बहुत व्यस्त रहता है। यहां पर बहुत से बहुत जल्दबाजी में और बिना पूरी छानबीन के की जाती हैं। उच्च सदन के पास समय की अधिकता होती है और वह सभी विचाराधीन विषयो पर शान्ति और धैर्य से विचार कर सकता है। जब निम्न सदन बहुत व्यस्त होता है उस समय उच्च सदन महत्वपूर्ण राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय महत्व की समस्याओं पर वाद-विवाद कर सकता है। दूसरे कभी कभी ऐसा भी होता है कि छ महीने की अवधि मे किसी समस्या विशेष पर जनता का ध्यान आकर्षित होने के कारण एक बहुत उपयोगी अभिप्राय की सिद्धि हो जाती है।

आचार्य नरेन्द्र देव, डा० कुंजरू, डा० अम्बेडकर और प० पत जैसे प्रतिभाशाली और प्रसिद्ध व्यक्ति, किसी भी सदन के लिये एक गौरव बन जाते हैं। बहुत योग्य, न्यायवादी, सार्वजनिक नेता, राज्यपाल, मुख्य मन्त्री और प्रधान मन्त्री, अवकाश ग्रहण करने के बाद इस शानदार सदन की शोभा बढा सकते हैं। किसी भी सरकार के लिए ऐसे व्यक्तियों के दिये परामर्श की उपेक्षा करना बहुत कठिन है, जिनके बाल राष्ट्र की सेवा मे सफेद हो गये हो। राज्य सभा ने अनेक बार अपने अधिकार का उपभोग किया है, और कई बार देश के बडे से बडे व्यक्तियों को सबक सिखाया है। श्री टी० टी० कृष्णमाचारी को उनके वित्त मन्त्री के पद से त्याग पत्र देकर मद्रास को जाने के अवसर पर दिल्ली के हवाई जहाज के अड्डे पर उनके लिए विदाई के सम्बन्ध मे विशेष व्यवहार के कारण श्री नेहरू और डा० कुंजरू मे जो झड़प हुई थी, वह अब भी जानकारो के कानो मे गूज रही है। राज्य सभा के सदस्यो ने लाइफ इन्शोरेन्स कारपोरेशन के अधिकारियों की भी भर्त्सना की, और मुंदड़ा के

मामले में सम्बन्धित मन्त्री की भी तीव्र आलोचना की। इसी प्रकार मथाई के मामले में भी जो कि प्रधान मन्त्री के विशेष असिस्टेंट थे, राज्य सभा ने उसके अपने अधिकारों के कथित दुरुपयोग की तीव्र आलोचना की थी। एक थोथी सभा ऐसा कार्य कभी नहीं कर सकती। कैनेडा की सीनेट की तरह से हमारी राज्य सभा न तो एक खिलौना है, और न सरकार का घूंस कोष (bribery fund) है। एकल सक्रमणीय मतदान प्रणाली के कारण इस सभा में सभी दलों का प्रतिनिधित्व होता है, तथा सभी विचार के और योग्यताओं के और गिरोहों के व्यक्ति इसमें स्थान पाते हैं। इसमें केवल सरकार के पिट्ठू ही नहीं होते। राज्य सभा बेकार चीज नहीं है। यह सविधान का एक जीता-जागता अंग है। यह सवैधानिक, प्रशासनिक और विधि सम्बन्धी उपयोगी कृत्यों को पूरा करती है केवल देरी लगाने का ही काम नहीं करती।

## लोक सभा

**लोक सभा की रचना**—लोक सभा में अधिक से अधिक ५०० सदस्य होते हैं, जिनका प्रत्यक्ष निर्वाचन राज्यों के अन्दर प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों द्वारा किया जाता है। अधिक से अधिक २१ सदस्य ससद द्वारा विधिवत् तरीके से सघ राज्य क्षेत्रों की ओर से निर्वाचित होते हैं। सविधान में यह भी व्यवस्था है कि लोक सभा में हर राज्य के लिये कुछ स्थान बांटे जायेंगे। प्रत्येक राज्य के लिये लोक सभा में स्थानों की सख्या की बांट ऐसी रीति से होगी कि उस सख्या से राज्य की जनसख्या का अनुपात समस्त राज्यों के लिये यथासाध्य एक ही होगा, और प्रत्येक राज्य को प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों में ऐसी रीति में विभाजित किया जायगा कि प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र की जनसख्या का उसको बंटने वाले स्थानों की सख्या से अनुपात समस्त राज्यों में यथासाध्य एक ही होगा।[1] सविधान में लोक सभा में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिये स्थान सुरक्षित करने का भी उपबन्ध है। यह परिस्थिति १० वर्ष तक, अर्थात् सन् १९६० तक बनाई गई है, किन्तु सविधान में सशोधन करके यह अवधि आवश्यक होने पर आगे भी बढ़ाई जा सकती है, अब यह दस साल के लिये और बढ़ा दी गई है। एंग्लो इण्डियन जाति के अधिक से अधिक दो सदस्य राष्ट्रपति द्वारा लोक सभा के लिये मनोनीत किये जायेंगे, यदि उनको प्रत्यक्ष चुनाव द्वारा पर्याप्त प्रतिनिधित्व मिलना सम्भव न हुआ हो।[2] १ नवबर १९६६ को लोकसभा की सदस्य सख्या ५०८ थी इनमें से ४९४ सदस्य विभिन्न राज्यों तथ सघीय क्षेत्रों से प्रत्यक्ष रूप से चुने गये थे। लोक सभा के ६ सदस्य काश्मीर सरकार ने मनोनित किये थे। बाकी ८ सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किये गये थे। इस समय सदस्य सख्या ५२१ है।

लोकसभा में राज्यों और संघ राज्य क्षेत्रों के स्थानों का बटवारा निम्नलिखित प्रकार से है :—

१. अनुच्छेद ८१ (२)।
२. अनुच्छेद ३३१।

| | नाम राज्य | लोकसभा में प्राप्त स्थानों की संख्या |
|---|---|---|
| १ | आंध्र प्रदेश | ४१ |
| २ | आसाम | १४ |
| ३ | बिहार | ५३ |
| ४ | महाराष्ट्र | ४५ |
| ५ | केरल | १६ |
| ६ | मध्य प्रदेश | ३७ |
| ७ | मद्रास | ३६ |
| ८ | मैसूर | २७ |
| ९ | उड़ीसा | २० |
| १० | पंजाब | १३ |
| ११ | राजस्थान | २३ |
| १२ | उत्तर प्रदेश | ८५ |
| १३ | पश्चिमी बंगाल | ४० |
| १४ | जम्मू और काश्मीर | ६ |
| १५ | गुजरात | २४ |
| १६ | दिल्ली | ७ |
| १७ | हिमाचल प्रदेश | ६ |
| १८ | मनीपुर | २ |
| १९ | त्रिपुरा | २ |
| २० | पांडिचेरी | १ |
| २१ | लकादीव द्वीप | १ |
| २२ | गोआ | २ |
| २३ | नेफा | १ |
| २४ | दादरा नगर हवेली | १ |
| २५ | चंडीगढ़ | १ |
| २६ | निकोबार द्वीप | १ |
| २७ | हरियाना | ९ |
| २८ | नागालैंड | १ |

**लोकसभा का चुनाव** :—लोकसभा के लिये सभी चुनावों का निरीक्षण निर्देशन और नियंत्रण एक चुनाव आयोग में निहित है। चुनाव आयोग में एक मुख्य चुनाव आयुक्त और कुछ आयुक्त राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किये हुये होते हैं। हर आम चुनाव में पहले चुनाव आयोग के परामर्श से राष्ट्रपति आवश्यकतानुसार प्रादेशिक आयुक्त भी नियुक्त कर सकता है। लोक सभा के चुनाव के लिये हर प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्र के लिए एक सामान्य साधारण निर्वाचक नामावली *(electoral roll)* होगी। केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग भेद या इनमें से किसी के आधार पर कोई व्यक्ति ऐसी किसी नामावली में सम्मिलित किये जाने के लिए अपात्र न होगा।[1]

लोकसभा के लिये चुनाव वयस्क मताधिकार के आधार पर होगा अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति जो भारत का नागरिक है तथा जो ऐसी तारीख पर, जैसी कि विधि

१. अनुच्छेद ३२५।

द्वारा इसलिये नियत की गई हो, इक्कीस वर्ष से कम नहीं है तथा जो किसी विधि के अधीन अनिवास, चित्त-विकृति, अपराध अथवा भ्रष्ट या अवैध आचार के आधार पर अनर्ह नहीं कर दिया गया है, ऐसे किसी निर्वाचन में मतदाता के रूप में पंजीबद्ध होने का हकदार होगा।'[1]

**लोकसभा की अवधि**—यदि पहले ही विघटित न कर दी जाये तो साधारणतया लोकसभा की अवधि पाँच वर्ष की होती है। आपातकाल (Emergency) में इसकी अवधि एक बार में अधिक से अधिक १ वर्ष के लिये बढ़ाई जा सकती है किन्तु किसी अवस्था में भी उद्घोषणा के प्रवर्तन का अन्त हो जाने के पश्चात् छः मास की कालावधि से अधिक विस्तृत न होगी। (In no case beyond a period of six months after the proclamation has ceased to operate)

## संसद के सत्रावसान और विघटन

भारतीय संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम १९५१ ई० के अनुसार राष्ट्रपति लोक सभा को ऐसे समय तथा स्थान पर जैसा कि वह उचित समझे, अधिवेशन के लिए आहूत (summon) करेगा किन्तु उसके एक सत्र की अन्तिम बैठक और आगामी सत्र की प्रथम बैठक के लिए नियुक्त तारीख के बीच छः मास का अन्तर न होगा। इस व्यवस्था के कारण सत्र नियमित रूप से होना निश्चित है।

**गण पूर्ति**—लोकसभा की गणपूर्ति सदन की सदस्य संख्या का दसवां भाग है। सभी प्रश्नों का निपटारा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के बहुमत के आधार पर होता है। अध्यक्ष या उसके स्थान का कार्य करने वाले व्यक्ति को केवल एक निर्णायक मत देने का अधिकार होता है।

**सदस्यों की अर्हताएं**—लोकसभा का सदस्य बनने के लिए ये अर्हताएं हैं—(१) भारत का नागरिक हो, (२) २५ वर्ष की आयु रखता हो और संसद द्वारा निश्चित की गई इस सम्बन्ध की अन्य अर्हताएँ रखता हो।

**अर्हताएं**—कोई व्यक्ति लोकसभा की सदस्यता के लिये निम्न कारणों से अनर्ह होता है। (१) भारत संघ के अन्तर्गत किसी भी सरकार का लाभ का पद रखता हो सिवाय उन पदों के जिनके लिए संसद ने विधि द्वारा छूट दे दी हो (२) विकृत चित्त हो (३) अनुन्मुक्त दिवालिया हो (४) स्वेच्छा से किसी अन्य देश की नागरिकता अर्जित की हो या (५) संसद द्वारा इस सम्बन्ध में विधि द्वारा निश्चित किसी प्रकार की अनर्हता उस पर लागू होती हो। कोई सदस्य उपरोक्त अनर्हताओं के अन्तर्गत आता है या नहीं इस प्रकार का प्रत्येक विवाद विनिश्चय के लिये राष्ट्रपति के पास भेजा जायेगा किन्तु ऐसे मामलों में राष्ट्रपति को चुनाव आयोग के मतानुसार कार्य करना आवश्यक होता है।

**सदस्यों के विशेषाधिकार**—भारतीय संविधान ने सदस्यों को संसद में भाषण की स्वतन्त्रता का आश्वासन दिलाया है किन्तु यह स्वतन्त्रता संविधान के उपबन्धों और संसद के नियमोपनियमों और स्थायी आदेशों से नियन्त्रित होती है।

१. अनुच्छेद ३२६

सदस्यों को अपने संसद या उसकी किसी समिति में दिये गये भाषणों या मतदान के लिए न्यायालयों में किसी प्रकार की कार्यवाही की आशङ्का नहीं होती। यही सुरक्षा उन भाषणों या मतदान के प्रकाशन के लिये भी है बशर्ते कि वे लोकसभा के अधिकार के अन्तर्गत प्रकाशित हुए हों। जब तक संसद द्वारा निर्मित विधि में कोई अन्य उपबन्ध न हो जब तक सदन और उसकी समितियों की शक्तियाँ, विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ इंगलैंड के हॉउस ऑफ कॉमन्स के अनुसार रहेगी।

**लोकसभा की शक्तियाँ और स्थिति**—लोकसभा भारतीय संसद का लोकप्रिय सदन है। इसका निर्वाचन जनसंख्या के आधार पर होता है और यह भारत की जनता की प्रतिनिधि है। यही वास्तविक शक्ति सम्पन्न सदन (dominant chamber) है। वित्तीय प्रश्नों पर यह सर्वेसर्वा है। अन्य प्रश्नों पर भी यह अपने दृष्टिकोण को अन्त में लागू करा सकती है। प्रधान मन्त्री सहित अधिकांश केन्द्रीय मन्त्री इसी सदन के सदस्य होते हैं। सरकार इसी सदन के प्रति उत्तरदायी होती है। यदि यह सदन सरकार के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित कर दे या उसके द्वारा आरम्भ किये गये किसी महत्वपूर्ण विधेयक को रद्द कर दे तो सरकार को त्यागपत्र देने या सदन को विघटित होने की राष्ट्रपति को सलाह देने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रहता। इस प्रकार मन्त्रि मण्डलों के भविष्य का निर्णय इस सभा के हाथ में होता है। यह सभा अनेक प्रकार से सरकार के कार्यों की देखभाल करती है और अंकुश रखती है। सदन की समितियाँ प्रशासन के सभी पहलुओं पर सतर्क दृष्टि रखती हैं इस सदन का अध्यक्ष ही दोनों सदनों की मिली-जुली बैठक का सभापतित्व ग्रहण करता है। इन शक्तियों को देखते हुए यह कहा जाता है कि यह सारी प्रभुशक्ति का एक छत्र धारक (repository) है। "यदि संसद राज्य (state) का सर्वोपरि अंग है तो लोकसभा संसद का सर्वोपरि अंग है। वास्तविकता तो यह है कि सभी व्यवहारिक मामलों की दृष्टि से लोकसभा ही संसद है।" यह कथन सत्य से कुछ परे है। लोकसभा की तुलना में राज्यसभा शून्य नहीं है। राज्यसभा भारतीय नीति के निर्माण में एक उपयोगी कार्य (role) करती है। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं राज्य सभा को कुछ संवैधानिक शक्तियाँ प्राप्त हैं जिनकी लोकसभा या राष्ट्र के नेता उपेक्षा नहीं कर सकते।

**विधान प्रक्रिया**—यद्यपि केन्द्र में दो सदन वाले विधान मण्डल की व्यवस्था है किन्तु भारत के संविधान में लोकसभा की कुछ मामलों में सर्वोपरि स्थिति को रखने के लिए योजना है। "वित्तीय मामलों में इसका अधिकार अन्तिम है।"[1] प्रक्रिया के ब्यौरेवार नियम संसद के दोनों सदन अपने-अपने लिए आप बनाते हैं। संविधान में केवल प्रक्रिया की मोटी रूपरेखा दी गई। यह व्यवस्था की गई है कि

---

१. इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशन एक (सरकारी प्रकाशन) १९५७, पृष्ठ ५६।

वित्तीय विधेयकों के अतिरिक्त अन्य विधेयक संसद के किसी भी सदन में पुनः स्थापित किये जा सकते हैं। वित्त विधेयक या वित्त विषयक खण्ड रखने वाले विधेयकों का प्रारम्भ लोकसभा में होगा।

**साधारण विधेयकों के लिए प्रक्रिया**—कोई विधेयक जो वित्त विधेयक न हो उसे दोनों सदनों में पारित करना होता है। यदि दोनों सदनों में गतिरोध उत्पन्न हो जाय तो राष्ट्रपति दोनों सदनों के मिले-जुले अधिवेशन को आहूत कर सकता है। ऐसे मिले-जुले अधिवेशन में उपस्थित और मतदान करने वाले कुल सदस्यों के बहुमत से विनिश्चय किये जाते हैं। इस प्रकार से पारित हुआ विधेयक दोनों सदनों द्वारा पारित माना जाता है। लोकसभा का अध्यक्ष ऐसे मिले-जुले अधिवेशनों का सभापतित्व ग्रहण करता है। मई १९६२ में दहेज विधेयक के सम्बन्ध में दोनों सदनों का संयुक्त सत्र हुआ था।

**वित्त विधेयकों के लिए प्रक्रिया**—लोकसभा द्वारा पारित हो जाने पर कोई भी वित्त विधेयक राज्य सभा के पास १४ दिन के अन्दर अपनी सिफारिशों के साथ वापिस करने के लिए भेजा जाता है। लोकसभा उन सिफारिशों को पूर्णतया या आंशिक रूप में स्वीकार या अस्वीकार कर सकती है। लोकसभा द्वारा विधेयक जिस रूप में अन्तिम अवस्था में पारित किया जाता है उस रूप में वह दोनों सदनों द्वारा पारित किया हुआ मान लिया जाता है। राज्य सभा किसी वित्त विधेयक में किसी प्रकार का रूप भेद (modification) नहीं कर सकती है। यह केवल कुछ परिवर्तनों का सुझाव दे सकती है जिन्हें लोकसभा को स्वीकार या अस्वीकार करने का अधिकार है। अधिक से अधिक राज्य सभा किसी वित्त विधेयक को १४ दिन के लिये रोक सकती है। इस प्रकार वित्तीय मामलों में लोक सभा ही सर्वोपरि है।

## वार्षिक वित्त विवरण

भारतीय संविधान के अनुच्छेद ११२ के अनुसार राष्ट्रपति प्रत्येक वित्तीय वर्ष के बारे में संसद के दोनों सदनों के समक्ष भारत सरकार की उस वर्ष के लिए प्राक्कलित प्राप्तियों (receipts) और व्यय का विवरण रखवायेगा जिसे वार्षिक वित्त विवरण (Annual Financial Statement) कहते हैं। इस में व्यय के प्राक्कलनों में (क) जो व्यय भारत की संचित निधि (Consolidated Fund of India) पर भारित (charged) व्यय के रूप में वर्णित है उसकी पूर्ति के लिये अपेक्षित राशियां तथा (ख) भारत की संचित निधि में किये जाने वाले अन्य प्रस्थापित व्यय की पूर्ति के लिये अपेक्षित राशियां पृथक्-पृथक् दिखाई जायेंगी। (क) के अन्तर्गत व्यय भारित (charged) होगा उस पर सदन द्वारा मतदान नहीं होता है। (ख) के अधीन व्यय के लिये अनुदान की मांग रखने पर मतदान किया जाता है।

**वित्तीय विषयों में प्रक्रिया**—संसद को मतदान योग्य प्राक्कलनों को उसके समक्ष रखे जाने के समय भारत सरकार के वित्त पर पूर्ण नियन्त्रण रखने की शक्ति है। मतदान के योग्य प्राक्कलन सीधे लोकसभा में रखे जाते हैं। अनुदानों

पर मत किये जाने के समय तक राज्यसभा का कोई हाथ नहीं होता। लोकसभा चाहे तो किसी अनुदान को स्वीकार या अस्वीकार कर सकती है और उसमे काट-छाँट भी कर सकती है। अनुदानो के लिये सब मागें राष्ट्रपति की सिफारिश पर की जाती हैं।

अनुदान के लिये मांगो के पश्चात् विनियोग विधेयक (Appropriation Bill) रखा जाता है। विनियोग विधेयक द्वारा भारत की संचित निधि में से लोकसभा द्वारा स्वीकृत अनुदानो के लिए तथा अन्य भारित व्यय की पूर्ति के लिए धन खर्च करने की स्वीकृति ली जाती है। इस काम के लिये इगलैंड, कनैडा, आस्ट्रेलिया और दक्षिणी अफ्रीका मे प्रचलित प्रक्रिया का अनुशीलन किया जाता है। इस विनियोग विधेयक पर इस प्रकार किए गए किसी अनुदान की राशि मे हेरफेर करने अथवा अनुदान के लक्ष्य को बदलने अथवा भारत की संचित निधि पर भारित व्यय की राशि मे हेरफेर करने का प्रभाव रखने वाला कोई सशोधन, ससद के किसी सदन मे प्रस्थापित न किया जायगा तथा कोई सशोधन ऐसा प्रभाव रखने वाला है या नही ऐसा विवाद उठने पर पीठासीन व्यक्ति (Presiding Person) का ही इस बारे में अन्तिम विनिश्चय होगा। संविधान में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि भारत की संचित निधि में से विनियोग अधिनियम द्वारा स्वीकृत राशियो के अतिरिक्त और कोई धन नही निकाला जाएगा। सरकार के कर लगाने के सुभाव आदि वित्त विधेयक का विषय है। वित्त विधेयक राष्ट्रपति की सिफारिश पर लोकसभा मे पुनः स्थापित (introduce) किया जाता है।

## अन्य अनुदान

लोकसभा को यह भी शक्ति है कि वह निश्चित प्रक्रिया की पूर्ति होने तक की अवधि (*Pending the Completion of Procedure*) के लिए सरकार को पेशगी अनुदान दे दे। ऐसा अनुदान लेखानुदान (vote on account) कहलाता है। इस प्रक्रिया के द्वारा सदन को बजट पर अधिक विचार करने का समय मिल जाता है तथा उसे सभी अनुदानो पर वित्तीय वर्ष के अन्दर-अन्दर मतदान कर देना आवश्यक नही रहता।

लोकसभा किसी अप्रत्याशित माँग (unexpected demand) के लिये भी अनुदान करने की शक्ति रखती है। ऐसी आवश्यकता प्राय तब होती है जबकि किसी सेवा की महत्ता या अनिश्चित रूप के कारण की गई मांग वैसे ब्यौरे के साथ वर्णित नही की जा सकती जैसा कि वार्षिक वित्त विवरण मे साधारणतया दिया जाता है। ऐसे अनुदान को प्रत्ययानुदान (vote of credit) कहते हैं इसके अतिरिक्त लोक सभा को किसी वित्तीय वर्ष की चालू सेवा का जो अनुदान भाग न हो ऐसा कोई अपवादानुदान (exceptional grants) करने की शक्ति है। आवश्यकता होने पर लोकसभा को अनुपूरक (supplementary) अतिरिक्त

१. इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशन (एक सरकारी प्रकाशन), पृष्ठ ६१।

(additional) या अधिक (excess) अनुदान करने की भी शक्ति है कि स्थिति में आवश्यक विनियोग विधेयक के पारित होने तक के लिए रा आकस्मिकता निधि (contingency Fund) में से अग्रिम धन (Advanc सकता है।

## अध्यक्ष (The Speaker)

संसदीय संस्थाओं के विकास के साथ-साथ यह भी स्वाभाविक था कि हि हाउस ऑफ कॉमन्स के स्पीकर जैसी एक संस्था की भारत में भी स्थापना। यद्यपि भारत में सन् १९४७ ई० में स्पीकर नाम का कोई पद नहीं था किन्तु उ मिलता-जुलता एक सम्मानित पद तत्कालीन भारतीय व्यवस्थापिका सभा (Indi Legislative Assembly) में था। वह उस सभा का प्रेजीडेन्ट कहलाता था। उच्च पद को सबसे पहले सुशोभित करने वाले भारत के तत्कालीन गवर्नर जनर द्वारा मनोनीत सदस्य सर फ्रैडरिक व्हाइट थे। वे इस पद पर सन् १९२१ ई० सन् १९२४ ई० तक रहे। उनके उत्तराधिकारी सरदार पटेल के ज्येष्ठ भ्राता श्री वी० जे० पटेल थे। श्री विट्ठल भाई पटेल सन् १९२५ ई० से १९३० तक इस प पर रहे। वे केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के प्रथम निर्वाचित प्रेजीडेन्ट थे। वे अपने दृढ़ आचरण और स्वतन्त्र भावना के लिये विख्यात थे। वे कभी किसी के आगे नहीं झुके। "सन् १९४६ ई० से पहले के अपने सभी उत्तराधिकारियों की अपेक्षा उन्होंने इस पद की स्वाधीनता की पुष्टि और सचय में अधिक योग दिया।"[1] उनके विनिश्चय और उदाहरणों (Precedents) ने अध्यक्ष पद के गौरव की नींव डाली है।

उनके उत्तराधिकारियों ने उनके पदचिन्हों का अनुसरण किया और वह साधारण ढर्रे पर चलकर अपना काम चलाते रहे। सन् १९३० में उनके त्याग-पत्र दे देने पर इस पद पर क्रमशः सर मौहम्मद याकूब (१९३०-३१), सर इब्राहीम रहीमतुल्ला (१९३१-३३), सरशनमुगम चेट्टी (१९३३-३४) और सर अब्दुल रहीम (१९३५-४५) इस पद पर रहे थे। ये सभी सज्जन उपाधिकारी थे और सरकार के कृपापात्र होने के कारण उस पदों पर आ गये। भारतीय व्यवस्थापिका सभा के सन् १९४६ के अन्तिम समय से लेकर फरवरी १९५६ तक श्री जी० वी० मावलंकर इस पद पर रहे। वह बहुत समय तक स्पीकर का काम कर चुके थे। वह भारतीय संसद के पहले अध्यक्ष हुए। इससे पहले वे सन् १९३७-३६ तक के समय में बम्बई प्रान्त की विधान सभा के अध्यक्ष पद का अनुभव प्राप्त कर चुके थे। वे एक सफल अध्यक्ष थे। यह एक दुर्भाग्य का विषय है कि एक बार अपने एक सदस्य को मान्यता न देने हुए कठोर रुख के कारण उनके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव लाया गया था। लगभग सारे ही विरोधी पक्षों ने उसका समर्थन किया था। 'आचार्य कृपलानी' तक ने उसका समर्थन किया था। ऐसी घटनायें भारतीय संसद में बहुत कम हुई हैं। प्रोफेसर डब्ल्यू० एच० मोरिस जोन्स

१. डब्ल्यू० एच० मोरिस जोन्स : पार्लियामेंट इन इंडिया, पृष्ठ २६५।

श्री मावलंकर के विषय में लिखते हैं . "सदन के अन्दर वह बहुत कठोर थे और कार्यवाही के संचालन में अपनी दृढ़ता के आगे वे किसी बाधा को सहन नहीं कर सकते थे। ......प्रक्रिया की गुत्थियों को समझाने में वह एक कुशल वकील की क्षमता रखने थे और मुख्य प्रश्न को थोड़े से ही समय पर स्पष्ट कर देते थे, साथ ही वे यह भी जानते थे कि कब और कैसे किसी निश्चय को अनिश्चित काल के लिए विचारार्थ स्थगित रखा जाय। सबसे बढ़कर वह सदन की भावना को पहिचानने में अपूर्व क्षमता रखते थे और सदस्यों की भावनाओं का आदर करने को तैयार रहते थे।"[1] श्री अनन्त शयनम आयंगर जो पहिले उपाध्यक्ष थे श्री मावलंकर की मृत्यु के बाद सर्व सम्मति से अध्यक्ष चुने गये। उनके बाद सरदार हुकुमसिंह लोकसभा के अध्यक्ष रहे। अब नीलम संजीव रेड्डी अध्यक्ष हैं।

भारतीय संविधान में अध्यक्ष पद के लिए एक विशेष उपबन्ध है। लोकसभा के सदस्यों में से अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का चुनाव होता है। यदि कोई सदस्य किसी कारणवश लोक सभा की सदस्यता से वंचित हो जाये तो उसे अध्यक्ष पद से भी पृथक् होना पड़ता है। वह अपने पद से लोकसभा के कुछ सदस्यों के बहुमत द्वारा पारित संकल्प के द्वारा पृथक् किया जा सकता है।[2] लेकिन ऐसा कोई संकल्प बिना १४ दिन की पूर्व सूचना दिये नहीं पेश किया जा सकता है। अध्यक्ष को संसद द्वारा निश्चित किये गये वेतन और भत्ते आदि मिलते हैं और यह धन भारत की संचित निधि में से लिया जाता है।[3] इसके परिणामस्वरूप यह धन संसद में मत लेने के लिए पेश नहीं किया जाता है। ऐसा अध्यक्ष पद की स्वतन्त्रता को कायम रखने के लिए किया गया है। संविधान में यह भी व्यवस्था की गई है कि आवश्यकतानुसार अध्यक्ष दोनों सदनों के मिले-जुले अधिवेशन का सभापति होगा। अध्यक्ष को यह भी अधिकार होगा कि वह किसी विधेयक के बारे में यह निश्चय करे कि वह वित्त विधेयक (Money Bill) है या नहीं और इस विषय में उसका निर्णय अन्तिम होगा।[4] प्रत्येक वित्त विधेयक पर उसे राज्य सभा को सौंपने से पहले या राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजने से पहिले अध्यक्ष यह अंकित करेगा कि यह वित्त विधेयक है। उसकी निष्पक्षता को कायम रखने के लिए संविधान में यह भी व्यवस्था की गई है कि अध्यक्ष साधारणतया अपना मत नहीं देगा। वह केवल दोनों पक्षों के बराबर मत हो जाने पर अपना निर्णायक मत (Casting Vote) देने के अधिकार का प्रयोग करेगा।[5]

अध्यक्ष का बड़ा मान होता है, और उसे बड़ा अधिकार प्राप्त होता है। जब तक कोई व्यक्ति अध्यक्ष रहता है वह सदन का मालिक होता है। वह सदस्यों के अधिकार और विशेषाधिकारों का भी संरक्षक होता है। "अध्यक्ष लोकसभा के

१. पार्लियामेंट इन इण्डिया, पृष्ठ २६७।
२. अनुच्छेद ६४ (ग)।
३. अनुच्छेद ११२ (२) (ख)।
४. अनुच्छेद ११० (१)।
५. अनुच्छेद १०० (१)।

सभी परम्परागत और औपचारिक कृत्यों का प्रमुख होता है ......वह निष्पक्षता का प्रतीक होता है। वह सदन का प्रमुख वक्ता होता है, और वह सदन की समष्टि आवाज का प्रतिनिधित्व करता है।"[1] प्रो० ऐन० श्रीनिवासन् का कथन है : "अध्यक्ष का पद बड़े गौरव और शक्ति का है।"[2] संविधान सभा (व्यवस्थापिका) में मार्च ८, १९४८ को श्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा था "अध्यक्ष सदन का, सदन के गौरव का, और उसकी स्वतन्त्रता का प्रतिनिधित्व करता है और क्योंकि सदन राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है, इसलिए एक विशेष प्रकार से अध्यक्ष राष्ट्र की स्वतन्त्रता का प्रतीक बन जाता है।" एक दूसरे अवसर पर सन् १९५४ में लोकसभा में बोलते हुए प्रधान मन्त्री ने अध्यक्ष के लिए "इस देश के प्रथम नागरिक" शब्द का व्यवहार किया था।"

लोकसभा के सभापतित्व का कार्य करते हुए अध्यक्ष बहुत विशाल और विस्तृत शक्ति का प्रयोग करता है। उसकी शक्ति की बहुत थोड़ी सी सीमायें हैं। उसकी स्वविवेकी शक्तियों (discretionary powers) के विरुद्ध कोई अपील नहीं। अनेक मामलों में उसका निर्णय अन्तिम होता है। "सदन के नियमों के अनुसार अध्यक्ष को, सदन के सभापति के रूप में लगभग डिक्टेटर जैसी शक्तियां मिली होती हैं।"[3] अध्यक्ष सदन के नेता से परामर्श करते हुए कार्यवाही के क्रम का राष्ट्रपति के अभिभाषणों पर होने वाली बहस के समय का आकलनों, वित्त और विनियोग विधेयकों, अन्य सार्वजनिक विधेयकों और संकल्पों के बहस के समय का निश्चय करता है, और गैर-सरकारी सदस्यों के विधेयकों और संकल्पों के विचार के लिए दिन नियत करता है। सदन के नाम आने वाले या सदन की ओर से जाने वाले सदेशों का सचालन उसके अधिकार से ही होता है। अध्यक्ष किसी विधेयक के सदन द्वारा पारित हो जाने पर उसे प्रमाणित करता है। वह सदन को सम्बोधित किए गए कागजात, याचिकाएँ और सन्देश भी सम्हालता है। सदन की सभी आज्ञायें उसके द्वारा प्रकाशित होती हैं। अध्यक्ष को प्रश्नों की सूचनाओं को ग्राह्य करने की शक्ति है, और संकल्पों और प्रस्तावों को मानने की शक्ति है। वह किसी भी प्रश्न या पूरक प्रश्न के पूछे जाने पर रोक लगा सकता है। अध्यक्ष को सदन में व्यवस्था बनाये रखने और अपने विनिश्चयों के प्रवर्तन के प्रयोजन के लिये सब आवश्यक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं।[4] अध्यक्ष को वक्तृताओं की अवधि की सीमाएं निश्चित करने तथा बहस का समापन (closure) करने की भी शक्ति है। उसे यह भी अधिकार है कि सदन में किसी विधेयक पर रखे हुए संशोधनों में से कुछ को छाँटकर पेश होने दे। वह असंगत और दोहराये जाने वाले भाषणों को भी रोक सकता है। वह किसी

१. एम० एन० कौशल : दी इंडियन पार्लियामेन्ट, पृष्ठ ३० ।
२. डेमोक्रेटिक गवर्नमेंट इन इंडिया, पृष्ठ २५३ ।
३. वही ।
४. नियम ३७८ ।

सदस्य को बोलने से रोक सकता है या उसके भाषण को संक्षिप्त करने को कह सकता है। वह बोलने की इच्छा रखने वाले सदस्यों के ऊपर नजर डालता है और जिसको चाहे बोलने का अवसर देता है (catch the eye) जिस समय अध्यक्ष बोलता है तो सदन का कर्तव्य है कि उसे धैर्य और ध्यान के साथ सुने।

वह किसी भी सदस्य को सदन के नियमों का अतिक्रमण (violation) करने के कारण दंडित कर सकता है। अध्यक्ष किसी सदस्य को जिसका व्यवहार उसकी राय में घोर अव्यवस्थापूर्ण हो तत्काल सभा से बाहर जाने का निर्देश दे सकता है।[1] और जिस सदस्य को इस तरह बाहर जाने का आदेश दिया जावे वह तुरन्त बाहर चला जायगा, और उस दिन की अवशिष्ट बैठक के समय तक अनुपस्थित रहेगा।

यदि अध्यक्ष आवश्यक समझे तो वह उस सदस्य का नाम ले सकता है, जो अध्यक्ष-पीठ के अधिकार की अपेक्षा करे या जो हठ पूर्वक और जानबूझ कर सभा के कार्य में बाधा डालकर सभा के नियमों का दुरुपयोग करे।[2] इस प्रकार से नाम लिया हुआ सदस्य कुछ अवधि के लिए सदन से निलम्बित (suspended) कर दिया जाता है। यह अवधि अधिक से अधिक चालू सत्र की समाप्ति तक होती है। यदि सदन में ही घोर अव्यवस्था उत्पन्न होती हो, तो आवश्यक समझने पर अध्यक्ष कुछ निश्चित समय के लिए सभा को स्थगित कर सकता है या बैठक को निलम्बित कर सकता है।[3] अध्यक्ष का यह भी कर्तव्य है कि वह देखे कि सदस्य अपने भाषणों में उचित भाषा का प्रयोग करते हैं। वह किसी भी सदस्य से उसके द्वारा प्रयुक्त किसी अशोभनीय (unparliamentary) शब्द को वापिस लेने को कह सकता है। यदि अध्यक्ष समझे कि बहस में कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ है, जो मान हानिकारक या अशिष्ट या असंसदीय या अभद्र है तो वह, स्वविवेक से, आदेश दे सकेगा कि ऐसा शब्द या ऐसे शब्दों को कार्यवाही में से निकाल दिया जाये।[4] अध्यक्ष चाहे तो किसी ऐसे सदस्य को जो अंग्रेजी या हिन्दी में अपने विचार भली प्रकार प्रकट न कर सकता हो, उसे उसकी मातृभाषा में बोलने की छूट दे सकता है।

अध्यक्ष सभापति-तालिका की भी नियुक्ति करता है। इसमें सदन समिति के अधिकांश सदस्य तथा अन्य सब समितियों के सभापति लिये जाते हैं। कुछ संसदीय समितियाँ ऐसी भी होती हैं जो कि अध्यक्ष के सभापतित्व में संचालित होती हैं। उदाहरण के लिये कार्य-मंत्रणा समिति, नियम समिति और सामान्य प्रयोजन समिति आदि। अध्यक्ष इन समितियों के कार्यों का पथ-प्रदर्शन करता है। वह समय समय पर इन समितियों के सभापतियों और सदस्यों के साथ विचार विनियम करता रहता है। "इन सभी संसदीय समितियों के कार्य की रूप रेखा अध्यक्ष की देख-रेख

१. नियम ३७३।
२. नियम ३७४।
३. नियम ३७५।
४. नियम ३८०।

में होती है, और वह आवश्यकता पड़ने पर इन समितियों को विशेष निर्देश देता रहता है, और वह एक ऐसा आदमी होता है, जिसके सामने हर समिति का सभापति अपनी कठिनाइयों को रखता है, और उचित सलाह लेता है।"[1] सदन का संवैधानिक संचालन कार्य बहुत कुछ अध्यक्ष की प्रभावशाली सलाह पर निर्भर करता है। संसद के विषय में बहुत से संवैधानिक उपबन्ध, अध्यक्ष की सिफारिश के प्रत्यक्ष परिणाम हैं।[2] अध्यक्ष सदन के बहुत से फुटकर कामों के लिए भी उत्तरदायी होता है। उसे सदस्यों की आवास समस्या की भी देखभाल करनी पड़ती है, सदस्यों के संसद भवन में प्रवेश के अधिकार की सुरक्षा का भी प्रबन्ध करना पड़ता है। टेलीफ़ोनों की व्यवस्था, सदस्यों के वेतन का भुगतान, संसदीय कागज पत्रों की छपाई, जलपान गृह और विश्राम गृह, सुरक्षा की व्यवस्था, प्रेस रिपोर्टरों का गैलरियों में प्रवेश और आवश्यकता पड़ने पर किसी व्यक्ति के विरुद्ध कार्यवाही करना, उसकी निन्दा करना या जेल भेजना तक, अनेक छोटे-छोटे कामों का भार उसके ऊपर है।[3]

अध्यक्ष का पद बहुत कुछ ब्रिटिश हाउस ऑफ कॉमन्स के स्पीकर पद की नकल है किन्तु यह बिल्कुल समान नहीं है। अध्यक्ष पदारूढ़ व्यक्तियों ने सभी बातों में ब्रिटिश नमूने का अनुसरण नहीं किया। ब्रिटिश स्पीकर सदा एक दल निरपेक्ष व्यक्ति होता है। इस पद पर निर्वाचित होते ही वह अपना दलीय सम्बन्ध विच्छेद कर देता है। उसका किसी राजनीतिक गुट से गठजोड़ नहीं होता। उसको निर्वाचन के लिए प्रधान मन्त्री उपक्रमण (initiate) अवश्य करता है परन्तु निर्वाचित हो जाने पर वह सब दलों का बन जाता है। वह दलगत राजनीति से एक दम ऊपर रहता है। इसी कारण से प्रायः उसका सदस्यीय स्थान निर्विरोध रहता है। भारत में अध्यक्ष यद्यपि निष्पक्ष व्यवहार रखता है किन्तु वह अपना दलीय सम्बन्ध नहीं छोड़ता। श्री मावलंकर मृत्यु पर्यन्त कांग्रेसी रहे। यही श्री आयंगर का हाल था। अध्यक्ष अपने पद के लिए निर्वाचित हो जाने के बाद दलीय राजनीति में सक्रिय भाग नहीं लेता और न दल की दिन प्रति दिन की बैठकों में उपस्थित होता है। वह दलीय चुनावों में भी भाग नहीं लेता। वह दल की कार्यकारिणी का पदाधिकारी भी नहीं रहता। न दल की मीटिंगों में जाता है और न वह पुस्तकालय, भोजनालय, जलपान भवन और सभा कक्ष (lobby) आदि में जाकर सदस्यों से मिलता जुलता है।[4] किन्तु इन सब बातों का यह आशय नहीं है कि वह सार्वजनिक प्रश्नों पर बोल ही न सके। श्री मावलंकर भाषावार राज्यों के गठन, लौकिक गणतन्त्र (secular democracy) और सामाजिक सेवा आदि पर अपने विचार प्रकट करते रहते

१. डब्ल्यू० एच० मॉरिस जोन्स : पार्लियामेंट इन इण्डिया, पृष्ठ २६७।

२. वही पृष्ठ २६८।

३. एन० एन० शकधर, दी इण्डियन पार्लियामेंट, पृष्ठ ३२।

४. वही पृष्ठ ३४।

थे। श्री आयङ्गर ने अनेक बार हिन्दी व संस्कृत की उपयोगिता पर अपने विचार प्रकट किये थे। इंडियन कौंसिल ऑफ वर्ल्ड अफेयर्स की कानपुर शाखा द्वारा आयोजित भारत में 'संसदीय गणतंत्र की सफलता' शीर्षक की व्याख्यान माला का उद्घाटन करते हुए श्री आयङ्गर ने २८ दिसम्बर सन् १९५८ ई० को कहा था कि "गणतंत्र के सुचारु रूप से सचालन के लिए मैं सरकार को परामर्श दूंगा कि वह महत्वपूर्ण कदम उठाने से पहले अल्पमत गुटों के नेताओं से सलाह कर लिया करे। विरोधी पक्ष को चाहिए कि वह सदा विधानमण्डल के विनिश्चयों को मान्य समझे और सदन के बाहर या भीतर कोई झगड़ा पैदा न करे।" उन्होंने राज्यों के अध्यक्षों को यह सलाह भी दी कि वे दलों से अपने सम्बन्ध न रखें। उन्होंने कहा, 'मैं कांग्रेस का चार आने वाला सदस्य हूँ। अध्यक्ष निर्वाचित होते ही मैंने संसदीय कांग्रेस दल से त्याग पत्र दे दिया था। मैं दल की किसी मीटिंग में नहीं जाता हूँ।" उसी भाषण में आगे चलकर आपने कहा "हिन्दी सभी राज्यों के लोगों को मिलाने वाली भाषा का काम कर रही है, जबकि अन्य सब प्रादेशिक भाषाओं के विकास के लिए पूरा और निर्बाध-क्षेत्र खुला रखा गया है।" उन्होंने भाषा समस्या का उल्लेख किया और देश में इस विषय में चलने वाले आन्दोलन पर खेद प्रगट किया। उन्होंने आगे चलकर यह भी कहा कि गणतन्त्रीय शासन के सफल संचालन के लिए दल प्रणाली आवश्यक है।[1] वर्तमान लोक सभा के अध्यक्ष श्री संजीव रेड्डी ने अपना पद ग्रहण करने के उपरान्त कांग्रेस दल से त्यागपत्र दे दिया।

उपाध्यक्ष—उपाध्यक्ष लोकसभा द्वारा निर्वाचित किया जाता है वह तब तक इस पद रह सकता है, जब तक वह सदन का सदस्य रहता है। वह सदन द्वारा सदन के सदस्यों के बहुमत द्वारा पारित संकल्प से अपने पद से पृथक् किया जाता है। वह अध्यक्ष की अनुपस्थिति में सदन के सभापतित्व का काम करता है। वह कुछ समितियों का सभापति भी होता है। उसे संसद द्वारा निश्चित किए गए वेतन और भत्ते मिलते हैं। श्री आयङ्गर, श्री मावलंकर के अध्यक्ष होते समय उपाध्यक्ष पद पर थे। उनके बाद कृष्णमूर्ति राव उपाध्यक्ष थे। उपाध्यक्ष के लिए दल-निरपेक्ष होना अनिवार्य नहीं है। वह दलीय राजनीति में सदन के बाहर और भीतर सक्रिय भाग ले सकता है। इस समय उपाध्यक्ष श्री आर० के० खाडिलकर हैं। वे कांग्रेस दल के सदस्य हैं।

---

१. दी हिन्दुस्तान टाइम्स, ३० दिसम्बर सन् १९५८ ई०।

अध्याय २६

# संघीय मन्त्रिमंडल (The Union Cabinet)

**मंत्रिमण्डल की रचना (Formation of the Cabinet)**—प्रधान मन्त्री के प्रधीन एक मन्त्रिपरिषद (Council of Ministers) होती है जो राष्ट्रपति को उसके कार्य भार सम्भालने में सहायता करने और परामर्श देने को बनाई जाती है। हमारे संविधान में मन्त्रिमण्डल शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। सिर्फ मन्त्री परिषद् का उल्लेख है। मन्त्रिपरिषद् के कुछ मुख्य सदस्य मन्त्रिमण्डल को बनाते हैं, प्रधान मन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है तथा अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री की सलाह से करता है। यदि लोक सभा में किसी दल का पूर्ण बहुमत है तो राष्ट्रपति अपनी स्वेच्छा से किसी मन्त्री व प्रधान मन्त्री को नियुक्त नहीं कर सकता। बहुमत दल के नेता को ही प्रधान मन्त्री नियुक्त करना पड़ता है। किसी को भी आमन्त्रित करने में पहले वह दलों के नेताओं से परामर्श कर सकता है। इस समय लोकसभा में कांग्रेस दल की ऐसी स्थिति है। मन्त्री लोकसभा व राज्य सभा दोनों में से ही नियुक्त किए जा सकते हैं। संविधान में यह लिखित नहीं है कि कितने मन्त्री किस सदन से लिए जायेंगे। परन्तु फिर भी अधिक मात्रा में मन्त्री लोकसभा से ही लिए जाते हैं। मन्त्री नियुक्त होने समय किसी भी व्यक्ति के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह संसद के किसी भी सदन का सदस्य हो। ऐसे व्यक्ति को जो संसद का सदस्य न हो छः महीने के अन्दर संसद का सदस्य चुना जाना चाहिए। कुछ गैर-सदस्य व्यक्तियों को इस आशा पर मन्त्री बना दिया जाता है कि वे आगामी छः महीने में सदस्य निर्वाचित हो जायेंगे। श्री लाल बहादुर शास्त्री और पण्डित गोविन्दवल्लभ पन्त इसी प्रकार मन्त्री बना लिए गए थे। वे बाद में संसद सदस्य निर्वाचित हुए थे। मन्त्रीगण राष्ट्रपति प्रसाद पर्यन्त (at his pleasure) पद पर रहेंगे। मन्त्री परिषद् सामूहिक रूप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होगी।

मंत्रियों के लिए विशेष योग्यताओं की आवश्यकता नहीं है। मन्त्रियों से यह आशा नहीं की जाती है कि वे अपने विभाग की बातों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखें। अपरिचित होने के नाते ही वह किसी प्रश्न पर तटस्थ दृष्टि से निष्पक्ष होकर विचार कर सकते हैं। मन्त्री का काम विशेषज्ञ होना नहीं है। उसका काम तटस्थ दृष्टि से किसी प्रश्न पर अपना निश्चय देना है। संसदीय प्रणाली में मन्त्रियों की यही स्थिति है। भारत सरकार में श्री महावीर त्यागी रक्षा संगठन के मन्त्री थे यद्यपि उन्हें युद्ध कार्य का कोई विशेष ज्ञान नहीं था। उससे पहले वे वित्त विभाग में सहायक मन्त्री थे श्री एन० गोपालास्वामी आय्यंगर और श्री के० एम० मुन्शी के विषय में भी

यही बात कही जा सकती थी। श्री लाल बहादुर शास्त्री रेलों के संचालन का पूर्व अनुभव या ज्ञान न रखते हुए भी रेल मन्त्री बनाए गए थे। भूतपूर्व रेलवे मन्त्री श्री जगजीवनराम के लिए भी यही बात लागू है। डा० काटजू को योग्यता के आधार पर कानून मन्त्री बनाया जाना चाहिए था पर वे गृह मन्त्री बनाए गए थे। श्री वी० के० कृष्ण मेनन जो भूतपूर्व रक्षा मन्त्री थे युद्ध सम्बन्धी विषयों में पहले बिल्कुल अनभिज्ञ थे। फिर भी आजकल शासन कार्य पेचीदा बनता जा रहा है और कुछ कठिन विभागों को अनभिज्ञ राजनीतिज्ञों को सौंपना सम्भव नहीं है। इस कारणवश श्री चिन्तामणि देशमुख को एक असैनिक सेवक होते हुए भी वित्त विभाग सौंपा गया था। इससे पहले डा० जान मथाई इस पद पर थे। श्री लाल बहादुर शास्त्री ने अपना मन्त्रिमण्डल बनाते समय डा० डी० एस० कोठारी और डा० भाभा से मन्त्रिमण्डल में शामिल होने का कहा परन्तु उन दोनों ने मन्त्रिमण्डल में आना स्वीकार नहीं किया।

**मन्त्रिमण्डल की बनावट (Composition of the Cabinet)**—मन्त्रि-परिषद् के सदस्य प्रधान मन्त्री के परामर्श के अनुसार नियुक्त किए जाते हैं। अपने साथियों के चुनाव करने में प्रधान मन्त्री को अनेक बातों का ध्यान रखना होता है। उसे देश के विभिन्न धर्म और जातियों को प्रतिनिधित्व देने का यत्न करना होता है। ऐसा करना नितान्त आवश्यक नहीं है। किन्तु व्यवहार में ऐसा ही होता आया है। राजकुमारी अमृतकौर एक ईसाई के रूप में काफी समय तक मन्त्रिमण्डल की सदस्या रहीं। सरदार स्वर्णसिंह एक सिक्ख के रूप में नेहरू मन्त्रिमण्डल में लिए गए थे। मौलाना अब्दुल कलाम आजाद काफी समय तक मुस्लिम जाति का प्रतिनिधित्व करते रहे। उनकी मृत्यु के बाद हाफिज मोहम्मद इब्राहीम को मन्त्रिमण्डल में शामिल कर लिया गया था। अब श्री एम० सी० छागला मन्त्रिमण्डल में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। यह आशा की जाती है कि मन्त्रिमण्डल के सदस्य अपने ही दल के आदमी हों किन्तु कभी-कभी अपने दल से बाहर के व्यक्तियों को भी इस पद पर रख लिया जाता है। डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी, डा० बी० आर० अम्बेदकर, सरदार बलदेवसिंह और डा० जॉन मथाई मन्त्रिमण्डल में थे परन्तु वे कांग्रेस दल के नहीं थे। इसी तरह मन्त्रिमण्डल में श्री चिन्तामणि देशमुख वित्त मन्त्री रहे परन्तु वे कांग्रेसी नहीं थे। इस समय भी एक दो मन्त्री ऐसे हैं जो कि वास्तव में कांग्रेसी नहीं हैं। देश के सब भागों को प्रतिनिधित्व दिए जाने का प्रयत्न किया जाता है। प्रधान मन्त्री का यह कर्तव्य है कि वह देखे कि किसी राज्य का अधिक प्रतिनिधित्व तो नहीं है। हर मन्त्रिमण्डल में दल के बड़े-बड़े नेता शामिल किए जाते हैं। दल के कुछ नेता इतने प्रभावशाली होते हैं कि उनको तो मन्त्रिमण्डल में रखना ही पड़ता है चाहे प्रधान मन्त्री चाहे या न चाहे। सरदार पटेल की स्थिति ऐसी ही थी।

**विभागों का वितरण (Distribution of Portfolios)**—मन्त्रियों को नियुक्त करने के पश्चात् प्रधान मन्त्री उन्हें विभिन्न विभाग सौंपता है। हमारे संविधान

के अनुसार राष्ट्रपति मन्त्रियों के बीच कार्य वितरण करने के नियम बनायेंगे परन्तु किसी मन्त्री को क्या विभाग सौंपा जाय यह तय करना प्रधान मन्त्री का कार्य है। प्रभावशाली व्यक्तियों को उनकी इच्छा के अनुसार ही विभाग सौंपा जाता है। जैसे कि सरदार पटेल को उनकी मर्जी के अनुसार ही गृह-मन्त्री बनाना पड़ा था। इसी तरह मौलाना आजाद को शिक्षा विभाग सौंपा गया था। कुछ समय तक सरदार पटेल उप-प्रधान मन्त्री भी रहे। इसी तरह अब श्री मोरारजी देसाई उप-प्रधान मन्त्री हैं। स्थिति के अनुसार प्रधान मन्त्री विभाग को बदल भी सकते हैं।

मन्त्रिमण्डल (Cabinet) और मन्त्री परिषद् (Council of Ministers) इन दोनों में कुछ अन्तर है। संविधान में सिर्फ मन्त्री परिषद् का ही उल्लेख किया गया है। मन्त्री परिषद् में ये मन्त्री होते हैं (अ) मन्त्रिमण्डल के सदस्य (ब) राज्य मन्त्री (Minister of State) और उप मन्त्री। मन्त्री परिषद् एक बड़ी संस्था है और मन्त्रिमण्डल में थोड़े सदस्य होते हैं। मन्त्री परिषद् का प्रत्येक सदस्य मन्त्रिमण्डल का सदस्य नहीं होता। मन्त्रिमण्डल सरकार की नीति निर्धारित करता है जो मन्त्रिमण्डल के सदस्य नहीं होते वे भी मन्त्रिमण्डल की बैठक में जाते हैं जब कि मन्त्रिमण्डल के सामने उनके विभाग के विषय में बातें हों। मन्त्री परिषद् को कभी-कभी मन्त्रालय (Ministry) भी कहते हैं। मन्त्रिमण्डल की सप्ताह या दो सप्ताह बाद बैठक होती रहती है। परन्तु मन्त्री परिषद् की कोई बैठक नहीं होती भारत सरकार का काम मन्त्रिमण्डल की ओर से होता है। मन्त्री परिषद् कोई कार्य नहीं करती।

मन्त्रिमण्डल की कोई निश्चित संख्या नहीं है। आमतौर से मन्त्रिमण्डल की संख्या १२ व १७ के बीच हो सकती है परन्तु अधिक संख्या पसन्द नहीं की जाती। अधिक संख्या के मन्त्रिमण्डल से सरकार का कार्य सुचारु रूप से नहीं चल सकता। इस समय मन्त्रिमण्डल में प्रधान मन्त्री सहित १६ सदस्य हैं। मन्त्रियों में विभागों का वितरण इस प्रकार है :—(१) प्रधान मन्त्री का विभाग (जिसमें Atomic Energy विभाग शामिल है)। (२) गृह विभाग। (३) प्रतिरक्षा विभाग। (४) वित्त विभाग। (५) श्रम-विभाग। (६) रेलवे विभाग। (७) सिंचाई और विद्युत विभाग। (८) विधि विभाग। (९) उद्योग विभाग। (१०) इस्पात और खान विभाग। (११) शिक्षा विभाग। (१२) खाद्य व कृषि विभाग। (१३) संसदीय विभाग। (१४) पैट्रोलियम रसायन और योजना विभाग। (१५) विदेशी विभाग। (१६) वाणिज्य विभाग। (१७) सूचना विभाग। (१८) यात्रा एवं असैनिक विमान चालन विभाग।

भारत सरकार में १७ राज्य मन्त्री (Minister of State) और १९ उप मन्त्री हैं। प्रधान मन्त्री को अधिकार है कि वह किसी विभाग के मन्त्री को संगठन का सदस्य बना दे। मौलाना आजाद शिक्षा मन्त्री होते हुए भी मन्त्रिमण्डल के सदस्य थे। वर्तमान शिक्षा मन्त्री मन्त्रिमण्डल के सदस्य

हैं। राजकुमारी अमृत कौर स्वास्थ्य मन्त्री होते हुए भी मन्त्री मण्डल की सदस्य थीं जबकि भूतपूर्व स्वास्थ्य मन्त्री डा० सुशीला नैयर मन्त्रिमण्डल की सदस्य नहीं थी। किसी मन्त्री का मन्त्रि-मण्डल स्तर का मन्त्री बनना या न बनाना बहुत कुछ उसके व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए स्वर्गीय मौलाना आजाद चाहे किसी भी विभाग के मन्त्री रहे होते उनका मन्त्रि मण्डल में लिया जाना अनिवार्य था। यह विचार अपने कार्यकाल में श्री नेहरू ने एक प्रश्न के उत्तर में लोक सभा में प्रकट किये थे।

**प्रधान मन्त्री की स्थिति (The Position of the Prime Minister)**—प्रधान मन्त्री के पद का हमारे संविधान में उल्लेख नहीं है। उनका पद परम्परा के अनुसार है। प्रधान मन्त्री मन्त्रिमण्डल की अध्यक्षता करते हैं। वे राष्ट्रपति को सरकार की ओर से सलाह देते हैं। वे सरकार के मुख्य हैं। "भारतीय संविधान में प्रधान मन्त्री का मुख्य स्थान है, वह लोक सभा में बहुमत दल का नेता होता है और उस स्थिति का पूरा उपयोग करता है। वह बराबर वालों में से मुख्य और इससे भी अधिक है क्योंकि वह अन्य मन्त्रियों को चुनता है। प्रधान मन्त्री कार्यकारिणी का वास्तविक प्रमुख है। केन्द्र में निहित सारी शक्तियाँ जिसमें राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियाँ भी शामिल हैं मुख्यतया वे प्रधान मन्त्री की सलाह से काम में आती हैं।"[1] (The Prime Minister occupies a key position in the constitutional structure of India. He is normally the leader of the majority party in the House of the People and wields all the authority of that position. He is the first amongst equals and is more than that, for it is he who chooses the other ministers . .... the Prime Minister is *the defacto head of the executive All the wide powers vested in* the Centre including the emergency powers of the President are to be exercised mainly on his advice) प्रधान मन्त्री मन्त्रिमण्डल के सबसे अधिक शक्तिशाली व्यक्ति हैं। वे मन्त्रिमण्डल के कर्णधार हैं। लॉर्ड मॉर्ले ने ब्रिटिश प्रधान मन्त्री के विषय में एक बार कहा था "प्रधान मन्त्री कैबिनेट महाराब की केन्द्रीय शिला (the keystone of the cabinet arch) है" यह कथन हमारे प्रधान मन्त्री के लिए भी लागू होता है। प्रधान मन्त्री का त्यागपत्र मन्त्रिमण्डल का त्यागपत्र समझा जाता है। अगर प्रधान मन्त्री और किसी अन्य मन्त्री में मतभेद हो तो उस मन्त्री को ही इस्तीफा देना पड़ता है। प्रधान मन्त्री किसी भी मन्त्री को इस्तीफा देने के लिये बाध्य कर सकता है। अगर कुछ विभागों में मतभेद हों तो प्रधान मन्त्री ही उसे निपटाता है। प्रधान मन्त्री किसी भी विषय को मन्त्रिमण्डल के समक्ष रख सकता है। प्रधान मन्त्री सब विभागों की देख-रेख करता है। सरकार

---

१. दी ऑरगेनाइजेशन ऑफ दी गवर्नमेंट आफ इण्डिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस, १९५८, पृष्ठ २५।

के मुख्य अधिकारी प्रधान मन्त्री ही नियुक्त करता है। राज्यपाल और राजदूतों की नियुक्ति उसी के हाथ में है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में शामिल होने वाले प्रतिनिधि भी वह ही नियुक्त करता है। सरकार की नीति पर भी वह समय-समय पर संसद में या संसद से बाहर अपना प्रमुख वक्तव्य देता है। जो कुछ भी प्रधान मन्त्री कहता है वह ही सरकार की नीति समझी जाती है। किसी भी मन्त्री को प्रधान मन्त्री की नीति के विरुद्ध बोलने का अधिकार नहीं है। प्रधान मन्त्री राष्ट्रपति को सलाह दे सकता है कि संसद को भंग कर दिया जाय। राष्ट्रपति को प्रधान मन्त्री की बात माननी पड़ती है। परन्तु फिर भी अभी तक ऐसा अवसर नहीं आया है। प्रधान मन्त्री का यह कर्तव्य है कि वह राष्ट्रपति को मन्त्रिमण्डल के निश्चयों से अवगत रखे। प्रधान मन्त्री का कार्य है कि देश की हलचलों का राष्ट्रपति को ब्यौरा देता रहे।

प्रधान मन्त्री का पद काफी हद तक उसके व्यक्तित्व पर निर्भर है। लार्ड ऑक्सफोर्ड और एसक्वीथ ने एक समय ब्रिटिश प्रधान मन्त्री के विषय में कहा था: "प्रधान मन्त्री का पद वही बन जाता है जो उस पद पर आसीन व्यक्ति उसे बनाना चाहे" (The office of the Prime Minister is what its holder chooses to make it)। इंगलैंड के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री का यह कथन हमारे स्वर्गीय प्रधान मन्त्री पर भी लागू होता है। हमारे प्रधान मन्त्री श्री नेहरू शक्तिशाली व्यक्ति थे, उनके ऊपर अपने मन्त्री साथियों की सलाह का कोई विशेष प्रभाव नहीं होता था। प्रधान मन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री इतने शक्तिशाली नहीं थे। उन्होंने अपना मन्त्रिमण्डल श्री कामराज श्री अतुल्य घोष की सलाह से बनाया था परन्तु सरदार स्वर्णसिंह को विदेश मन्त्री बना कर उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता का परिचय दिया। यह उनका स्वयं का निर्णय था। श्री लालबहादुर शास्त्री की मृत्यु के बाद श्रीमती इन्दिरा गाँधी प्रधान मन्त्री बनी। चौथे आम चुनावों के बाद भी उन्हें प्रधान मन्त्री बनाया गया। अपने मन्त्रिमण्डल के गठन करने में उन्होंने अपनी इच्छानुसार कार्य किया है। अपने विश्वसनीय व्यक्तियों को ही उन्होंने मन्त्रीमण्डल में स्थान दिया है। अभी तक उन्होंने अपना कार्य बुद्धिमत्ता से किया है। यद्यपि उनकी नीतियाँ किसी प्रकार भी दृढ़ नहीं कही जा सकती।

—: • :—

अध्याय २७

# राज्यों की कार्यपालिका और विधान मंडल

पहली नवम्बर १९५६ तक भारतीय संघ में २८ राज्य थे जो चार वर्गों में बँटे हुए थे। 'अ' वर्ग के ९ राज्य, 'ब' के ८ राज्य, 'स' के १० राज्य और द' के १ राज्य थे। सन १९५६ के राज्य पुनर्गठन अधिनियम के परिणामस्वरूप भारतीय क्षेत्र का पुनर्गठन हुआ और कुछ राज्यों की सृष्टि हुई जिनके केन्द्रीय शासन के साथ समान स्तर पर सम्बन्ध हैं। पहली नवम्बर सन १९५६ से ये १४ राज्य बने: आन्ध्र प्रदेश, आसाम, बिहार, बम्बई, जम्मू और काश्मीर, केरल, मध्य प्रदेश, मद्रास, मैसूर, उड़ीसा, पंजाब राजस्थान उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बंगाल। ६ केन्द्रीय प्रशासित क्षेत्र भी बनाए गए हैं। ये संघ क्षेत्र (Union Territory) कहलाते हैं। ये अण्डमान व निकोबार द्वीप, दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, लकादाइव और अमीन दीव द्वीप मनीपुर और त्रिपुरा हैं। ये परिवर्तन १९ अक्टूबर १९५६ को पारित किये गये संविधान के सातवें संशोधन के परिणामस्वरूप हुए हैं। अब बम्बई राज्य को गुजरात एवं महाराष्ट्र में परिणित कर दिया गया है। नागालैण्ड एक नया राज्य बना दिया गया है। पंजाब को दो राज्यों हरियाना व पंजाब में बाट दिया गया है।

**राज्यपाल की स्थिति और शक्तियाँ**—राज्यों की प्रशासकीय मशीनरी संघ से ही मिलती-जुलती है। राज्य की कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में निहित है। भारतीय संविधान (सप्तम संशोधन) अधिनियम १९५६ के अनुसार एक ही व्यक्ति एक या एक से अधिक राज्यों का राज्यपाल बनाया जा सकता है। आसाम और नागालैण्ड का एक ही राज्यपाल है। राज्यपाल कार्यपालिका की शक्ति का प्रयोग प्रत्यक्ष रूप से या अपने अधीन कर्मचारियों द्वारा कर सकता है किन्तु इससे भारतीय संसद या राज्य विधान मण्डल के राज्यपाल से निम्नतर अधिकारियों को कुछ कृत्य सौंपने के अधिकार में कोई रुकावट नहीं हो सकती।

**राज्यपाल की अर्हता**—केवल वही भारतीय नागरिक जो ३५ वर्ष के हो इस पद पर नियुक्ति के पात्र होते हैं। राज्यपाल भारतीय संसद या किसी राज्य विधान मण्डल का सदस्य नहीं होगा और यदि होगा तो उस पद को ग्रहण करते ही उसका स्थान रिक्त हो जायेगा।

**उसकी नियुक्ति**—राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा हस्ताक्षर व मुद्रा युक्त अधिपत्र (Warrant under his hand and seal) के द्वारा की जाती है। उसकी कार्य अवधि ५ वर्ष की होती है। यदि वह चाहे तो पहले ही त्यागपत्र दे सकता है या राष्ट्रपति उसकी अवधि को पहले समाप्त कर सकते हैं। पहले जम्मू व

कश्मीर राज्य का मुख्याधिपति सदरे-रियासत कहलाता था। सदरे-रियासत वह व्यक्ति होता था जो इस पद के लिये राष्ट्रपति द्वारा मान्यता (recognition) प्राप्त कर लेता था। अब जम्मू व कश्मीर राज्य का मुख्याधिपति राज्यपाल कहलाता है। उसका कार्यकाल राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त (subject to the pleasure of the President) ५ वर्ष तक का होता है। किसी राज्यपाल की नियुक्ति के समय भारत सरकार सम्बन्धित राज्य के मुख्य मन्त्री से परामर्श करती है। इस विषय का कोई लिखित नियम नहीं है किन्तु परम्परा और सुविधा को दृष्टि में रख कर ऐसा किया जाता है क्योंकि मुख्य मन्त्री को ही उसमें काम पड़ेगा। अब तक यह परम्परा रही है कि राज्यपाल अन्य राज्य का हो। श्रीमति सरोजिनी नायडू और श्री मुन्शी जो उत्तर प्रदेश के राज्यपाल बनाये गये बाहर से आए हुए थे। उत्तर प्रदेश के वर्तमान राज्यपाल भी बाहर से आए हैं। श्री पक्वासा और डा० पट्टाभी सीतारमैया जो मध्य प्रदेश के राज्यपाल थे तथा वर्तमान राज्यपाल श्री के० सी० रेड्डी भी बाहर से ही आए हुए हैं। इस सामान्य नियम का केवल एक अपवाद है। पश्चिमी बंगाल की राज्यपाल कुमारी पद्मजा नायडू बाहर की नहीं थीं। ऐसा पश्चिमी बंगाल के भूतपूर्व मुख्य मन्त्री डा० विधान चन्द्र राय के अनुरोध पर किया गया था। साधारणत: सार्वजनिक जीवन में कार्य करने वाले सज्जन ही राज्यों के राज्यपाल नियुक्त किए जाते हैं किन्तु कुछ अवस्थाओं में प्रशासनिक सेवा के लोग भी इस उच्च पद पर रख दिए जाते हैं। श्री त्रिवेदी, श्री वाई० एन० सुखथंकर और श्री फजल अली सार्वजनिक जीवन में कभी नहीं थे। प्रथम दो व्यक्ति प्रशासनिक सेवा में थे और अन्तिम व्यक्ति एक न्यायाधीश थे। दो उदाहरण भूतपूर्व राजाओं के राज्यपाल बनाए जाने के भी हैं। मैसूर के महाराजा मैसूर के राज्यपाल रहे हैं और कश्मीर के भूतपूर्व महाराजा हरीसिंह के पुत्र युवराज करन सिंह जम्मू और कश्मीर राज्य के सदर-ए-रियासत थे। दो विद्वान और शिक्षा विशेषज्ञ भी राज्यपाल बनाए गए हैं। प्रिंसिपल गुरमुख निहाल सिंह (भूतपूर्व राजनीति शिक्षक) और डा० जाकिर हुसैन राजस्थान और बिहार के राज्यपाल रहे थे।

**उसके विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ**—राज्यपाल को नि:शुल्क सरकारी मकान और ५,५०० रु० प्रतिमास का वेतन और अन्य भत्ते आदि मिलते हैं और अन्य सुविधायें व विशेषाधिकार जो उनके पूर्वाधिकारी गवर्नरों को उपलब्ध थे, दिये जाते हैं। यदि एक राज्यपाल दो राज्यों के लिए नियुक्त हुआ हो तो उनके वेतन आदि का भार राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित अनुपात से उक्त राज्यों में बांटा जाता है। राज्यपाल के वेतन आदि में उसके कार्यकाल में कटौती नहीं की जा सकती। किसी राज्य का राज्यपाल अपने पद के कर्तव्यों के पालन में और अपनी शक्तियों का प्रयोग करने के सम्बन्ध में किसी न्यायालय के प्रति उत्तरदायी नहीं होता। किसी राज्यपाल पर उसके कार्यकाल में किसी दंड न्यायालय में कोई अभियोग नहीं चलाया जा सकता और न किसी न्यायालय द्वारा उसको बन्दी बनाने या

गिरफ्तार करने की आज्ञा जारी की जा सकती है।[1]

**उसकी कार्यकारिणी शक्तियाँ**—राज्यपाल राज्य की कार्यकारिणी का प्रमुख होता है। राज्य के सारे कार्यकारी काम उसके नाम से किये जाते हैं। राज्यपाल मुख्य मन्त्री की नियुक्ति करता है और मुख्य मन्त्री के परामर्श के आधार पर अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करता है। मुख्य मन्त्री की नियुक्ति के समय उसे इस बात का ध्यान रखना होता है कि उस व्यक्ति को राज्य विधान सभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त है और वह स्थिर सरकार बना सकता है। राज्यपाल ही राज्य सार्वजनिक सेवा आयोग के सभापति तथा अन्य सदस्यों की नियुक्ति करता है। राज्य के उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की भी नियुक्ति के लिए उससे परामर्श लिया जाता है।[2] वह महाधिवक्ता की भी नियुक्ति करता है। महाधिवक्ता के लिए उच्च न्यायालय का आर्हता प्राप्त न्यायाधीश होना आवश्यक है। उसका काम सरकार का कानूनी सलाहकार बनने का है और उसका कर्तव्य कानूनी मामलों से सम्बन्धित है। महाधिवक्ता राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त (during the pleasure) अपने पद पर रहता है और राज्यपाल द्वारा निर्धारित पारिश्रमिक पाता है।[3] राज्यपाल राज्य सरकार के कार्य सचालन के नियम भी बना सकता है। राज्यपाल को अपने अधिकार का प्रयोग पूर्णतया प्रभावशाली ढंग से करने की स्थिति में होने के लिए यह आवश्यक है कि उसे सब आवश्यक प्रशासन सम्बन्धी मामलों की ठीक समय पर पूरी-पूरी जानकारी मिल सके। इस आवश्यकता को दृष्टि में रखते हुए मुख्य मन्त्री की यह जिम्मेदारी रखी गई है (१) कि वह कानून बनाने के प्रस्तावों को तथा मन्त्रि मण्डल के सभी विनिश्चयों की पूरी-पूरी सूचना राज्यपाल के समक्ष उपस्थित करे, (२) राज्यपाल जो भी शासन सम्बन्धी या प्रस्तावित कानूनों के विषय में सूचनायें मांगे उसे दे और (३) यदि राज्यपाल को आवश्यकता हो तो किसी सुझाव को अपने मन्त्रिमण्डल के सामने विचार के लिए प्रस्तुत करे। अपनी कार्यकारी शक्तियों के प्रयोग में राज्यपाल अपने मन्त्रियों को सलाह (advice), प्रोत्साहन (encouragement) या चेतावनी (warning) दे सकता है किन्तु वह मन्त्रिमण्डल को अपने विचारों में बाँध नहीं सकता है। मन्त्रिमण्डल उसके विचारों से सहमत हो या न हो ये उनकी इच्छा पर है। क्योंकि यह तथ्य स्पष्ट है कि राज्यपाल सभी व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए राज्य का सवैधानिक प्रमुख-मात्र (constitutional head) है। साधारणत वह अपने मन्त्रिमण्डल के विनिश्चयों (decisions) की उपेक्षा नहीं कर सकता। जम्मू और काश्मीर राज्य के नये सविधान के अनुसार सदरे रियासत को सार्वजनिक सेवा आयोग के सभापति और अन्य सदस्यों, राज्य के महाधिवक्ता और चुनाव आयुक्त को नियुक्त करने की

१. अनुच्छेद ३६१।
२. अनुच्छेद २१७।
३. अनुच्छेद १६५।

शक्ति प्राप्त है। और भाषा, संस्कृति और कला की एकेडेमी स्थापित करने की शक्ति भी है।

**उसकी विधायिनी शक्तियाँ**—राज्यपाल राज्य विधान-मण्डल के किसी भी सदन का सदस्य नहीं हो सकता किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उसका कोई विधायिनी कृत्य नहीं है। राज्य विधानसभा के गठन और कार्यक्रम में उसका भी भाग होना है। वह विधान परिषद् के सदस्यों की १/६ संख्या को मनोनीत करता है। यदि उसके विचार में उस जाति का साधारण चुनाव द्वारा सतोषजनक प्रतिनिधित्व नहीं हो पाया हो तो वह राज्य की विधान सभा में कुछ सदस्य एंग्लो-इण्डियन जाति का प्रतिनिधित्व करने के लिये भी मनोनीत कर सकता है। चुनाव आयुक्त की सलाह से वह उस प्रश्नमाला का भी विनिश्चय करता है जिसके द्वारा किसी भी सदन के किसी भी सदस्य को अनर्हत किया जाता है। ऐसे मामलों में उसका विनिश्चय अन्तिम होता है।[1] राज्यपाल समय-समय पर दोनों या किसी भी सदन का आह्वान कर सकता है और अपनी इच्छा के अनुसार जब चाहे सदनों का सत्रावसान (prorogue) भी कर सकता है और विधान-सभा का विघटन (dissolution) भी कर सकता है।[2] राज्यपाल विधान-सभा को सम्बोधित भी कर सकता है और जिस राज्य में विधान-परिषद् भी हो उसमें दोनों सदनों को सम्मिलित रूप में या किसी भी एक को सम्बोधित कर सकता है।[3] राज्यपाल राज्य विधान-मण्डल के दोनों या किसी भी सदन को सदेश भी भेज सकता है। हर सत्र के प्रारम्भ में राज्यपाल विधान-सभा को संबोधित करेगा और यदि उस राज्य में विधान-परिषद् भी हो तो दोनों सदनों के मिले-जुले सत्र को सम्बोधित करेगा।[4] जब कोई विधेयक राज्य विधान-मण्डल के एक या दोनों सदनों द्वारा पारित होकर राज्यपाल की स्वीकृति के लिए पेश किया जाता है तो राज्यपाल उस विधेयक के लिए अपनी अनुमति प्रदान करेगा या नहीं प्रदान करेगा (withhold assent) और या वह उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित कर देगा। यदि चाहे तो राज्यपाल किसी ऐसे विधेयक को जो वित्त विधेयक न हो अपने सदेश के साथ पुनर्विचार के लिए सदनों को वापिस भेज सकता है। राज्य विधान-मण्डल ऐसी दशा में उस विधेयक पर पुनर्विचार करेगा और यदि फिर विधेयक पारित हो जावे तो वह राज्यपाल के पास अनुमति प्राप्त करने के लिए भेजा जायेगा। ऐसी दशा में राज्यपाल को अपनी अनुमति देनी ही होगी। यदि राज्यपाल के विचार में कोई विधेयक ऐसा है जिसके लागू होने से उच्च न्यायालय की शक्तियों में अल्पीकरण होता है और उसके द्वारा उक्त न्यायालय को उस स्थिति को आघात पहुँचाता है जिस स्थिति में रहने को

---

१. अनुच्छेद १६० ।
२. अनुच्छेद १७४ ।
३. अनुच्छेद १७५ (१) ।
४. अनुच्छेद १७६ ।

संविधान में व्यवस्था की गई है तो वह उस विधेयक पर अपनी अनुमति न देकर उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित करेगा ।[1] जब कोई विधेयक राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित किया जाता है तो राष्ट्रपति या तो उस पर अपनी अनुमति प्रदान करता है या नहीं करता है । किसी विधेयक (जो वित्त विधेयक नहीं) को राष्ट्रपति चाहे तो उसके सम्बन्ध में राज्यपाल को निर्देशित (direct) कर सकता है कि वह उसे राज्य विधान-मण्डल को छ महीने के अन्दर पुनर्विचार के लिए भेजे और यदि यह विधेयक राज्य विधान-मण्डल द्वारा फिर मूल रूप में या संशोधनों के साथ पारित हो जावे तो वह फिर राष्ट्रपति के विचारार्थ पेश किया जाना है ।[2]

राष्ट्रपति की तरह राज्यपाल को भी अध्यादेश प्रख्यापित (promulgate) करने की शक्तियाँ हैं । यह उन परिस्थितियों में लागू हो सकते हैं जब विधान-मण्डल के सत्र न हो रहे हों और तुरन्त कार्य करना परिस्थिति के लिए आवश्यक हो । ऐसा अध्यादेश विधान-मण्डल के समवेक (assemble) होने के छ सप्ताह तक कानून का बल रखते हैं । बशर्ते कि वह उस अवधि से पहले ही वापिस न ले लिए जायें या विधान-मण्डल द्वारा रद्द न कर दिया जाय ।[3] राज्यपाल द्वारा प्रख्यापित अध्यादेश कुछ निर्बन्धों के साथ होने हैं । यदि वह अध्यादेश, किसी ऐसे मामले से सम्बन्धित है जिसके बारे में बने हुए विधेयक के लिए राष्ट्रपति की पूर्व मंजूरी की आवश्यकता होती हो या रक्षण के बाद उसकी अनुमति की आवश्यकता होती है, जारी करता है, तो उसे ऐसा करने से पहिले राष्ट्रपति से अनुदेश (instructions) प्राप्त करना होता है ।[4]

**उसकी वित्तीय शक्तियाँ**—कोई भी वित्त विधेयक या वह विधेयक जिसके अन्तर्गत कोई वित्त सम्बन्धी खण्ड हो न तो उस समय तक विधान मण्डल में पुनः स्थापित (introduce) किया जा सकता है और न अनुदान के लिए माग की जा सकती है जब तक कि उसके लिए राज्यपाल की सिफारिश उपलब्ध न हुई हो ।[5] राज्यपाल को राज्य की आकस्मिकता निधि (contingency fund) मिली हुई है और राज्य के विधान मण्डल द्वारा प्राधिकृत होने से पहले के काल के लिए आकस्मिक व्यय के लिए वह उसमें से रुपया खर्च कर सकता है ।[6]

**उसकी न्यायिक शक्तियाँ**—राज्यपाल को क्षमा-दान करने, प्रविलम्बन (reprieve) करने, विराम (respite), दण्ड-परिहार (remission) करने की शक्तियाँ हैं और वह किसी ऐसे सिद्ध दोष व्यक्ति के दण्ड का परिहार, स्थगन

---

१. अनुच्छेद २०० ।
२. अनुच्छेद २०१ ।
३. अनुच्छेद २१३ (२) ।
४. अनुच्छेद २१३ (१) ।
५. अनुच्छेद २०७ ।
६. अनुच्छेद (१) ।

(suspension) या लघुकरण (commute) कर सकता है जो किसी ऐसे अपराध या दोषी हो जिसके सम्बन्ध में कानून बनाने की कार्यकारी शक्ति उस राज्य के अधिकार क्षेत्र में हो।[1] यह कार्यकारी शक्ति उन सब कानूनों से सम्बन्धित है जो राज्य सूची तथा समवर्ती सूची के अन्तर्गत आते हैं, यदि किसी लोकसभा द्वारा पारित कानून में राज्य की इस कार्यकारी शक्ति का अपवर्जन (exclusion) न कर दिया गया हो।

उसके विशेष उत्तरदायित्व—आन्ध्र प्रदेश और पंजाब में जहाँ पर राज्य विधान सभाओं की प्रादेशिक समितियाँ राष्ट्रपति के आदेशानुसार बनाई गई हैं, राष्ट्रपति इन समितियों के सुचारु रूप से संचालन के लिए राज्यपालों पर विशेष उत्तरदायित्व डाल सकता है।[2] पंजाब में ये समितियाँ हिन्दी और पंजाबी भाषायी क्षेत्रों के लिए बनाई गई थीं। राष्ट्रपति अपने आदेश से महाराष्ट्र या गुजरात के राज्यपाल पर विदर्भ, मराठावाड़ा और शेष महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, कच्छ और शेष गुजरात के लिए पृथक्-पृथक् विकास मण्डल (Development Boards) स्थापित करने का विशेष उत्तरदायित्व डाल सकता है। इनमें से हर मण्डल की कृतियों का एक प्रतिवेदन (report) वर्ष में एक बार राज्य विधान सभा में प्रस्तुत किया जायेगा। इस विशेष उत्तरदायित्व में यह देखना भी सम्मिलित है कि (१) विकास व्यय का समूचे राज्य की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए इन क्षेत्रों के लिए उचित बटवारा किया जाये। (२) और इन सब क्षेत्रों के निवासियों के लिए प्राविधिक (technical) शिक्षा और व्यवसायिक (vocational) प्रशिक्षण और राज्य सेवाओं में नौकरी प्राप्त करने की पर्याप्त सुविधायें मिलें।[3]

## राज्यपाल की वास्तविक स्थिति

भारत के राष्ट्रपति की तरह राज्यपाल भी राज्य का संवैधानिक प्रमुख होता है। एक लेखक का कथन है "हम यह भी कह सकते हैं कि यदि आपाती (emergency) और संक्रमणीय (transitional) शक्ति को छोड़ दिया जाये और निर्देशन (direction) व इकाइयों पर रखे जाने वाले नियन्त्रण की शक्ति को निकाल दें तो वह राष्ट्रपति बन जाता है।" साधारणतया वह अपने मन्त्रियों की सलाह पर चलता है। "उसका पद शक्ति का नहीं किन्तु प्रतिष्ठा का है। अधिकांश शक्तियाँ जो सिद्धान्ततः उसको दी गई हैं वास्तव में उसके मन्त्रियों द्वारा प्रयुक्त होती हैं जिनकी सलाह पर उसे चलना होता है।" किन्तु कुछ स्थितियों में उसे अपने स्वविवेक पर निर्भर होना पड़ता है। कुछ प्रयोजनों के लिये उसे केन्द्रीय सरकार के अभिकर्ता (agent) जैसा

१. अनुच्छेद १६१।
२. अनुच्छेद ३७१।
३. अनुच्छेद ३७१ (२) और बम्बई पुनर्गठन अधिनियम १९६०, अनुच्छेद ८५।

व्यवहार करना पड़ता है। इसी कारण संविधान में स्पष्टतया राज्यपाल द्वारा उसकी स्वविवेकीय (discretionary) शक्तियों के प्रयोग का उपबन्ध (provision) रखा गया है।

संविधान के अनुच्छेद १६३ (१) के अनुसार राज्यपाल को उसके कृत्यों के प्रयोग में सहायता करने और मंत्रणा देने (advise) के लिये एक मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) होगी। "यह परिषद् उन कृत्यों के सम्बन्ध में सहायता या सलाह नहीं दे सकेगी जिनके लिये संविधान ने उसे अपने स्वविवेक के प्रयोग का उत्तरदायित्व सौंपा गया है।" ये शब्द "१९३५ ई० के कानून की प्रतिध्वनि है।"[1] किन्तु संविधान में कहीं भी इन स्वविवेकीय (discretionary) शक्तियों का स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। संविधान में यह स्पष्ट उल्लेख है की स्वयं राज्यपाल को ही यह निश्चित करना होगा कि कोई विचाराधीन मामला उसे अपने स्वविवेक से निश्चित करना चाहिये (whether any matter should be decided by him in his discretion) या नहीं और इस सम्बन्ध में उसका विनिश्चय (decision) ही अन्तिम होगा।[2] संविधान में अनेक ऐसी परिस्थितियों का ध्यान रखा गया है जिनमें राज्यपाल राष्ट्रपति से अनुदेश (instructions) प्राप्त करेगा और यह सहज कल्पना की जा सकती है कि राज्यपाल इन अनुदेशों पर कार्य करेगा। भले ही मन्त्रि-परिषद् का कुछ मत क्यों न हो। वह अपने स्वविवेक का प्रयोग अपने मुख्य मन्त्रि के चुनने में[3], विधान मण्डल के आह्वान (summon) करने में[4], तथा विधेयकों को राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित करने में कर सकता है। जब उसके राज्य में ऐसी स्थिति हो कि संविधान न चलाया जा सके तो इस आशय का प्रतिवेदन (report) राष्ट्रपति को देना भी उसके स्वविवेक के क्षेत्र के अन्तर्गत आता है।[5] यदि 'राज्य-संविधान विलम्बित (suspend) किया जाता है तो राष्ट्रपति राज्यपाल के द्वारा शासन की सारी शक्तियों का प्रयोग करेगा यह सहज में ही समझा जा सकता है।[6] यदि केन्द्र और राज्य में एक ही राजनैतिक दल का शासन हो तो राज्यपाल को कोई कठिनाई नहीं होती किन्तु यदि केन्द्र और राज्य में भिन्न-भिन्न दलों का बहुमत हो, जैसा कि केरल में हुआ था, तो राज्यपाल को अपनी स्वविवेकीय शक्ति का प्रयोग करते हुए बहुत व्यवहार कुशलता और प्रवीणता (Ingenuity) का परिचय देना होता है। इस

१. पेलन ग्लैडहिल : दि रिपब्लिक आफ इण्डिया, पृष्ठ १२५।
२. अनुच्छेद १६३ (२)।
३. अनुच्छेद १६४।
४. अनुच्छेद १७४।
५. अनुच्छेद ३५६।
६. ऐलन ग्लैडहिल : दी रिपब्लिक ऑफ इण्डिया, पृष्ठ १२६।

समय अनेक राज्यों मे गैर कांग्रेस सरकारें है ऐसी अवस्था मे राज्यपालो को बड़ी दूरदर्शिता से कार्य करना पड़ता है।

अपनी स्वविवेकीय शक्तियों के अतिरिक्त राज्यपाल अपने नैतिक अधिकार (moral authority) के प्रयोग तथा अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व से भी राज्य के प्रशासन मे पर्याप्त भाग ले सकता है। एक कमजोर राज्यपाल एक प्रभावशाली मुख्य मन्त्री द्वारा प्रभाव शून्य बनाया जा सकता है किन्तु के० एम० मुन्शी जैसा दबंग राज्यपाल प्रशासन के सभी क्षेत्रों पर अपनी छाप लगा सकता है। राज्यपाल विश्वविद्यालय के कुलपति की हैसियत से, राज्य की कार्यपालिका के प्रमुख व समाज के प्रमुख की हैसियत से धर्मार्थ संस्थाओ और कला-कौशल व ज्ञान की संस्थाओ को प्रोत्साहन देने से प्रशासन तथा समाज के आचार-विचार, व्यवहार व जीवन के स्तर को ऊँचा उठाने मे सहायता कर सकता है। मन्त्रि-परिषद् प्रणाली के प्रशासन मे एक संवैधानिक प्रमुख (constitutional head) का होना अनिवार्य है। इसके सिवाय दूसरा कोई मार्ग ही नही है। जिस समय राज्य विधान-मण्डल मे किसी दल का स्पष्ट बहुमत न बनता हो उस समय सरकार का ठीक चयन करने के लिये एक निष्पक्ष राज्य प्रमुख की आवश्यकता होती है। श्री० के० आर० आर० शास्त्री का कहना है कि "पाँचवा पहिया होने के बजाय राज्यपाल का प्रतिष्ठित पद एक परम श्रेष्ठ सामाजिक संस्था और एक संवैधानिक आवश्यकता है" ("Far from being the fifth wheel in a coach, the dignified post of the governor is an exalted social institution and a constitutional necessity.") एक उदारमना राज्यपाल को अपने राज्य के लोकमत के सम्पर्क मे रहना चाहिये। जनता की नब्ज परखने के लिए वह सार्वजनिक सभाओ मे भी सम्मिलित हो सकता है। मध्य प्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल श्री एच० वी० पाटस्कर ने कहा, "राज्यपाल के कर्त्तव्यों के बारे मे पुरानी धारणाओ को अब गहरे गड्ढे मे दबा देना चाहिये क्योंकि अब राज्यपाल शासन (govern) न करके संविधान की चौकसी करने वाला (watch dog of the constitution) है। उसका कृत्य हर बात को सुनना, ध्यान लगाकर देखते रहना और सलाह देना है न केवल सत्तारूढ दल को वल्कि सब को।"[1] श्री पाटस्कर ने भोपाल मे एक सभा मे "संविधान और राज्यपाल के उत्तरदायित्व" पर बोलते हुए कहा कि वे अपने कार्यकाल मे इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि पद को लाभकारी बनाने के लिये यह आवश्यक है कि राज्यपाल सार्वजनिक वाद-विवादों से दूर रहे। श्री वी० वी० गिरि ने उत्तर प्रदेश के राज्यपाल का पद छोड़ते समय कहा था कि राज्यपाल का पद ग्रहण करते ही उन्होंने यह निश्चय कर लिया था कि वे शासन के कार्य मे निष्क्रिय भागीदार (sleeping partner) नही होंगे। उन्होंने कहा कि राज्यपाल मुख्य मन्त्री के अनुपूरक और सम्पूरक हैं। वह अपनी सरकार के विचार केन्द्रीय सरकार के सम्मुख रखकर संविधान की रक्षा करता है।

---

१. दी हिन्दुस्तान टाइम्स, ३० नवम्बर १९५८ ई०।

वह राज्य में राष्ट्रपति का दूत है।[1] 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में सम्पादकीय लेख में लिखा गया है कि यह सत्य है कि एक राज्यपाल नाममात्र से कुछ अधिक है। संविधान में कुछ क्षेत्रों जैसे आसाम के विषय में और कुछ परिस्थितियों में आपातकाल में उसे विशेष अधिकार मिले हैं। परन्तु जैसे श्री गिरि ने स्वीकार किया है राज्यपाल की सफलता मुख्य मंत्री के सहयोग पर आधारित है। अन्त में मन्त्रियों पर ही उसके कार्यों की सफलता निर्भर है। "राज्यपाल जिस कार्य को करना चाहता है वह उस कार्य को नहीं कर सकता परन्तु मन्त्रिमण्डल जो कार्य उसे करने देता है वही उसका क्षेत्र है।"[2] हमारे स्वर्गीय प्रधान मंत्री प० जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि राज्यपाल का कर्तव्य (Role) बड़ा लाभदायक है "जो कुछ अवसरों पर बड़ा महत्वपूर्ण बन जाता है।" एक प्रेस सम्मेलन में नई दिल्ली में राज्यपाल के कार्यक्षेत्र के विस्तार के सम्बन्ध में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि विभिन्न गुटों को और दलों को एक दूसरे के निकट लाने वाले तत्वों में राज्यपाल एक है और जनता के दृष्टिकोण से भी महत्वपूर्ण है। वह तनावों को कम करने के लिये बहुत कुछ कर सकता है। वह सरकार के निश्चयों को रद्द नहीं कर सकता किन्तु उसकी सलाह हर समय मिल सकती है। यदि कभी किसी महत्वपूर्ण मामले में वह समझे कि संविधान का उल्लंघन होने वाला है तो वह उसके विषय में राष्ट्रपति को रिपोर्ट कर सकता है, साधारणतया सभी फैसले सरकार करती है किन्तु सरकार को राज्यपाल के निकट सम्पर्क में रहना चाहिये और औपचारिक तथा अनौपचारिक दोनों प्रकार से उससे मंत्रणा करनी चाहिए। पिछले वर्षों में मुख्य मंत्री और राज्यपाल में सभी प्रकार के पारस्परिक सम्बन्ध (associations) रह चुके हैं, निकटतम

१. दी हिन्दुस्तान टाइम्स, १३ जून १९६०।

२. वही १५ जून १९६०

१. Pandit Jawahar Lal Nehru said the state Governors played a useful role "which may become very important on occasions" Replying a question on the scope for Governors under the Constitution at a Press Conference in New Delhi, Pt. Nehru said the Governor was a factor in bringing various groups and parties together and was important also from the point of view of the public He could do a great deal to lessen tensions He could not obviously overrule the Government but his advice was always available If, in some vital matters, he Governor thought there was the breach of the Constitution' he could refer it to the President Normally, decisions were of the Government, but the Government should keep an intimate touch with the Governor and consult him or her formally and informally There had been every type of association between the Chief Minister and the Governor in the past – the closest association and almost no association Pandit Nehru said an eminent person who had recently temporarily occupied the office of Governor had been a critic of the institution of Governor After his brief experience in the office he realised how important and vital the Governor's role could be The importance of this office was partly constitutional and largely conventional It also depended upon the personality of the Governor

व घनिष्टतम सम्बन्धों से लेकर बिल्कुल सम्बन्ध नहीं रहे हैं। श्री नेहरू ने कहा कि एक माननीय भद्र पुरुष जिन्होंने हाल ही में अस्थाई तौर पर राज्यपाल पद पर कार्य किया पहले इस पद की बहुत आलोचना करते थे पर अब अपने अल्पकालीन अनुभव के आधार पर उन्हें यह प्रतीत हुआ कि राज्यपाल की प्रणाली बहुत ही महत्वपूर्ण व सजीव भी हो सकती है। इस पद का महत्व आंशिक रूप में संवैधानिक और अधिकांश में अभिसमय का (conventional) है। यह महत्व राज्यपाल के व्यक्तित्व पर भी बहुत कुछ निर्भर करता है।[1] हमारे भूतपूर्व प्रधान मन्त्री का राज्यपाल की स्थिति के सम्बन्ध में जो उपरोक्त आकलन (estimate) है उससे बढ़कर और कोई अन्य नहीं।

**संघ राज्य क्षेत्रों का प्रशासन**—संसद द्वारा अन्यथा उपबन्धित अवस्था को छोड़कर, प्रत्येक संघ राज्य क्षेत्र का प्रशासन राष्ट्रपति द्वारा किया जायेगा तथा वह इस बारे में उस मात्रा तक 'जितनी कि वह उचित समझे अपने द्वारा ऐसे नाम से जैसा कि वह उल्लिखित करे, नियुक्त किये जाने वाले प्रशासक के द्वारा करेगा। राष्ट्रपति किसी राज्य के राज्यपाल को पास लगे किसी संघ राज्य क्षेत्र का प्रशासक भी नियुक्त कर सकेगा और इस प्रकार नियुक्त हुआ राज्यपाल प्रशासक के रूप में अपने कृत्यों को अपनी मन्त्रि-परिषद से स्वतन्त्र होकर करेगा।

**राज्य की मंत्रि-परिषद्**—हर राज्य में केन्द्र की ही तरह एक मन्त्रि-परिषद होगी। मुख्य मन्त्री इसका प्रधान होगा। इस परिषद का यह कर्तव्य होगा कि, उन कृत्यों को छोड़कर जिनमें उसे अपने स्वविवेक के अनुसार कार्य करना होता है, वह राज्यपाल को अपने कृत्यों के प्रयोग में सहायता और सलाह दे। स्वविवेक के अन्तर्गत आने वाले मामलों में राज्यपाल का ही विनिश्चय अन्तिम होता है। किसी न्यायालय में कभी यह प्रश्न नहीं पूछा जा सकता कि मन्त्रियों ने राज्यपाल को अमुक मामले में क्या सलाह दी थी या नहीं दी थी। मुख्य मन्त्री की नियुक्ति राज्यपाल करेगा तथा अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति राज्यपाल मुख्य मन्त्री की सलाह के अनुसार करेगा। ये मन्त्री राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त (pleasure) तक अपने पदों पर बने रहेंगे। व्यवहार में ऐसा होता है कि मुख्य मन्त्री जब चाहे किसी भी मन्त्री से त्यागपत्र मांग सकता है। ऐसा उस समय होता है जब मुख्य मन्त्री और किसी अन्य मन्त्री में सरकार की नीति के सम्बन्ध में कोई मतभेद उठ खड़ा हो। उत्तर-प्रदेश में एक उदाहरण ऐसा भी पैदा हो गया है जबकि मुख्य मन्त्री ने अन्य मन्त्रियों के साथ विधान-मण्डल के बाहर दल के संगठन सम्बन्धी मामलों में मतभेद होने के कारण उनसे त्याग पत्र देने को कहा था। इस उदाहरण ने मुख्य मन्त्री की स्थिति को अपने साथियों के सम्बन्ध में और दृढ़ कर दिया है। आचार्य जुगलकिशोर और ८ अन्य छोटे (Junior) मन्त्रियों को इसी कारण सम्पूर्णानन्द मन्त्रिमण्डल छोड़ना पड़ा था।

संविधान में यह व्यवस्था है कि बिहार, मध्य-प्रदेश और उड़ीसा राज्यों में

१. दी हिन्दुस्तान टाइम्स, [illegible] नवम्बर, १९५८।

आदिम जातियों के कल्याण के कार्य के लिए अलग मंत्री हों वे मन्त्री परिगणित जातियों, पिछड़े वर्गों या किसी अन्य कार्य को भी अपने कार्य में मिला सकते हैं। मध्य प्रदेश में आदिम जाति कल्याण के मन्त्री राजा नरेशचन्द्र हैं। मन्त्री-परिषद् समष्टि रूप से राज्य की विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होती है।[1] मन्त्री अपना पद ग्रहण करने से पहले पद की और गोपनीयता की शपथ लेता है। मन्त्रीगण साधारणतः राज्य विधान मण्डल के किसी एक सदन के सदस्य होते हैं। कोई व्यक्ति विधान मण्डल का सदस्य हुए बिना भी मन्त्री बन सकता है किन्तु उसे पद ग्रहण करने से छः महीने के अन्दर अपने आपको विधान मण्डल के किसी एक सदन का सदस्य निर्वाचित करा लेना चाहिए।[2] मन्त्रियों के वेतन और भत्ते राज्य विधान मण्डल द्वारा निश्चित किये जाते हैं। जम्मू और काश्मीर को छोड़कर जहां के राज्य के मुख्य मन्त्री को प्रधान मन्त्री कहा जाता है, अन्य सब राज्यों में सरकार के प्रमुख को मुख्य मन्त्री कहा जाता है।

राज्यों की मन्त्रि-परिषदों के लिए कोई निश्चित सख्या नहीं है। यह सख्या अलग-अलग राज्यों में और समय-समय पर बदलती रहती है। यह सख्या कई राज-नैतिक तत्वों पर भी निर्भर रहती है। कभी-कभी कोई मुख्य मन्त्री अपनी गद्दी कायम रखने के लिए और मन्त्रिमण्डल में अपनी स्थिति दृढ़ करने के लिए अनावश्यक रूप से मन्त्रि-परिषद् की सख्या बढ़ा लेते हैं। हर मन्त्री एक या अधिक विभागों का कार्य भार सम्भालता है। मुख्य मन्त्री प्राय न्याय व्यवस्था और सामान्य प्रशासन का कार्य अपने हाथ में रखता है। कभी-कभी मुख्य मन्त्री अपनी पसन्द के विभाग अपने हाथ मे रखते हैं। राज्यों मे प्रायः ये विभाग होते हैं —गृह, वित्त, शिक्षा, स्वास्थ्य, सार्वजनिक निर्माण, न्याय, श्रम, कृषि, वन, सिचाई, सार्वजनिक पूर्ति (Civil Supply), सहकारी समितियाँ, प्रचार कार्य आदि। उत्तर-प्रदेश मे एक समाज कल्याण का मन्त्रालय भी बनाया गया है यह इस राज्य में एक परीक्षण है। उत्तर प्रदेश जैसे बड़े राज्यों में निम्न स्तर (Junior) मन्त्री भी होते हैं। उत्तर-प्रदेश में उपमन्त्री और राज्य मन्त्री (Minister of State) भी होते हैं। मध्य प्रदेश में भी अनेक राज्यमन्त्री हैं। हर राज्य में कुछ ससदीय सचिव मन्त्रियों की सहायता करने के लिए होते हैं, विधान मण्डल के सदस्य होते हैं और वेतन पाते हैं। वे सम्बन्धित मन्त्री के विधि सम्बन्धी तथा प्रशासनिक कार्य में हाथ बटाते हैं। उपमन्त्री और ससदीय सचिव राजनैतिक पदों पर कार्य करते हैं। ज्यों ही मन्त्रिपरिषद् त्याग पत्र देती है वे भी उसके साथ ही निकल जाते हैं। बहुत से राज्यों में एक पद मुख्य ससदीय सचिव का भी होता है। वह प्राय. राज्य के मुख्य मन्त्री के साथ लगाया जाता है।

## राज्य विधान मण्डल

केन्द्र ही की तरह हर राज्य का विधान मण्डल राज्य के राज्यपाल और एक

१. अनुच्छेद १६४ (२)।
२. अनुच्छेद १६४ (४)।

या दो सदनों से मिलकर बनता है। बिहार, महाराष्ट्र, मद्रास, मैसूर, पंजाब, उत्तर-प्रदेश और पश्चिमी बंगाल इनमें से हर एक के यहाँ दो सदनों वाला विधान मण्डल है। ये सदन विधान सभा और विधान-परिषद् कहलाते हैं। शेष राज्यों में विधान सभा नामक एक ही सदन होता है। दो सदनों की प्रणाली परीक्षण के तौर पर अपनाई गई है। संसद विधि द्वारा किसी विधान परिषद् वाले राज्य में विधान-परिषद् के उन्मूलन (Abolition) के लिए अथवा वैसी परिषद् से रहित राज्य में वैसी परिषद् के सृजन (Creation) के लिए उपबन्ध कर सकेगी। यदि राज्य की विधान सभा ने इस उद्देश्य का संकल्प सभा की समस्त सदस्य संख्या के बहुमत से तथा उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों की दो तिहाई से अन्यून बहुमत से पारित कर दिया गया हो। इस आशय का कोई प्रस्ताव संविधान का संशोधन नहीं समझा जायेगा। १९५६ के राज्य पुनर्गठन अधिनियम ने मध्य-प्रदेश के लिए एक विधान परिषद् की स्थापना की व्यवस्था की थी किन्तु राज्य की विधान सभा द्वारा इस सम्बन्ध में कोई निश्चित पग न उठाये जाने के कारण इस राज्य में अभी कोई विधान परिषद् स्थापित नहीं की गई है। परन्तु अब विधान परिषद बनना निश्चित हुआ है।

## विधान सभा

गठन—किसी राज्य की विधान सभा की सदस्य संख्या ५०० से अधिक और ६० से कम नहीं हो सकती। विधान सभा के चुनाव के लिए हर राज्य प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों (Territorial Constituencies) में बाँटा जाता है। यह बँटवारा इस प्रकार किया जाता है कि प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र की जनसंख्या का उसको दिए गए स्थानों की संख्या से अनुपात समस्त राज्य में यथासाध्य एक ही होगा। पिछली बीती हुई अन्तिम पूर्वगत जनगणना के अनुसार कार्यवाही की जाती है। हर जन-गणना के अन्त में हर राज्य की विधान सभा की कुल स्थान संख्या तथा राज्य के प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों में बँटवारा फिर से ठीक-ठीक किया जाता है। यह हेर-फेर संसद के कानून द्वारा निश्चित किए गए अधिकारी द्वारा निश्चित किए गए तरीके से किया जाता है।

अनुसूचित जातियों, अनुसूचित आदिम जातियों तथा आसाम के स्वायत्त-शासी जिलों को छोड़कर अन्य किसी के लिए स्थानों का रक्षण (Reservation) नहीं किया जाता है। यदि किसी राज्य का राज्यपाल उचित समझे तो वह एंग्लो-इण्डियन जाति के सदस्यों को मनोनीत कर सकता है। अनुसूचित जातियों और आदिम जातियों के लिए जनसंख्या के आधार पर स्थान रक्षित किए जाते हैं। यह उपरोक्त सारी रक्षण व्यवस्था संविधान के आरम्भ होने से १० वर्ष बीत जाने पर स्वयमेव समाप्त हो जायेगी।[1] परन्तु आठवें संवैधानिक संशोधन के अनुसार यह अवधि दस के लिए और बढ़ा दी गई है। आसाम के स्वायत्तशासी जिलों के

१. अनुच्छेद ३३४।

लिए रक्षण व्यवस्था संविधान की स्थाई विशेषता है। राज्य विधान सभाओं में स्थानों का वर्तमान बटवारा निम्न प्रकार से है —

| राज्य | विधान सभा के स्थानों की संख्या |
| --- | --- |
| आन्ध्र प्रदेश | २८७ |
| आसाम | १२६ |
| बिहार | ३१८ |
| महाराष्ट्र | २७० |
| केरल | १३३ |
| मध्य प्रदेश | २९६ |
| मद्रास | २३४ |
| मैसूर | २१६ |
| उड़ीसा | १४० |
| पंजाब | १०४ |
| राजस्थान | १८४ |
| उत्तर प्रदेश | ४२५ |
| पश्चिमी बंगाल | २८० |
| गुजरात | १६८ |
| जम्मू और कश्मीर | ७५ |
| हरियाना | ८१ |

**विधान सभा की अवधि**—यदि किसी कारण से पहले ही विघटित न कर दी जाय तो साधारणतया विधान सभा की अवधि ५ वर्ष होती है। विधान सभा मन्त्रि-परिषद् की प्रार्थना पर विघटित की जा सकती है। यदि विधान मण्डल में किसी भी दल का स्पष्ट बहुमत न हो तो राज्यपाल भी विधान सभा को विघटित कर सकता है। ऐसी दशा में राज्यपाल को नये चुनाव कराने के लिए आज्ञा देनी पड़ेगी। एक बार आंध्र में ऐसा किया गया था। लोक सभा की तरह विधान सभा का कार्यकाल भी आपातकाल में एक बार में अधिक से अधिक एक वर्ष के लिए बढ़ाया जा सकता है। यह बढ़ाई हुई अवधि आपातकालीन घोषणा की समाप्ति के छः महीने बाद तक से अधिक समय के लिए नहीं होगी।[1]

**सदस्यों की अर्हतायें**—विधान सभा के सदस्य की अनर्हताएँ निम्नलिखित हैं :—

(१) वह भारत का नागरिक हो।

(२) २५ वर्ष से कम का न हो।

(३) वह और सब अर्हताएँ रखता हो जो इस विषय में निश्चित की गई हो।[2]

---

१. अनुच्छेद १७२ (१)।

२. अनुच्छेद १७३।

**सदस्यों की अनर्हतायें**—कोई व्यक्ति राज्य विधान मण्डल के दोनों सदनों का सदस्य नहीं हो सकता और न कोई व्यक्ति एक समय में दो या दो से अधिक राज्यों के विधान मण्डलों का सदस्य हो सकता है।[1] यदि कोई सदस्य सदन की आज्ञा के बिना उसकी सब बैठकों से साठ दिन की अवधि के लिए अनुपस्थित रहे तो सदन उसके स्थान को रिक्त घोषित कर सकता है। वह व्यक्ति भी विधान सभा का सदस्य नहीं हो सकता जो भारत सरकार या उसके अन्तर्गत किसी राज्य सरकार के नीचे कोई लाभ का पद ग्रहण किए हुए हो। या वह पागल हो या दिवालिया हो या भारत का नागरिक हो या स्वेच्छा से किसी विदेशी राज्य की नागरिकता का अर्जन कर चुका हो या किसी विदेशी राज्य के प्रति निष्ठा (allegiance) रखता हो या वह संसद द्वारा संसद के बनाए अधिनियम के द्वारा अनर्हत कर दिया गया हो।[2]

**चुनावों के लिए मतदान की अनर्हतायें आदि**—राज्य विधान सभाओं के चुनावों का सचालन और देख-रेख निर्वाचन आयोग द्वारा होगा। जिसकी सहायता के लिए आवश्यकतानुसार प्रादेशिक आयुक्त नियुक्त किए जायेंगे। हर चुनाव क्षेत्र मे एक सामान्य निर्वाचक नामावली (Electoral Roll) होगी चाहे चुनाव किसी भी सदन के लिए क्यो न हो। राज्य की विधान सभा के लिये चुनाव वयस्क मताधिकार के आधार पर होगा और प्रत्येक व्यक्ति जो भारत का नागरिक है तथा जो ऐसी तारीख पर जैसे कि समुचित विधान मण्डल द्वारा निर्मित किसी विधि के द्वारा या अधीन इसलिए नियत की गई हो, २१ वर्ष की अवस्था से कम नहीं है, तथा इस सविधान अथवा समुचित विधान मण्डल द्वारा निर्मित किसी विधि के अधीन अनिवास, चित्त विकृति, अपराध अथवा भ्रष्ट या अवैध आचार के आधार पर अनर्हत नही कर दिया गया है, ऐसे किसी निर्वाचन में मतदाता के रूप में पंजीबद्ध (enrolled) होने का हकदार होगा।[3]

**चुनावों के विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ**—हर राज्य के विधान मण्डल मे भाषण का स्वातन्त्र्य है। विधान सभा के किसी सदस्य के विरुद्ध राज्य के विधान-मण्डल में या उसकी किसी समिति में कही हुई किसी बात अथवा दिए हुए किसी मत के विषय में किसी न्यायालय में कोई कार्यवाही नहीं चलेगी और न सदन के प्राधिकार द्वारा या आधीन किसी प्रतिवेदन पत्र मतो या कार्यवाहियो के प्रकाशन के विषय में इस प्रकार की कोई कार्यवाही चल सकेगी।[4]

राज्य की विधान-सभा और विधान-परिषद् के सदस्यों को विधान-मण्डल द्वारा समय-समय पर निर्धारित वेतन और भत्ते मिलेंगे।

**विधान-सभा में गणपूर्ति**—विधान सभा का अधिवेशन करने के लिए

१. अनुच्छेद १९० ।
२. अनुच्छेद १९१ (१) ।
३. अनुच्छेद ३२६ ।
४. अनुच्छेद १९४ ।

गणपूर्ति १० सदस्य अथवा सदन के समस्त सदस्यों की सम्पूर्ण संख्या का दशांश, इनमें से जो भी अधिक होगी।[1]

**अध्यक्ष और उपाध्यक्ष**—हर विधान-सभा में एक अध्यक्ष और उपाध्यक्ष होगा। अध्यक्ष और उपाध्यक्ष पद पर काम करने वाले व्यक्ति को जब कभी वह उस विधान सभा का सदस्य नहीं रहेगा तो उसे अपना यह पद भी छोड़ना होगा। विधान सभा का अध्यक्ष या उपाध्यक्ष पद पर कार्य करने वाला सदस्य यदि किसी भी समय अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा जो उपाध्यक्ष को सम्बोधित होगा, यदि वह सदस्य अध्यक्ष है तथा अध्यक्ष को सम्बोधित होगा यदि वह सदस्य उपाध्यक्ष है अपना पद त्याग सकेगा तथा विधान-सभा के तत्कालीन समस्त सदस्यों के बहुमत से पारित संकल्प द्वारा अपने पद से हटाया जा सकेगा किन्तु इस प्रयोजन के हेतु कोई संकल्प तब तक प्रस्तावित न किया जावेगा जब तक कि उस संकल्प के प्रस्तावित करने के अभिप्राय की कम से कम १४ दिन की सूचना न दे दी गई हो।[2] उपाध्यक्ष अध्यक्ष की अनुपस्थिति में कार्य करता है। यदि दोनों अनुपस्थित हों तो सभापति तालिका (Panel of Chairman) का कोई भी सदस्य सभापति बन जाता है। यदि वे भी सब अनुपस्थित हों तो विधान-सभा जिसको भी उचित समझे अध्यक्ष का कार्य करने के लिए निश्चित कर देती है। अध्यक्ष और उपाध्यक्ष दोनों का चुनाव विधान-सभा करती है और ये वेतन भोगी व्यक्ति होते हैं। मध्य प्रदेश विधान-सभा के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री प० कुन्जीलाल दुबे थे। विधान-सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष की स्थिति और शक्तियाँ लोकसभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष की स्थिति और शक्तियों से सभी आवश्यकताओं में पूरी तरह मेल खाती हैं।

## विधान परिषद

**गठन**—किसी राज्य की विधान परिषद् में कम से कम ४० और अधिक से अधिक उस राज्य की विधान सभा की सदस्य संख्या के एक तिहाई तक सदस्य हो सकते हैं। "इसके सदस्यों में अनेक प्रकार के व्यक्ति सम्मिलित होते हैं।" ("It has a diverse personnel."[3]) (क) लगभग एक तिहाई सदस्य तो एक ऐसे निर्वाचक समूह द्वारा चुने जाते हैं जिसके मतदाता ऐसे राज्य की म्युनिसिपैलिटियों, जिला बोर्ड तथा अन्य ऐसे ही अन्य स्थानीय निकायों के सदस्य होते हैं जिन्हें भारतीय संसद निश्चित कर दे, (ख) लगभग बारहवाँ भाग उस राज्य में निवास करने वाले ऐसे व्यक्तियों से मिलकर बने हुए निर्वाचन मण्डलों द्वारा निर्वाचित होगा, जो भारत राज्य क्षेत्र के किसी विश्वविद्यालय के कम से कम तीन वर्ष से स्नातक हैं अथवा जो कम से कम तीन वर्ष से ऐसी अर्हताओं को धारण किये हुए हैं जो संसद निर्मित किसी विधि के द्वारा या अधीन वैसे किसी विश्वविद्यालय के स्नातक की अर्हताओं के तुल्य निश्चित की गई हों, (ग) इसी प्रकार लगभग एक

---

१. अनुच्छेद १८९ (३)। २. अनुच्छेद १७९

३. इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशन, एक सरकारी प्रकाशन, पृष्ठ ६६।

बारहवाँ भाग ऐसे व्यक्तियों से मिलकर बने निर्वाचक मण्डलों द्वारा निर्वाचित होगा जो राज्य के भीतर माध्यमिक पाठशालाओं से अनिम्नतर स्तर की ऐसी शिक्षा संस्थाओं में पढ़ाने के काम में कम से कम तीन वर्ष से लगे हुए हैं जैसे कि संसद निर्मित विधि के द्वारा या अधीन विहित की जायें, (घ) लगभग तृतीयांश राज्य की विधान-सभा के सदस्यों द्वारा ऐसे व्यक्तियों में से निर्वाचित होगा[1] जो सभा के सदस्य नहीं है (ङ) शेष सदस्य राज्यपाल द्वारा साहित्य, विज्ञान, कला, सहकारी आंदोलन और सामाजिक सेवा के बारे में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव रखने वाले व्यक्तियों में से मनोनीत किये जायेंगे।

**विधान परिषदों की अवधि**—राज्य की विधान परिषद् एक स्थायी निकाय है, किन्तु उसके सदस्यों में से यथाशक्ति निकटतम एक तिहाई संसद निर्मित विधि द्वारा बनाये गये तद्विषयक उपबन्धों के अनुसार, प्रत्येक द्वितीय वर्ष की समाप्ति पर यथासम्भव शीघ्र निवृत्त हो जायेंगे।[2]

**राज्य की विधान परिषद् की सदस्यता के लिये अर्हता**—राज्य विधान परिषद् के किसी स्थान की पूर्ति के लिए चुने जाने के लिए कोई व्यक्ति तब अर्ह (qualified) होगा जब तक वह (क) भारत का नागरिक हो, (ख) कम से कम ३० वर्ष की आयु का हो, तथा (ग) ऐसी अन्य अर्हताएँ रखता हो जो कि इस बारे में संसद निर्मित किसी विधि के द्वारा या अधीन विहित की जायें।[3]

**विधान सभा की सदस्यता के लिये अनर्हतायें**—कोई भी व्यक्ति विधान सभा और विधान परिषद् दोनों का साथ-साथ सदस्य नहीं रह सकता। कोई भी व्यक्ति एक साथ दो या दो से अधिक राज्यों के विधान-मण्डलों का सदस्य नहीं रह सकता। यदि विधान परिषद् का कोई सदस्य बिना अनुमति लिये परिषद् की बैठकों में ६० दिन की अवधि के लिये अनुपस्थित हो जाता है तो वह अपनी सदस्यता खो देगा और उसका स्थान रिक्त घोषित कर दिया जायेगा। कोई भी व्यक्ति विधान परिषद् की सदस्यता के लिये अनर्ह हो जाता है यदि (क) वह भारत सरकार के अथवा किसी राज्य की सरकार के अधीन कोई अन्य लाभ का पद (office of profit) धारण किये है, (ख) यदि वह विकृत चित्त है, (ग) यदि वह अनुन्मुक्त दिवालिया (undischarged insolvent) है, (घ) यदि वह भारत का नागरिक नहीं है अथवा किसी विदेशी राज्य की नागरिकता को स्वेच्छा से अर्जित कर चुका है, अथवा किसी विदेशी राज्य के प्रति निष्ठा या अनुषक्ति को अभिस्वीकार किये हुये है, (ङ) यदि वह संसद निर्मित किसी विधि के द्वारा या अधीन इस प्रकार अनर्ह कर दिया गया है।[4]

---

१. अनुच्छेद १७१ (३)।
२. अनुच्छेद १७२ (२)।
३. अनुच्छेद १७३।
४. अनुच्छेद १९१ (१)।

**विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ**—विधान परिषद् के सदस्यों के विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ वैसी ही हैं जैसी कि विधान सभा के सदस्यों के लिये रखी गई हैं।

**विधान परिषद् की गणपूर्ति**—विधान परिषद् का अधिवेशन गठित करने के लिये गणपूर्ति दस सदस्य अथवा सदन के समस्त सदस्यों की सपूर्ण सख्या का दशांश, इसमें से जो भी अधिक हो, होगी।[1]

## सभापति और उपसभापति

हर विधान परिषद् मे एक सभापति और एक उपसभापति होता है। दोनों को वेतन मिलता है और दोनो का परिषद् निर्वाचन करती है। यदि विधान परिषद् के सभापति या उपसभापति के रूप मे पद धारण करने वाला सदस्य (क) यदि परिषद् का सदस्य नही रहता तो अपना पद रिक्त कर देगा। (ख) परिषद् के तत्कालीन समस्त सदस्यो के बहुमत से पारित परिषद् के सकल्प द्वारा अपने पद से हटाया जा सकेगा। परन्तु इस प्रयोजन के लिये किसी सकल्प को प्रस्तावित करने के अभिप्राय की सूचना कम से कम १४ दिन की होनी चाहिये।[2] परिषद् के सभापति व उपसभापति की शक्तियाँ व कृत्य केन्द्र की राज्य सभा (Council of States) सभापति व उपसभापति की शक्तियो व कृत्यो से मिलते जुलते हैं। सभापति की अनुपस्थिति मे उपसभापति सभापति का स्थान ग्रहण करता है। यदि वह भी अनुपस्थित हो तो सभापति तालिका का कोई सदस्य उस स्थान पर बैठाया जाता है। यदि वह भी न हो तो परिषद् द्वारा निर्वाचित कोई अन्य सदस्य इस कार्य के लिये सभापति पद पर कार्य करता है।

**विधान-सभा और विधान-परिषद् के पारस्परिक सम्बन्ध**—राज्य विधान मडल का मुख्य कार्य विधि निर्माण करना होता है। उन राज्यों मे जहाँ विधान मडल का एक ही सदन होता है, वहाँ उस सदन को विधि निर्माण की पूर्ण शक्तियाँ होती हैं। किन्तु जिन राज्यो मे विधान मडल मे २ सदन होते हैं वहाँ स्थिति भिन्न होती है। वहाँ भी विधि निर्माण के कार्य मे विधान सभा का प्रमुख हाथ रहता है यद्यपि विधान परिषद् भी इस कार्य मे हाथ बटाती है। अन्त म विधान सभा के दृष्टिकोण की जीत रहती है।

सविधान मे दो प्रकार के विधेयकों के लिये उपबन्ध है (१) वित्त विधेयक (२) गैर वित्त विधेयक। इन दो प्रकार के विधेयकों के लिये विधान प्रक्रिया भिन्न-भिन्न है। सबसे पहिले हम उन विधेयकों के पारित होने के बारे मे विचार करते है जो वित्त विधेयक नही हैं। कोई विधेयक उस सबद्ध विधान मडल द्वारा पारित समझा जायेगा जब वह या तो बिना सशोधन के या केवल ऐसे सशोधनो

१. अनुच्छेद १८९ (३)।
२. अनुच्छेद १८३।

के सहित, जो दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत कर लिए गए हैं, दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत कर लिया गया हो।[1] ऐसा उस दशा में हो सकता है जब दोनों सदनों के बीच किसी प्रकार का मतभेद न हो। यदि दोनों सदनों में मतभेद हो तो प्रक्रिया भिन्न हो जाती है। यदि एक विधेयक विधान सभा द्वारा पारित होकर विधान परिषद् के पास विचारार्थ भेजा जाता है, तो ३ बातें सम्भव हैं— (१) विधान परिषद् विधेयक को रद्द कर दे (२) परिषद् उस पर ३ महीने तक कोई कार्यवाही न करे (३) परिषद् विधेयक को कुछ ऐसे संशोधन के सहित पारित करे जिन में विधान सभा सहमत न हो। इन तीनों अवस्थाओं में ही विधान सभा को यह छूट है कि वह उसी या किसी बाद के सत्र में उस विधेयक को परिषद् द्वारा सुझाये गये संशोधनों के सहित या रहित पारित कर दे। इसके बाद विधान सभा इस प्रकार पारित किये गये विधेयक को दोबारा विधान परिषद् के पास भेज सकती है। जब इस प्रकार का कोई विधेयक परिषद् के पास भेजा जाता है तो उसके आगे ३ मार्ग होते हैं—(क) परिषद् विधेयक को फिर रद्द कर दे। (ख) परिषद् एक मास तक उस पर कोई कार्यवाही न करे (ग) परिषद् उस विधेयक को ऐसे संशोधनों के साथ पारित करे जिनमें विधान सभा सहमत न हो। इन तीनों ही दशाओं में विधेयक राज्य के विधान मंडल के दोनों सदनों के द्वारा उस रूप में पारित समझा जायेगा जिसमें कि वही सभा द्वारा ऐसे संशोधनों सहित, यदि कोई हो, जो विधान परिषद् द्वारा किये गये या सुझाये गये हों तथा विधान सभा ने स्वीकार कर लिए हों, दूसरी बार पारित किया गया था।[2] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि किसी गैर वित्त विधेयक के बारे में विधान सभा से मतभेद होने पर विधान-परिषद् किसी विधेयक में केवल ४ मास की देरी लगा सकती है परन्तु इसका पारित होना नहीं रोक सकती।

वित्त विधेयकों के बारे में भिन्न प्रक्रिया है। वित्त विधेयक विधान परिषद् में पुनः स्थापित नहीं होता है।[3] इसी बात से विधान परिषद् का घटा हुआ दर्जा सिद्ध होता है। वित्त विधेयक विधान सभा में पुनः स्थापित किया जाता है विधान सभा द्वारा पारित होकर विधान परिषद में सिफारिश के लिये भेजा जाता है। विधान-परिषद १४ दिन के अन्दर अपनी सिफारिश कर सकती है। विधान सभा परिषद् की सभी या किसी भी सिफारिश को स्वीकार कर सकती है और रद्द कर सकती है। यदि विधान सभा किसी वित्त विधेयक के बारे में परिषद् की सिफारिशों को स्वीकार नहीं करती है तो विधान सभा द्वारा पारित रूप में ऐसा वित्त विधेयक दोनों सदनों द्वारा पारित किया हुआ समझा जाता है। यदि परिषद् उक्त विधेयक को उपरोक्त १४ दिन[4] की अवधि में वापिस न करे तो उस अवधि के समाप्त होने पर पारित हुआ समझ लिया जाता है। इस प्रकार किसी वित्त विधेयक को विधान परिषद् केवल

---

१. अनुच्छेद १९६ (२)।
२. अनुच्छेद १९७।
३. अनुच्छेद १९८ (१)। ४. अनुच्छेद १९८ (४)।

१४ दिन के लिये रोके रख सकती है। कोई विधेयक वित्त विधेयक उस समय माना जाता है जब यह संविधान में बताये गये कुछ मामलों से सम्बन्ध रखता है। यदि किसी विधेयक के वित्त विधेयक होने या न होने के बारे में कोई मतभेद हो तो इस सम्बन्ध में विधान सभा के अध्यक्ष का विनिश्चय अन्तिम होगा। जब कोई वित्त विधेयक विधान परिषद् को भेजा जाता है तब उसके साथ एक प्रमाण पत्र अध्यक्ष इस आशय के साथ भेजता है कि भेजा जाने वाला विधेयक वित्त विधेयक है। दोनों सदनों द्वारा पारित होने पर विधेयक राज्यपाल के पास अनुमति के लिये भेजे जाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विधान सभाओं के मुकाबले में विधान परिषद् बहुत कमजोर है और घटिया दर्जे की निकाय (bodies) हैं। इन्हें किसी प्रकार भी समान या प्रतिद्वन्द्वी निकाय नहीं कहा जा सकता। परिषद् न तो सभा के अधिकार की अवज्ञा कर सकती है और न उसका विरोध कर सकती है। हर मामले में परिषदों को सभाओं के आगे झुकना पड़ता है। *कानून बनाने के सभी मामलों में सभाओं का निश्चय अन्तिम रहता है।* एक और बात जिसने परिषदों को कमजोर बना दिया है यह है कि किसी राज्य की विधान सभा जब भी वहाँ की परिषद् को असुविधाजनक या असह्य समझे समाप्त कर सकती है। अभी तक कोई परिषद् इस प्रकार समाप्त नहीं की गई है। कारण मालूम करने के लिए दूर जाने की जरूरत नहीं। वे अपनी मर्यादाओं के अन्दर रहती आई हैं। उन्होंने विधान सभाओं की इच्छाओं का कभी उल्लंघन नहीं किया है। ये परिषदें राज्य के अवकाश प्राप्त राजनीतिज्ञों या शासक दल के चुनाव में हारे हुए उम्मीदवारों के लिये अवसर देती हैं। ये शासक दल के निहित हितों (vested interest) का गढ़ होती है किन्तु ये पूर्णतया गुणहीन नहीं कही जा सकती। यदि अनुभवी और परखे हुए कुशल नेताओं को इन परिषदों में आने दिया जावे तो *उनके द्वारा वाद-विवाद का मान ऊँचा होता है और प्रशासन भी* सुधरता है। वे ठोस सुझाव भी रख सकते हैं। जिस समय विधान सभा कार्यभार से दबी हुई हो या आवश्यक काम में लगी हो तो उस समय परिषद् महत्वपूर्ण और लाभदायक कानूनी प्रश्नों पर बहस कर सकती है। दुर्भाग्यवश राज्यों के इस प्रकार के सभी योग्य व्यक्ति केन्द्रीय राज्य सभा में पहुँच जाते हैं और राज्यों की विधान परिषदों में स्थान नहीं पाते। अभी ये देखना शेष है कि इन परिषदों से समाज को या सरकार को कोई लाभ पहुँचा है या नहीं।

**राज्य विधान मण्डल की क्रिया**—राज्यों के विधान मण्डल केवल कानून ही नहीं बनाते हैं वे प्रशासन की समस्याओं पर बहस भी कर सकते हैं। वे प्रशासन की समस्याओं की जाँच करने के लिये समितियाँ भी नियुक्त कर सकते हैं। सदस्यगण प्रशासन के ब्यौरे के बारे में प्रश्न भी कर सकते हैं। *प्रश्नों का मुख्य उद्देश्य जानकारी प्राप्त करना होता है* किन्तु कभी-कभी इनके द्वारा शासन के बुरे कामों का भंडाफोड़ भी होता रहता है। विधान सभा राज्य के कोष पर नियन्त्रण रखती है। सरकार केवल विधान सभा के प्रति ही उत्तरदायी होती है। इस कारण विधान सभा ही वास्तविक प्रभावशाली सदन होता है।

अध्याय २८

# संघ और इकाइयों के पारस्परिक सम्बन्ध

**विधिकारी सम्बन्ध**—संविधान के ग्यारहवें भाग में संघ और इकाइयों के पारस्परिक सम्बन्धों का वर्णन है। इस भाग का पहला अध्याय विधिकारी शक्तियों के विभाजन के सम्बन्ध में है। संविधान में तीन सूचियों की व्यवस्था है, संघ सरकार की शक्तियाँ, संघ सूची में दी हुई हैं इसमें ९७ विषय सम्मिलित हैं। राज्य सरकारों की शक्तियाँ संघ सूची में दी हुई हैं इसमें ६६ विषय सम्मिलित हैं। कुछ शक्तियाँ ऐसी हैं जिन पर संघ और इकाई दोनों अपने-अपने कानून बना सकती हैं। यह समवर्ती सूची कहलाती है। इसके अन्तर्गत ४७ विषय आते हैं। अवशिष्ट शक्तियां (residuary powers) कनाडा की तरह संघ सरकार में निहित है। अमेरिका में ऐसा नहीं है। इन तीनों सूचियों के मुख्य-मुख्य विषय निम्नलिखित हैं :—

संघ सूची :

(१) रक्षा।
(२) विदेशी मामले।
(३) युद्ध और शान्ति।
(४) संयुक्त राष्ट्र संघ।
(५) रेलें।
(६) समुद्री जहाज (shipping)।
(७) डाक व तार।
(८) विदेशी व्यापार तथा आयात व निर्यात कर।
(९) अन्तर्राज्यिक व्यापार और वाणिज्य।
(१०) महाजनी कारोबार।
(११) बीमा।
(१२) तेल क्षेत्र।
(१३) खनिज क्षेत्र।
(१४) नमक।
(१५) अफीम।
(१६) जनसंख्या।
(१७) सार्वजनिक सेवा आयोग इत्यादि।

राज्य सूची :

(१) पुलिस।
(२) न्याय।

(३) जेल।
(४) स्थानीय शासन।
(५) सार्वजनिक स्वास्थ्य।
(६) शिक्षा।
(७) सड़कें।
(८) सिंचाई।
(९) कृषि।
(१०) मनोरंजन आदि।
(११) राज्य के अन्तर्गत होने वाला व्यापार।

समवर्ती सूची

(१) दण्ड-विधि।
(२) अपराधिक प्रक्रिया।
(३) व्यवहारिक प्रक्रिया।
(४) विवाह और विच्छेद।
(५) आर्थिक और सामाजिक आयोजन।
(६) श्रम-कल्याण।
(७) कारखाने।
(८) बिजली।
(९) समाचार पत्र आदि।
(१०) धार्मिक और धर्मार्थ संस्थाएँ।

यदि राज्य परिषद् अपने उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से यह प्रस्ताव पास कर दे कि राष्ट्रीय हित की दृष्टि से संसद द्वारा किसी ऐसे विषय पर कानून बनाना इष्टकर या आवश्यक है जो इस समय राज्य सूची में हो तो संसद का उस विषय पर कानून बनाना वैध हो जायगा।[1] इस प्रकार का बना कानून पहली बार केवल एक वर्ष के लिए लागू रहेगा। आपातकाल में संसद को राज्य सूची में सम्मिलित किसी भी विषय पर कानून बनाने का अधिकार हो जाता है।[2] यदि दो या अधिक राज्य किसी राज्य सूची में सम्मिलित विषय पर संसद द्वारा कानून बनवाने की इच्छा प्रगट करें तो संसद के लिये ऐसा करना वैध होगा।[3] संसद को किसी सन्धि, करार या दूसरे देश के साथ किये गये वचनों की पूर्ति के लिये कानून बनाने की शक्ति है तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों, संगठनों या इस प्रकार के अन्य निकायों में किये गये किसी विनिश्चय के परिपालन के लिये भारत के सम्पूर्ण राज्य क्षेत्र या उसके किसी भाग के लिये कोई विधि बनाने की शक्ति है।[4]

१. अनुच्छेद २४९ (१)
२. अनुच्छेद २५० (१)
(३) अनुच्छेद, २५२ (१)
(४) अनुच्छेद, २५३

**प्रशासकीय सम्बन्ध**—संघ शासन के सुचारु रूप से संचालन के लिए यह परम आवश्यक है कि केन्द्र और राज्य के बीच अच्छे सम्बन्ध रहें। संविधान में इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कुछ उपबन्ध रखे गये हैं। संविधान के अनुच्छेद २५६ में यह लिखा है कि "हर राज्य की कार्यकारी शक्ति का इस प्रकार प्रयोग किया जाये कि वह संसद द्वारा बनाये और उस राज्य के प्रचलित कानूनों के अनुकूल हो और संघ सरकार की कार्यकारी शक्ति राज्य को ऐसे निर्देश दे जो भारत सरकार के विचार में इस उद्देश्य के लिए आवश्यक हों।" आगे चलकर अनुच्छेद २५७ के अनुसार इकाइयों की सरकारों को अपने अधिकार को इस तरह प्रयोग करने से रोका गया है जिससे संघ सरकार की शक्ति के प्रयोग में अड़चन न पड़े। "ये दो अनुच्छेद निश्चयात्मक और निषेधात्मक दोनों तरह से राज्य सरकारों के कार्यकारी प्राधिकार को सीमित करते हैं और संघ सरकार को अपने प्रशासकीय कार्यों को चलाने में इकाइयों की सरकारों की ओर से होने वाली विघ्न बाधाओं से छूट देते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह बहुत व्यापक गुंजाइश (Scope) है और दूसरे प्रचलित संघ संविधानों के कानूनी उपबन्धों की तुलना में असाधारण केन्द्रीय प्राधिकार है।"[1] केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों को राष्ट्रीय और सामरिक महत्व के यातायात के साधनों के निर्माण और संचालन के सम्बन्ध में निर्देशन भी दे सकती है। केन्द्रीय सरकार राज्य सरकार को उसके अधिकार क्षेत्र में आई रेल की लाइन की रक्षा के लिए आवश्यक कार्यवाही करने के लिए भी निर्देश कर सकती है। यदि इस प्रकार के निर्देशों के फलस्वरूप राज्य सरकारों पर कुछ व्यय भार पड़ता है तो उसके लिये भारत सरकार करार द्वारा निश्चित की गई धन-राशि राज्य को देगी। यदि भारत सरकार और राज्य सरकार में कोई समझौता न हो सके तो यह धन-राशि एक ऐसे पंच द्वारा निश्चित की जायगी जो भारत के मुख्य न्यायाधिपति द्वारा नियुक्त किया जायेगा।[2]

राष्ट्रपति किसी राज्य सरकार की सहमति से उस सरकार को या उसके अधिकारियों को कुछ ऐसे काम सौंप सकता है जिनकी कार्यकारी शक्ति संघ सरकार में निहित हो। ऐसे कार्य को चलाने में हुए अतिरिक्त व्यय को केन्द्रीय सरकार सहन करेगी। संविधान में यह भी लिखा है कि भारत सरकार राज्य सरकार से करार करके किसी राज्य सरकार के अधिकार क्षेत्र के कार्यकारी, विधिकारी या न्यायकारी कार्यों का संचालन अपने ऊपर ले सकती है। "केन्द्रीय सरकार में इतनी व्यापक शक्तियों को निहित कर देना भले ही वह राज्य सरकार की रजामन्दी से ही हो राज्य सरकारों के बहुत से स्थायित्व को ले लेना है और उनके पास केवल एक स्थानीय निकाय की तरह के हस्तान्तरित अधिकार की हैसियत से अधिक और कुछ

१. डा० एम० शर्मा : इंडियन जरनल ऑफ पोलिटिकल साइंस, जुलाई-सितम्बर १९५०, पृष्ठ ४७

२. अनुच्छेद २५७ (४)

नहीं रहता।"[1] यह एक अतिवादी (extremist) वक्तव्य है। यदि एक राज्य सरकार अपनी कुछ शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार को देती है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि वह अपने स्वायत्त का समर्पण कर रही है। संविधान के अनुच्छेद २६० में यह भी लिखा है कि भारत सरकार किसी ऐसे राज्य के साथ भी जो भारत सरकार के अधिकार क्षेत्र से बाहर है करार द्वारा उस सरकार का कोई कार्यकारी, विधिकारी या न्यायकारी कार्य अपने ऊपर ले सकती है।

संविधान में यह भी लिखा है कि राष्ट्रपति द्वारा एक अन्तर्राज्यीय परिषद्[2] स्थापित की जावे जो राज्यों के पारस्परिक झगड़ों की जाँच करे और राज्यों तथा संघ के सामान्य हितों की वृद्धि करे।

राज्यों में समन्वय—राज्यों में परस्पर समन्वय रखने के लिए राष्ट्रपति को एक अन्तर्राज्य परिषद् नियुक्त करने का अधिकार प्राप्त है। इस परिषद् के कृत्य इस प्रकार हैं—(क) राज्यों के बीच जो विवाद हो चुके हो उनकी जाँच करना और उन पर मन्त्रणा देना, (ख) कुछ या सब राज्यों के, अथवा संघ और एक या अधिक राज्यों के पारस्परिक हित से सम्बद्ध विषयों का अनुसंधान और उनकी चर्चा करना, अथवा (ग) ऐसे किसी विषय पर सिफारिश करना और विशेष कर उस विषय के बारे में, नीति और कार्यवाही के अधिकतर अच्छे समन्वय के हेतु सिफारिश करना।[3]

क्षेत्रीय परिषदें (Zonal Councils)—राज्य पुनर्गठन अधिनियम १९५६ के अनुसार पाँच क्षेत्र १ नवम्बर सन् १९५६ से बनाये गये हैं। इनका उद्देश्य अन्तर्राज्य सहयोग के लिए अन्तर्राज्य झगड़ों के निपटारे के लिए तथा अन्तर्राज्य विकास योजनाओं को प्रोत्साहन देने के लिए प्लेटफार्म प्राप्त करना है। ये परिषद् इन मामलों में सम्बन्धित सरकारों को सलाह देंगी। इन परिषदों के अधिकार क्षेत्र निम्नलिखित हैं[4] :—

(अ) केन्द्रीय क्षेत्र : जो उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश से मिलकर बना है।

(ब) उत्तरी क्षेत्र : जो पंजाब, राजस्थान, जम्मू और काश्मीर तथा दिल्ली और हिमाचल प्रदेश के संघ राज्य क्षेत्रों से मिलकर बना है।

(स) पूर्वी क्षेत्र : जो बिहार, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा और आसाम के राज्यों तथा मनीपुर और त्रिपुरा के संघ राज्य क्षेत्रों से मिलकर बना है।

(द) पश्चिमी क्षेत्र : जो गुजरात और महाराष्ट्र राज्यों से मिलकर बना है, तथा

(ई) दक्षिणी क्षेत्र : जो आन्ध्र प्रदेश, मद्रास, मैसूर और केरल राज्यों से मिलकर बना है।

---

१. बी० एम० शर्मा - दी इण्डियन जरनल आफ पोलिटिकल साइन्स जुलाई-सितम्बर १९५०, पृष्ठ ५०-५१।

२. अनुच्छेद २६३। ३. अनुच्छेद २६३।

४. राज्य पुनर्गठन अधिनियम १९५६ का अनुच्छेद १५ और बम्बई पुनर्गठन अधिनियम १९६० का अनुच्छेद ८६।

राष्ट्रपति ने भारत के गृहमंत्री को इन सभी क्षेत्रीय परिषदों का सामान्य सभापति मनोनीत कर दिया है। हर क्षेत्रीय परिषद् में (अ) सभापति, (ब) हर राज्य का मुख्य मन्त्री तथा अन्य दो मन्त्री, (स) जहाँ कहीं किसी क्षेत्र में कोई संघ राज्य क्षेत्र सम्मिलित हो तो हर ऐसे संघ राज्य क्षेत्र के दो मन्त्री जिन्हें राष्ट्रपति मनोनीत करता है (द) और पूर्वीय क्षेत्र में आसाम की जनजातियों के क्षेत्र के लिए आसाम के राज्यपाल उसके सदस्य होते हैं।[1] किसी क्षेत्र में जो राज्यों के मुख्यमन्त्री होंगे वे बारी-बारी से एक-एक साल के लिये सम्बन्धित क्षेत्रीय परिषद् के उपसभापति का कार्य करेंगे। हर क्षेत्र की क्षेत्रीय परिषद् में निम्नलिखित व्यक्ति सलाहकार के तौर पर होंगे —

(अ) योजना आयोग द्वारा मनोनीत एक व्यक्ति।

(ब) क्षेत्र में सम्मिलित राज्यों में से हर एक की सरकार का मुख्य सचिव। तथा (स) क्षेत्र में सम्मिलित हर राज्य की सरकार द्वारा मनोनीत एक विकास आयुक्त या अन्य कोई अधिकारी। हर क्षेत्र की क्षेत्रीय परिषद् का अधिवेशन बारी-बारी से सभी राज्यों में होगा। कोई क्षेत्रीय परिषद् आवश्यकतानुसार किसी उद्देश्य के लिए अपने सदस्यों में से या सलाहकारों में से मिला-जुलाकर उपसमितियाँ भी नियुक्त कर सकती है। हर क्षेत्रीय परिषद् का अपना सचिवालय भी होगा जिसमें एक सचिव, उपसचिव तथा सभापति की इच्छानुसार अन्य अधिकारी नियुक्त किये जावेंगे। क्षेत्र के अन्तर्गत सब राज्यों के मुख्य सचिव बारी-बारी से एक वर्ष के लिए परिषद् के सचिव का कार्य किया करेंगे। हर क्षेत्रीय परिषद् एक सलाहकार निकाय होगी और सम्बन्धित राज्यों या संघ राज्य क्षेत्रों की जिन मामलों में सामान्य दिलचस्पी होगी उन पर बहस करेगी और केन्द्रीय सरकार को सलाह देगी और राज्य सरकारों को सलाह देगी कि उन मामलों में उन्हें क्या करना चाहिए। विशेषकर एक क्षेत्रीय परिषद् आर्थिक या सामाजिक योजनाओं, सीमा के झगड़ों, भाषागत अल्पमतों, अन्तर्राज्य परिवहन या राज्यों के पुनर्गठन से सम्बन्धित मामलों पर बहस कर सकती है और सम्बन्धित दलों की उचित सिफारिशें कर सकती है।[2]

**वित्तीय सम्बन्ध**—संविधान में केन्द्र और इकाइयों में आर्थिक साधनों के विभाजन की मोटी रूपरेखा दी हुई है किन्तु ब्यौरेवार बँटवारे का कार्य उस वित्त आयोग पर छोड़ दिया गया है जो संविधान के आरम्भ होने से दो वर्ष के अन्दर नियुक्त हो जाना चाहिए। नये संविधान में केन्द्रीय सरकार को राजस्व प्राप्त करने के पर्याप्त साधन प्रदान कर दिये गये हैं। "राजस्व का केन्द्र व इकाइयों के बीच बँटवारा करने में केन्द्र के साथ बहुत अधिक उदारता का व्यवहार किया गया है।"[3]

---

१. राज्य पुनर्गठन अधिनियम १९५६ का अनुच्छेद १६।

२. राज्य पुनर्गठन अधिनियम १९५६ का अनुच्छेद २१।

३. डी० एन० शर्मा : दी इण्डियन जरनल आफ पोलिटिकल साइन्स। जुलाई-सितम्बर १९५० ई०, पृष्ठ ५२।

फिर भी राज्य अपनी सर्वजनहितकारी योजनाओं को पूर्ण करने में केन्द्र से सहायता माँग सकते हैं। "कर लगाने की शक्तियाँ वर्ग वार सूचियों, प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष दोनों ही प्रकार के करों के लिये, अलग से निश्चित हैं।"[1] अनुच्छेद २६९ के अनुसार कुछ कर, जिनमें उत्तराधिकार व सम्पदा शुल्क कर भी सम्मिलित हैं केन्द्र द्वारा उगाहे जाते हैं पर वे राज्यों को दे दिये जाते हैं। अनुच्छेद २७० के अनुसार कृषि भूमिकर को छोड़ और आयकर केन्द्रीय सरकार उगाहा करती है और फिर यह रकम केन्द्र और राज्यों में बँट जाता है। राज्यों को कुछ अनुदान अनुच्छेद २७३ के अनुसार मिलते हैं और अनुच्छेद २७५ में उल्लिखित प्रयोजनों तथा विकास योजनाओं के लिये, आदिम जातियों के कल्याण के लिये या प्रशासन स्तर को ऊँचा उठाने के लिये भी केन्द्रीय सरकार राज्य सरकार की सहायता करती है।

**आपातकालीन शक्तियाँ**—आपात काल में केन्द्र राज्य सरकार को उसके विधान मण्डल के लिये और उसके कार्यकारी अधिकार के प्रयोग के लिये कैसे भी निर्देश (Directives) जारी कर सकता है और केन्द्र का अधिकार क्षेत्र सारी राज्य सूची पर छा सकता है। केन्द्र और राज्यों के बीच राजस्व के विभाजन के प्रावधान भी राष्ट्रपति द्वारा संशोधित किये जा सकते हैं। आपातकाल में यदि राज्य सरकार का शासन विफल हो जाये तो राष्ट्रपति केन्द्र को राज्य का पूर्ण या आंशिक शासनभार सम्भालने का अधिकार दे सकता है। किन्तु इन आपातकालीन शक्तियों का उद्देश्य राज्यों के दिन प्रतिदिन के शासन के कार्यों में हस्तक्षेप करना नहीं है।



1. सर आइवर जेनिंग्स : सम कैरेक्टरिस्टिक्स ऑफ दी इंडियन कॉन्स्टिट्यूशन, पृष्ठ ७२।

## अध्याय २६

# उच्चतम न्यायालय

संघ संविधान के लिए एक संघ न्यायालय आवश्यक होता है। सभी संघ देशों में हम संघ न्यायालय पाते हैं। संघ परस्पर विरोधी हितों का समझौता होता है। सुप्रीम कोर्ट का यह कर्तव्य है कि वह संघ सरकार और इकाइयों के बीच होने वाले झगड़ों का निपटारा करे। इस प्रकार यह संविधान के संरक्षक का काम करता है। यह नागरिकों के अधिकारों और स्वतन्त्रता की भी रक्षा करता है। यह न्यायालय संविधान का निर्वाचन भी करता है। यह भी आशा की जाती है कि इस प्रकार का न्यायालय पूर्णतया स्वतन्त्र हो, क्योंकि तभी यह अपने कर्तव्य का निष्पक्षता से पालन कर सकता है।

यह स्वाभाविक ही है कि भारतीय संविधान में ऐसे उच्चतम न्यायालय का प्रबन्ध किया गया है। २८ जनवरी १९५० को सुप्रीम कोर्ट के चीफ जस्टिस हीरालाल कनिया ने इसका उद्घाटन किया था। अपने उद्घाटन भाषण में उन्होंने कहा था "जैसा कि दूसरे लोकतन्त्र देशों के ऐसे न्यायालयों के कार्य से सिद्ध होता है, एक स्वतन्त्र सुप्रीम कोर्ट संवैधानिक इतिहास और भारतीय संघ की उन्नति पर व्यापक और गहरा प्रभाव डालेगा।"[1] श्री एम० सी० सीतलवाड़ महान्यायवादी ने उद्घाटन के समय न्यायाधीशों का स्वागत करते हुए उस बड़े उत्तरदायित्व का उल्लेख किया जो नये संविधान के द्वारा सुप्रीम कोर्ट पर आ गया था और कहा कि इस न्यायालय की शक्तियाँ और क्षेत्राधिकार अपनी प्रकृति और विस्तार की दृष्टि से राष्ट्रमण्डल के किसी भी देश या अमेरिका के सुप्रीम कोर्ट से भी कहीं अधिक थे।[2] बख्शी टेकचन्द ने रेडियो से २२ जनवरी सन् १९५० को बोलते हुए कहा था कि "भारत में सुप्रीम कोर्ट की स्थापना एक प्राचीन देश के इतिहास में एक नये युग का आरम्भ करने वाली घटना है"[3] उन्होंने आगे चलकर कहा कि इस न्यायालय को "इतनी व्यापक शक्तियाँ सौंपी गई हैं जितनी इससे पहले कभी किसी न्यायालय को नहीं सौंपी गई थीं और इसीलिये इसकी जिम्मेदारियाँ भी इतनी ही भारी कष्टप्रद हैं।" उन्होंने सुप्रीम कोर्ट को विभिन्न विधान मण्डलों के बीच काम करने वाला सन्तुलन का पहिया (balance wheel) कहा है।

भारतीय उच्चतम न्यायालय को अधिक शक्तियाँ होते हुए भी वह अमेरिका के सुप्रीम कोर्ट की तरह शक्तिशाली नहीं है क्योंकि संसद इसके क्षेत्र को बढ़ा व घटा सकती है। इस कोर्ट को बनाने का मन्तव्य यह है कि सरकारी अधिकारियों

१. दी हिन्दुस्तान टाइम्स, ३० जनवरी सन् १९५०।
२. वही।
३. वही, २८ जनवरी १९५०।

की मनमानी (executive arbitrariness) को और संविधान की अवहेलना को रोका जाय। इसका कार्य संसद के बनाये हुये कानूनों को रोकना नहीं है। यदि वह न्यायालय संसद की बनाई हुई सामाजिक नीतियों पर रोक लगावेगा तो संविधान में संशोधन करके इसकी शक्तियों को कम किया जा सकता है।[1] यह उल्लेखनीय बात है कि भारतीय संविधान में संशोधन आसानी से हो सकता है जबकि अमेरिका में संशोधन होना कठिन है। प्रो० नोरमन डी० पामर का कथन है, "भारत के संविधान की रक्षा करने में यहाँ का उच्चतम न्यायालय अमेरिका के सुप्रीम कोर्ट से कम शक्तिशाली है। भारतीय संविधान के पहले (१९५१) व चौथे (१९५५) संशोधनों ने इस न्यायालय के भूमि सुधार व सामाजिक योजनाओं के क्षेत्र में इसकी शक्तियाँ कम कर दी हैं। इतना होते हुए भी यह संवैधानिक सरकार का एक शक्तिशाली स्तम्भ (a major bulwark of constitutional govt ) बन गया है। यद्यपि इसने राजनैतिक विषयों पर अपना मत नहीं दिया है फिर भी इसने अपनी न्यायिक पुनर्विचार (judical review) की शक्तियों का पूरा उपयोग किया है।"[2]

**न्यायालय की रचना और न्यायाधीशों की नियुक्ति**—इस न्यायालय में एक चीफ जस्टिस और १० दूसरे जज हैं। सुप्रीम कोर्ट का प्रत्येक जज राष्ट्रपति द्वारा सुप्रीम कोर्ट के और राज्यों के हाईकोर्टों के उन जजों से परामर्श करने के बाद नियुक्त किया जायेगा जिनसे परामर्श करना वह उचित समझे। मुख्य न्यायाधिपति के अतिरिक्त दूसरे जजों की नियुक्ति करते समय भारत के चीफ जस्टिस से अवश्य परामर्श किया जावेगा। सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधिपति पद का पात्र होने के लिए एक व्यक्ति को भारत (१) का नागरिक होना चाहिए और (२) कम से कम दस वर्ष तक किसी हाईकोर्ट का एडवोकेट होना चाहिए या पाँच साल तक किसी हाईकोर्ट का जज रहा हो या (३) राष्ट्रपति के विचार में एक पारंगत विधिवेत्ता (jurist) होना चाहिये। प्रत्येक जज के कार्यकाल की सुरक्षा की गारन्टी दी जाती है। वह ६५ वर्ष की आयु का होने तक अपने पद रह सकता है। सुप्रीम कोर्ट का कोई जज अपने पद से तभी हटाया जा सकता है जब संसद के दोनों सदनों की प्रार्थना पर राष्ट्रपति उसे पृथक् करने की आज्ञा जारी करे। सदन इस प्रकार का प्रस्ताव तभी पास कर सकते है जब सदन की कुल सदस्य संख्या के बहुमत और सदन में उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से स्वीकृत किया जावे और उसी सत्र में राष्ट्रपति को पेश किया जावे। ऐसा प्रस्ताव सिद्धकदाचार और अयोग्यता के आधार पर ही रखा जा सकता है।[3] कोई व्यक्ति जो एक बार सुप्रीम कोर्ट का जज रह चुका हो, भारत की किसी अदालत में वकालत नहीं कर सकता। ऐसा जजों की निष्पक्षता और स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिए किया गया है।

---

१. एन० श्रीनिवासन् : डेमोक्रेटिक गवर्नमेंट इन इण्डिया, पृष्ठ २६१।
२. मेजर गवर्नमेंट्स आफ एशिया, पृ० २६६।
३. अनुच्छेद १२४ (४)।

अपने कार्यकाल में चीफ जस्टिस के लिये मुफ्त रहने का मकान और ५ हजार रु० वेतन तथा अन्य सब जजों को मुफ्त मकान और ४ हजार रु० मासिक वेतन मिलेगा। एक बार नियुक्त हो जाने पर ये रियायतें, अधिकार और भत्ते उनके कार्यकाल में कम नहीं किये जा सकते।[1]

यदि किसी समय सुप्रीम कोर्ट में उसका कार्य आरम्भ करने या जारी रखने के लिये कोरम कम हो जाय तो चीफ जस्टिस राष्ट्रपति की अनुमति से हाईकोर्ट के किसी अवकाश प्राप्त जज को थोड़ी अवधि के लिए जज नियुक्त कर सकता है। राष्ट्रपति की अनुमति से वह अवकाश प्राप्त जजों को थोड़े काल के लिए अस्थायी जज (adhoc judge) बना सकता है। ऐसे समय में उन्हें उस पद के क्षेत्राधिकारी की सभी शक्तियां और रियायतें मिलेंगी। राष्ट्रपति चीफ जस्टिस की अनुपस्थिति में सुप्रीम कोर्ट के किसी अन्य जज को कार्यवाहक चीफ जस्टिस नियुक्त कर सकता है।

**सुप्रीम कोर्ट का कार्य स्थान**—सुप्रीम कोर्ट साधारणतया दिल्ली में अपनी बैठक करेगा। इसकी बैठकें अन्य ऐसे स्थानों पर भी समय-समय पर जिन्हें चीफ जस्टिस राष्ट्रपति की अनुमति से निश्चित करें, हो सकती हैं।

**सुप्रीम कोर्ट का क्षेत्राधिकार**—सुप्रीम कोर्ट के तीन प्रकार के क्षेत्राधिकार है :—

(१) प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार।
(२) अपील सम्बन्धी क्षेत्राधिकार।
(३) परामर्श सम्बन्धी क्षेत्राधिकार।

**प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार**—अनुच्छेद १३१ में सुप्रीम कोर्ट के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार की विवेचना है। सुप्रीम कोर्ट को हर किसी निम्नलिखित प्रकार के मामलों में प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार प्राप्त है :—

(अ) भारत सरकार और एक या अधिक राज्य सरकारों के बीच होने वाले झगड़ों में।

(ब) भारत सरकार और एक या एक से अधिक राज्य सरकार एक ओर और एक या एक से अधिक राज्य सरकार दूसरी ओर जिस झगड़े में हो वह।

(स) दो या दो से अधिक राज्यों के बीच होने वाले झगड़े।

सन्धियों के बारे में भारतीय रियासतों के साथ होने वाले विवाद इसके क्षेत्राधिकार से बाहर हैं। एक और महत्वपूर्ण काम उन मूल अधिकारों को लागू करना है, जो संविधान के तीसरे भाग के द्वारा हर नागरिक को दिये गये हैं। अनुच्छेद ३२ में हर नागरिक को यह अधिकार दिया गया है कि वह १४ से ३१ तक के अनुच्छेदों में उसे दिये गए मूल अधिकारों को प्राप्त करने के लिए सुप्रीम कोर्ट का दरवाजा खटखटा सकता है क्योंकि संविधान ने इसके लिए न्यायिक कार्यवाही का अधिकार

---

१. अनुच्छेद १२५ (२)

उसे दिया है संविधान के प्रारम्भ होने के समय प्रचलित सभी कानून अवैध माने जायेंगे यदि वे संविधान के तीसरे भाग के प्रतिबन्धों के प्रतिकूल हों। संघ और राज्यों के विधान-मण्डल मूल अधिकारों का अतिक्रमण नहीं कर सकते। यदि वे ऐसा करेंगे तो सुप्रीम कोर्ट उनके कार्य को अवैध घोषित कर देगा। सुप्रीम कोर्ट इन मूल अधिकारों को मनवाने के लिये ऐसे निर्देश, आदेश या लेख जिनके अन्तर्गत बन्दी प्रत्यक्षीकरण परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार पृच्छा और उत्प्रेषण के लेख आदि (writ of habeas corpus, mandamus, prohibition, quo-warranto and certiorari) जारी करने का अधिकार रखता है।

**अपील सम्बन्धी क्षेत्राधिकार**—सुप्रीम कोर्ट को तीन प्रकार के मामलों में अपीलें सुनने का अधिकार है। सांविधानिक, व्यवहारिक और आपराधिक। सांविधानिक मामलों में तभी अपील हो सकती है जब हाईकोर्ट यह प्रमाणित कर दे कि विचाराधीन मामलों में कोई सारवान विधि प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है। सुप्रीम कोर्ट अपनी तरफ से अपील करने के लिए विशेष आज्ञा भी दे सकता है यदि उसे यह विश्वास हो जाय कि विचाराधीन मामले में ऐसा कोई प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है।[1] व्यवहारिक मामलों में सुप्रीम कोर्ट में तब अपील हो सकती है जब हाईकोर्ट यह प्रमाणित कर दे कि विचाराधीन मामले की मालियत २०,००० रु० से कम की नहीं है।[2] फौजदारी मामलों में उस समय अपील हो सकती है जब हाईकोर्ट ने (१) अपील करने पर किसी अभियुक्त की मुक्ति की आज्ञा को बदल दिया हो और उसे मृत्यु दण्ड दिया हो। (२) हाईकोर्ट ने अपने अधीन किसी न्यायालय से मुकद्दमे को जाँच के लिए हटाया हो और अभियुक्त को प्राण दण्ड दिया हो या (३) यह प्रमाणित किया हो कि यह मामला सुप्रीम कोर्ट में अपील करने के लिए एक उपयुक्त मामला है।[3]

आपराधिक मामलों में संसद सुप्रीम कोर्ट के क्षेत्राधिकार का विस्तार कर सकती है। सुप्रीम कोर्ट को सभी न्यायालयों के ऊपर पुनर्विचार का एक व्यापक क्षेत्राधिकार दिया गया है।[4] सुप्रीम कोर्ट यदि चाहे तो देश के किसी भी न्यायालय के फैसले के विरुद्ध अपील करने की विशेष आज्ञा दे सकता है।[5] इस प्रकार की शक्तियाँ सैनिक न्यायालयों पर लागू नहीं होती हैं। संसद सुप्रीम कोर्ट के क्षेत्राधिकार को अनेक विधियों से विस्तृत कर सकती है।

**परामर्श सम्बन्धी क्षेत्राधिकार**—इस न्यायालय को परामर्श सम्बन्धी क्षेत्राधिकार भी प्राप्त है। यदि किसी समय राष्ट्रपति को यह जान पड़े कि कोई

---

१. अनुच्छेद १३२।
२. अनुच्छेद १३३ (१ अ)।
३. अनुच्छेद १३४।
४. बसु कॉन्स्टीट्यूशन, पृ० ८०
५. अनुच्छेद १३६ (१)

कानून या तथ्य (law or fact) का ऐसा प्रश्न आ गया है जो ऐसी प्रकृति का और ऐसे सार्वजनिक महत्व का है कि उस पर सुप्रीम कोर्ट का मत जानना आवश्यक है तो वह उस प्रश्न को सुप्रीम कोर्ट के पास विचार के लिए भेज देगा। और सुप्रीम कोर्ट उसके बारे में ऐसी पूछताछ करने के बाद जिसे वह आवश्यक समझे उस प्रश्न पर अपनी राय की रिपोर्ट राष्ट्रपति के पास भेज देगा। राष्ट्रपति सुप्रीम कोर्ट के पास उन झगड़ों को भी भेज सकता है जिनसे भूतपूर्व भारतीय रियासतों के साथ हुई सन्धियों, करार या सनदों के निर्वाचन का सम्बन्ध है यद्यपि सुप्रीम कोर्ट को इनके बारे में कोई प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार प्राप्त नहीं है।

प्रक्रिया—सुप्रीम कोर्ट का न्यायालय के व्यवहार और प्रक्रिया को नियमित करने के लिए आवश्यक नियम बनाने का अधिकार है। सुप्रीम कोर्ट अपने हर फैसले को खुली अदालत में घोषित करेगा और परामर्श सम्बन्धी क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत अपनी रिपोर्ट भी खुली अदालत में ही देगा। सुप्रीम कोर्ट अपने सभी फैसले उपस्थित जजों के बहुमतों की सहमति से देगा किसी व्यक्तिगत जज को अपनी असहमति सूचक सलाह या राय देने का अधिकार है।

सुप्रीम कोर्ट का बन्धन प्राधिकार—सुप्रीम कोर्ट द्वारा घोषित किया हुआ कोई भी कानून भारत के अन्तर्गत सभी न्यायालयों को मान्य होगा।[1] व्यावहारिक और न्यायिक भारत के सभी प्राधिकारी इस कार्य में सुप्रीम कोर्ट की सहायता करेंगे।[2] सुप्रीम कोर्ट को अपने ही फैसलों के पुनर्निरीक्षण का अधिकार भी दिया गया है।

सुप्रीम कोर्ट के अफसरों और नौकरों की नियुक्तियां भारत के चीफ जस्टिस या उसके द्वारा निर्दिष्ट किसी जज या न्यायालय के अन्य अधिकारी द्वारा की जायेंगी। यदि राष्ट्रपति चाहे तो वह सार्वजनिक सेवा आयोग से परामर्श करने के बाद इस सम्बन्ध में उचित नियम भी बना सकता है। सुप्रीम कोर्ट का सारा प्रशासकीय व्यय, भत्ते, वेतन और पेन्शन सहित भारत की संचित निधि पर भारित (charged) होगा और वह सब फीसें और धन-राशियां जो न्यायालय को प्राप्त होंगी उपरोक्त निधि में जमा की जावेंगी। यह सब उपबन्ध संविधान में न्यायालय की स्वतन्त्रता को सुरक्षित करने के लिए बनाए गए हैं।

---

१. अनुच्छेद १४१
२. अनुच्छेद १४४

अध्याय ३०

# स्वतन्त्र आयोग और संविधान का संशोधन

**सार्वजनिक सेवा आयोग**—सार्वजनिक सेवा आयोग के द्वारा सार्वजनिक सेवाओं की भरती करना लोकतन्त्रीय राज्यों का सर्वमान्य सिद्धान्त है। हमारे संविधान में भी इस आयोग का उपबन्ध किया गया है। संविधान में यह व्यवस्था की गई है कि एक ऐसा आयोग संघ के लिए और एक आयोग हर राज्य के लिये होगा।[1] दो या अधिक राज्य करार करके अपने लिये एक आयोग भी रख सकते हैं और यदि सम्बन्धित राज्यों के विधान-मण्डल इस आशय का प्रस्ताव पास करदें तो संसद कानून पास करके उन राज्यों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए एक सम्मिलित आयोग की रचना कर देगी। राज्य यदि चाहें तो अपने लिए संघ आयोग (Union public Service Commission) की सेवायें प्राप्त कर सकते हैं।

संघ आयोग के लिये या सम्मिलित आयोगों के लिये सभापति तथा अन्य सदस्य राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किये जाते हैं और राज्य के आयोग के लिए सम्बन्धित राज्य के राज्यपाल के द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। यह भी नियम है कि हर आयोग के आधे सदस्य या तो भारत सरकार के नीचे या सम्बन्धित राज्य सरकार के नीचे कम से कम दस साल तक कार्य कर चुके हों। इन आयोगों के सदस्यों की अवधि छ वर्ष की होगी और संघ आयोग के सदस्यों के लिये यह शर्त भी है कि वे ६५ वर्ष की आयु तक सदस्य रह सकते हैं और राज्य या सम्मिलित आयोगों के लिए यह शर्त है कि वे ६० वर्ष की आयु होने तक सदस्य रह सकते हैं।

कोई व्यक्ति जो सार्वजनिक सेवा आयोग का सदस्य बन जाय अपनी अवधि की समाप्ति पर उसी पद पर दोबारा नियुक्त नहीं किया जा सकता। इन आयोगों के सदस्यों या सभापतियों को केवल राष्ट्रपति ही अपनी आज्ञा से उनके पदों से पृथक् कर सकता है। यह आज्ञा सदाचार के आधार पर दी जा सकती है। राष्ट्रपति इन आयोगों के सभापतियों या सदस्यों को दिवालिया होने, अपने कर्तव्यों के अतिरिक्त अन्य कोई धन्धा चलाने, शारीरिक या मानसिक दुर्बलता होने पर भी उनके पदों से उन्हें पृथक् कर सकता है। इन आयोगों का परामर्श निम्नलिखित मामलों में लिया जाता है —

(१) व्यवहारिक पदों के लिए भरती के तरीके। (२) नियुक्ति, पद-वृद्धि और बदली करने के सिद्धान्तों का निर्णय। (३) सभी प्रकार के अनुशासन सम्बन्धी मामले इत्यादि।

राष्ट्रपति और राज्यपाल इन आयोगों के पास परामर्श के लिए मामले

---

१. अनुच्छेद ३१५ (१)।

भेज सकते हैं। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति या राज्यपाल ऐसे नियम भी बना सकते हैं जिनके अनुसार कुछ सामान्य प्रकार के मामले या किसी विशेष वर्ग के मामलों या किसी विशेष परिस्थिति में आयोग का परामर्श लेना आवश्यक न हो।[1]

निष्पक्षता की सुरक्षा के लिये यह भी नियम बना दिया गया है कि किसी आयोग के सदस्य की अवधि पूरी होने पर किसी सरकार के नीचे सिवाय किसी दूसरे आयोग की, सदस्यता या सभापति पद को छोड़कर और कोई नौकरी नहीं कर सकते। इनके वेतन, भत्ते और पेन्शनें भारत की संचित निधि पर भारित होते हैं। ये आयोग हर वर्ष अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति या राज्यपालों को भेजते हैं। सम्बन्धित सरकारें इन रिपोर्टों को अपने-अपने विधान-मण्डल के आगे रखती हैं और साथ में एक विवरण उन मामलों का देती हैं जिनमें उन्होंने आयोग की सिफारिश को नहीं माना है।

**वित्त आयोग**—संविधान के २८० और २८१ अनुच्छेदों में वित्त आयोग की विवेचना है। राष्ट्रपति इस संविधान के लागू होने के दो वर्ष के अन्दर और तत्पश्चात हर पाँच वर्ष की समाप्ति पर या यदि आवश्यक समझें तो इससे पूर्व भी आज्ञा द्वारा एक वित्त आयोग की रचना करेगा जिसमें एक सभापति और चार दूसरे सदस्य राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किये हुए होंगे। संसद कानून द्वारा इन सदस्यों की सदस्यता के लिए अर्हतायें निश्चित कर सकती है। संसद इनको चुनने के तरीके के बारे में भी आवश्यक कानून बना सकती है।

इस आयोग का यह कर्तव्य होगा कि वह निम्नलिखित मामलों पर राष्ट्रपति को रिपोर्ट दे :—

(१) वह सिद्धान्त क्या हो जो राज्यों के राजस्व या भारत की संचित निधि में सहायता अनुदान देने के लिए बनें जायें।

(२) केन्द्र और राज्य सरकारों में करों का बँटवारा किस प्रकार हो तथा करों की आमदनी के कितने-कितने भाग केन्द्र व राज्य सरकारों में बाटे जायें।

(३) भारत सरकार और संविधान की पहली सूची के "ख" भाग में उल्लिखित किसी राज्य सरकार के बीच चले हुये किसी करार को कहाँ तक जारी रखना या संशोधित करना उचित है।

(४) और कोई मामला जो राष्ट्रपति उचित वित्त-व्यवस्था रखने के हित में आयोग के आगे रखना ठीक समझे।

आयोग अपनी प्रक्रिया स्वयं निश्चित करेंगे और अपने कार्य पालन के लिए ऐसी शक्तियाँ प्राप्त करेंगे जैसी संसद कानून द्वारा उनके लिए निश्चित करदे। राष्ट्रपति आयोग द्वारा हर एक सिफारिश को संसद के दोनों सदनों के आगे रखवायेंगे। इनके साथ हर सिफारिश पर सरकार द्वारा की गई कार्यवाही का ब्यौरा

१. अनुच्छेद ३२० (३-४)।

भी रखा जायगा। इस प्रकार का एक आयोग पहिले ही नियुक्त हो चुका है और अपनी रिपोर्ट दे चुका है।

**चुनाव आयोग**—एक चुनाव आयोग में निर्वाचक नामावली की तैयारी के अधीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण के लिये संसद के लिए सभी चुनावों का प्रबन्ध करने के लिये, सभी राज्यों में विधान मण्डलों के चुनाव के लिये, राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के पदों के, तथा चुनावों के सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाले संशय और विवादों का निपटारा करने वाले न्यायाधिकरण की नियुक्ति करने के लिये आवश्यक शक्तियाँ निहित होंगी।[1] इस चुनाव आयोग में एक मुख्य निर्वाचनायुक्त (Chief Election Commissioner) तथा अन्य दूसरे निर्वाचन आयुक्त इतनी संख्या में होंगे जितने राष्ट्रपति समय-समय पर निश्चित करते रहे हैं। इन सबकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होगी और वह इस विषय में संसद द्वारा पास किये गये सम्बन्धित कानून के अनुसार की जायेगी। जब कोई दूसरा निर्वाचनायुक्त इस प्रकार नियुक्त किया जायगा तो मुख्य निर्वाचनायुक्त चुनाव आयोग के सभापति का कार्य करेगा। राष्ट्रपति चुनाव आयोग से परामर्श करके चुनाव आयोग की सहायता के लिये प्रादेशिक आयुक्त भी नियुक्त कर सकता है। निर्वाचन और प्रादेशिक आयुक्तों की नौकरी और पद की अवधि व दशा राष्ट्रपति द्वारा संसद द्वारा, इस सम्बन्ध में बनाये गये कानून के अनुसार निश्चित की जायेगी।

मुख्य निर्वाचनायुक्त अपने पद से उसी तरह और वैसे ही आधारों पर राष्ट्रपति द्वारा पृथक् किया जा सकता है जिस तरह और जिस आधार पर सुप्रीम कोर्ट के जज पृथक् किये जा सकते हैं। मुख्य निर्वाचनायुक्त की नौकरी की शर्तें, उसके अधिकार, विशेषाधिकार और भत्तों में उसके लिये अलाभकारी सिद्ध होने वाला कोई परिवर्तन उसकी अवधि में नहीं किया जायगा। दूसरा कोई निर्वाचनायुक्त या प्रादेशिक आयुक्त केवल मुख्य निर्वाचनायुक्त की सिफारिश पर ही अपने पद से पृथक् किया जा सकता है। राष्ट्रपति और राज्यपाल इन आयुक्तों को आवश्यक कर्मचारियों की सेवायें प्रदान करेंगे।

**संविधान का संशोधन**—संविधान के संशोधन का उपक्रम (initiative) संसद के किसी भी सदन में इस सम्बन्ध में विधेयक के पुनः स्थापना के द्वारा ही हो सकता है।[2] इस प्रकार के विधेयक के लिए यह जरूरी है कि वह प्रत्येक सदन की समस्त सदस्य संख्या के बहुमत से स्वीकृत हो तथा हर सदन के उपस्थित और मत देने वाले कम से कम दो तिहाई सदस्यों के बहुमत से पास किया गया हो। जब ऐसा विधेयक पास हो जाय तो वह राष्ट्रपति के पास उनकी अनुमति के लिये भेजा जायगा और अनुमति मिल जाने पर तदनुसार संविधान संशोधित हो जायगा। किन्तु इसके साथ में यह शर्त है कि यदि कोई संशोधन राष्ट्रपति के चुनाव, संघ सरकार की

१. अनुच्छेद ३२४ (१)।
२. अनुच्छेद ३६८।

कार्यकारिणी शक्ति, संघ न्यायकारी शक्ति, विधायनी शक्तियों की सूचियों, संसद में राज्यों का प्रतिनिधित्व, अनुच्छेद ३६८ आदि बातों से सम्बन्धित हो तो उसके लिये यह आवश्यक है कि भारत के सम्पूर्ण राज्यों में से आधे राज्य अनुदान प्रदान करें। यह अनुसमर्थन उन राज्यों के विधान मण्डलों द्वारा पास किये गये प्रस्तावों के रूप में होगा। पास हो जाने पर संशोधन सम्बन्धी विधेयक राष्ट्रपति की अनुमति के लिये भेज दिया जायेगा।[1]

कुछ थोड़े से मामलों में संविधान में मामूली हेर-फेर संसद द्वारा साधारण बहुमत से किये जा सकते हैं।

कुछ थोड़े से मामलों में राज्यों के विधान-मण्डल भी संविधान की व्यवस्थाओं में संशोधन कर सकते हैं। अब तक २१ संशोधन हुए हैं। पहला संशोधन इस प्रकार है —

संविधान के अनुच्छेद १५ में यह खण्ड जोड़ दिया गया है —

"इस अनुच्छेद में दी हुई कोई व्यवस्था राज्य को किसी सामाजिक या शिक्षा सम्बन्धी पिछड़े वर्ग के नागरिकों या अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों की उन्नति के लिये किसी प्रकार की विशेष व्यवस्था करने में नहीं रोकेगी।"

अनुच्छेद १६ में निम्नलिखित खण्ड जोड़ा गया है :—

संविधान में दी गई कोई व्यवस्था किसी ऐसे वर्तमान कानून को बेकार नहीं बनायेगी या सरकार को कोई ऐसा कानून बनाने से नहीं रोकेगी जिसमें राज्य की सुरक्षा के लिए, विदेशी राज्यों से मैत्री सम्बन्ध रखने के लिए, शान्ति व्यवस्था सदाचार, न्यायालय की मानहानि या अपराध करने के लिए उकसाहट को ध्यान में रखकर उचित प्रतिबन्ध लगाये गये हों। दो नए अनुच्छेद ३१ अ और ३१ ब और जोड़े गये हैं। पहला संशोधन १८ जून सन् १९५१ को हुआ।

दूसरा संशोधन १९५२ में हुआ। इस संशोधन के अनुसार अनुच्छेद ८१ में कुछ परिवर्तन कर दिया गया है।

तीसरा संशोधन १९५४ में हुआ। इस संशोधन के अनुसार सप्तम अनुसूचि में परिवर्तन कर दिया गया है।

चौथा संशोधन १९५५ में हुआ। इस संशोधन के अनुसार अनुच्छेद ३१, ३१ अ में कुछ परिवर्तन किया गया। अनुच्छेद ३०५ को भी बदल दिया गया।

पाँचवाँ संशोधन भी १९५५ में ही हुआ। इस संशोधन के अनुसार अनुच्छेद ३ में कुछ परिवर्तन कर दिया गया।

छटवाँ संशोधन १९५६ में हुआ। इस संशोधन के अनुसार ७वीं अनुसूचि में कुछ जोड़ दिया गया। अनुच्छेद २६९ और २८६ में कुछ परिवर्तन कर दिये गये।

---

१. जेनिंग्स : सम कैरेक्टरिस्टिक्स आफ दी इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशन, पृष्ठ १०-१२।

सातवां संशोधन सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। यह १६ अक्तूबर १९५६ को पास किया गया परन्तु कार्यरूप में १ नवम्बर से आया। इस संशोधन ने भारत के राज्यों की काया पलट कर दी और नये राज्य स्थापित हो गये।

संसद के दोनों सदनों ने दिसम्बर १९५९ में संविधान का आठवां संशोधन विधेयक स्वीकार किया। इस विधेयक के अनुसार अनुसूचित जातियों और आदिम जातियों के लिए विधान-मण्डलों में आगामी दस सालों के लिए फिर से स्थान सुरक्षित कर दिये गये। यह दस साल की अवधि जनवरी १९६० से प्रारम्भ होगी। यह संशोधन ६ जनवरी १९६० के "गजट आफ इण्डिया" में प्रकाशित हुआ। ९वें संशोधन के अनुसार बेरुवारी को पाकिस्तान को हस्तान्तरित कर दिया गया। यह संशोधन १९६० में हुआ।

दसवां संशोधन १९६१ में किया गया। इसके अनुसार दादरा और नगर-हवेली को भारत में मिला लिया गया।

११वां संशोधन लोकसभा ने १९६१ में पास किया। इस संशोधन के अनुसार यदि निर्वाचक गण में कोई स्थान रिक्त होगा तो इसके आधार पर राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति का चुनाव अवैधानिक नहीं होगा।

बारहवां संशोधन १९६२ में हुआ। इसके अनुसार गोवा, दमन और ड्यू को भारत में मिलाया गया।

१३वां संशोधन १९६२ में हुआ। इसके अनुसार नागालैंड एक राज्य बनाया गया।

१४वां संशोधन भी इसी वर्ष हुआ। इसके अनुसार 'संघीय' क्षेत्रों में विधान सभायें स्थापित की गयी।

१५वें संशोधन को लोकसभा ने पहली मई १९६३ को पास किया। इस संशोधन के अनुसार असैनिक सेवकों के जांच के अधिकार कम कर दिए गए, राष्ट्रपति को जजों की आयु निश्चित करने का अधिकार दिया गया और हाईकोर्ट के जजों की सेवा निवृति आयु ६० वर्ष से ६२ वर्ष कर दी गई।

१६वें संशोधन को लोक सभा ने २ मई १९६३ को पास किया। इस संशोधन के अनुसार भारतीय संघ से पृथक् होने की मांग अवैध घोषित कर दी गई। इन दोनों संशोधनों को राज्य सभा ने भी स्वीकार कर लिया।

१७वां संशोधन भूमि अर्जन से सम्बन्धित है। यह संशोधन २० जून १९६४ को लागू हुआ। इसके अनुसार संविधान के अनुच्छेद ३१ अ में कुछ नई बातें जोड़ दी गई।

१८वें संशोधन के अनुसार संविधान के तीसरे अनुच्छेद में कुछ परिवर्तन कर दिया गया।

१९वें संशोधन से संविधान के अनुच्छेद ३२४ से चुनाव न्यायालयों को हटा दिया गया।

२०वें संशोधन के अनुसार कुछ न्यायिक नियुक्तियों को वैध घोषित कर दिया गया।

२१वें संशोधन के अनुसार सिंधी भाषा को राष्ट्रीय भाषा घोषित कर दिया गया। इस प्रकार अब तक २१ संशोधन हो चुके हैं।

—. o .—

# सहायक पुस्तकें


## A

Aggarwala, R. N., *National Movement and Constitutional Development of India.* Metropolition Book Co Private Ltd., 1, Faiz Bazar, Delhi 1956

Argal R., *Municipal Government in India* Agarwal Press Allahabad, 1954.

Azad, Abul Kalam, *India Wins Freedom.* Orient Longmans Bombay, 1959.

Appadorai, A, *Dyarchy in Practice.* Oxford University Press, London, 1948.

Amery. L. S, *India and Freedom.* Oxford University press, London, 1948.

Alexandrowicz, C. H. *Constitutional Development in India.* Oxford University Press. 1957.

## B

Besant, Annie, *How India Wrought for Freedom.* Theosophical Publishing House, Adyar, Madras, 1915.

Banerjee, A. C., *Indian Constitutional Documents,* A. Mukherjee and Co. 2, College Street, Caluctta 12, 1948, 3 Vols.

Benerjee, A. C., *The Constituent Assembly of India.* A Mukerjee and Co. Calcutta. 1947.

Banerjee, Sir Surendranath, *A Nation in Making* Oxford University Press, London 1931.

Bhagwan, V., *Constitutional History of India and National Movement.* Atma Ram and Sons Delhi.

## C

Chatterjee, H. S, *Modern Constitutions.* H. Chatterjee and Co., 19 Shama Charan De Street, Calcutta.

Chintamani, Sir C. Yajneswara, *Indian Politics Since the Mutiny,* Kitabistan, Allahabad, 1947.

Chirol, Sir Valentine, *India Old and New.* Macmillan and Co., Ltd., London, 1921.

Chirol, Sir Valentine, *India.* Ernest Benn Ltd, London, 1930.

Chirol Sir Valentine, *Indian Unrest.* Macmillan and Co., Ltd, St. Martin's Street. London, 1910.

Curtis, L, *Dyarchy.* Oxford At the Clarendon Press, 1920.

Chaudhri, L. P., *Second Chambers In Federations.* G. R. Bhargava and Sons, Chandausi, 1951.

Chaudhri B. M., *Muslim Politics In India*. Orient Book Company, Calcutta, 1946.

Coupland R., *The Indian Problem 1833—1935 Report on the Constitutional Problem in India*. Part I. Oxford University Press, 1943.

Coupland, R., *Indian Politics. 1936—42 Report on the Constitutional Problem in India* Part II Oxford University Press, London, 1944

Coupland, R., *The Future of India*. Report on the Constitutional Problem in India, Part III. Oxford University Press, London, 1944.

Curzon. Lord, *British Government in India*. Cassell and Company, Ltd., London, 2 vols. 1925.

D

Dodwell, H. H., ed *The Cambridge History of India*. Vol. VI. Cambridge at the University Press, 1932.

F

Fraser, Lovat, *India under Curzon and After*. William Heinemann, 1911

G

Gwyer, Sir Maurice, and Appadorai, A., Sel., *Speeches and Documents on the Indian Constitution*. 1921-47, Oxford University Press, Bombay, 1957, 2 vols.

Gledhill, Alan, *The Republic of India*. Stevens and Sons Ltd., London 1951.

Gopal Ram, *Indian Muslims A Political History*. (1858-1947) Asia Publishing House, Bombay, 1959.

Griffiths. P. J., *The British in India*. Robert Hale Ltd., 18 Bedford Square London. W. E. I. 1946.

Gopal, S., *The Viceroyalty of Lord Ripon*. 1880-84 Oxford University Press, London, 1953.

H

Hardinge, Lord, *My Indian Years*. 1910-1916. John Murray, Albemarle Street, W. London, 1948.

I

Ilbert, Sir Courtenay, *The Government of India*. Oxford, At the Clarendon Press, 1922.

J

Jennings, Sir Ivor, *Some Characteristics of the Indian Constitution*. Oxford University Press, London, 1953.

## K

Khan, Sir Shafa' at Ahmad, *The Indian Federation* Macmillan and Co., Ltd , St Martin's Street London, 1937

Kahin, George Mc. Turnan, *Major Governments of Asia* Cornell University Press, Ithaca, New York, 1958

Kabir, Humayun, *Muslim Politics* (1906-1942) ·Gupta Rahman and Gupta Calcutta, 1944

Keith, A B , A *Constitutional History of India* 1600-1935 Methuen and Co. Ltd. London, 1937

## L

Lumby, E. W. R *The Transfer of Power in India,* 1945-47 George Allen and Unwin Ltd , London, 1954

Lyall, Sir Alfred, *The Rise and Expansion of the British Dominion in India.* Johan Murray, Albemarle Street, W. London, 1929.

Lee—Warner Sir William, *The native States of India* Macmillan and Co. Ltd St. Martin's Street. London, 1910.

Lal, A. B , (ed) *The Indian Parliament* Chaitanya Publishing House 10-B, Beli Road, Allahabad—2, 1956

## M

Mersey, Viscount, *The Viceroys and Governors-General of India.* 1577-1947. John Murray, Albemarle Street, London, 1949.

Mishra, D. P (ed ) *The History of Freedom Movement in Madhya Pradesh* Government Printing, Madhya Predesh, Nagpur, 1956.

Majumdar. J K. *Indian Speeches and Documents on British Rule.* 1821-1918 Longmans, Green and Co Ltd , 1937

Mazumdar, Ambika Charan, *Indian National Evolution.* G. A, Natesan and Co Madras, 1917.

Misra, B. R., *Economic Aspects of the Indian Constitution.* Orient Longmans Ltd., Bombay, 1952.

Mehta Ashok and Patwardhan Achyut, *The Communal Triangle in India.* Kitabistan, Allahabad, 1942.

Manshardt, Clifford, *The Hindu-Muslim Problem in India.* George Allen and Unwin Ltd., London, 1936.

Mukherjee, P. (ed ) *Indian Constitutional Documents.* (1600-1918) vol. 1, Thacker, Spink and Co., Calcutta, 1918.

Masani, R. P. *Britain in India* ,Oxford University Press, London 1960.

Menon, V. P., *The Story of the Integration of the Indian States.* Orient Longmans Ltd. Bombay 1956.

Menon, V. P., *Transfer of Power in India.* Orient Longmans. Bombay, 1957

Morris—Jones W. H , *Parliament in India* Longmans, Green and Co , London, 1957.

N

Nandi, Amar, *The Constitution of India.* BookLand Limited I, Sankar Ghosh Lane, Calcutta 6.

Noman, Mohammad, *Muslim India.* Kitabistan, Allahabad, 1942.

Nehru, Jawaharlal, *An Autobiography.* John Lane The Bodley Head London, 1947.

Nehru, Jawaharlal, *The Discovery of India.* The Signet Press Calcutta, 1946.

P

Punnaiah, K. V., *The Constitutional History of India.* The Indian Prees, Ltd., Allahabad, 1938.

Putra, Kerala, *The Working of Dyarchy in India.* 1919-1928 D. B. Taraporevala Sons and Co,, "Kitab Mahal", 190, Hornby Road Bombay, 1928.

Prasad, Beni, *India's Hindu-Muslim Questions.* George Allen and Unwin Ltd., London, 1946.

R

Rudra, A. B., *The Viceroy and Governor-General of India.* Oxford University Press, London, 1940.

Rajkumar, N V., *Indian Political Parties.* Published by the All-India Congress Committee. 7, Jantar Mantar Road, New Delhi, 1948.

Rao, Ramana, M. V., *A short History of the Indian National Congress.* S Chand and Co., Delhi, 1959.

Rau, B N., *India's Constitution in the Making,* Orient Longmans Bombay, 1960.

Ronaldshay, Lord, *India a Bird's Eye View.* Constable and Company Ltd., London, 1924.

Raghuvanshi, V. P. S., *Indian Nationalist Movement and Thought.* Lakshmi Narain Agarwal, Educational Publishers, Agra, 1958.

S

Sharma, B. M., *Federalism in Theory and Practice.* G. R. Bhargava and Sons, Chandausi, 2 Vols. 1953.

— *The Republic of India.* Asia Publishing House, Bombay, 1966.

Suda, J. P., *Indian Constitutional Development and National Movement* Jai Prakash Nath and Co , Meerut, 1951.

Suda, J. P., *Indian Constitutional Development* (1737-1947). Jai Prakash Nath and Co., Meerut 1960

Sethi, R. R , *The Last Phase of British Sovereignty in India.* (1919—1947) S. Chand and Co , Delhi, 1958

Sapre, B. G , *The Growth of Indian Constitution and Administration.* Willingdon College, Sangli, 1924

Singh, Gurmukh Nihal, *Landmarks in Indian Constitutional and National Development,* 1600 to 1919, Atma Ram and Sons, Kashmere Gate Delhi Vol I, 1924

Sitaramyya, Pattabhi, *The History of the Indian National Congress.* Padma Publications Ltd , Bombay, 1947, 2 vols

Smith, W. R , *Nationalism and Reform in India.* Oxford University Press, London, 1938.

Setalvad, Chimanlal H., *Recollections and Reflections,* Padma Publications Ltd , Bombay, 1946.

Shah, K. T., *Provincial Autonomy.* Vora and Co., Publishers, Ltd. 8, Round Building Kalbadevi Road, Bombay 1937.

Srinivasan, N., *Democratic Government of India.* The World Press Ltd , Calcutta. 1954

Satyapal and Chandra, Prabodh, *Sixty Years of Congress.* The Lion Press, Lahore, 1947

Sharma, Shri Ram, *A Constitutional History of India.* (1765-1948) Karnatak Publishing House, Bombay—4, 1949.

T

Thomson, Edward, and Garratt G. T , *Rise and Fulfilment of British Rule in India.* Central Book Depot, Allahabad, 1958

W

Wheare, K. C , *Government by Committee.* Oxford University Press, London, 1955

Z

Zacharias, H C. E., *Renascent India.* George Allen and Unwin Ltd. Museum Street London, 1933.

*The Organisation of the Government of India.* Asia Publishing House, Bombay 1958.

*Speech of Gopal Krishan Gokhale.* G. A , Natesan and Co , Madras, 1920.

*Cabinet Mission in India.*
*The Government of India Act*, 1919.
*The Government of India Act*, 1935.
*The Indian Independence Act*, 1947.
*Report on Indian Constitutional Reforms*, 1918.
*Constituent Assembley Debates. Official Reports.*
*Indian Statutory Commission Report* Vol. II.
*Our Constitution*, (A Government of India Publication).
*The Constitution of India* (As modified up to the Ist May, 1965)
(A Government of India Publication)
*Report of the States Reorganization Commission.*
*Glossary of Technical Terms used in the Constitution of India.*
(A Government of India Publication).
*Glossary of Parliamentary, Legal and Administrative Terms*
(Lok Sabha Secretariat, New Delhi, 1957).
*Rules of Procedure and Conduct of Business in Lok Sabha*, 1958.
The States Reorganization Act 1956.
The Bombay Reorganization Act, 1960.
*Amrit Bazar Patrika*, Calcutta.
*The Indian Journal of Political Science*, Cuttack.
*The Hindustan Times*, New Delhi.
*The Indian Review*, Madras.
*The Modern Review*, Calcutta.
*Keesing's Contemporary Archives.*
*Manual of Election Law* (Fifth Edition).

—: o :—

# विशिष्ट शब्दों की सूची

**A**

Agency—अभिकरण
Act—अधिनियम
Article—अनुच्छेद
Assent—अनुमति
Approval—अनुमोदन
Adult Suffrage—वयस्क मताधिकार
Adjourn—स्थगित करना
Advisory Council—मंत्रणा परिषद्
Authority—प्राधिकार
Additional—अतिरिक्त
Argument—युक्ति
Accused—अभियुक्त
Adhoe—तदर्थ
Administration—प्रशासन
Annual Financial Statement—वार्षिक वित्त विवरण
*Appropriation Bill*—विनियोग विधेयक
Audit—लेखा परीक्षा
Authoritative—प्राधिकार पूर्ण
Autocratic—निरंकुश
Address—सबोधित, अभिभाषण
At the pleasure—के प्रसाद में
Agent—अभिकर्ता

**B**

Bye-law—उपविधि
Bye-election—उपनिर्वाचन
Body—निकाय
Bill—विधेयक
Ballot-Box—शलाका पेटी
Bloc—गुट

**C**

Casting Vote—निर्णायक मत
Clause—खंड
Clique—गुट
Census—जनगणना
Caste—जाति
Current—प्रचलित
Covenant—प्रसंविदा
Corrupt—भ्रष्ट
Confederation—राज्य-मण्डल
Commonwealth—राष्ट्र-मण्डल
Communique—विज्ञप्ति
Commercial—वाणिज्य सम्बन्धी
Classification—वर्गीकरण
Co-operative Societies—सहकारी समिति
Constituency—निर्वाचन क्षेत्र
*Certify*—प्रमाणित करना
Constructive Programme—रचनात्मक कार्यक्रम
*Circumstance*—परिस्थिति
Code—संहिता
Concurrent List—समवर्ती सूची
Consolidated Fund—संचित निधि
Constituent Assembly—संविधान सभा
Chief Justice—मुख्य न्यायाधिपति
Council of States—राज्य सभा
Communalism—साम्प्रदायिकता
Communalist—साम्प्रदायिक
Censorship—प्रविक्षण
Contribution—अंशदान

Custom Duty—बहिर्शुल्क
Councillors—परिषद्
Charge—प्रभृत
Certificate—प्रमाण पत्र

D

Dominion—अधिराज्य
Dominion Status—औपनिवेशिक स्वराज्य
Disqualification—अनर्हता
Decree—आज्ञप्ति-राजाज्ञा
Deadlock—गतिरोध
Democracy—प्रजातन्त्र-जनतन्त्र
Dismiss—पदच्युत
Direct Election—प्रत्यक्ष निर्वाचन
Direct Legislation—प्रत्यक्ष विधिकरण
Document—लेख्य
Declaration—घोषणा
Dissolution—विघटन
Department—विभाग
Decentralization—विकेन्द्रीकरण
Discretion—स्वविवेक
Discipline—अनुशासन
Discrimination—भेदभाव
During Good Behaviour—सदाचार पर्यन्त
During the pleasure of the President—राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त
Devolution—अवक्रमण
Despatch—प्रेषण
Deliberative Body—पर्यालोचक निकाय
Dyarchy—द्वैततंत्र
Draft—प्रालेख
Dissenting Opinion—विभिन्न मत

E

Emergency Powers—आपात कालीन शक्तियाँ
Electorate—निर्वाचक गण
Ex-Officio—पदेन
Event—घटना
Emergency—आपात कालीन
Electoral Roll—निर्वाचन नामावली
Excise—उत्पादन शुल्क

F

Function—कार्य, कृत्य
Fund—निधि, कोष
Favour—पक्ष
Flexible—लचीला
Finance—वित्त
Federalism—संघवाद
Federal Govt—संघात्मक सरकार
Federal List—संघसूची
Fixed Laws—स्थाई नियम
Formula—सूत्र
Fiscal Autonomy—राज्यकोषीय स्वायत्तता
Feel—अनुभव करना
Final—अन्तिम

G

Governor—राज्यपाल
Governor-General—महाराज्यपाल
General Election—साधारण निर्वाचन
Grant—अनुदान
Gazetted Officer—राजपत्रित अधिकारी

H

Hypothetical Question—यौन-काल्पनिक-प्रश्न

Habeas Corpus—बन्दी प्रत्यक्षीकरण
High Court—उच्च न्यायालय
House of the People—लोक सभा

I

Indivisible—अविभाज्य
*Imperialism*—साम्राज्यवाद
Item by Item—मदवार
Issue—अंक
Immunity—उन्मुक्ति
Impeachment—महाभियोग
Interpretation—निर्वचन
Instrument of Accession—प्रवेश लेख्य
Integration—एकीकरण
Interim—अंतरिम

J

Judgement—निर्णय
Judicial Review—न्यायायिक पुनर्विलोकन
Judiciary—न्यायपालिका
Jurisdiction—क्षेत्राधिकार

*L*

Legislature—विधान मण्डल
*Legislative Assembly*—विधान सभा
Legislative Council—विधान परिषद्
Legislation—विधान
*Local Self-Government*—स्थानीय स्वराज्य
Law—विधि
Local Body—स्थानीय निकाय
Local Govt —स्थानीय शासन
Lower House—प्रथम सदन, निचला सदन
Loyalty—भक्ति
Legislative Measure—विधान कार्य
*Law and Order*—विधि एवं व्यवस्था

M

Monopoly—एकाधिकार
Motion—प्रस्ताव
Majority—बहुमत
Multi Party System—बहुदल प्रणाली
Major—वयस्क
Means—साधन
Minute—टिप्पण
Maximum—अधिकतम
*Minimum*—न्यूनतम
Memorandum—ज्ञापन पत्र
Mandamus—परमादेश
Memorial—स्मारक
Message—संदेश
*Minority*—अल्पसंख्यक वर्ग
Money Bill—धन विधेयक
Municipality—नगरपालिका

N

Notification—अधिसूचना
Nominal—नाममात्रीय
Nominate—मनोनयन,मनोनीत करना
Nationality—राष्ट्रीयता
*Note of Dissent*—विमति टिप्पण

O

Ordinance—अध्यादेश
Order—आदेश

## P

Proportional Representation—अनुपातिक प्रतिनिधित्व
Proceedings—कार्यवाही
Population—जनसंख्या
Preamble—प्रस्तावना
Public Services—लोक सेवायें
Privilege—विशेषाधिकार
Public Finance—सार्वजनिक राजस्व
Parliamentary—संसदात्मक
Public Bill—सार्वजनिक विधेयक
Posting—पदस्थान
Picketing—धरना
Prejudice प्रतिकूल प्रभाव
Presiding Officer अधिष्ठाता
Procedure—प्रक्रिया
Proposal—प्रस्ताव
Provision—उपबन्ध
Public Service Commission—लोक सेवा आयोग
Precedent—पूर्वोदाहरण
Prorogation—सत्रावसान
Proposed—प्रस्थापित
Paromountcy—सार्वभौम सत्ता

## Q

Quorum—गणपूर्ति

## R

Residuary Powers—अवशिष्ट शक्तियाँ
Responsibility—उत्तरदायित्व
*Republican State*—*गणराज्य*
Republic—गणतन्त्र
Rule—नियम
Resignation—पद त्याग
Resolution—प्रस्ताव
Regional Council—प्रादेशिक परिषद्
Reactionary—प्रतिक्रियावादी
Revenue—राजस्व
Regulation—विनियम
Reservation of Seats—स्थान रक्षण
Record—अभिलेख
Repeal—निरसन
Report—प्रतिवेदन
Review—पुनर्विलोकन
Revivalist Movement—पुनरुत्थानवादी आन्दोलन
Renaissance—नव-जागृति
Recess—विश्रान्ति

## S

Scheduled Caste—अनुसूचित जाति
Speaker—अध्यक्ष
Single Transferable Vote—एकल संक्रमणीय मत
Second Chamber—द्वितीय सदन
Sovereign—प्रभु
Sovereignty—प्रभुता, राजसत्ता
Select Committee—प्रवर समिति
Secession पृथक्करण
*Statute*—*परिनियम*
Suffrage—मताधिकार
State List—राज्य सूची
Secular State—लौकिक राज्य
Session—सत्र
Standing Committee—स्थाई समिति
Statement—वक्तव्य, विवरण
Supplementaty Question—अनुपूरक प्रश्न

Sacrifice—त्याग, बलिदान
State Traping—राज्य व्यापार
Sinking Fund—निक्षेप निधि
Safeguard—रक्षा कवच
Schedule—अनुसूची
Scheduled Tribes—अनुसूचित जन-जाति
Supplementary Grant—अनुपूरक अनुदान
Supreme Court—उच्चतम न्यायालय
Section—धारा
Standstill Agreement—स्थायी समझौता
Secretary of State for India—भारत सचिव
Survey—निरीक्षण
Sitting Member—वर्तमान सदस्य

T

Tribunal—न्यायाधिकरण
Term of Office—कार्य काल
Trade Union—श्रमिक संघ
Tribe—जनजाति
Tenure—पदावधि
Territorial Constituency—प्रादेशिक चुनाव क्षेत्र
Transferred Subject—हस्तान्तरित विषय

U

Union List—संघसूची
Unit—इकाई
Upper House—उच्च सदन
Unitary Govt—एकात्मक सरकार

V

Vested Interest—निहित स्वार्थ
Vacancy—रिक्त स्थान
Votes on Account—लेखानुदान
Veto—प्रतिषेध

W

Welfare State—लोकहितकारी राज्य
Writ—लेख

Z

Zonal Councils—क्षेत्रीय परिषदें

—:o:—

## INDIAN NATIONAL CONGRESS
## (SESSIONS & PRESIDENTS)

| *Year* | *Place* | *President* |
|---|---|---|
| 1885 | Bombay | W. C. Bonnerjee |
| 1886 | Calcutta | Dadabhai Naoroji |
| 1887 | Madras | Badruddin Tyabji |
| 1888 | Allahabad | George Yule |
| 1889 | Bombay | William Wedderburn |
| 1890 | Calcutta | P. M. Mehta |
| 1891 | Nagpur | P. Ananda Charlu |
| 1892 | Allahabad | W. C. Bonnerjee |
| 1893 | Lahore | Dadabhai Naoroji |
| 1894 | Madras | Alferd Webb |
| 1895 | Poona | Surendra Nath Bannerjee |
| 1896 | Calcutta | Rahimtullah Sayani |
| 1897 | Amaraoti | C. Sankaran Nair |
| 1898 | Madras | A. M. Bose |
| 1899 | Lucknow | R. C. Dutt |
| 1900 | Lahore | N. C. Chandavarkar |
| 1901 | Calcutta | D. E. Wacha |
| 1902 | Ahmedabad | Surendranath Bannerjee |
| 1903 | Madras | Lal Mohan Ghose |
| 1904 | Bombay | Henry Cotton |
| 1905 | Banaras | G. K. Gokhale |
| 1906 | Calcutta | Dadabhai Naoroji |
| 1907 | Surat | Ras Behary Ghose |
| 1908 | Madras | do |
| 1909 | Lahore | Madan Mohan Malviya |
| 1910 | Allahabad | W. Wedderburn |
| 1911 | Calcutta | B. N. Dhar |
| 1912 | Bankipore | R. N. Dhar |
| 1213 | Karachi | Nawab S. Mohamed |
| 1914 | Madras | B. N. Basu |
| 1915 | Bombay | S. P. Sinha |
| 1916 | Lucknow | A. C. Mazumdar |
| 1917 | Calcutta | Mrs. Besent |
| 1918 | Bombay (special) | Hasan Imam |
| do | Delhi | M. M. Malviya |
| 1919 | Amritsar | Motila Nehru |

| | | |
|---|---|---|
| 1920 | Calcutta (special) | Lajpatrai |
| do | Nagpore | C. Vijiaraghavchariar |
| 1921 | Ahmedabad | Ajmal Khan (acting) |
| 1922 | Gaya | C. R. Das |
| do | Delhi (special) | A. K. Azad |
| 1923 | Cocanada | Mohammad Ali |
| 1924 | Belgaum | Mahatma Gandhi |
| 1925 | Cawnpore | *Sarojini Naidu* |
| 1926 | Gauhati | S Iyenger |
| 1927 | Madras | M A. Ansari |
| 1928 | Calcutta | Motilal Nehru |
| 1929 | Lahore | J. L. Nehru |
| 1931 | Karachi | Sardar Patel |
| 1934 | Bombay | Rajendra Prasad |
| 1936 | Lucknow | J. L. Nehru |
| *do* | Faizpur | do |
| 1938 | Haripura | Subhas Chandra Bose |
| 1939 | Tripura | do |
| 1940 | Ramgarh | A K. Azad |
| 1941 to 1945 | .. ... . | do |
| 1946 | Meerut | J B. Kripalani |
| 1947 | ... . | Rajendra Prasad |
| 1948 | Jaipur | Pattabhi Sitaramayya |
| 1949 | ...... ...... | do |
| 1950 | Nasik | P D. Tandon |
| 1951 | New Delhi | J. L. Nehru |
| 1952 | . ...... | J. L. Nehru |
| 1953 | Hyderabad | J. L. Nehru |
| 1954 | Kalyani | do |
| 1955 | Avadi | U. N. Dhebar |
| 1956 | Amritsar | do |
| 1957 | Indore | do |
| 1958 | Gauhati | do |
| 1959 | Nagpur | Indira Gandhi |
| 1960 | Banglore | do |
| 1961-62 | Bhavnagar | Sanjiva Reddy |
| 1962-63 | | D. Sanjivayya |
| 1963 | | K. Kamaraj |

—. • —

## LIST OF GOVERNOR-GENERALS AND VICEROYS OF INDIA

### Governors of Bengal

1758-1760 and 1765-1767 Lord Clive.
1772-1774 Warren Hastings.

### Governors-General

1774-1785 Warren Hastings
1786-1793 Marquess Cornwallis.
1793-1798 Sir John Shore, Lord Teignmouth.
1798-1805 Earl of Mornington,ı Marquess Wellesley.
1805 (2nd time) Marquess Cornwallis.
1807-1813 Earl of Minto.
1814-1823 Earl of Moira, Marquess of Hastings.
1823-1828 Earl Amherst.
1828-1835 Lord William Bentinck.
1835-1842 Earl of Auckland.
1842-1844 Earl of Ellenborough.
1844-1848 Viscount Hardinge.
1848-1856 Marquess of Dalhousie.
1856-1858 Earl Canning.

### Governors-General and Viceroys

1851-1862 Earl Canning.
1862-1863 Earl of Elgin.
1863-1869 Lord Lawrence.
1869-1872 Earl of Mayo.
1872-1876 Earl of Northbrook.
1876-1880 Earl of Lytton.
1880-1884 Marquess of Ripon.
1884-1888 Marquess of Dufferin.
1888-1894 Marquess of Lansdowne.
1894-1899 Earl of Elgin.
1899-1905 Marquess Curzon.
1905-1910 Earl of Minto.
1910-1916 Lord Hardinge of Penshurst.
1919-1921 Viscount Chelmsford.
1921-1926 Marquess of Reading.
1926-1931 Lord Irwin, Earl of Halifax.
1931-1936 Marquess of Willingdon.
1936-1943 Marquess of Linlithgow.
1943-1946 Earl Wavell.
1947 (April)—1948 (June) Earl Mountbatten
1948 (June)—1950 (Jan. 26) C. Rajagopalachari.

## IMPORTANT EVENTS

1900 Queen Elizabeth grants a Charter to the East India Company.
1773 The Regulating Act.
*1857 Indian Mutiny*
1858 Government of India transferred to the Crown
1861 Indian Councils Act
1885 Establishment of Indian National Congress
1892 Indian Councils Act.
1905 Partition of Bengal.
1906 The Muslim Deputation to Lord Minto.
1909 Morley-Minto Reforms.
1916 The Luknow Pact.
1917 His Majesty's Government's Announcement.
1919 The Government of India Act.
1927 Appointment of Simon Commission.
*1928 The Nehru Report.*
1929 Independence Resolution by the Congress.
1930 January 26 Independence Pledge
Report of the Simon Commission.
First Round Table Conference.
1931 Second Round Table Conference
Gandhi-Irwin Pact
1932 The Communal Award.
*The Ponna Pact*
Third Round Table Conference.
1935 The Government of India Act.
1939 Outbreak of The Second World War
1940 March 23 Pakistan Resolution by the Muslim League.
The August Offer
1942 Sir Stafford Cripps' Mission to India.
1946 Cabinet Mission Plan.
1947 June 3, The Mountbatten Plan.
Passing of Indian Independence Act.
)50 January 26. The Indian Republican Coustitution comes into operation

—:o:—

# अनुक्रमणिका